काव्य रूपों के मूलस्रोत और उनका विकास

डॉ. शकुन्तला दूबे

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

आत्माराम एन्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बॉ० नं० ७०, ज्ञानवापी,
वाराणसी–१
मुद्रक : दुर्गा प्रेस
वाराणसी–१
आवरण : कांजिलाल

मूल्य : दस रुपया

संस्करण : प्रथम— ११००
सितम्बर, १९५८

प्राक्कथन

काव्यरूप मानव-अनुभूति की उस अभिव्यंजना का द्योतक है जो पद्य के माध्यम से किसी विशिष्ट रूप को ग्रहण करती है। कवि की विशिष्ट अनुभूति जब छन्दों के माध्यम से विशिष्ट शैली में प्रकट होकर, विशिष्ट रूप में अभिव्यंजित होती है, तो उस अभिव्यंजित रूप-विशेष को काव्यरूप की संज्ञा प्राप्त होती है। यह काव्यरूप यद्यपि काव्य का बाह्य रूप ही है, तथापि उसकी आलोचना का मुख्य विषय वह आन्तरिक अनुभूति ही होती है, जिसने उक्त बाह्य रूप में अपने को अभिव्यक्त किया है।

अनुभूति और अभिव्यक्ति का अविच्छिन्न संबंध है। इसी संबंध को समझाने के लिए काव्यरूपों का अध्ययन आवश्यक होता है। इस प्रकार काव्य के रूप का अध्ययन वस्तुतः काव्य की आत्मा के अध्ययन का ही साधन होता है। काव्यशास्त्र तो काव्य-रूप की परिभाषा और उदाहरण देकर विरत हो जाता है। मेरे आलोच्य की सीमा विस्तृत है। मैंने प्रत्येक काव्यरूप के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उनके मूलस्रोत एवं विकास को दिखाने की चेष्टा की है। इस विकास को दिखाने के लिए वैदिक काल से लेकर पालि, प्राकृत अपभ्रंश काल के काव्यरूपों की छानबीन की है और हिन्दी साहित्य के आरम्भ से लेकर आधुनिक "प्रगतिवाद युग" के लगभग आरम्भ काल (सन् १९४७) तक को लिया है और इस आधुनिक काल के प्रमुख कवियों और उनके काव्यरूपों तक ही अपने को सीमित रखने की चेष्टा की है। इस लम्बी अवधि में काव्य-रूपों के विकास को दिखाने का प्रयत्न कालक्रम से ही किया है। किन्तु जहाँ विकास एवं काव्यरूपों के स्वरूप और विविध प्रकारों की चर्चा एक साथ हुई है जैसे "खण्डकाव्य" और "मिश्रकाव्य" में, वहाँ कालक्रम से चर्चा कठिन हो गई है। तो भी यथासंभव कालक्रम से रखने का ही प्रयास किया है।

काव्य-विभाजन बन्ध की दृष्टि से किया है। बन्ध से अभिप्राय कथा-बन्धता से है। इस प्रकार काव्य प्रधान तीन वर्गों में बँट जाता है—'प्रबन्ध',

'प्रबंध' और 'बंधाबंध'। 'प्रबंध' में कथा का बंध है, 'अबंध' में उसकी अवस्थिति नहीं होती और 'बन्धाबन्ध' में कथा का आंशिक रूप भी होता है और उसकी शैली प्रबंधकाव्य जैसी भी होती है। इस प्रकार से यहाँ 'प्रबंध' और 'अबन्धकाव्य' का मिश्रण रहता है। अतः कुछ काव्यरूपों को 'बंधाबंध' संज्ञा से वर्गीकृत किया गया है।

हिन्दी के विभिन्न काव्यरूपों को लेकर प्रथम तो प्रत्येक के मूलस्रोत और विकास को दिखाया है, फिर उनके स्वरूप की मीमांसा की है और आवश्यकतानुसार काव्यरूपों का वर्गीकरण भी किया है। किन्तु 'खंडकाव्य' और 'मिश्रकाव्य' के अन्तर्गत काव्यरूप के साथ ही साथ अन्यान्य भेदों की चर्चा एक साथ भी की है।

कार्यारम्भ के समय दो बातें सम्मुख थीं। एक ओर तो हिन्दी के बढ़ते हुए काव्यरूप और दूसरी ओर उनका वर्गीकरण करनेवाले परिचायक ग्रंथों का अभाव। हिन्दी में तीन प्रकार के काव्यरूप सम्पत्ति बढ़ रही थीं। एक तो परम्परा-प्राप्त काव्यरूपों के अनुकरण रूप में, दूसरे पश्चिमी काव्य-रूपों के प्रभावानुरूप और तीसरे अपनी निजी परिस्थितियों के माँग स्वरूप बननेवाले नवीन काव्यरूप। इस प्रकार काव्यरूपों का अध्ययन आवश्यक हो गया। इन काव्यरूपों के अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि कवि की भीतरी मनोवृत्ति के अनुरूप ही काव्य का बाह्य रूप बना करता है और इसके परिवर्तन एवं विकास में सामाजिक अवस्थाओं का दूसरा पूरा हाथ रहता है। जीवन के प्रति भिन्न दृष्टिकोण के कारण, अनुभूति के विस्तार की सीमा के कारण और भीतरी मनोवृत्ति के कारण काव्यरूप में परिवर्तन आते जाते हैं।

महाकाव्य की स्वरूप-मीमांसा इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि काव्य-रूपों में वह सर्वोत्तम काव्यरूप है, जिसकी कटी छटी परिभाषा संभव नहीं, उसके मूल बीज 'वेदों' में मिले और उत्तरोत्तर विकास के साथ संस्कृत और विशेष रूप से अपभ्रंश के चरितकाव्यों का प्रभाव पड़ता हुआ देखा है। आधुनिक काल तक पहुँचते-पहुँचते पश्चिमी प्रभाव से ऐसे महाकाव्य प्रणीत हुए जिनमें गीतात्मकता का पुट भी मिला।

खण्डकाव्य के मुझे दो प्रमुख प्रकार मिले हैं—एक तो लोक से उद्भूत, लोक-रंजन के लक्ष्य से निर्मित और दूसरे देशी-विदेशी परम्परा से उद्भूत साहित्य मर्मज्ञ सहृदय पाठक को लक्ष्यीभूत करके रचे हुए खण्डकाव्य।

प्रथम प्रकार के खंडकाव्यों को पुनः लोकदृष्टि-प्रधान और व्यक्तित्व-प्रधान वर्गों में बाँटा है। लोकदृष्टि-प्रधान वर्ग में कुछ वीरभावात्मक और कुछ प्रेम-प्रधान खंडकाव्य मिले हैं। व्यक्तित्व-प्रधान खंडकाव्यों के वर्ग में भी इसी प्रकार कुछ भक्ति-प्रधान और कुछ प्रेम-प्रधान खंडकाव्य मिले हैं। इस प्रेम-प्रधान वर्ग पर अपभ्रंश के चरित-काव्यों का पूरा प्रभाव पड़ता देखा और साथ में फारसी की "मसनवी" शैली का भी आंशिक प्रभाव दिखाई पड़ा है।

खण्डकाव्य के दूसरे प्रकार में काव्यरूप की दृष्टि से अधिक विकास हुआ। इसमें पुरानी शैली के साथ-साथ उत्तरोत्तर काव्यत्त्वपूर्ण शैली का विकास हुआ और आधुनिक काल तक आते-आते कुछ ऐसे खण्डकाव्य रचे गए जिन पर आधुनिक मनोविज्ञान का प्रभाव गाढ़ रूप में पड़ा। अतएव खंडकाव्य में कथा का सूत्र अप्रधान और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रधान हो गया। यह तत्त्व मुझे विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लगा है।

'गीतिकाव्य' की चर्चा करते हुए यह देखा है कि 'वेदों' में ही उसके बीज पड़ चुके थे और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सिद्धों के पदों में प्रेरणा का वह बीज मिला जो क्रमशः क्षेमेन्द्र, जयदेव के पदों में अंकुरित होता हुआ 'मध्यकाल' में आकर पल्लवित हुआ। किन्तु "छायावाद युग" में जिस प्रकार गीतिकाव्य का विकास हुआ वह बिल्कुल नवीन ढंग का है। वह पश्चिम के 'लिरिक' से प्रेरणा लेकर आया। अतः उसके वर्गीकरण की दृष्टि पश्चिमी है और इस वर्गीकरण में जहाँ मैंने 'गीतों' को 'लिखित' एवं 'अलिखित' वर्ग में विभाजित किया है, वहाँ 'अलिखित' 'लोकगीतों' की चर्चा नहीं की है। कारण यह है कि लोकगीतों पर स्वतंत्र रूप से एक ग्रंथ लिखा जा सकता है। किन्तु लोकगीतों के प्रभाव की चर्चा यथास्थान पर्याप्त रूप में की है।

'मुक्तक' को मैंने 'गीतिकाव्य' से भिन्न कह कर उसके बीज को भी 'वेदों' में पाया है और उसके उत्तरोत्तर विकास में एक तो प्राकृत के शृंगारिक मुक्तकों और दूसरे अपभ्रंश के जैन कवियों के उपदेशात्मक मुक्तकों की धारा का प्रभाव पूर्णतः देखा है। मुक्तकों के वर्गीकरण में मैंने नवीन प्रयास किया है।

चतुर्थ खण्ड में मैंने ऐसे काव्यरूपों की मीमांसा की है, जिनमें कुछ का नामकरण प्रचलित हो चुका है, जैसे 'गीतिनाट्य', किन्तु कुछ काव्य-

रूपों में आलोचकों में मतभेद है। अतएव ऐसे काव्यरूपों की छानबीन कर, उन्हें एक अलग 'बन्धाबन्ध' वर्ग में रख कर, उन्हें 'मिश्रकाव्य" की संज्ञा दी है। इसीके अनेक भेदों की चर्चा और उनका नामकरण नवीन ढंग से किया है। यह विवादास्पद हो सकता है, किन्तु काव्यरूपों के अध्ययन में यह वर्गीकरण बहुत आवश्यक प्रतीत हुआ।

यदि काव्य अनुभूति की अभिव्यक्ति है और जब अभिव्यक्ति अनुभूति के अनुरूप ही काव्यरूप का बाना पहनती है, तब, जब तक इस बाहरी आवरण का अध्ययन नहीं होता, तब तक उस आवरण के भीतर छिपी अनुभूति का परिचय भी नहीं मिल सकता। रूप का अध्ययन आत्मा का अध्ययन होता है। अस्तु काव्यरूपों के अध्ययन में युग-विशेष की विचार-धारा लेखक की प्रेरणा-शक्ति और भीतर छिपी हुई भावानुभूति, सभी का स्पष्टीकरण हो जाता है। जब संस्कृति बदलती है, काव्यरूप भी बदलते जाते हैं।

काव्यरूपों के अध्ययन में हमारे यहाँ या तो संस्कृत के आचार्यों की परिपाटी अथवा पश्चिमी विचारधारा के अनुसार आलोचना पद्धति प्रचलित रही है। किन्तु हिन्दी के लक्ष्य-ग्रन्थों का स्वतंत्र रूप से भी अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि बाह्य प्रभावों से मुक्त होकर भी हिन्दी की अपनी एक निजी रूप सम्पत्ति है, जिसका अध्ययन पूर्व और पश्चिम के मानदण्डों के उचित सामंजस्य के उपरान्त होना समीचीन है। क्षेत्र के विस्तार एवं आलोचना की जटिलता ने पर्याप्त बाधा डाली है, तथापि अध्ययन का महत्त्व उत्तरोत्तर अधिक प्रतीत होता गया और आज इस ग्रंथ के रूप में लेखिका का लघु-प्रयास सामने प्रस्तुत है।

यह ग्रंथ पाँच वर्ष पूर्व काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी. एच. डी. की उपाधि के लिए "हिन्दी साहित्य में काव्यरूपों का उद्भव और विकास" नाम से शोध-प्रबंध के रूप में स्वीकृत किया गया था। इसका नामकरण अनेक वर्षों पूर्व श्रद्धेय आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के समय हुआ था, जो आज उन्हीं के आशीर्वाद से इस पुस्तक के रूप में प्रस्तुत हो रहा है। उनके अन्तिम आशीर्वाद को स्मरण कर मैं नतमस्तक हूँ। उनके पश्चात् प्रबन्ध-निर्देशक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से मुझे अमूल्य सहायता मिली और समय-समय पर श्री पद्मनारायण आचार्य ने भी अपने उपयोगी सुझाव दिए। इसलिए मैं इन विद्वानों के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। यह पुस्तक

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के अनुग्रह से प्रकाशित हुई, इसलिए मैं उनके प्रति अनुगृहीत हूँ; और इस पुस्तक के नामकरण में परिवर्तन के सुझाव के लिए मैं पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का आभार स्वीकार करती हूँ। मुझे श्री वी० एल० साहनी और श्री दलसुख मलवानिया से भी सहायता मिली, जिसके लिए मैं उनके प्रति अत्यधिक कृतज्ञ हूँ। श्री विजयशंकर मल्ल ने जो सहायता दी, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

वाराणसी
२१–९–५८

—शकुन्तला दूबे

अनुक्रमणिका

तृतीय खंड

प्रबन्ध काव्य

चतुर्थ खंड

बन्धाबन्ध काव्य

—:०:—

काव्यरूपों के मूलस्रोत और उनका विकास

प्रथम खण्ड

काव्यरूप : विवेचन और विभाजन

प्रथम अध्याय

काव्यरूप

काव्य का सामान्य रूप

यद्यपि साहित्य-शास्त्र में "काव्य" शब्द का व्यवहार बड़े व्यापक अर्थों में हुआ है—उसमें गद्य और पद्य दोनों का ही अन्तर्भाव होता है। किन्तु व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग पद्यबद्ध कविता के अर्थ में ही विशेष रूप में होता है। इस प्रकार काव्य शब्द का लोक प्रचलित अर्थ पद्यबद्ध रचना ही है। छन्दों के माध्यम से जब मानवीय अनुभूतियाँ अभिव्यक्त होती हैं तो उनमें एक विशेष प्रकार की प्रभविष्णुता आ जाती है जो पाठक के चित्त को अनायास प्रभावित करती है। हमें छन्द की इस विशेष शक्ति की परीक्षा करने का अवसर आगे प्राप्त होगा। यहाँ केवल इतना ही अभिप्रेत है कि साधारण व्यवहार में जो काव्य शब्द का प्रयोग पद्यबद्ध रचना के लिये होता है वह अकारण नहीं है। जीवन की बिखरी अनुभूतियों को समेट कर जब कवि उन्हें शब्द और अर्थ के माध्यम से एक कलापूर्ण रूप देता है तभी काव्य का जन्म होता है। ऐसा तभी होता है जब कवि अभिव्यक्ति के लिये व्यग्र हो उठता है। अनुभूत तथ्य का आनन्द उसके हृदय में अँटाए नहीं अँटता, वह कहने के लिये व्याकुल हो उठता है। उसकी इस व्यग्रता में अपनी अनुभूतियों को केवल व्यक्त भर कर देने की आकांक्षा नहीं होती प्रत्युत पाठक तक उन्हें पहुँचा देने की, उन्हें एक सार्वभौम रूप देने की भावना भी उसके पीछे छिपी रहती है। छन्द उसे इस कार्य में बहुत अधिक सहायता करते हैं। इसीलिए इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि लोक में छन्दो-बद्ध रचना को ही काव्य कहा जाता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में भी "काव्य" शब्द का व्यवहार इसी छन्दोबद्ध रचना के विशिष्ट अर्थ में हुआ है। इन

छन्दोबद्ध रचनाओं में ही मनुष्य की अनुभूतियाँ प्रकट होकर नाना काव्यरूपों में आत्मप्रकाशन करती हैं।

कवि की अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग स्वयं ढूँढ लेती है। उसके अन्तःस्थल में इन अनुभूतियों के फलस्वरूप जैसा स्वर गूँज उठता है उसके अनुरूप ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। जिस मानसिक प्रक्रिया के द्वारा बाध्य होकर कवि अपनी अनुभूति को प्रकट करता है उसे प्रेरणा कहते हैं और जो प्रक्रिया अनुभूति को मूर्तरूप प्रदान करती है उसे प्रज्ञा कहते हैं। अन्तःप्रेरणा के बल पर प्रज्ञा के सहारे की गई बाह्य अभिव्यंजना में अनुभूति और अभिव्यक्ति मिलकर एकाकार हो जाती हैं। इसी कलापूर्ण अभिव्यक्ति के गवाक्ष से झाँक कर पाठक अनुभूतिमय अन्तरिक्ष को देख लेता है। कलापूर्ण अभिव्यक्ति ही पाठक के चित्त में उस मनोरम अनुभूति को जाग्रत कर देती है जो कवि के चित्त में उत्पन्न हुई रहती है। यह अभिव्यक्ति कवि और पाठक के चित्त को एक में बाँध देती है। अभिव्यक्ति की सफलता की कसौटी भी इसी अवस्था की उत्पादन-क्षमता में है। जब कवि की अनुभूति उसकी अभिव्यक्ति के साथ मिलकर एक हो जाती है तभी उस रस-दशा की अवस्था संभव होती है जो काव्य की उत्कृष्टता की परिचायक है।

इस अभिन्नता का मूल कवि की अभिव्यक्ति की सहजप्रवर्तिता में छिपा होता है। जो अभिव्यक्ति जितनी ही सहजप्रेरित होगी उसके स्वरूप में कवि के हृदयस्थल को खोलने की उतनी ही अधिक क्षमता होगी। कवि का व्यक्तित्व उतने ही स्पष्ट रूप में उसमें झलकेगा और उसकी मनोवृत्ति के अनुरूप ही बाह्य अभिव्यक्ति रूप धारण करेगी। यह अनुभूति और अभिव्यक्ति का अविच्छेद्य संबंध आदि कालीन कविता में अधिक दिखाई पड़ता है। कारण यह कि आदि काल में न तो कोई परम्परा रहती है, न छन्द होते हैं और न तो काव्य के कोई रूप। केवल भाषा का माध्यम लेकर कवि का अनुभूत सत्य स्वतः किसी एक रूप में, जिसका ज्ञान उसे स्वयं नहीं होता, अभिव्यक्त हो पड़ता है। यहाँ अभिव्यक्ति अनुभूति की सच्ची प्रतिमूर्ति होती है। बस यहीं से एक परम्परा-सी बन जाती है और आगे आने वाले कवियों के लिये अभिव्यक्ति का एक मार्ग-सा बन जाता है।

इन परवर्ती कवियों की अभिव्यक्ति में क्या कोई अन्तर आ जाता है? क्या इनकी अभिव्यक्ति इनके हृदय की स्वतःप्रवृत्त अभिव्यक्ति नहीं होती? ये प्रश्न इसी कारण उठते हैं कि एक के समक्ष तो परम्परागत किसी रूप का सहारा नहीं होता और दूसरे के पीछे परम्परा विद्यमान रहती है। तो

जब एक अभिव्यक्ति करता है तो उसमें मौलिकता पूरी-पूरी होती है, किन्तु दूसरे की अनुभूति परम्पराप्राप्त साँचे में ढलकर ही अभिव्यक्त होती है। उसका कार्य केवल अनुभूतियों को उस काव्य के साँचे में ढाल भर देना होता है। उदाहरणार्थ वाल्मीकि "रामायण" और तुलसी का "मानस" लें तो हम देखेंगे कि एक की अनुभूति महाकाव्य में स्वतः अभिव्यक्त हो गई और दूसरे की अनुभूति उस परम्पराप्राप्त साँचे में ढलकर अभिव्यक्त हुई। किन्तु विचार कर देखा जाय तो दोनों ही में अभिव्यक्ति का सच्चा रूप निहित मिलेगा। साँचे के रहने पर कोई अनुभूति उसमें ढलकर सच्ची अभिव्यक्ति तभी कहलाती है जब उस अनुभूति का स्वरूप भी सच्चा हो, जब वह अनुभूति कवि के जीवन का एक अभिन्न अंग बन गई हो। फिर तो साँचे का रहना अथवा न रहना कोई विशेष अन्तर नहीं डालता। उस साँचे में वह तभी ढल सकती है जब उसके अनुरूप ही कवि की अनुभूति भी हो। कारण यह कि गीतात्मक उद्रेक अथवा जीवन के किसी एक क्षण की तीव्रतम अनुभूति महाकाव्य के साँचे में ढलकर भी महाकाव्य नहीं बन सकती। उसका रूप अनुभूति के अनुरूप गीतकाव्य का ही होगा महाकाव्य का कदापि नहीं। अतः आदिकालीन काव्यरूप की भाँति परवर्ती काव्यरूप भी स्वतःप्रवृत्त ही कहा जायगा। अनुभूति और अभिव्यक्ति में एकतानता जहाँ भी रहेगी वहाँ रूप का सुन्दर परिष्कार भी प्रस्तुत हो जायगा। इस प्रकार काव्य के दो पक्ष स्पष्ट रूप से अलग-अलग दिखाई पड़ने लगते हैं—एक तो भाव की अनुभूति और दूसरा भाव का विधान।

काव्य का आत्म-तत्व और शरीर-तत्व

अनुभूति और अभिव्यक्ति के अनुरूप काव्य के आत्मा और शरीर ये दो मुख्य तत्व हो जाते हैं। भाव की अनुभूति काव्य की आत्मा से संबंधित है और भाव का विधान या अभिव्यक्ति उसके शरीर पक्ष से। इस प्रकार आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न अवयव दिखाई पड़ते हैं। कहाँ सूक्ष्म आत्मा और कहाँ स्थूल शरीर ! किन्तु आश्चर्य की बात है दोनों का इतना घनिष्ठ संबंध। आत्मा के बिना शरीर निर्जीव है तो शरीर के बिना आत्मा की महत्ता नहीं। अभिव्यक्त स्वरूप की महानता इसी में निर्धारित की गई है कि उसके माध्यम से आत्मा अपने को प्रकाशित करती है। ठीक इसी प्रकार काव्य की आत्मा—उसकी अनुभूति—काव्य के शरीर—उसके बाह्य-रूप—के माध्यम ही से अपने को प्रकट करती है। दूसरे शब्दों में एक को अन्तरंग और दूसरे को बहिरंग कह कर पुकारते हैं। काव्य जब भी निर्मित

होगा उसमें ये दोनों पक्ष अनिवार्यतः होंगे। इन्हीं दोनों का सुन्दर समन्वय भारतीय काव्य-पद्धति का लक्ष्य रहा है।

काव्य के ये दोनों पक्ष हृदय और बुद्धि पक्ष भी कहलाते हैं। जहाँ अन्तरंग हृदयप्रसूत है वहाँ बहिरंग बुद्धिजनित। इस प्रकार चाहे जिस दृष्टि से देखें दोनों ही का महत्व अपरिमेय है। एक को दूसरे से महत्वपूर्ण बताना व्यर्थ है। कारण यह कि अभिव्यक्त होकर काव्य के ये दोनों तत्व बाह्य आकार में अन्तर्हित हो जाते हैं और तब उस बाह्य आकार की महत्ता, आलोचक, उसके भीतर निहित अनुभूति के द्वारा ही आँकते हैं। जो अनुभूति जितनी सच्ची एवं महान होगी, उतना ही स्वाभाविक एवं महत् होगा उसका बाह्य रूप। कारण यह कि अनुभूति के महत् होने पर कवि की प्रेरणा, अभिव्यक्ति के लिये उतने ही महान् उपकरण ढूँढ़ती है अतः उतना ही कलापूर्ण एवं महत् अभिव्यक्त स्वरूप भी उसका स्वतः हो जाता है। इसी बाह्यस्वरूप को काव्यरूप के नाम से अभिहित किया जाता है। यह रूप केवल बाह्य उपकरणों शब्द, छन्द, आदि को एक साथ एक स्थान पर रख देने मात्र ही से नहीं बन पाता। शरीर के विभिन्न अवयवों को मिलाकर ही मानव रूप नहीं प्रदान किया जा सकता। जब तक इन अंगों के समूह में प्राणों का स्पन्दन नहीं तब तक वह रूप सजीव कहा ही नहीं जा सकता। ठीक इसी प्रकार काव्य का रूप भी केवल शरीर के अन्यान्य उपकरणों से ही निर्मित नहीं हो जाता—प्रत्युत उसका रूप तभी सजीव हो पाता है जब उसमें उसकी आत्मा—अनुभूति—भरी जाती है। जिस प्रकार "शैली" के लिये कहा गया है कि वह परिधान नहीं बल्कि काव्य का शरीर है, उसी प्रकार काव्यरूप कहीं बाहर से लाकर काव्य में जड़े नहीं जाते; प्रत्युत अनुभूति स्वयं काव्यरूप ग्रहण कर लेती है। आशय यह कि अनुभूति और अभिव्यक्ति में अविच्छिन्न संबंध है।

अनुभूति जब अभिव्यक्ति बन जाती है तब काव्य को जन्म मिलता है और जब कवि अनेक पथ से होकर अपनी अनुभूति का फैलाव करने लगता है तब हमारे समक्ष काव्य के अन्यान्य रूप उपस्थित हो जाते हैं। यों तो इस रूप का जन्म कवि के अन्तःप्रदेश में उसी समय हो जाता है जब उसे अनुभूति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। जब कवि अनुभूति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को अलग-अलग करके देख लेता है और अन्त में किसी एक तथ्य पर जा पहुँचता है, तब जैसे ही वह अभिव्यक्ति के लिये प्रेरित हो उठता है रूप को जन्म यहीं मिल जाता है। किन्तु सच्चा रूप उसे तभी कहा जाता है जब वह

भाषा के माध्यम से बाहर अभिव्यक्त होकर सब की अनुभूति का विषय बन जाता है। प्रेरणा एवं अनुभूति के स्वरूप की भिन्नता बाहर अभिव्यक्ति में भी भिन्नता ला देती है और काव्य के अन्यान्य प्रकार के रूप भी प्रस्तुत हो जाते हैं। काव्य के इन विभिन्न रूपों का संबंध काव्य के शरीर पक्ष से अधिक है। काव्य के इन विभिन्न प्रकारों में इसी शरीर पक्ष का भिन्न-भिन्न रूप में विकास होता हुआ दिखाई पड़ता है। कभी तो अभिव्यक्त स्वरूप का आकार महाकाव्य का, कभी मुक्तक का, कभी खण्डकाव्य का और कभी गीतिकाव्य का-सा दिखाई पड़ने लगता है। कभी-कभी तो बिल्कुल ही नवीन रूपों में कवि की अनुभूति अभिव्यंजित होती है। यह भेद काव्य में अनुभूति एवं प्रज्ञा के तारतम्य से आ जाता है। किन्तु भेद के आने पर भी सबका मूल एक ही होने के कारण सभी में आत्मा और शरीर की उसी प्रकार अवस्थिति होती है जिस प्रकार सामान्य रूप से काव्य में मिलती है। लययुक्त, छन्दाबद्धरूप में किसी भी अनुभूति की अभिव्यक्ति काव्य है; किन्तु जब यही लययुक्त, छन्दोबद्ध रूप किसी विशिष्ट क्रम एवं किसी विशेष ढंग से सजाया जाता है, तब वह काव्य का एक भिन्न रूप बन जाता है।

काव्य में अनुभूति और प्रज्ञा का संबंध

इस प्रकार अनुभूति तो उस बीज के सदृश है जिससे काव्य-वृक्ष अंकुरित होता है। अनुभूति जब अपना बाह्य प्रकाशन करती है तभी काव्य और काव्य के अनेक रूप प्रकट हो जाते हैं, किन्तु इस अनुभूति को अभिव्यक्ति का सच्चा मूर्त स्वरूप देने वाली होती है प्रज्ञा। प्रत्येक अनुभूति को अभिव्यक्ति के स्तर पर आने के लिये इसी प्रज्ञा या बुद्धि-तत्व का सहारा लेना पड़ता है। 'अपूर्व वस्तु' के निर्माण में यही प्रज्ञा समर्थ कही गई है।[1] काव्य के रूपों के उद्भव में जहाँ अनुभूति वह बिन्दु है जिससे रूप की रेखाएँ खिंचती हैं वहाँ प्रज्ञा वह साधन है जिससे उन रेखाओं को विभिन्न आकार मिलते हैं। चित्रकार अपने चित्र में अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति ही तो करता है—किन्तु उसकी अनुभूतिजनित अन्तःप्रेरणा को साकार करनेवाली होती है उसकी प्रज्ञा। इसी को आगे चलकर प्रतिभा की संज्ञा मिल जाती

---

१. "अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा"

"ध्वन्यालोक" —अभिनवगुप्त (पृ० १७०) प्रथम उद्योत।

है[1]। इसी प्रतिभा के बल पर अनुभूति के बिन्दु से निकली हुई अन्यान्य प्रेरणामयी रेखाओं को एक सुव्यवस्थित रूप देने में समर्थ होता है वह चित्रकार। फिर जो आकार, जो रूप प्रत्यक्ष होता है उसे अन्यान्य प्रकार से रँगना एवं सँजोना उसका अन्तिम कार्य हो जाता है। इस प्रकार जो चित्र सामने उपस्थित होता है उसमें उसकी अनुभूति रह-रहकर प्रतिबिम्बित होती है और वह कृति-कला की अनुपम कृति कहलाती है। इसी "नवनवोन्मेष-शालिनी" प्रतिभा के बल पर कविता करने वाले को ही अभिनवगुप्त ने सच्चा कवि एवं उसक कृति को सच्ची कविता कहा है।

मनुष्य अनुभवशील प्राणी है। उसका अनुभव दो प्रकार का होता है—एक तो सामान्य एवं व्यवहारिक और दूसरा शुद्ध, सहज-सुन्दर अनुभव। इसी दूसरे अनुभव (Pure Experience) का उचित विधि से प्रकाशन काव्य कहलाता है। उस उचित विधि के अध्ययन में कवि-कर्म का सहज ज्ञान हमें हो जाता है। आरम्भ में कवि के अन्तःस्थल में अनुभूतियाँ सोई रहती हैं और किसी प्रेरक वस्तु की तीव्र प्रेरणा से वे जाग्रत हो जाती हैं। तब कवि की यही अन्तःप्रेरणा उसके शुद्धानुभव को बाहर अभिव्यक्त करने के लिये बाध्य कर देती है। अन्तःप्रेरणा के बल पर कवि की अनुभूति अपने सुप्तावस्था से तरलावस्था को प्राप्त हो जाती है। इसी तरलावस्था में प्रज्ञा अपना कार्य करती है और कवि की अनुभूति को अभिव्यक्ति में परिणत कर उसे काव्य का एक ठोस रूप प्रदान करती है। आशय यह कि अनुभूति को अभिव्यक्ति बनाने में प्रथम तो अन्तःप्रेरणा काम करती है जिससे कवि अभिव्यक्ति के लिए आतुर बन जाता है परन्तु अनुभूति अभिव्यक्ति तभी बनती है जब प्रज्ञा का योग उसमें होता है। अन्तःप्रेरणा अव्यक्त रूप है और प्रज्ञा बाहरी ज्ञान और शास्त्रीय अभ्यास का फल है। पर इसमें अन्तः-प्रेरणा भी रहती है इसीलिये इसे "पूर्ववासना" भी कहते हैं। प्रज्ञा कवि के जीवन में पहले से ही रहती है और प्रेरक वस्तु द्वारा जब कवि अत्यधिक प्रभावित होता है तब उसे अनुभूति को बाहर अभिव्यक्त करने की अन्तः-प्रेरणा होती है। इसी अवस्था में, जिसे तरलावस्था या द्रवितावस्था कहते हैं, प्रज्ञा का सहारा लेकर कवि बाह्य अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार

---

१. "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः
कवेः कर्म स्मृतं काव्यम्" [काव्यकौतुक]—भट्टतौत

अभिव्यक्ति का मूल कारण तो अनुभूति का प्रेरणामय होना है पर उस प्रेरणामय अवस्था को काव्यरूप तभी मिलता है जब प्रज्ञा सहायक होती है, भले ही यह प्रज्ञा अनजान में ही क्यों न काम करती हो।

यह प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी बनकर जैसा उचित समझती है वैसा काव्य-वस्तु और शैली का निर्माण करती है। इस प्रतिक्षण नूतन होनेवाली प्रज्ञा में कर्तृत्व अधिक होता है। इसीलिए इसको "प्रतिभा" का भी नाम दिया गया है। संस्कृत के आचार्यों ने इसी "प्रतिभा" को कविता का कारण मानकर उसे एक ऐसी शक्ति के स्वरूप में गृहीत किया है जो प्रत्येक कवि में होती है[१] परन्तु इसका स्वरूप सर्वत्र एक प्रकार का नहीं होता। कहीं वह ईश्वर-प्रदत्त रूप में होती है, कहीं वह उत्कृष्ट व्युत्पत्ति से उत्पन्न होती है। इस प्रकार आचार्य रुद्रट ने उसके दो स्वरूप बताए हैं। एक तो सहज दूसरा उत्पाद्य।[१] किन्तु जहाँ प्रतिभा का स्वरूप ईश्वर-प्रदत्त होता है वहाँ अनुभूति बहुत ही सहज अकृत्रिम रूप में अभिव्यक्त होती है। अतएव काव्यरूप भी सुन्दरतम रूप में उपस्थित होता है।

कवि की अनुभूति किस प्रकार अभिव्यक्त होकर काव्यरूप में ढलती है इस प्रक्रिया को कवि के एक गीतिकाव्य द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त-नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास
यह लो, करते ही रहते हैं, अपना व्यंग्य-मलिन उपहास।
तब भी कहते हो.... कह डालूँ दुर्बलता अपनी-बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे... यह गागर रीती।

---

१. सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
उत्पाद्या तु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया।
"काव्यालंकार" पृ० १ रुद्रट

२. मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य,
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥१५॥
काव्यालंकार रुद्रट अध्याय १, पृ० ६

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥१०३॥
दंडीकृत काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद, पृ० ६५

किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी या प्रवञ्चना औरों को दिखलाऊँ मैं।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिलखिला कर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया?
आलिंगन में आते आते मुसक्या कर जो भाग गया।
जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी रहती है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे... मेरी भोली आत्मकथा?
अभी समय भी नहीं .. थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

[लहर: पृ० ५, ६, जयशंकर प्रसाद]

प्रस्तुत गीत में कवि की बाह्य प्रेरणा है मित्र का अनुरोध, जिसने उससे आत्मकथा लिखने के लिए कहा। अस्तु कवि को अन्तःप्रेरणा उससे यह मिलती है कि उसकी कविता ही स्वयं उसकी आत्मकथा है और उसको ऐसे रूप में ढाला जा सकता है जिसका स्वरूप बिलकुल आत्मकथा का सा हो। अन्तःप्रेरणा द्वारा यह ज्ञान उन्हें हुआ कि बाह्य कथा रूप में आत्म-चरित लिखना एक विडम्बना मात्र है।

कवि की शुद्ध अनुभूति यह है कि जीवन भर उन्हें सहृदय के नाते यह अनुभव हुआ कि आत्मविकास और सेवा का जीवन बिताने वाले मनुष्य की लौकिक कथा से लोग लाभ नहीं उठाते। उससे स्वयं लेखक को भी लाभ नहीं होता और न पाठक को ही विनोद के अतिरिक्त कोई लाभ होता है। अतः वह मौन रहकर अपनी वेदना को छिपाना ही अच्छा समझता है।

यह शुद्ध अनुभव बहुत से व्यक्तियों को होता है। किन्तु बाह्य प्रेरणा या प्रेरक वस्तु एवं भीतरी अन्तःप्रेरणा के न होने के कारण वे उसे अभि-व्यक्त करने का यत्न नहीं कर पाते। अस्तु, जब प्रसादजी अपने मित्र प्रेम-चन्दजी के अनुरोध को स्वीकार करते हैं और जब उन्हें अपनी अनुभूति को

बाहर प्रकट करने के लिए अन्तःप्रेरणा होती है, तब प्रज्ञा उन्हें सहायता देती है इस बात को समझने के लिए कि आत्मकथा वस्तुतः है क्या वस्तु ! कवि इसका विश्लेषण और विवेचन करने लगता है। उसमें प्रतिभा, श्रुत और अभ्यास तीनों हैं। अतएव उसे काव्य की प्रत्येक शैली का ज्ञान है और साथ ही वह काव्यमय भाषा का भी जानकार है। इस प्रकार अभ्यास और ज्ञान के बल पर उसकी अनुभूति सरलतापूर्वक अभिव्यक्ति बन जाती है और एक अत्यन्त सरस "गीत" बन जाता है।

प्रस्तुत उदाहरण अनुभूति, अन्तःप्रेरणा और प्रज्ञा तीनों के स्वरूप को स्पष्ट कर देता है और इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि तीनों के सहयोग से काव्यरूप को जन्म मिलता है।

एक ओर कवि होता है दूसरी ओर पाठक और दोनों के बीच होता है काव्यरूप। अस्तु, ध्यान देने वाली बात यहाँ पर यह होती है कि काव्यरूप के अध्ययन में उपर्युक्त प्रक्रिया उलट देनी पड़ती है। कवि और पाठक के समक्ष काव्य का द्रव रूप तो रहता है और यह दोनों की सामान्य भूमि भी होती है, किन्तु काव्यरूप के निर्माण में कवि के समक्ष प्रथम रहती है अनुभूति, फिर अन्तःप्रेरणा; तत्पश्चात् प्रज्ञा और अन्त में खड़ा होता है काव्यरूप। किन्तु पाठक के समक्ष प्रथम रहता है कवि का बाह्य अभिव्यक्त स्वरूप। इसी काव्यरूप के बीच से होकर वह अनुभूति तक पहुँचता है। अन्त में वह काव्यरूप की व्याख्या कर पाता है। अतः पाठक भाषा और संगीत के योग से उसका अर्थ समझता है, फिर अपनी ग्राहक शक्ति या प्रतिभा द्वारा आभ्यन्तर और बाह्य प्रेरणा को ढूँढ कर उस अनुभूति तक पहुँचता है जहाँ उसे आनन्द की प्राप्ति होती है। प्रकारान्तर से काव्य निर्माण के समय जो स्थिति कवि की होती है वही स्थिति काव्यानन्द पाने के उपरान्त पाठक की भी हो जाती है। दोनों में तादात्म्य स्थापित हो जाता है और रूप की महत्ता द्विगुणित हो उठती है।

साधारण रूप में देखा जाय तो अनुभूति और प्रज्ञा का सुन्दर समन्वय काव्य में दिखाई पड़ता है, कभी अनुभूति का तत्व ऊपर उठ आता है, तो कभी बुद्धिपक्ष का प्राधान्य-सा हो जाता है। इसी के तारतम्य से विविध काव्यरूपों का उद्भव होता हुआ दिखाई पड़ने लगता है। जहाँ दोनों का सुन्दर समन्वय होता है वहाँ काव्य के रूप में भी भावपक्ष और कलापक्ष मिलकर एक हो जाते हैं; जहाँ अनुभूति का राज्य होता है वहाँ अति भाव-

प्रधान काव्यरूप को जन्म मिलता है और जहाँ बुद्धिपक्ष की प्रबलता होती है वहाँ बड़े ही कलापूर्ण रूपों का उद्भव होता है।

इसी प्रसंग में विचारणीय जो बात हो जाती है वह यही कि अनुभूति की प्रधानता तो काव्य में किसी सीमा तक हो सकती है किन्तु बुद्धि का प्राधान्य एक सीमा के भीतर ही होना अपेक्षित होता है। कारण यह कि अनुभूति का प्राधान्य अति भावात्मकता में परिणत होकर जिस काव्यरूप को जन्म देगा उसमें अनुभूति की कोमलता का अतिशय हो जायगा, जो हमारी हृत्तंत्री के तारों को झंकृत कर देगा। किन्तु बुद्धि का प्राधान्य अति बौद्धिकता को जन्म देकर जिस कलात्मक काव्यरूप का निर्माण करेगा उसमें तर्क की प्रधानता आ जायगी। हमारे हृदय पर उसका प्रभाव अधिक नहीं पड़ सकता। कारण यह कि कविता तर्कप्रधान नहीं होती—उसका स्वरूप सदैव भावात्मक ही होता है। यही कारण है कि या तो भाव-प्रधान अथवा भाव एवं कला-पक्ष के समन्वय वाले काव्यरूप ही अधिक प्रभावशाली हुए हैं। किन्तु इनमें बुद्धिपक्ष का परिहार हुआ हो ऐसा भी कदापि नहीं। बिना बुद्धि के इनकी काव्यरूप में परिणति ही असंभव है। अतः सीमा के भीतर ही बुद्धि का कौशल अपेक्षित होता है। सारांश यह कि बुद्धि जब अनुभूति का बाना पहनकर काव्यरूप में परिणत होती है तब उसका स्वरूप अत्यन्त आकर्षक हो जाता है, साथ ही उस काव्य का रूप अपने प्रभाव में स्थायी भी हो जाता है। यही स्थायित्व की भावना प्रत्येक कलाभिव्यक्ति के मूल में मिलेगी।

काव्यरूप

रूप वह बाहरी आवरण है जिसके भीतर से आत्मा जगमगाती है। आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिये जो बाह्य शरीर धारण करती है, वही रूप कहलाता है। काव्य-क्षेत्र में भी यह बाह्यरूप उसी आत्मा का प्रतीक बन जाता है जिसे हम अनुभूति कहते हैं। काव्य के सामान्य स्वरूप की चर्चा करते हुए हमने काव्य के दो पक्ष बताए—एक तो आत्मा और दूसरा शरीर। यही शरीर जब किसी विशेष ढंग में होकर अभिव्यक्त होता है, अर्थात् जब अनुभूति की अभिव्यक्ति में छन्द, लय आदि काव्यशरीर के अंगों का गुंफन किसी विशेष ढंग से कवि करता है तब रूप या काव्यरूप[1] का प्रादुर्भाव होता है।

---

१. "In general the external shape, appearance, configuration of an object in contradistinction to the matter of which it is composed"
(Encyclopedia Brittannica-Vol X page 667.)

शरीर के निर्माण के लिये विभिन्न अंगों की आवश्यकता होती है। शरीर विभिन्न अंगों का समवाय है किन्तु ये अंग तभी एक शरीर के अंग कहलाएँगे जब सब मिलकर एक समग्र (Whole) के रूप में प्रकट हों। जब आत्मा इन सब अंगों के सामग्र्य में से अभिव्यक्त होती है तभी शरीर का जन्म होता है। शरीरांगों के एक होते हुए भी रूप में कितना अधिक भेद आ जाता है। ठीक इसी प्रकार काव्य के विविधांगों के एक समान होते हुए भी काव्य के रूपों में कितनी भिन्नता दिखाई पड़ती है। कवि के पास अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाने के लिये शब्द, अर्थ और छन्द का ही माध्यम रहता है। इन्हीं के सहारे उसकी अनुभूति काव्य के विविध रूपों में होकर अभिव्यंजित होती है। उन सभी अभिव्यंजित रूपों में ये तीनों तत्व निहित मिलते हैं किन्तु प्रत्येक रूप अपना भिन्न सौन्दर्य लिये हुए दिखाई पड़ता है।

काव्यरूप छन्दोमय रूप नहीं

काव्यरूप से काव्य के छन्दोमय रूप की भी प्रतिध्वनि हो सकती है। किन्तु काव्यरूप से वस्तुतः उस छन्दोमय रूप से हमारा तात्पर्य नहीं प्रत्युत उस सम्पूर्ण बाह्य स्वरूप से है जिसके भीतरी किसी भी भाषा के माध्यम से किसी भी छन्दों के प्रयोग से किसी विशेष शैली में होकर कवि की विशिष्ट अनुभूति किसी विशेष रूप में अभिव्यक्त होती है। छन्द तो काव्यरूप की अभिव्यक्ति के माध्यम का एक अंग है अर्थात् काव्य में छन्द उसका बाह्य शरीर होता है किन्तु काव्यरूप तो वह सम्पूर्ण आकार या साँचा होता है जिसमें काव्य का यह छन्दोमय रूप एक नवीन ढंग से गुंफित किया जाता है। छन्दोबद्ध रूप तो काव्य का एक लक्षण है उसका रूप नहीं। शरीर के केवल एक अंग के नाम मात्र से ही सम्पूर्ण शरीर का आशय निकले, ऐसा

"Form is the outward symbol of that 'organisation' which we have already analysed as the function of poetry"

(Discovering Poetry-Elizabeth Drew-page 93)

"Thus we see that the thoughts and experiences when put together in different ways in different poems of the poet, we call that particular way their "Form" or "Poetical form"

(Form and style in Poetry—W. P. KER—

नहीं। प्रत्युत शरीर के सभी अंगों का वर्णन करके ही हम उस शरीर का भान करा सकते हैं। उसी भाँति काव्य के किसी भी रूप का गठन उसके विविधांगों के समुचित योग से ही होता है और यह रूप कवि की मनोवृत्ति विशेष से ही बनता है। किन्तु यह काव्यरूप एक साथ ही बाहर अभिव्यक्त हो पड़ता हो ऐसी बात नहीं। भाषा का माध्यम उतना सक्षम नहीं कि जैसे ही कवि अभिव्यक्ति के लिये प्रेरित हुआ और तुरन्त ही उसकी अभिव्यक्ति, भाषा द्वारा, उसी रूप में हो गई। अनुभूति जिस भाँति कवि के भीतर भिन्न-भिन्न मानसिक चित्रों में होकर अभिव्यक्ति के लिये कवि को प्रेरित करती है उसी भाँति बाहरी अभिव्यंजना में भी एक-एक करके कवि का मानसिक चित्र अभिव्यक्त होता है। इन भिन्न-भिन्न चित्रों का संबंध कवि की अनुभूति से ही होता है और अन्त में जाकर कवि के अन्यान्य चित्र एकतान होकर एक सम्पूर्ण रूप की सृष्टि कर देते हैं। यहाँ आकर उसकी अनुभूति पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हो जाती है और काव्यरूप को जन्म मिल जाता है।

अस्तु काव्यरूप काव्य का वह सम्पूर्ण बाहरी साँचा होता है जिसमें से होकर कवि की कोई विशेष अनुभूति अभिव्यक्त होती है। उदाहरणार्थ, महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, गीतिकाव्य आदि। ये रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। अस्तु एक ही रूप में एक ही प्रकार की अनुभूति की अभिव्यक्ति हो सकती है। क्योंकि प्रत्येक काव्यरूप कवि की भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूति का प्रतीक होता है। कभी तो कवि की अनुभूति स्वतः किसी काव्यरूप के साँचे को तैयार करती है, तो कभी कवि इसी साँचे में अपनी समान अनुभूति को ढालकर अभिव्यक्ति करता है और कभी उस साँचे को कवि अपनी अनुभूति के अनुरूप बनाकर भावाभिव्यंजना करता है। इन तीनों प्रकार के कवियों में विकासोन्मुख प्रथम और तृतीय ही होते हैं। द्वितीय प्रकार का कवि एक तो कोई नवीनता नहीं ला पाता, दूसरे कभी-कभी उसकी सुन्दर अनुभूति परम्परा-प्राप्त काव्यरूप के साँचे में ढलकर असुन्दर हो जाती है। अतः काव्यरूपों के निर्वाचन में कवि को सतर्कता से काम लेना पड़ता है। दूसरे उसे इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि जिस रूप को उसने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है उसमें अभिव्यक्त होकर उसकी अनुभूति परस्पर संबद्ध हो सकती है अथवा नहीं। अर्थात् अनुभूति और अभिव्यक्ति में एकसूत्रता स्थापित हो सकती है या नहीं। यदि ऐसी एकसूत्रता को काव्य-रूप दे सका तो अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह सफल कहा जायगा, अन्यथा असफल।

काव्यरूप ऐक्य का द्योतक है

काव्य-क्षेत्र में काव्यरूप कवि के अन्तर्दर्शन या अनुभूति में ऐक्य लाता है। कारण यह कि वह उसी अनुभूति का ही तो बाह्य रूप होता है। किन्तु जब हम रूप को बिलकुल ही बाहरी वस्तु समझने लगते हैं, जब हम यह समझते हैं कि कविता में वह कहीं बाहर से लाकर चिपका दिया गया है, तब हम एक भूल करते हैं। कारण यह कि इस दृष्टि से रूप की महत्ता इसलिये ऊँची है कि वह अनुभूति की महत्ता का प्रतीक है। उसकी महत्ता को आँकना अनुभूति की महानता को आँकना है। आशय यह है कि काव्य-रूप उसके विषय का अभिन्न अंग है और जब हम रूप को इसी अर्थ में लेकर चलते हैं, जब हम उसे उस संकलित प्रभाव के रूप में लेकर चलते हैं, जो अन्यान्य तत्वों के सम्मिश्रण से कवि ला पाता है, तब वस्तुतः उसकी महत्ता का हमें भान हो पाता है।

कवि अपनी अभिव्यक्ति में अपनी अनुभूतियों को बिखेरे देता है। कोई अनुभूति पहले कोई बाद में रखी जाती है और जब कवि उन्हें एक सुन्दर एवं मधुर रूप में संघटित कर देता है तब अन्त में उसका समन्वय होकर एक संकलित प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। इस प्रभाव को जन्म देना ही मानों अनुभूति को एक आकार अथवा रूप प्रदान करना है। हम कोई कविता पढ़ते हैं, हमारे मस्तिष्क पर उसके द्वारा गृहीत प्रभाव की छाप क्रमशः पड़ती जाती है। एक-एक हृदयस्पर्शी स्थल हमारे अन्तःप्रदेश में क्रमशः स्थान पाते जाते हैं और अन्त में एक समय ऐसा आता है जब हमारी उत्सुकता पूर्ण रूप से शांत हो जाती है, हमें रुकना पड़ता है। अब न तो शब्द रहते हैं, न कविता ही रह जाती है, बल्कि रह जाता है उसका वह संकलित प्रभाव जिसमें हृदयस्पर्शी स्थल श्रृंखलाबद्ध रूप में दिखाई पड़ते हैं। बिखरी हुई अनुभूतियाँ मिलकर एकरूप हो जाती हैं और काव्य का एक रूप हमारे समक्ष खड़ा हो जाता है, पर उसका नामकरण हम नहीं कर पाते, बस एक आकार आँखों के समक्ष आ जाता है। नामकरण तो काव्य के शास्त्री करते हैं जिनका कार्य ही काव्य की छानबीन करना होता है।

काव्याभिव्यक्ति के बाह्यस्वरूप में अनेकरूपता

प्रत्येक दृश्यवस्तु अपना एक आकार लेकर इस दृश्यमान जगत में अवतरित हुई है। इन्हीं से प्रभावित होने वाले कवि की बाह्य अभिव्यक्ति का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हो जाता है।

कविता ही नहीं गद्य के भी क्षेत्र में अन्यान्य रूप हमें मिलेंगे। नाटक

को ही यदि हम लें तो हम देखेंगे कि अन्यान्य पात्रों के बीच से नाटककार अपनी अनुभूति की शृंखला को परस्पर संबद्ध करने का ही तो प्रयास करता हुआ दिखाई पड़ता है। अन्त में सम्पूर्ण नाटक का जो एक समाहित प्रभाव हम पर पड़ता है उसे हम दुःखात्मक या सुखात्मक कहकर पुकारने लगते हैं। यह कथन हमारे ऊपर पड़े प्रभावों का ही एक रूप होता है। इसी प्रकार कविता के क्षेत्र में भी रूप का जन्म अन्यान्य प्रभावों की कड़ियों के उपरान्त ही हो पाता है। कभी वह प्रभाव शीघ्र ही पूर्ण हो जाता है तो कभी देर में। प्रभाव के विस्तार के साथ रूप का भी विस्तार होता है। किन्तु एक ही वाक्य में उसकी सृष्टि कर दी जाय ऐसा कठिन है—प्रत्युत जब तक कवि अपनी अभिव्यक्ति में अपना हृदय खोलकर रख नहीं देता—जब उसे पढ़कर हमें इस बात का सच्चा भान नहीं हो जाता कि कवि के हृदय में कब और कैसे तथा किस रूप में किस-किस अनुभूति ने जन्म लिया—उसके अन्तरतम में कैसी-कैसी भावनाएँ जग पड़ीं एवं उसकी प्रतिक्रिया तथा समन्वय कैसे हुआ—तब तक न तो समाहित प्रभाव की सृष्टि ही हो पाती है न रूप को जन्म ही मिल पाता है। एक वाक्य में अपनी अनुभूति क्या थी केवल यह कह देना भर अलम् नहीं। एक के बाद एक अन्तर्दर्शन की योजना के पश्चात् ही अनुभूति अपने पूर्ण रूप में अभिव्यक्त होकर रूप का निर्माण करती है। काव्यरूप के निर्माण के पश्चात् काव्य का एक-एक अंश महत्वपूर्ण प्रतीत होने लगता है और कुछ स्थल तो उसमें ऐसे आ जाते हैं जहाँ हमारा हृदयप्रदेश अत्यधिक प्रभावित होता है, हम उसमें लीन हो जाते हैं। इस तल्लीनता के लिये यह आवश्यक नहीं कि काव्यरूप बृहद् हो। महाकाव्य काव्यरूपों का सबसे अधिक बड़ा रूप है किन्तु उसकी बृहदता में ही उसकी महानता कदापि नहीं, प्रत्युत वह महाकाव्य इसीलिये कहलाता है कि उसमें कवि की अनुभूति महान् होती है, उसका क्षेत्र विस्तृत होता है और ये अन्यान्य अनुभूतियाँ एक बड़े आकार में होकर ही अभिव्यक्त हो पाती हैं। होने को तो एक छोटा-सा गीतिकाव्य भी इस दृष्टि से महान् होता है कि उसमें भी कवि की सुन्दरतम भावाभिव्यक्ति सुन्दर रूप में होती है। किन्तु यदि हम यह कहने लगें कि उसमें एक ही क्षण की एक ही तीव्रतम भाव की अभिव्यक्ति की गई है अस्तु उसकी महत्ता उतनी नहीं जितनी एक महाकाव्य में अभिव्यक्त उस सर्वाङ्गपूर्ण अनुभूति की होती है, तो यह कथन युक्तिसंगत नहीं। कारण यह कि काव्य का रूप महाकाव्य का हो, चाहे खंडकाव्य का और चाहे गीतिकाव्य का, सभी में किसी

न किसी अनुभूति की ही अभिव्यक्ति होती है। यदि इन सभी रूपों में, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में वस्तुतः अटूट संबंध स्थापित हो चुका है, दोनों मिलकर एक हो गई हैं, तो चाहे वह खंडकाव्य हो चाहे गीतिकाव्य, वह रूप उतना ही महान होगा जितना कि एक महाकाव्य। हाँ, इतना तो निर्विवाद है कि विधान की दृष्टि से जितने कौशल की अपेक्षा एक महाकाव्य रचना में होती है यदि उसका अभाव हुआ तो अभिव्यक्त स्वरूप की महत्ता जाती रहेगी। कारण यह कि यहाँ अनुभूति की अन्विति द्वारा उस संकलित प्रभाव तक पहुँचने के लिये कवि को अपनी प्रतिभा के बल पर अन्यान्य ऐसे अवसरों की कल्पना करनी होती है जिसमें से होकर उसकी अनुभूति अनुकूल रूप में अभिव्यक्त होने का मार्ग निकाल ले। इन्हीं स्थलों में से होकर जब उसकी अनुभूति एक दूसरे से गुँथ कर अन्तिम प्रभावात्मकता को पहुँच पाती है तभी रूप की महत्ता स्वीकृत की जाती है। इसीलिये महाकवि और महाकाव्य दोनों ही को दुर्लभ कहा गया है।[1] किन्तु जब हम काव्यरूप को एक ही कसौटी पर कसते हैं, जब रूप में अनुभूति और अभिव्यक्ति बिम्बप्रतिबिम्ब रूप में दिखाई पड़ती है, तब उसके छोटे और बड़े आकार का भाव बिखर जाता है, शेष रह जाती है केवल उनकी समान महत्ता।

कठिन नियम-निर्धारण की परिपाटी भ्रान्तिपूर्ण है

काव्यरूप किसी कठिन नियमों का बन्धन नहीं बनाते, अपितु यह नियम-निर्धारण तो उस काव्यशास्त्र का एक अंग होता है जिसकी सृष्टि का एकमात्र कारण काव्य ही है। काव्यशास्त्र के रचयिता काव्य के विविध रूपों के लक्षण देखकर कुछ सीमाएँ बनाकर रख देते हैं। विचार कर देखा जाय तो कुछ सीमाएँ काव्यरूपों की स्वतः कवि द्वारा भी बनती चली जाती हैं। कारण यह कि काव्य-क्षेत्र में काव्यरूपों का उद्भव काव्याभिव्यक्ति को एक प्रकार से सीमित कर देने का ही परिणाम है। यह सीमा बाँधने की प्रणाली काव्य ही नहीं प्रत्येक कला के मूल में विद्यमान मिलेगी। कलाकार अपनी कृति में सौन्दर्य की सृष्टि के लिये ऐक्य लाने का यत्न करता है। आन्तरिक ऐक्य के साथ-साथ बाहरी ऐक्य भी आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में, यही

---

१. येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।

१ उद्योत, पृ० २६—'ध्वन्यालोक, आनन्दवर्द्धन।

बाहरी ऐक्य आन्तरिक ऐक्य का द्योतक होता है और जब तक कलाकार या कवि अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम में कुछ नियम-निर्धारण नहीं कर लेता, तब तक यह एकता लाना कठिन हो जाता है। वह अभिव्यक्ति के लिये कुछ बँधे हुए मार्गों को ढूँढ निकालता है, जिनमें से होकर उसकी विशेष अनुभूति प्रकाशित होती है। इस प्रकार जब कोई विशेष अनुभूति उस विशेष मार्ग-काव्यरूप में होकर अभिव्यक्त होती है, तब उसके कुछ मोटे-मोटे नियम स्वतः बन जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ एक ही काव्यरूप में अभिव्यक्त होने लगें जो रूप की दृष्टि से बिलकुल असंभव है। आशय यह कि काव्यरूप के बनते ही स्वतः कुछ नियम भी बन जाते हैं, किन्तु ये नियम ऐसे नहीं होते जो काव्यरूपों के विकास में बाधक हों। इनसे तो कवि के लक्ष्य अर्थात् काव्य में ऐक्य की भावना की ही पूर्ति होती है। बिना काव्यरूपों के ऐक्य लाना कठिन है, तो बिना ऐक्य के सौन्दर्य की लालसा भी व्यर्थ है। काव्यरूपों में यह नियन्त्रण विषय की दृष्टि से किया गया है और जिस प्रकार एक कलाकार को अपनी कला द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर ही विचरना होता है ठीक उसी भाँति काव्य के कर्ता को काव्यरूपों के निर्माण में उनके द्वारा निर्मित सीमाओं के भीतर ही अभिव्यक्ति का मार्ग भी ढूँढ़ना पड़ता है। क्या चित्रकार, क्या संगीतज्ञ सभी को अपनी सीमा के भीतर ही सौन्दर्य की सृष्टि करनी होती है। चित्रकार अपनी सीमा को तोड़कर, संगीतज्ञ संगीत के बन्धनों को अमान्य कहकर सौन्दर्य ला ही नहीं सकता।

काव्यरूपों के उत्तरोत्तर विकास में नवीनता एवं मौलिकता लाने की भावना अत्यधिक सहायक होती है। किन्तु जब परम्परागत आते हुए साँचे में कवि ज्यों की त्यों अपनी अनुभूति को ढालकर बाहर अभिव्यक्त करने लगता है तब उसके विकास में अवरोध उपस्थित होने लगते हैं। कारण यह कि जहाँ अनुभूति अपने प्रकृत रूपों में अभिव्यक्ति का साँचा ढूँढ निकालती है वहाँ काव्यरूप के लिये अनुभूति का बलिदान कवि को नहीं करना पड़ता। अर्थात् कवि को साधन के लिये साध्य का बलिदान नहीं करना पड़ता। काव्यरूप तो वह साधन है जिससे कवि की साध्य रूप अनुभूति अभिव्यक्त होती है। किन्तु जब प्राप्त काव्यरूप के साँचे में कवि की अनुभूति की व्यंजना के लिये कठिन नियम बना दिये जाते हैं तब प्रायः कवि को काव्यरूप के लिये अनुभूति का बलिदान करना पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में न तो काव्यरूप मौलिकता ला पाता है और न उसके उत्तरोत्तर

विकसित होने के लक्षण ही दिखाई पड़ते हैं। फलतः काव्य-क्षेत्र में काव्य-रूपों की एक रूढ़ि-सी बन जाती है। कवि कोई विषय लेता है और उसे उस रूढ़ साँचे में ढाल लेता है। अनन्तर उसमें से काव्यरूप उसी भाँति कटा-छँटा-सा निकल आता है जिस भाँति कुम्हार के बनाए हुए साँचे में से मिट्टी के बर्त्तन एक के बाद एक बिना किसी भिन्नता के निकलते चले आते हैं। यह बात तो अवश्य है कि विशेष अनुभूति की अभिव्यक्ति किसी विशेष रूप में ही हो सकती है, महाकाव्यमय अनुभूति जब भी अभिव्यक्त होगी सर्गबद्ध प्रबन्ध के ही रूप में। इसी के ऊपर प्रत्येक महाकाव्य का स्वरूप भी निर्मित होगा। किन्तु परम्परागत आते हुए साँचे में एक चिह्न भी नवीनता का लाने में संकोच करना काव्यरूपों के विकास में बाधा डालना ही होगा। यही कारण है कि प्रत्येक युग में जब कभी कवियों ने स्वच्छन्दता से काम लिया है, रूप की दृष्टि से काव्य में सदैव परिवर्तन आते गए हैं। "रीतिकाल" में आकर काव्यरूप परम्परागत रूढ़ि में बँध-सा गया। अतः कविता का रूप सभी कवियों का प्रायः एक-सा ही मिलता है। यदि मुक्तक-रचना कवियों ने की तो दोहे, कवित्त-सवैये की पद्धति पर और यदि महा-काव्य रचे गए तो वही परम्परा के साँचे में ढालकर। पर्याप्त समय तक महाकाव्य की रचना में विकास के चिह्न न दिखाई पड़े। "मानस" के बाद आधुनिक काल में जाकर कहीं "कामायनी" का स्वरूप विकासोन्मुख दिखाई पड़ा। 'स्वच्छन्दतावाद' के आगमन से काव्यरूपों के विकास के पर्याप्त चिह्न दिखाई पड़े। आधुनिक गीतिकाव्य रूप की दृष्टि से एक बिलकुल नवीन रूप दिखाई दिया और महाकाव्य के क्षेत्र में "कामायनी" में गीतात्मकता का पुट भी रूप के विकास में एक नवीन पग उठाना ही कहा जायगा।

काव्यरूपों में चित्तप्रवृत्ति और विधान का संबंध

काव्यरूपों में चित्तप्रवृत्ति और विधान ये दो तत्व विचारणीय हो जाते हैं। कोई भी विषय उस समय तक अभिव्यक्त नहीं हो पाता जबतक कवि की मनोवृत्ति या चित्तप्रवृत्ति उस विषय के अनुरूप नहीं बन जाती। जब कवि की मनोवृत्ति विषयानुरूप बन जाती है तब अभिव्यक्ति का मार्ग खुल जाता है और पाठक इन्हीं मनोवृत्तियों के अनुरूप बने हुए काव्यरूप के बीच कवि के जीवन के प्रति दृष्टिकोण का समुचित अध्ययन कर लेता है। एक प्रकार से काव्यरूपों का अध्ययन कवि की मनोवृत्तियों का अध्ययन भी है। क्योंकि ये मनोवृत्तियाँ ही विषय का निर्वाचन कर काव्यरूपों में उसकी परिणति करती हैं। मनस्तत्ववेत्ताओं ने इन मनोवृत्तियों का अध्ययन कर मानव में मुख्यतया

दो प्रकार की चित्तप्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है, एक तो 'अन्तर्मुखी' और दूसरी 'बहिर्मुखी'।[१] कवि भी इसी प्रकार कभी अन्तर्मुख और कभी बहिर्मुख होता है। अन्तर्मुख होने पर कवि बाह्य संसार से हटकर अपने अन्तर्जगत की ओर उन्मुख होता है तथा बहिर्मुख होने पर वह संसार के बीच से होकर निकलता है। फलस्वरूप एक अभिव्यक्ति में आत्माभिव्यंजना का, तो दूसरी में वस्तु वर्णनात्मकता का प्राधान्य हो जाता है। इस प्रकार कुछ काव्यरूपों का स्वरूप अति भावात्मक और कुछ का अति वर्णनात्मक हो जाता है।

कवि की चित्तप्रवृत्ति अपने अनुरूप विषय ढूँढ़ कर काव्यरूप का निर्माण करती है, किन्तु कभी विषय कवि के सामने प्रस्तुत होता है और उसे उस विषय के अनुरूप अपनी मनोवृत्ति को बनाकर काव्यरूप में अभिव्यक्ति करनी होती है। सभी विषय सभी प्रकार के काव्यरूपों में ढलकर एक-सी प्रभावात्मकता नहीं ला सकते। काव्य के कुछ रूप ऐसे भी होते हैं जिनमें ऐसे ही जीवन को काव्य का विषय बनाया जाता है जो सर्वाङ्गपूर्ण होने के साथ ही साथ महान् भी हो। ऐसे रूपों में कोई भी महान् जीवन अभिव्यक्त तो किया जा सकता है, किन्तु यहाँ वह प्रभावात्मकता नहीं आ पाती जिसको देखने के आदी हम बन जाते हैं। उदाहरणार्थ राम के जीवन को ही लीजिये, उनके नाम मात्र में ही कितनी महत्ता लिपटी हुई है। यह जीवन अपने सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्त होकर महाकाव्य का रूप धारण कर सकता है क्योंकि महाकाव्य में जिस सर्वांगपूर्ण महत्ता की अपेक्षा होती है वह उनके जीवन में हमें उपलब्ध है। राम के जीवन में "महतांच महच्चयत्" की भावना छिपी हुई है, अस्तु उनका जीवन एक छोटे से मुक्तक से लेकर बड़े महाकाव्य तक में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हो सकता है। किन्तु कृष्ण के नाम के साथ एक गीतात्मक भावना लिपटी हुई है, उनका जीवन कवि के काव्य का विषय बनकर महाकाव्य की सी महत्ता नहीं ला सकता। कारण यह कि उनका जीवन अन्यान्य ऐसी घटनाओं से आपूर्ण है जिनमें क्षणिक प्रभावात्मकता विद्यमान है। जब कभी यह जीवन काव्य का विषय बनेगा उसमें काव्य के अन्यान्य रूप तो सफलतापूर्वक अभिव्यक्त होते हुए दिखाई पड़ेंगे किन्तु महाकाव्य का रूप उतना भव्य कदापि नहीं बन पाएगा।

आशय यह कि कुछ विषय सामग्री ही ऐसी होती है जिसकी अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक विशेष काव्यरूप में ही हो जाती है। इस प्रकार कवि को एक

---

१. Introvert and Extrovert:—Psychologicel types—C. G. Jung. New York. 1923

ओर तो चित्तप्रवृत्ति के अनुरूप काव्यरूपों की सृष्टि करनी होती है तो दूसरी ओर काव्यरूप के अनुरूप विषय चुनकर उसके अनुरूप अपनी चित्तप्रवृत्ति को बनाकर काव्यरूपों का निर्माण करना पड़ता है।

कवि अपनी अनुभूति का प्रेषण काव्यरूप द्वारा किस भाँति करता है इसका विचार विधान के अन्तर्गत होता है। रूप का जन्म तो पहले कवि के भीतर ही हो जाता है जिसे हम मानसिक रूप कह सकते हैं। किन्तु यह मानसिक रूप पाठक तक तभी पहुँचाया जाता है जब कवि भाषा, छन्द और शैली का सहारा लेकर उस मानसिक रूप को शाब्दिक रूप प्रदान करता है। काव्यरूप के विधान में शब्दों की ध्वनि, छन्दों का संगीत एवं लय सभी परमावश्यक तत्व होते हैं। इनके सुन्दर योग द्वारा किसी भी काव्यरूप की प्रभावात्मकता में वृद्धि होती है। इन्हीं तत्वों का सुन्दर गुंफन ही काव्य-रूप बनकर कवि की अनुभूति को पाठक तक पहुँचा देता है।

"रूपभेद" के कारण

"काव्यशास्त्र" में प्रत्येक काव्यरूप की परिभाषा करते हुए आचार्यों ने उनके रचना-विधान की ओर भी दृष्टिपात किया है। उन्होंने प्रत्येक काव्यरूप के लिये कुछ आवश्यक तत्व भी निर्धारित कर दिये हैं। किन्तु काव्यरूपों को इन्हीं तत्वों की आधारभूमि पर खड़ा करना विकास में बाधा ही डालना होगा। क्योंकि काव्यरूप तो निरन्तर बदलती हुई मानव-मनोवृत्तियों के अनुरूप ही निरन्तर नवीन रूप धारण करते रहते हैं। इस विकास के लिये विधान में उचित परिवर्तन करते रहना ही कल्याणप्रद है। काव्यरूप केवल शास्त्र से संपादित तत्वों की पूर्ति मात्र ही से नहीं बनते, अपितु कवि की सच्ची अनुभूति प्रेरणा के बल पर स्वतः अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ़ कर काव्यरूप में परिणत हो जाती है। किन्तु यह अभिव्यक्त रूप सर्वत्र एक-सा नहीं रहता। आत्मा के एक होने पर शरीर कितने भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं। यही कौतूहल काव्य-क्षेत्र में अनेक काव्यरूपों को देखने के उपरान्त होता है और जब हम छानबीन करते हैं तब हमें इस भिन्नता के मूल कारणों का ज्ञान हो जाता है।

(१) सामाजिक अवस्था के कारण रूपभेद

सामाजिक प्राणी होने के नाते कवि का समाज से बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। समाज के छोटे से छोटे उलटफेर से प्रभावित होकर कवि भावाभिव्यक्ति करता है। वैदिक युग में आध्यात्मिक मनोवृत्ति के अनुरूप सूक्तियाँ अधिक लिखी गईं। इसके पश्चात् एक समय ऐसा आया जब समाज की व्यवस्था

अधिक प्रधान हो गई। इसीलिये वाल्मीकि और व्यास के महाकाव्यों की रचना हुई। हिन्दी के आदि युग से आधुनिक काल तक क्रमशः चले आएँ तो हम देखेंगे कि किन-किन परिस्थितियों के बीच होकर निकले हैं हमारे कवि और उन परिस्थितियों के अनुरूप कैसे-कैसे आते गए हैं उनके काव्य-रूपों में अनेक परिवर्तन।

राजनीतिक उथल-पुथल से भरे हुए हमारे आदि युग में जिस उत्तेजना की अपेक्षा थी उसे कवि मुक्तकों में ही अभिव्यक्त कर प्रदान कर सकता था। इन्हें हम साधारण रूप से वीरगीत कहते हैं। यही कारण है कि वीर-गीतों में वीरयुग की स्पष्ट झलक हमें मिलती है। इन वीरगीतों की रचना के लिये कवियों ने रणस्थली में उपयुक्त छप्पय और कवित्त को ही अधिक उपयुक्त समझा। इन्हीं में वीररसात्मक भावों की व्यंजना अपने सुन्दर रूप में हुई। कहना न होगा कि परिस्थितियों ने ही वह प्रेरणा कवियों में उत्पन्न कर दी जिससे छप्पय और कवित्त की पद्धति का प्रादुर्भाव मुक्तक काव्य में हुआ। युग की अस्तव्यस्त परिस्थितियों के बीच राज्याश्रित चारण बैठकर अपने हृदय का राग सुनाते अथवा कोई सुव्यवस्थित कलापूर्ण महाकाव्य निर्माण करते, यह असंभव ही था। उसे तो समय-समय पर स्वयं रणक्षेत्र में जाकर कविता-पाठ द्वारा वीरों को प्रोत्साहित करना पड़ता था। राजसभा में तो कविता-पाठ करना उसका काम ही था ऐसी स्थिति में चाहे वह दरबार होता, चाहे रणस्थल, मुक्तक-रचना द्वारा ही वह अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता था। यही कारण है कि एक स्थान पर जहाँ उसने परिस्थितियों के अनुकूल वीररसात्मक मुक्तकों की रचना की वहाँ दूसरे स्थान पर श्रृंगार-रस भरे मुक्तक रचे।

मध्यकाल में भगवद्भक्ति की भावना ने अभिव्यक्ति के क्षेत्र में गीतों का प्रादुर्भाव किया। कबीर, सूर, तुलसी के पदों का उद्भव परिस्थिति के अनुरूप ही हुआ। एक ओर तो आत्माभिव्यंजना के फलस्वरूप आत्म-कल्याणाश्रित एवं विश्वकल्याणाश्रित पदों की रचना हुई तो दूसरी ओर जिस सामंजस्य की परम आवश्यकता थी उसे भी येन केन प्रकारेण ला उपस्थित करना ही था। इस ओर तुलसी का स्वर सबसे अधिक ऊँचा उठा। इसी प्रेरणा के बल पर महाकाव्य 'मानस' की रचना उन्होंने की। इस प्रकार सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप ही एक ओर इस काल में गीतों का स्रोत फूट पड़ा तो दूसरी ओर महाकाव्य रचना हुई।

क्रमशः जब कवियों को शाही दरबार में आश्रम मिलने लगा तब काव्य

के रुख ने पलटा खाया। दरबार की शाही शान-शौकत से कवि इतना प्रभावित हुआ कि उसकी अभिव्यक्ति में वही वैभव कूट-कूट कर भर गया। "रीतिकाल" में दरबार के अनुकूल मुक्तक रचना ही अधिकतर हुई।

आधुनिक काल में आकर जब कवि पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हुआ तब काव्य क्षेत्र भी उससे अछूत न बचा। व्यक्तिवाद की लहर ने अभिव्यक्ति के स्वरूप में नवीनता ला दी और हमारा गीतिकाव्य पश्चिम के 'लिरिक' का मानों उपजीवी ही बनकर आ गया। मध्यकाल के कवियों में ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण समाज में परलोक का विश्वास स्थिर था। परन्तु 'भारतेन्दु' और उनके परवर्ती कवियों में हम उस परलोक विश्वास के स्थान पर इहलोकवाद की अनुभूति देखते हैं, फलतः पुराने छन्द एवं पुराने रूप धीरे-धीरे कवियों का साथ छोड़ने लगे और उत्तरोत्तर नवीन छन्दों एवं रूपों की उद्भावना होने लगी। भारतेन्दु के समय की स्वातन्त्र्य-भावना ने जब तक विद्रोह का रूप न धारण कर लिया था, कवियों ने प्रबन्धकाव्यों की रचना की; किन्तु 'स्वच्छन्दतावाद' के आगमन ने पुरानी परिपाटी के प्रति विद्रोह की भावना से नए रूपों एवं छन्दों में भावाभिव्यक्ति की ओर कवियों को उन्मुख किया। आधुनिक काल में आकर महाकाव्य, गीतिकाव्य, मुक्तक, खंडकाव्य, गीतिनाट्य आदि अनेक प्रकार के काव्यरूपों में कवियों ने भावाभिव्यक्ति की। अस्तु, हम देखते हैं कि समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में कवि की आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार से तृप्ति का मार्ग निकालती है। प्रयास की इसी भिन्नता के मूल में काव्यरूप के भेद का रहस्य छिपा हुआ मिलेगा।

(२) जीवन के प्रति दृष्टिकोण के कारण रूपभेद

सामाजिक परिस्थितियाँ बदल कर समाज की भावनाओं को ही बदल देती हैं। कवि भी उनसे प्रभावित होता है। एक भावना के पट पर दूसरी भावना का पट पड़ते ही उसके जीवन का दृष्टिकोण ही बदल जाता है। वह जीवन को किसी विशेष दृष्टिकोण से देखने लगता है। कवि का यह दृष्टिकोण प्रत्येक युग में देशकाल की प्रवृत्तियों के अनुसार ही बदला करता है। जिस कवि की प्रवृत्ति अधिक आत्माभिव्यंजक होगी वह गीतों की ओर उन्मुख होगा, जिसकी प्रवृत्ति लोक-जीवन के साथ तन्मयता का अनुभव करेगी वह महाकाव्य की ओर प्रवृत्त होगा। 'छायावाद' युग में आकर व्यक्तिवाद की लहर बही; उससे जीवन एक नवीन दिशा की ओर बह चला। अपने ही सुख-दु:ख की अभिव्यक्ति, अपने जीवन का गान सुनाना

कवियों का एकमात्र लक्ष्य बन गया। इस नवीन दृष्टिकोण ने काव्य के जिस रूप को जन्म दिया वह बिलकुल ही अनोखा दिखाई पड़ा।

जीवन को देखने का एक दूसरा दृष्टिकोण भी कवियों का रहा है। वह है उसे अपने सर्वोत्तम रूप में देखने की दृष्टि एवं उसे अपने दृष्टिकोण द्वारा सर्वोत्तम बनाने की अभिलाषा। इस अभिलाषा से प्रेरित होकर कवि की भावना उपदेश, नीति एवं वैराग्य प्रधान हो जाती है। फलतः जिन काव्य-रूपों में उनकी ये भावनाएँ अभिव्यक्त होती हैं उनका रूप मुक्तकों का ही दिखाई पड़ता है। अधिकांशतः संत कवियों का दृष्टिकोण ऐसा ही रहा, अतः उनके काव्य का रूप सामान्यतः मुक्तकों का ही है।

यहीं पर एक बात और जो उल्लेखनीय हो जाती है वह यह है कि जो काव्य "स्वान्तःसुखाय" न होकर विशेषकर दरबारों के लिये ही लिखा गया, जिनका ध्येय मनोरंजन था, "स्वान्तःसुखाय" या साधना नहीं, उनका रूप भी अधिकांशतः मुक्तक या पाठ्य-काव्य का ही था। दरबार के निमित्त लिखी गई कविता का रूप अधिकांशतः प्रबन्धमय नहीं हो सका। क्रमबद्ध रूप में भावाभिव्यक्ति के लिये दरबार में पर्याप्त समय कहाँ था? वहाँ तो थोड़े समय में ऐसी रचना की आवश्यकता थी जो अपने छोटे और संक्षिप्त रूप में आश्रयदाता को प्रभावित करती। अतः राज्याश्रित भाटों ने दोहे और कवित्त-सवैयों में ही अधिकतर भावाभिव्यक्ति की।

(३) अनुभूति के विस्तार की सीमा के कारण रूपभेद

जीवन और काव्य अविच्छिन्न हैं। इसी विचारधारा से आगे बढ़कर हम जिस नवीन तथ्य पर पहुँच जाते हैं, वह काव्यरूपों के भेद का एक दूसरा कारण भी प्रतीत होता है। जीवन की नाप-जोख दो प्रकार से होती है—एक तो उसके अल्पकालीन और दीर्घकालीन प्रभाव से और दूसरे जीवन की सीमा के परिमाण-ज्ञान से। जीवन से काव्य में जीवनानुभव का ही अर्थ लिया जाता है। जीवनानुभूति की सीमा प्राणिशास्त्रीय ढंग से जन्म और मृत्यु के दो छोरों के बीच होती है, पर काव्य में मानव जीवन के तीन बिन्दु होते हैं—एक विकास का आरम्भ, दूसरा विकास की पूर्णता और तीसरा विकास का उत्तरकालीन वैभव। इन तीनों बिन्दुओं के बीच से ही मानव-जीवन के आरोह और अवरोह का नानाविध वैचित्र्य देख पड़ता है। इस प्रकार का पूर्ण जीवन जब किसी कथा के प्रतीक द्वारा प्रकट किया जाता है, तब यह कथा जीवन के पूर्ण विस्तार की अभिव्यक्ति होने कारण महान् रूप धारण करती हुई दिखाई पड़ती है; इसी कारण महाकाव्य का जन्म

होता है। और जब कभी विस्तार की यह सीमा कम होती है, जब जीवन के एक खंड की मार्मिक घटना अथवा अनुभूति रूप ग्रहण करती है तब अभिव्यक्ति का स्वरूप भी खंडकाव्य काव्य का होता है। कभी जीवन का विस्तार देखने में तो बड़ा मालूम पड़ता है परन्तु आत्मानुभव की दृष्टि से अथवा आरोह व अवरोह की दृष्टि से उतना उत्कृष्ट नहीं होता, तब वह महाकाव्य न कहा जाकर केवल प्रबन्धकाव्य कहा जाता है। अल्पकालाश्रयी अनुभूति अबंध रूप में अभिव्यक्त होती है; मुक्तक में किसी भी क्षण की अनुभूति अलम् है और गीतिकाव्य में किसी तीव्रतम क्षण की एवं अपनी निजी अनुभूति की व्यंजना को स्थान मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन के अथवा जीवनानुभूति के विस्तार के भेद से काव्यरूपों में अनेक भेद हो जाते हैं।

कभी तो जीवन के अल्पकालाश्रयी क्षण कवि को प्रभावित करते हैं, तो कभी वह प्रलम्बकालाश्रयी क्षणों से प्रभावित होता है। जीवन के अल्पकालाश्रयी क्षणों की अनुभूतियाँ भी अल्पजीवी होती हैं और प्रलम्बित क्षणों का प्रभाव भी अपेक्षाकृत दीर्घकालीन होता है। इन्हीं के तारतम्य से कुछ विषयों का प्रभाव अपनी तीव्रता को पहुँचकर शीघ्र ही हलका पड़ने लगता है तो कुछ विषय अधिक काल तक प्रभाव की तीव्रता को बनाए रखने की क्षमता रखते हैं। इसी के अनुरूप काव्य के दो प्रमुख भेद हो जाते हैं, एक भावात्मक और दूसरा वर्णनात्मक। किन्तु एक अवस्था वह भी होती है जब कवि की अभिव्यक्ति में इन दोनों का योग दिखाई पड़ने लगता है। अर्थात् जब कवि के काव्यरूप में अल्पकालाश्रयी क्षणों की भावात्मकता एवं प्रलम्बित क्षणों की वर्णनात्मकता दोनों का मेल हो जाता है। इस प्रकार काव्य के अबन्ध, प्रबन्ध और बन्धाबन्ध रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाते हैं।

(४) भीतरी प्रेरणा के कारण रूपभेद

ये बाह्य रूप कवि की भीतरी प्रेरणा से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। कारण यह कि भीतरी प्रेरणा के बल पर ही तो कवि बाह्य रूप की सृष्टि करता है। साहित्य के इतिहास में हम देखते हैं कि जितने छन्द और उनकी पद्धतियाँ तथा अनेकानेक काव्यरूप जन्म लेते और विकसित होते गए, इनके मूल में कवि की भीतरी प्रेरणा ही कार्य करती हुई मिलेगी। जब कवि उत्साह की प्रवृत्ति को लेकर चला तब छप्पय जैसे छन्दों ने अनायास रूप ग्रहण कर लिया। जब कवि को शृंगार, नीति, वैराग्य अथवा उपदेश की

सूक्ष्म वृत्ति से प्रबल प्रेरणा मिली तब दोहे जैसे छन्द की पद्धति को जन्म मिला है।

इसी प्रकार अन्य भीतरी प्रेरणा अनुरागप्रवण प्रवृत्ति एवं शोक आदि की भावना ने जब अपने निसर्ग सुन्दर मार्ग से बहना चाहा तो पदों और गीतों को जन्म मिला। और जब आधुनिक युग का कवि अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा को अभिव्यक्त करता है तब अतुकान्त बन्धनहीन छन्दों को जन्म मिलता है। इसीलिये आलोचकों का विश्वास है कि अनुभूति की प्रबलता और विशेषता देशकाल के अनुसार नाना छन्दों एवं रूपों को जन्म देती है। जिस युग की कवि लोक-साहित्य के सामान्य स्तर से बहुत प्रभावित रहता है उस युग में लोकगीतों से वह अनेक छन्दों और रूपों से प्रेरणा पाता है। तुलसी ने 'सोहर', 'बरवै' लिखे और आज भी आधुनिक कवि कजली, लावनी आदि लोकगीतों के छन्दों से प्रभावित हुए हैं। इसी प्रकार कभी-कभी लोक-विश्वास एवं लोक-कथानक काव्यरूपों पर प्रभाव डालते रहते हैं। कवि अपने काव्य में ऐसी बातों का समावेश करने लगता है जो काव्य में उतना उपयुक्त नहीं होता अथवा वर्जित होता है, किन्तु वे ही बातें जब प्रसंगानुसार पढ़ी जाती हैं तब वे काव्य का गुण बन जाती हैं और हमपर उनका अधिक प्रभाव पड़ने लगता है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में कहा है कि 'जब जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब-तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छन्द बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन-तत्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।'[1] आशय यही है कि जब अभिव्यक्ति का रूप बिलकुल रूढ़ और परम्परा से बिलकुल पिटा हुआ हो जाता है, तब कवियों का ध्यान समय की उन प्रचलित शैलियों पर जाता है जिनमें लोक-हृदय का सीधा और सच्चा उद्गार प्रकट होता है। जयदेव और विद्यापति के काव्यरूप पर लोकगीतों का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा। तुलसी के 'नहछू' की रचना भी लोकगीतों की प्रेरणा से हुई। आधुनिककाल में आकर भारतेन्दु, रामकृष्ण वर्मा, माधव शुक्ल, पद्मकान्त मालवीय और 'निराला' भी इसी लोकगीतों के माधुर्य को अपनाए बिना न रह सके।

विषय और छन्द की एकता होने पर भी दो भिन्न-भिन्न प्रेरणा से अभिव्यक्त होने वाले काव्यरूप कितने भिन्न हो जाते हैं यह कबीर के दोहों

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ७२५,

और राजस्थानी प्रेमकाव्य "ढोला मारु रा दूहा" से स्पष्ट किया जा सकता है। अनुरागप्रवण प्रवृत्ति के अनुरूप जहाँ 'ढोला मारू" का कवि अपने काव्य की नायिका द्वारा यह भावाभिव्यंजित करता है—

राति ज़ु सारस कुरलिया, गुंजि रहे सब ताल।
जिनकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवन हवाल ।।

[५३ ढोला मारू रा दूहा]

वहाँ लौकिक स्तर से ऊपर उठी हुई कबीर की पारलौकिक भावना उसी दोहे के सम्पूर्ण रूप को 'गोविन्द' शब्द के प्रयोग से बिकुल बदल देती है—

ऊँचा कुञा कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि पै गोविन्द बीछुटे, तिनको कौण हवाल ।। २ ।।

[कबीर ग्रन्थावली]

एक की प्रेरणा लौकिक विरह की भावना है तो दूसरे की प्रेरणा पारलौकिक विरह (वियोग) की भावना है। फलतः प्रेरणा के अनुरूप दोनों काव्यरूपों में अन्तर आ गया है। एक लौकिक प्रेम-काव्य में रखा जाता है दूसरा पारलौकिक मुक्तकों में।

विभिन्न काव्यरूपों के स्रोत

हिन्दी में कुछ काव्यरूप तो सीधे संस्कृत से आए हैं, जैसे महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक, किन्तु कुछ काव्यरूप अपभ्रंश से ज्यों के त्यों गृहीत हुए हैं। महाकाव्य की रचना जिस रूप में हिन्दी में हुई उसमें अन्यान्य तत्त्व संस्कृत महाकाव्यों में अवश्य गृहीत हुए, किन्तु उसकी शैली अपभ्रंश से ही प्रेरित हुई। 'रामचरितमानस' की दोहे-चौपाई की शैली तुलसी की मौलिक शैली नहीं। इसकी प्रेरणा सिद्धों के काव्य से मिली। इन सिद्धों में सरहपाद और कृष्णाचार्य के काव्यों में चौपाई और दोहे की शैली मिलती है। यह शैली अपभ्रंश की पुरानी शैली कही जाती है जिसमें दस या बारह चौपाइयों के पश्चात् 'घत्ता' या 'उल्लाला' लिखने का प्रचलन अधिक था। किन्तु जिस छन्द को हिन्दी में चौपाई कहा गया है वह अपभ्रंश में दो प्रकार से उपलब्ध है। एक तो 'पज्झटिका' और दूसरा 'अलिल्लह।' अपभ्रंश का यही 'अलिल्लह' छन्द हिन्दी की चौपाई से बहुत कुछ साम्य रखता है। अन्तर केवल लघु गुरु का है। जहाँ चौपाई के अन्त में गुरु होते हैं, वहाँ 'अलिल्लह' में दो लघु का होना आवश्यक माना जाता है। इस प्रकार दस दस या बारह-बारह अलिल्लह या पज्झटिका के पश्चात् घत्ता या उल्लाला

रखने की शैली को अपभ्रंश में 'कड़वक' नाम से पुकारा गया।[1] हिन्दी में यही शैली गृहीत हुई।

इसी प्रकार दोहे की पद्धति जिसने एक विशिष्ट काव्यरूप का आकार ग्रहण कर लिया, वह भी सीधे अपभ्रंश से ही हिन्दी में आई।

कुछ काव्यरूपों की शैलियाँ लोकगीतों से हिन्दी काव्यधारा में गृहीत हुई। 'सोहर' की शैली में तुलसी ने 'रामलला नहछू' की रचना की। इसी प्रकार कजली, लावनी, बिरहा, मलार आदि लोक गीतों की विभिन्न शैलियों में भी आधुनिक काल के विशेषकर भारतेन्दु युग में मुक्तक निर्मित हुए। इसी युग के मुक्तक काव्यरूप पर उर्दू के 'गज़ल' और 'रेख़ता' का भी प्रभाव पड़ा।

हमारा अधुनिक 'गीतिकाव्य' पाश्चात्य 'लिरिक' का उपजीवी बनकर आया और 'बन्धाबन्ध काव्य' के कुछ नाट्यात्मक रूपों की प्रेरणा भी कवियों को पश्चिम से मिली। 'गीतिनाट्य', नाटकीय गीति' आदि काव्य-रूपों पर पश्चिम के 'लिरिकल-ड्रामा' और 'ड्रेमेटिक लिरिक' का प्रभाव स्पष्ट है।

काव्य-रूप की उपर्युक्त मीमांसा इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि 'रूप' कवि की अन्तः-प्रेरणा का ऐसा बाह्य शब्दमय स्वरूप है जिसके सहारे उसकी अमूर्त प्रेरणा को मूर्त्त रूप मिलता है। कवि की प्रेरणा का स्वरूप तो अमूर्त होता है किन्तु काव्यरूप द्वारा वह उस अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करता है। जब कवि की अनुभूति पाठक के अन्तःप्रदेश में भी अमूर्त रूप में अंकित हो जाती है तभी काव्यरूप की सार्थकता समझी जाती है। कवि का उद्देश्य मानस-अवस्थाओं का अनुकरण है; यह अनुकरण किस प्रकार होता है इस पर विचार करने पर यह अवगत होता है कि शब्द ही वह सुंदरतम प्रतीक है जो अनुभूति को अपने पूर्ण रूप में अभिव्यक्त करने में सक्षम है। किन्तु शब्दों में पूर्ण क्षमता तभी आती है जब वे किसी भाषा का रूप ग्रहण करते हैं। इस प्रकार एक ओर कवि की अनुभूति रहती है तो दूसरी ओर उसकी अभिव्यक्ति का साधन। किन्तु किस शैली में होकर विशेष अनुभूति अभिव्यञ्जित हो और पाठक पर अपना अनुरूप प्रभाव डाल सके, यह कवि को देखना पड़ता है। यही जिज्ञासा कवि में उस प्रतिभा को जन्म देती है जिसके सहारे वह

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आधार पर पृष्ठ ५६।

अपने प्रतीकों को एक विशिष्ट शैली में सँजो कर पाठक के समक्ष रखने में समर्थ होता है। शब्दों का सुव्यवस्थित गठन भावों को मूर्त रूप प्रदान करने के पश्चात् अनुभूति को ऐसे साँचे में ढाल देता है, जिससे अभिव्यक्ति में पूर्णता आ जाती है। इसी विशिष्ट साँचे को हम काव्यरूप की संज्ञा देने लगते हैं। अतएव काव्यरूप एक ऐसा बाहरी प्रतीक बन जाता है जो कवि के अन्तरतम में झंकृत होते हुए अनुभूति के स्वरों को सुस्वर रूप में प्रकट करता हैं।

संगीत कला को लें तो हम देखेंगे कि वह स्वरों का सुव्यवस्थित एवं सुस्वर संघटन ही तो है। यही सुस्वर संघटन जब विशेष शैली में होकर अभिव्यक्त होता है तो विशेष राग-रागिनियों को जन्म मिलता है। ठीक इसी प्रकार काव्यरूप वह सुन्दरतम प्रतीक है जिसमें कवि की अनुभूति सुचारु रूप में अभिव्यक्त होती है। यही सुचारुता प्रभावात्मकता लाती है। वह कवि के प्रातिभज्ञान के ऐक्य का द्योतक भी है और साथ ही कवि के अन्तः-स्थल में उत्पन्न होने वाली समस्त भावनाओं को पाठक तक उसी रूप में पहुँचाने का एकमात्र साधन भी है। वास्तव में देखा जाय तो काव्यरूप वह मध्यबिन्दु है जिससे हम दो बिन्दुओं के बीच का ज्ञान करते हैं। इसलिये इस रूप का विश्लेषण ही काव्य की ठोस समीक्षा है। कवि-कर्म की दृष्टि से विचार करते हैं तो हम कवि-प्रतिभा, श्रुत और अभ्यास तीनों का विश्ले-षण करके काव्यरूप को परखते हैं और यदि सहृदय के दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो जिन तत्वों के द्वारा काव्य अपना प्रभाव प्रकट करता है उनका विश्लेषण करते हैं। अतः देशकाल और व्यक्ति सीमित भाषा का आवरण, शब्द-शक्ति, छन्द और रस सभी का ध्यान उसमें आ जाता है। काव्यरूप के विवेचन में इस प्रकार प्रथम तो आलोचक उस प्रेरणा का विश्लेषण करता है जिसके सहारे अनुभूति रूप धारण करती है। तदुपरान्त उस शैली का विश्लेषण करता है जिसके सहारे वह अनुभूति आकर्षक रूप ग्रहण करती है। जब पाठक या आलोचक की यह जिज्ञासा—कि किस प्रकार किस काव्य-रूप ने उसके हृदयपटल पर सुन्दर प्रभाव डाला, किस प्रकार कवि ने अपनी अनुभूति एवं भावों को शब्दों का बाना पहना कर काव्यरूप में प्रकट किया—पूर्ण हो जाती है, तब काव्यरूप के कुछ नियम स्वतः निर्धारित हो जाते हैं। ये नियम जब तक समय और विचारों के अनुरूप भिन्न-भिन्न परिवर्तनों को अपने में ग्रहण करते जाते हैं तब तक काव्यरूप निश्चय विकास की ओर अग्रसर होता जाता है; किन्तु जब आलोचक उस रूप को आदर्श

मानने लगता है तो काव्य शरीर ऐसा बँध जाता है जिसमें उसकी आत्मा—कवि की अनुभूति—एक निश्चित सीमा में बँधकर तड़पने लगती है और काव्यरूप रूढ़ बन जाता है। फलतः उसमें विकास का पथ अवरुद्ध हो जाता है। अतएव जिस प्रकार काव्य कवि के हृदय का उन्मुक्त गान होता है उसी प्रकार काव्यरूपों के विकास में भी आलोचक की उन्मुक्त भावना एवं सहृदयता का योग परमावश्यक हो जाता है।

काव्यरूप की इस विवेचना का अर्थ तो प्रबन्ध के पूर्ण होने पर ही प्रकट होगा, अथवा भिन्न-भिन्न स्थलों से उसका विस्तार होगा। तथापि संक्षेप में यदि कहें तो एक ही बात कही जा सकती है कि काव्यरूप वह प्रतिभा है, वह शब्दमयी भौतिक मूर्ति है जो कवि और पाठक को चेतन लोक में एक कर देती है। मानों काव्यरूप जड़ चेतनता की ग्रंथि हो। यही कारण है कि काव्यरूप की सच्ची परख होते ही मनुष्य की जड़दृष्टि और गुण-दोष विवेक जाता रहता है और वह काव्यात्मा का सहज सुन्दर रूप देखने में समर्थ होता है। काव्यरूप की महत्ता इस दृष्टि से अपरिमेय हो जाती है और हम उसकी विवेचना विविध प्रकार से करने लगते हैं।

द्वितीय अध्याय

काव्य का विभाजन

संस्कृत में काव्य का विभाजन

संस्कृत में काव्य की विस्तृत एवं गम्भीर मीमांसा 'काव्य-शास्त्र' या 'अलंकार-शास्त्र' के अन्तर्गत हुई जिसमें काव्य की उत्पत्ति, उसकी आत्मा, उसके विभिन्न रूप, उसका विभाजन, अन्यान्य प्रकार के कवि और उनके लक्षण, अलंकार, रस, गुण-दोष, उद्देश्य तथा सिद्धान्त आदि सभी अंगों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गई। इस दृष्टि से भारतवर्ष में "काव्यशास्त्र" की सीमा, पश्चिमी काव्यशास्त्र की तुलना में अधिक व्यापक सिद्ध होती है। पश्चिम में "अलंकार-शास्त्र" को भिन्न शास्त्र माना गया और उसका अन्तर्भाव "काव्यशास्त्र" के भीतर नहीं हुआ।

संस्कृत में भरत का "नाट्यशास्त्र" प्राचीन अलंकार-ग्रन्थ माना जाता है। और विद्वानों का कथन है कि इसी से काव्यशास्त्र का इतिहास भी आरम्भ हुआ। कुछ लोगों ने "अग्निपुराण" को सर्वप्राचीन माना है किन्तु इस मत का प्रायः बहुतों ने खंडन किया।[1] अस्तु भरत ही सर्वप्राचीन आचार्य ठहरते हैं। इनके पश्चात् भामह का "काव्यालंकार", दंडी का "काव्यादर्श", उद्भट का "अलंकार सारसंग्रह", वामन का "अलंकार सूत्र", रुद्रट का "काव्यालंकार", आनन्दवर्द्धन का "ध्वन्यालोक", राजशेखर की "काव्य मीमांसा", कुन्तक का "वक्रोक्ति जीवितम्", धनञ्जय का "दश-रूपक", भोज का "सरस्वती कंठाभरण", मम्मट का "काव्यप्रकाश", रुय्यक का "अलंकार सर्वस्व", जयदेव का "चन्द्रालोक", भानुदत्त की "रस मंजरी" और "रस तरंगिणी", विश्वनाथ का "साहित्य दर्पण",

---

१. वी० पी० काणे द्वारा संपादित "साहित्य दर्पण"—पृ० २

केशव मिश्र का ''अलंकार शेखर'' और जगन्नाथ का ''रस गंगाधर'' आदि काव्यशास्त्र के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

इन आचार्यों में हमारा संबंध कुछ ही आचार्यों से है जिन्होंने काव्य के रूप एवं उसके वर्गीकरण पर अधिक विचार किया है। इनमें हम भामह, दण्डी, आनन्दवर्द्धन, राजशेखर, मम्मट और विश्वनाथ को ही लेते हैं और इनकी परिभाषा एवं विभाजनाधार को लेकर हम संस्कृत में काव्य के विभाजन और उसके अन्यान्य स्वरूपों को देखेंगे।[1]

---

१. (क) 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यञ्च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥१६॥
सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ॥१८॥
अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत् पुनः।
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते' ॥३०॥
—पृ० २,३,४ काव्यालंकारः १ परि०, भामह

(ख) 'गद्यं पद्यञ्च मिश्रञ्च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ॥११॥
छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम् ॥१२॥
मुक्तकं कुलकं कोषः सङ्घात इति तादृशः।
सर्गबन्धांगरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः' ॥१३॥
—'काव्यादर्श' प्रथम परि०, पृ० ८, ९, दंडी।

(ग) मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन। तावपि प्रत्येकं पञ्चधा। शुद्धः, चित्रः, कथोत्थः, संविधानकभूः आख्यानकवांश्च। तत्र मुक्तेतिवृत्तः शुद्धः। स एव सप्रपञ्चश्चित्रः। वृत्तेतिवृत्तः कथोत्थः। सम्भावितेतिवृत्तः संविधानकभूः। परिकल्पितेतिवृत्तः आख्यानकवान्।
—'काव्यमीमांसा', राजशेखर—नवम अध्याय, पृ० ४६

(घ) 'श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥३१३॥
छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते' ॥३१४॥
—'साहित्यदर्पण', विश्वनाथ।

संस्कृत में काव्य का विभाजन प्रथम तो दृश्य और श्रव्य इन दो बड़े भागों में हुआ है। तत्पश्चात् श्रव्य काव्य के अन्तर्गत गद्य, पद्य, और मिश्र ये तीन भेद रखे हैं, और फिर पद्य का विभाजन बन्ध की दृष्टि से प्रबन्ध और मुक्तक या अनिबद्ध इन दो भागों में हुआ। प्रथम भेद के अन्तर्गत महाकाव्य और खंडकाव्य की गणना की गई तथा मुक्तक का विभाजन संग्रह की दृष्टि से 'कोष' और 'संघात' में किया गया। एक तीसरे प्रकार का विभाजन अर्थ की दृष्टि से भी काव्य का हुआ है।[1] जिसमें उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद किये गए हैं। किन्तु रूप की दृष्टि से ऐसे विभाजन का काव्यरूपों के अध्ययन में कोई महत्व नहीं।

संस्कृत में काव्य का विभाजन "दृश्य और श्रव्य"—इन्द्रियों को प्रभावित करने की दृष्टि से किया गया और इसके अन्तर्गत शैली की दृष्टि से जो तीन भेद किये गये उनमें से प्रस्तुत निबन्ध का संबंध केवल पद्य से है। इस पद्य के विभाजन की शैली प्रायः सभी आचार्यों की एक ही सी रही। सभी ने उसे बन्ध की दृष्टि से विभाजित करने का प्रयास किया और

"कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।
गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधियते" ॥ ३३६ ॥
—साहित्यदर्पण, पृ० ३५२, ३५८, विश्वनाथ कविराज।

"१९६, काव्यं प्रेक्ष्यं श्रव्यं च ॥ १ ॥
२००, श्रव्यं महाकाव्यमाख्यायिका कथा चम्पूरनिबद्धं च ॥ ५ ॥
२०५, अनिबद्धं मुक्तकादि ॥ १० ॥
२०६, एकद्वित्रिचतुश्छन्दोभिर्मुक्तक-संदानितक-विशेषक - कलापकानि ॥ ११ ॥
२०७, पञ्चादिभिश्चतुर्दशान्तैः कुलकम् ॥ १२ ॥
२०८, स्वपरकृतसूक्तिसमुच्चयः कोषः" ॥ १३ ॥
—'काव्यानुशासन' श्र० ८; सू० ३, ५, ६, हेमचन्द्र।

"सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥ ३१५ ॥
खंडकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।
कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः" ॥ ३२९ ॥
—साहित्यदर्पण, पृ० ३५३—३५६. परिच्छेद ६.

1. काव्यप्रकाश....मम्मट, पृ० उल्लास, पृ० १५, १८, १९.

इस प्रकार जो काव्यरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत किये वे हैं महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक।

संस्कृत के ये काव्यरूप आगे आने वाली सभी भाषाओं में प्रचलित होते चले गए। पालि प्राकृत और अपभ्रंश में भी महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक ये तीनों रूप विशेष रूप से उपलब्ध हुए। अपभ्रंश से निकला हुआ भाषा हिन्दी में भी ये सभी रूप देखने को मिले। किन्तु ज्यों-ज्यों काव्य का विकास होता गया काव्य के नवीन रूप भी उत्तरोत्तर जन्म लेते गए। अतः काव्य के इन रूपों को देखने से यह पता चलता है कि कुछ काव्यरूप तो ऐसे हैं जो परंपरागत संस्कृत से पालि और प्राकृत से अपभ्रंश में और अपभ्रंश से हिन्दी में ज्यों के त्यों उसी रूप में आज तक चले आ रहे हैं। और कुछ रूपों का हिन्दी में अपना स्वतन्त्र विकास हुआ है। प्रथम प्रकार के काव्य-रूपों को हम रूढ़ रूप और द्वितीय प्रकार के विकसित रूपों को हम नवीन रूप कहकर अभिहित करते हैं। परम्परागत आने वाले रूढ़ रूपों में महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक हैं।

नवीन रूपों के अन्तर्गत हम मुख्यतः आधुनिक काल के काव्यरूपों में प्रबंध काव्य के भीतर गीतिकाव्य और वन्धाबन्ध काव्य के अन्तर्गत आने वाले नाट्यात्मक, स्वानुभूतिप्रधान और आख्यानप्रधान काव्यरूपोंके अनेक भेदों को रखते हैं, जिनकी चर्चा आगे चल कर हुई है।

काव्य तो एक ही है किन्तु उसके रूप कितने भिन्न-भिन्न हैं। वस्तुतः काव्य के इन अन्यान्य रूपों के भीतर एक ही आत्मा जगमगाती हुई दिखाई पड़ती है और यहीं पर हमें भवभूति का वह श्लोक स्मरण हो आता है जहाँ पर उन्होंने करुण रस की महत्ता बताते हुए कहा है, रस एक होता है और वह है करुण, निमित्त भेद से वही भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है। जल के एक रहने पर भी रूप भेद के कारण वह भँवर, बुद्बुद, तरंग आदि के नाम से अभिहित किया जाता है।[१] इसी प्रकार काव्य की आत्मा एक होती है किन्तु मनोवृत्ति की भिन्नता के कारण अभिव्यक्त स्वरूप में भी भिन्नता आ जाती है।

---

१. एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुद् तरंगमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव हितत्समग्रम्॥
—भवभूति—उत्तर रामचरित ३, ४७।

हिन्दी में काव्य का विभाजन

हिन्दी में काव्य के विभिन्न रूपों एवं उनके वर्गीकरण पर बहुत से आलोचकों ने गम्भीर विवेचना की है, जिनमें रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, श्रीकृष्णलाल एवं गुलाबराय उल्लेखनीय हैं।

शुक्ल जी ने यद्यपि काव्य के विभाजन एवं उसके आधार की स्वतन्त्र विवेचना तो की नहीं, तथापि ऐसे बहुत से स्थल मिलते हैं जहाँ उनका दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से व्यंजित हो जाता है। प्रथम तो हम उनके आलोचना ग्रंथ "गोस्वामी तुलसीदास" को लेते हैं। इसमें "तुलसी की काव्य पद्धति" पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है, "काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं—अनुकृत या प्रकृत (Imitative or realistic) तथा अतिरंजित या प्रगीत (Exaggerative or lyaical)। कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म पक्षों की वास्तविक अनुभूति जिसके हृदय में समय-समय जगती रहती है, उसी से ऐसे रूप व्यापार हमारे सामने लाते बनेगा जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है जिसको सामान्यतः सब का हृदय अपना सकता है।....काव्य का दूसरा स्वरूप अतिरंजित या प्रगीत वस्तुवर्णन तथा भाव व्यंजना दोनों में पाया जाता है।

भावव्यंजना के क्षेत्र में काव्य का अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप अधिकतर मुक्तक पद्यों में विशेषतः शृङ्गार या प्रेम सम्बन्धी पाया जाता है।"[1]

इस प्रकार शुक्लजी ने सफल प्रबन्ध काव्य को महाकाव्य माना और गीतिकाव्य के लिये अधिकतर प्रगीत मुक्तक शब्द प्रयोग में लाया है। रीतिकालीन फुटकल कविता को उन्होंने प्रगीत मुक्तक से भिन्न माना है और उसके लिये "प्रकीर्णक" या "मुक्तक" शब्द का प्रयोग किया है। इन रूपों के अतिरिक्त उन्होंने अपने इतिहास में वीरगाथा (Ballad), वीरगाथात्मक प्रबन्ध, खंडकाव्य, प्रबन्ध-काव्य आदि सभी रूपों की चर्चा की है।[2]

---

१. गोस्वामी तुलसीदास "तुलसी की काव्य पद्धति"
पृ० ७५,७६. (रामचन्द्र शुक्ल)

२. "इस वीरगाथा को हम दो रूपों में पाते हैं—मुक्तक रूप में और प्रबन्ध रूप में भी। फुटकल रचनाओं का विचार छोड़कर यहाँ वीरगाथात्मक प्रबन्ध काव्यों का ही उल्लेख किया जायगा।"
—हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३८—सं० १९९७

अपने "अभिभाषण" के अन्तिम अंश में उन्होंने कहा है "पर खेद है कि एक बड़ा प्रबन्ध काव्य या महाकाव्य लिखने की इच्छा उन्हें उस समय हुई जब उनकी प्रवृत्ति देखा-देखी अंग्रेजी के ढंग के फुटकल प्रगीत (Lyrics) की ओर झुकी थी........"रीतिकाल प्रकीर्णकों या मुक्तकों का काल था।" [१]

शुक्ल जी ने पश्चिम के "आब्जेक्टिव" और "सब्जैक्टिव" विभाजन को उपयुक्त नहीं माना क्योंकि उन्होंने इस भेद को बहुत स्थूल माना है।[२]

"साहित्यालोचन" में काव्य का विभाजन पश्चिमी ढंग पर ही किया गया है। अस्तु यहाँ कविता दो बड़े भागों में विभाजित कर दी गई है, एक तो विषय-प्रधान या भौतिक और दूसरे आत्माभिव्यञ्जक या व्यक्तित्व-प्रधान प्रथम में प्रबन्ध काव्य को लिया गया और दूसरे में मुक्तक को।[३]

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी पाश्चात्य विभाजन को अमान्य कर अपना स्वतन्त्र विभाजन किया है। उन्होंने पद्य को प्रबन्ध, निबन्ध और निर्बंध इन तीन भागों में बाँटकर प्रबन्ध के अन्तर्गत महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खण्डकाव्य को तथा निर्बन्ध के अन्तर्गत मुक्तक गीत, एवं प्रगीत को रखा है।

डा० लाल ने अपने इतिहास में "कविता का रूप और शैली" नामक

"मिलन, पथिक और स्वप्न" नामक तीन खण्ड काव्यों में इनकी कल्पना ऐसे मर्मपथ पर चली है जिस पर मनुष्यमात्र का हृदय स्वभावतः ढलता गया।"

—हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० ७५८ (आ० रामचन्द्र शुक्ल)

१. पृ० ७९ तथा ८० अभिभाषण, (२४वाँ)।

२. यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि स्वानुभूतिनिरूपक और बाह्यार्थनिरूपक यह भेद स्थूल दृष्टि से ही किया हुआ है।

—गो० तुलसीदास 'तुलसी की काव्यपद्धति' पृ० ८६. आ० रामचन्द्र शुक्ल

३. "कविता को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो जिसमें कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों और विषय को ढूँढ निकालता है, दूसरा वह जिसमें वह अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ निकालता है उसका वर्णन करता है।"

—साहित्यालोचन, श्यामसुन्दर दास पृ० ६५.

४. "वाङ्मय विमर्ष" पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३३.

शीर्षक में प्रबन्ध जिसके अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य और दूसरे प्रकार में गीतिकाव्य और तीसरे में मुक्तक को रखकर प्रत्येक की चर्चा की है।[1]

गुलाबराय ने भी काव्य को प्रथम तो प्रबन्ध और मुक्तक में विभाजित किया है, फिर प्रबन्धान्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य को तथा मुक्तक को पुनः दो भागों पाठ्य और प्रगीत में विभाजित कर, एक में नीति और शृंगार आदि कविताओं को रखा है और प्रगीत में गीतिकाव्य की गणना की है।[2]

हिन्दी में काव्य का विभाजन 'बंध' की दृष्टि से ही अधिकांश आलोचकों द्वारा किया गया है। रूप के अध्ययन में यही 'बंध' की दृष्टि से काव्य के विभाजन को श्रेय दिया जाता है। पश्चिम में अंतःप्रेरणा के आधार पर काव्य का विभाजन किया गया और उसके स्वानुभूति निरूपक एवं बाह्यार्थ निरूपक ये दो भेद प्रस्तुत किये। अन्तःप्रेरणा ही के आधार पर काव्यों का यह भेद किया गया है। यदि प्रेरणा अपनी निजी अनुभूतियों से आई तो यह एक श्रेणी की चीज हो जाती है और जब वह बाह्य विषयों से आती है तो दूसरी श्रेणी की। वास्तव में देखा जाय तो मनोवृत्तियों का अध्ययन कर काव्य के अन्यान्य रूपों का विभाजन करना एक उत्तम साधन तो है, किन्तु यदि हम इस दृष्टि से अपने काव्य का वर्गीकरण करें तो उसमें अपवाद आ सकता है। कारण यह कि इस दृष्टि से केवल दो प्रकार के काव्यरूपों का ही अध्ययन हम कर सकेंगे, एक तो बाह्यार्थ निरूपक प्रबन्ध काव्य और दूसरा स्वानुभूति निरूपक। गीतिकाव्य का एक अन्य स्वरूप मुक्तक जो गीतिकाव्य से भिन्न है वह अविवेचित रह जायगा। मुक्तक आत्माभिव्यंजक या स्वानुभूति का निरूपक नहीं। ये उसके विशेष गुण भी नहीं। अस्तु हम काव्य के सभी रूपों को लेकर उसे बंध की दृष्टि से ही विभाजित करने का प्रयत्न करेंगे।

इस बंध की दृष्टि से काव्य तीन बड़े भागों में विभाजित हो सकता है। प्रबन्ध, अबन्ध और बन्धाबन्ध।

१—प्रबन्ध

[3]प्रबन्ध का अर्थ है जो बन्ध सहित हो अर्थात् जिस काव्य में शृङ्खलाबद्ध

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा० श्रीकृष्णलाल, पृ० ६७.
२. सिद्धान्त और अध्ययन, भाग दो, काव्य के रूप पृ०८ (गुलाबराय)
३. अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥७३॥
—शिशुपाल वध, पृ० ७८ सर्ग ६

रूप में किसी वस्तु का वर्णन हो उसे प्रबन्ध काव्य कहते हैं। यह बन्ध शब्द किसी कथा की अपेक्षा करता है अतः ऐसे काव्य में कोई प्रचलित अथवा अप्रचलित या काल्पनिक कथा का वर्णन शृङ्खलाबद्ध रूप में आद्यन्त होता है। आपस में उसकी कथाएं उसी प्रकार संबद्ध होती हैं जिस प्रकार शृङ्खला की एक-एक कड़ी एक दूसरी को मिलाये हुए रहती है। प्रबन्धकाव्य की विशेषता इसी में होती है कि उसकी एक घटना दूसरी घटना से संबंधित हो। किसी कथा की अन्यान्य घटनाओं को बिना पूर्वापर संबंध के प्रबन्ध में रख देने मात्र से ही कवि का कौशल नहीं होता प्रत्युत वे अपनी क्रमबद्धता में ही प्रबन्ध कहलाने की क्षमता रखती हैं। आशय यह कि प्रबन्धकाव्य पूर्वापर निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होता है। एक कड़ी के टूटने पर सम्पूर्ण शृङ्खला खण्डित हो जाती है, ठीक उसी भाँति एक छोटी सी घटना के छूट जाने पर सम्पूर्ण प्रबन्ध की धारा बिखर जाती है और उसका रस फीका पड़ जाता है। प्रत्येक घटना को दूसरी घटना का अवलम्ब लेना अपेक्षित होता है। जब तक दूसरी घटना आकर उसे अपना सहारा नहीं दे देती तब तक कथा का प्रवाह आगे बढ़ता ही नहीं। कथा के प्रवाह को अग्रगामी करने के लिये प्रबन्ध में क्रमबद्ध रूप से घटनाएं एक के बाद एक आती ही जाती हैं। यही कारण है कि प्रबन्धकाव्य को उठाकर इच्छानुसार कहीं से भी उसे आरम्भ कर देने पर सम्पूर्ण कथा को समझ लेना एवं उसका रसास्वादन करना असंभव होता है। उत्तरार्द्ध की कथा को पढ़ कर हम चाहे किसी अनिश्चित से निष्कर्ष पर पहुँच भले ही जायँ, किन्तु तब तक सम्पूर्ण कथा का भाव एवं रस हमें नहीं मिल सकता जब तक हम कथा को आद्यन्त न पढ़ें। आशय यह कि प्रबन्धकाव्य में कोई कथा रहती है और वह वर्णनात्मक अधिक होता है। उसके भीतर भावात्मक स्थल न हो ऐसी बात भी कदापि नहीं। वास्तव में प्रबन्धकाव्य के रचयिता के पास तो पूरी वनस्थली बिखरी पड़ी रहती है, उसमें वह स्वच्छन्द विचरण कर, कहीं सरस सरोवर बना सकता है तो कहीं सुन्दर रंग-बिरंगे पुष्प से उसे सँजो सकता है। आशय यह कि प्रबन्ध के विस्तृत क्षेत्र में कवि के लिये रसपरिपाक का समुचित समय एवं परिस्थितियाँ आ उपस्थित होती हैं, जिनके सहारे वह वर्णनात्मक रूप में भावाभिव्यंजना करता है।

प्रबंधकाव्य विषय प्रधान होता है और उसकी यह विषय प्रधानता उसमें वर्णनात्मक तत्व को अधिक ला देती है। कवि वस्तु-वर्णन निरपेक्ष होकर करता है। कहीं भी उसका निजी व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप में नहीं झलकने पाता। वह जो कुछ भी कहता है कथा के पात्रों द्वारा अथवा वर्णनात्मक शैली में

कहता चलता है। यही कारण है कि पश्चिम में ऐसे काव्य को बाह्यार्थनिरूपक काव्य कहते हैं। इसका आशय यही है कि प्रबंध में कवि की दृष्टि संसार की ओर उन्मुख रहती है और वह अपनी अभिव्यंजना में उसी बाह्य संसार की बातों को बड़े ही क्रमबद्ध रूप में सँजोता है। घटनाओं के अनुरूप कवि कथा को कई भागों में विभाजित भी कर देता है। इस विभाजन को अधिकतर सर्ग का नाम दिया जाता है। प्रबंधकाव्य के कुछ भेदों में इसकी अवस्थिति अत्यन्त आवश्यक समझी जाती है और उनकी संख्या भी नियत कर दी गई है। जैसे महाकाव्य जब भी होगा सर्गबद्ध ही होगा और उसमें कम से कम आठ सर्ग होंगे।

(क) पहला भेद प्रबंधकाव्य का वह है जिसमें कवि अपना एक आदर्श लेकर जीवन के संपूर्ण अंगों का सर्गबद्ध रूप में वर्णन करता है। इसमें युग को कोई नवीन संदेश अवश्य दिया जाता है इसे महाकाव्य कहते हैं।

(ख) दूसरा प्रकार प्रबंध काव्य का वह है जहाँ कवि जीवन के किसी एक खंड या अंश को लेकर उसका क्रमबद्ध रूप में वर्णन करता है, इसे खंड-काव्य कहते हैं।

२—अबन्ध काव्य

काव्य के अबन्ध वर्ग में ऐसी कविता या काव्यरूप आते हैं जो पद्यान्तर निरपेक्ष होते हैं और जिनमें किसी कथा का आधार लेकर कवि बंध नहीं खड़ा करता। प्रबन्ध की एक-एक पंक्ति को हमने एक दूसरे से सम्बद्ध देखा, किन्तु अबंध काव्य में एक पद्य दूसरे की आकांक्षा करता ही नहीं। यहां तो प्रत्येक पद्य अपने में स्वतः पूर्ण होते हैं और उनमें स्वतः अर्थद्योतन की शक्ति होती है। अबन्ध काव्य की वह विशेषता इस कारण होती है कि उसमें जीवन का सहारा लेकर दृश्य-विधान या भावव्यंजना तो की जाती है परन्तु कोई वृत्त लेकर उसका विस्तृत वर्णन कवि नहीं करता। यही कारण है कि अबन्ध-काव्य वर्णनात्मक न होकर भावात्मक या आत्माभिव्यंजक होते हैं। जब अबन्ध-काव्य का एक-एक पद्य अपने में आत्मपर्यवसित होता है तब कवि को रसव्यंजना अथवा भावव्यंजना में बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है। क्योंकि यहां विस्तृत क्षेत्र तो नहीं रहता जिसमें परिस्थितियाँ स्वतः आन कर उपस्थित होती चली जाती है—वरन् यहाँ तो उस सीमित घेरे में कल्पना द्वारा कवि को ऐसा प्रभाव उत्पन्न करना पड़ता है जो पाठक पर अधिक प्रभाव डाल सके। यही कारण है काव्य के ऐसे वर्ग में आने वाले रूपों को जहां से उठा कर चाहें हम पढ़ सकते हैं और पूर्ण रसास्वादन भी हमारा हो सकता है।

प्रबन्ध-काव्य के बड़े क्षेत्र में यदि दो-चार साधारण से स्थल आ जायँ तो उसकी प्रभावात्मकता नहीं नष्ट हो सकती, कारण यह कि वे प्रबन्ध के प्रवाह में विलीन हो जायँगे। परन्तु अबन्धकाव्य में यदि एक भी पद्य साधारण होगा तो रसास्वादन में अभाव आ जायगा। यहाँ तो प्रबन्ध जैसा प्रवाह रहता ही नहीं जो उसके नीरस भाव को अपने सरस प्रवाह में विलीन कर दे। यही कारण है रचना-कौशल की दृष्टि से जितनी प्रबन्ध-रचना कठिन है उतनी ही अबन्ध-रचना भी।

(क) जब अबन्ध-काव्य अत्यधिक भावात्मक एवं आत्माभिव्यञ्जनाप्रधान हो जाता है, अर्थात् जब कवि अपने हृदय को खोलकर अति भावात्मक रूप में उसको अभिव्यंजित करने का प्रयास करता है तब उसका स्वरूप गीतिकाव्य कहलाता है। यहाँ स्वानुभूति का तो निरूपण होता ही है परन्तु गेयता भी अपने पूर्ण रूप में विद्यमान रहती है।

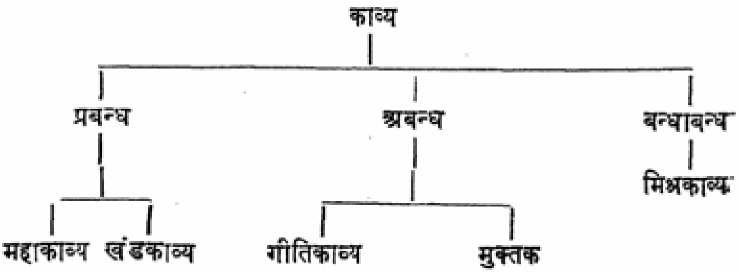
(ख) किन्तु अबन्ध-काव्य का दूसरा भेद वह भी होता है जहाँ कवि की स्वानुभूति का निरूपण नहीं होता, जहाँ केवल कलात्मक एवं चमत्कारिक ढंग से किसी वस्तु या भाव को वह प्रकट करता है। कवि का रूप यहाँ शास्त्रीय अधिक होता है और उसकी व्यंजना का रूप वैसा ही शास्त्रानुगामी होता है। ऐसे अबन्ध-काव्य को मुक्तक या पाठ्य मुक्तक की संज्ञा दी जाती है।

३—बन्धाबन्ध काव्य

काव्य का तीसरा भेद है बन्धाबन्ध काव्य। ऐसे काव्यरूप में प्रबन्ध और अबन्ध दोनों ही वर्गों के अन्यान्य भेदों की कुछ न कुछ विशेषताएँ अवश्य मिलती हैं। परन्तु न तो ये प्रबन्ध काव्य की भाँति अति वर्णनप्रधान होते हैं और न अबन्ध काव्य की भाँति ये बिलकुल पद्यान्तर-निरपेक्ष ही होते हैं। प्रबन्ध की शृंखलाबद्ध एवं अबन्ध-काव्य के भेदों की भावात्मकता दोनों ही यहाँ मिलकर एक रूप हो जाती हैं। परन्तु विशेषता ऐसे काव्यरूप की यह होती है कि इसमें काव्य के साथ-साथ साहित्य के अन्य किसी वर्ग के तत्वों का भी मिश्रण होता है। इसी मिश्रण को देख बन्धाबन्ध काव्य के भीतर जो काव्यरूप आते हैं उन्हें मिश्र काव्य की संज्ञा दी गई है इनमें नाटक के तत्वों, कथोपकथन, स्वगत कथन, दृश्यविधान आद का सहारा लेकर कवि भावाभिव्यञ्जना करता है। ऐसे मिश्र काव्यरूपों में अधिकतर नाटक के तत्वों का योग दिखाई पड़ता है। परन्तु ये काव्यरूप पद्यबद्ध नाटक के ही रूप में हों ऐसा भी नहीं, बल्कि उनके रचना-विधान में कवि नाटकीय तत्वों का आधार अवश्य लेता है। साथ ही प्रबन्ध-काव्य और अबन्ध-काव्य के अन्यान्य रूपों की कुछ विशेषताएँ भी इनमें मिलती हैं। उदाहरणार्थ प्रबन्ध

की वर्णनात्मकता और अबन्ध के अन्तर्गत आनेवाले गीतिकाव्य की अति भावात्मकता एवं आत्माभिव्यंजना का तत्व यहाँ आकर एक नवीन यौगिक रूप में दिखाई पड़ने लगता है।

काव्य के इस भेद के अन्तर्गत प्रमुख रूप से तीन वर्ग हो जाते हैं। एक तो नाट्यात्मक, दूसरा स्वानुभूति-प्रधान और तीसरा आख्यान प्रधान। नाट्यात्मक वर्ग के भीतर 'नाटकीय गीति' और 'गीति नाट्य' आते हैं। स्वानुभूति-प्रधान वर्ग में 'आत्मनिवेदनात्मक' और 'अतिसंगीतात्मक' काव्यरूपों का परिगणन होता है।



द्वितीय खण्ड

प्रबन्धकाव्य

तृतीय अध्याय

महाकाव्य का उद्भव और विकास

वैदिक संहिताओं में महाकाव्य का बीज

आदि काव्य 'रामायण' और 'महाभारत' भारतीय साहित्य में महाकाव्यों के विकास के दो विशाल स्रोत हैं। किन्तु इनके काल से और भी पूर्व चले जाने पर हम वेदों के उस सुरम्य काल में पहुँच जाते हैं जहाँ महर्षियों के गान में हमें महाकाव्य का सच्चा बीजारोपण होता हुआ दिखाई पड़ता है। महर्षियों के इन्हीं गीतों को क्रमशः व्यापक रूप मिलता गया और समयोपरांत ये ही गीत महाकाव्य निर्माण के मूलाधार बन गये।

''ऋग्वेद'' में धार्मिक मंत्रों के अतिरिक्त बीच-बीच में ऐसे मंत्र भी आए हैं जिनको आख्यान का स्वरूप प्राप्त है। इन्हें 'आख्यान सूक्त' के नाम से प्रसिद्धि मिली है। इन सूक्तों की विशेषता उनके संवादात्मक रूप में है जिसका प्रभाव बड़ा ही नाटकीय है। परवर्ती कवियों को संवादों की प्रेरणा इन्हीं सूक्तों से मिली। आगे चलकर 'महाभारत' में संवाद के भीतर संवाद चलते हुए मिले। 'ऋग्वेद' के अन्यान्य आख्यानसूक्तों में ''इन्द्र या सूक्त''[१] के अन्तर्गत आख्यान का तत्व जिस रूप में समायोजित है उसमें महाकाव्य के आरंभिक लक्षण पूर्ण रूप में मिलते हैं। इसमें इन्द्र की वीरता की प्रशंसा मिलती है। क्रमशः ऐसे ही संवाद भरे आख्यान जब किसी प्रतिभाशाली

---

१. यो जात एव प्रथमो मनस्वा-
न्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां
नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥
ऋग्वेद मं० २—सू० १२

व्यक्ति द्वारा एक साथ संग्रहीत कर दिए गए तब महाकाव्य को जन्म मिल गया। आगे चलकर 'महाभारत' में संवादों के भीतर संवाद की जो शैली मिली उसकी मूल प्रेरणा संभवतः इन्हीं आख्यानों से उसके कवि को मिली।

'वेदों' में इन वीरता भरे आख्यानों के अतिरिक्त ऐसी प्रशंसाएँ भी निहित हैं जिन्हें दानस्तुति[१] गाथानाराशंसी[२] और कुंताप सूक्त[३] कहकर अभिहित किया गया है। इनमें भिन्न-भिन्न राजाओं के आश्रित ऋषियों द्वारा की गई ऐसी प्रशंसाएं मिलती हैं जिनमें आश्रयदाताओं की वीरता और मुख्य रूप से दानवीरता का मुक्त कण्ठ से वर्णन किया गया है। इन प्रशंसात्मक "सूक्तों" में भी वह बीज मिलता है जो आगे चल कर महाकाव्य रूप में अंकुरित हुआ।[४]

पुराण

वेदों के पश्चात् हम पुराणों के काल में प्रवेश करते हैं। वैदिक संहिताओं से इस बात का हमें आभास मिलने लगता है कि उस समय कुछ वर्ग ऐसे अवश्य रहे होंगे जिनका कार्य राजाओं की प्रशंसा एवं उनके वीर कृत्यों का वर्णन करना रहा होगा। क्रमशः परंपरागत आती हुई कथाएँ बराबर जुड़ती चली गईं और धीरे-धीरे उनका बृहदाकार संग्रह हमारे समक्ष प्रस्तुत होता चला गया। जिन आदर्शों को युग अमरत्व प्रदान करना चाहता, उन्हें वह इनमें जोड़ता चला गया। इस प्रकार वीर कृत्यों से लेकर, युगधर्म, देवताओं और राजर्षियों के वर्णन, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा शास्त्रीय सभी प्रकार के विषय हमें पुराणों के रूप में संग्रहीत होकर मिले। वेदों की दानस्तुतियों में जो बीजरोपित हुआ वह पुराणों में आकर कुछ-कुछ अंकुरित होता हुआ दिखाई पड़ा। यह काल महाकाव्यों का काल न था तथापि उसी

---

१. ऋग्वेद मं० ६ सूक्त २७ मन्त्र ८।
२. शतपथ ब्राह्मण मं०१० सू० ५. ६. ८. 'ऋग्वेद" मं १ सू १७ मंत्र १।
३. अथर्ववेद म० २०, सूक्त १२७, १३७।
४. These songs in praise of men probably soon developed into epic poems of considerable length, i. e. heroic songs, and into entire cycles of epic songs, centaring around one hero or one great.........Page 314., A History of Indian Literature by M. Winternitz, Vol. 1.

काल से वह झलक हमें मिलने लगती है जो स्पष्ट रूप से महाकाव्यों में आगे चलकर दिखाई पड़ी। पुराणों में सृष्टि और उसके संहार का विस्तार, उसकी वंशावली, मनु का समय तथा उसके समय की अन्यान्य घटनाएँ और सूर्य, चन्द्रवंशी राजाओं के वर्णन मिलते हैं[1] परन्तु पुराणों में एकता का अभाव मिलता है। अन्यान्य आख्यान बिना किसी कला के संग्रहीत कर दिए जाते हैं। पुराणों के विषय इतने अधिक होते हैं, जिसके कारण उनमें सुव्यवस्थित गठन ढूँढ़ना व्यर्थ है। अर्थात् एक तो उनमें अन्विति नहीं, दूसरे समय-समय की प्रचलित कथाएँ उनमें बिना पूर्वापर सम्बन्ध के जोड़ी हुई मिलती हैं। अनेक विरोधी और अतिशयोक्तिपूर्ण घटनाओं का समावेश भी उसमें इसी कारण मिलता है। जिस काल ने उसमें जिस आख्यान अथवा आदर्श कथा की कमी देखी, उसने उसी आख्यान एवं उसी कथा को जोड़ दिया। कोई भी ऐसा विषय नहीं जिस पर पुराण दृष्टिपात न करता हो। अस्तु पुराणों में ऐक्य नहीं, और साथ ही कहीं-कहीं तो ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं जिनमें काव्यत्व बिलकुल ही शून्य है। अस्तु इस काल के पश्चात् जो काल आता है वही हमारे साहित्य में महाकाव्य की परम्परा का आरम्भ काल माना जाता है।

संस्कृत महाकाव्यों के दो विशाल स्रोत

'रामायण' और 'महाभारत' से महाकाव्यों की सुदृढ़ परम्परा का आरंभ इसलिए माना जाता है कि मानव पुरुषार्थ के सर्वोत्तम स्वरूप को लेकर बड़े सुव्यवस्थित ढंग से इन दोनों काव्यों की रचना हुई। यद्यपि 'महाभारत', 'रामायण' की तुलना में उतना सुव्यवस्थित नहीं तथापि उसने युग-युगान्तर कवियों को महकाव्य रचना में किसी न किसी रूप में प्रेरित अवश्य किया है।

काव्यरूप की दृष्टि से 'रामायण' पहला काव्य है जिसमें सुसम्बद्धता एवं गठन पूर्ण रूप से विद्यमान मिलती है। इसकी सम्पूर्ण कथा सात सर्गों में विभक्त है और आद्यन्त कथा की एक कड़ी दूसरी कड़ी से सम्बद्ध है। इसी से 'सर्गबन्ध' की कल्पना परवर्ती काव्यशास्त्र के रचयिताओं ने की। काव्यारम्भ क्रौंच-वध की मर्मस्पर्शिणी घटना से होता है। उधर तो क्रीड़ा करते हुए क्रौंच के जोड़े में से एक, बधिक का लक्ष्य बनता है और इधर वाल्मीकि का हृदय विह्वल होकर शाप रूप में उद्गीरित हो पड़ता है। कहते हैं इसी समय वे ब्रह्मा द्वारा आदिकवि घोषित किए गए और उन्हें 'रामायण' के

---

१. काव्यमीमांसा-राजशेखर अध्याय २ पृ० ३.

निर्माण का आदेश मिला। साक्षात् धर्मस्वरूप राम को लेकर जिस कथा का प्रणयन अपने महाकाव्य में उन्होंने किया उसमें इहलोक में ही परलोक धर्म की स्थापना करके दिखा दी।

इतने महान् आदर्श को लेकर वाल्मीकि चले और उतनी ही महान् शैली में उनका यह महान् आदर्श अभिव्यक्त भी हुआ। धर्मस्वरूप राम के पथ में जो विषमताएँ हैं वे अन्य कुछ नहीं वही दानवी प्रवृत्तियाँ हैं जिससे इहलोक भरपूर है। देव और दानव का युद्ध निरन्तर चलता है—इसी की कल्पना हमारे यहाँ 'देवासुर संग्राम' में है। यह संग्राम सीधा सरल संग्राम नहीं। आसुरी वृत्ति पर विजय तभी सम्भव है जब साहस, बल, पराक्रम सभी का योग एक साथ दिखाई पड़े। राम साक्षात् धर्म स्वरूप देवता के प्रतीक हैं और रावण आसुरी वृत्ति का। इन्हीं दोनों के युद्ध द्वारा वाल्मीकि ने सत्य की असत्य पर, एवं धर्म की अधर्म पर विजय दिखाई है। इसी युद्ध में आध्यात्मिक और भौतिक प्रवृत्तियों के युद्ध की ओर भी उनका संकेत है। अन्त में इसी विजय द्वारा कवि ने इसी लोक में धर्म राज्य या रामराज्य की स्थापना करके दिखा दी है।

किन्तु महाकाव्य का अन्त रामराज्य की स्थापना होने के उपरान्त भी शान्तरस में न हो सका। उसका पर्यवसान करुण रस में ही होता है। इसका कारण भी वही धर्म, राज्य एवं परलोक की प्रधानता है जिसका पलड़ा मानव भूमि पर अधिक झुक गया। राम के सम्मुख लोक-निन्दा का भय अधिक चिन्तनीय विषय बन जाता और उनके अन्तिम जीवन तथा इसी से दुःखमय हो जाते हैं। अतः महाकाव्य का पर्यवसान करुण रस में होता है।

रूप की दृष्टि से यह प्रथम काव्य है जिसमें सुसम्बद्धता एवं गठन पूर्णरूप से वर्तमान है। सम्पूर्ण कथा सात सर्गों में विभक्त है, जिनमें २४००० श्लोक हैं। जिन छन्दों में इसकी रचना हुई है उनमें सुस्वरता एवं भावोद्दीपन की शक्तिपूर्ण है। इतने विशाल ग्रन्थ में कथा की एकता न हो ऐसी बात नहीं। उसकी एकता अपनी एक निजी एकता है। कहीं भी कथासूत्र टूटता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। बीच-बीच में ऐसे सरस प्रसंग आते हैं जिनमें कवि की भावुकता का पूरा-पूरा आभास मिलता है। इन्हीं प्रसंगों को देखकर हम यह कह उठने के लिये बाध्य हो जाते हैं कि "रामायण" न तो कोरा इतिहास है, न पुराण, बल्कि है हमारा आदि महाकाव्य।

वाल्मीकि का प्रकृति निरीक्षण सूक्ष्म था। यही कारण है महाकाव्य के बीच जहाँ कहीं भी ऋतु, वन, पर्वत, संध्या, प्रभात आदि के प्रसंग आए

हैं कवि का वर्णन कौशल अपूर्व है। भावों की महानता, शैली की भव्यता, रसों का परिपाक सभी दृष्टि से "रामायण" सफल महाकाव्य है।

'रामायण' के पश्चात् 'महाभारत' दिखाई पड़ता है। पहले में जहाँ राम हैं वहाँ इसमें कृष्ण। एक में यदि कवि ने 'विग्रहवान धर्म' की प्रतिष्ठा की है तो दूसरे में "साक्षात् ईश्वर" ही ने रूप धारण किया है। जीवन में जब भौतिक द्वन्द्वों का स्वरूप समता को पहुँच जाता है, तभी मनुष्य को भगवान के इस रूप का रहस्य समझ में आता है। यहाँ आकर इहलोक और पर-लोक का पूर्ण समन्वय हो जाता है और मानव-जीवन अपने सर्वोत्तम पुरुषार्थ की भूमि पर पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है। महर्षि व्यास का आदर्श हलका नहीं, एक उच्च आदर्श है, जिनमें मानव पुरुषार्थ अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है।

रूप की दृष्टि से 'महाभारत' में वह सौष्ठव नहीं जो 'रामायण' में मिलता है। इसका एकमात्र कारण है इसकी विशालता एवं एक हाथ की रचना न प्रतीत होना। इसके आदि पर्व में स्वयं महर्षि व्यास ने इसे पुराण और इतिहास का एक सुन्दर समन्वय ग्रन्थ माना है।[1] प्रधान कथा कौरवों और पांडवों के युद्ध के चारों ओर घूमती है और प्रधान कथा के चारों ओर अनेक आख्यान अपने-अपने सौन्दर्य को प्रदर्शित करते हुए दिखाई पड़ते हैं। यह महाकाव्य पुराणों की ओर अधिक झुक गया। 'शान्तिपर्व' में जहाँ जीवन की विषमताओं का वर्णन है, वहाँ शान्तरस अपने सुन्दर रूप में है। इसी रस में इस महाकाव्य का पर्यवसान भी हुआ है।

'महाभारत' में आकर सर्गों या काण्डों ने पर्वों का नाम लिया है। सम्पूर्ण महाकाव्य में अठारह पर्व हैं और प्रत्येक पर्व की कथा अनेक घटनाओं के अनुसार अध्यायों में विभक्त है। इन अध्यायों को भी पर्व कहकर ही अभिहित किया है, जैसे 'आदि पर्व' में 'अनुक्रमणिका-पर्व', 'पर्वसंग्रह-पर्व' इत्यादि।

'महाभारत' का आरम्भ नारायण, नर और सरस्वती की वन्दना से होता है। तत्पश्चात् कवि काव्य के पात्रों एवं कथानक से हमारा परिचय कराता है। इसमें मुख्य कथा के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी कथाओं के आ जाने से जो रूप इसे मिला है वह बिल्कुल वैसा नहीं जिसे हमने

---

१. महाभारत, आदिपर्व, "अनुक्रमणिका पर्व" (१६) संपादक—नीलकंठ, चित्रशाला प्रेस, पूना, १९२९।

'रामायण' में देखा। तो भी इतनी कथाओं को एक साथ लेकर चलने वाले महर्षि व्यास ने अपनी अद्भुत प्रतिभा को दर्शाया है। इसका चरित्र-चित्रण वैसा नहीं जैसा पश्चिम के महाकाव्य 'इलियड' का है। दैवी चरित्रों की योजना में व्यास को 'होमर' से अधिक सफलता मिली है। ये चरित्र दैवी हैं किन्तु युग को उनके इस रूपमें विश्वास पूरा था। विद्वानों के मत में "महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का वन है।"[१]

'महाभारत' के 'वनपर्व' में वर्णन बहुत ही प्रभावात्मक बन पड़े हैं। हिमालय का वर्णन बहुत ही चित्ताकर्षक है और जहाँ कहीं भी युद्ध-क्षेत्र का प्रसंग आया है वहाँ तो कवि का वर्णन कौशल अद्भुत है। अंग रूप से सभी रसों की योजना हुई है और मुख्य रस इसका शान्त है। काव्यान्त 'स्वर्गारोहण' पर्व से हुआ है जहाँ कवि संसार की अनित्यता को दिखाते हुए मानव को मोक्ष की ओर उन्मुख होने का एक पथ दिखाता है।

'रामायण' से आगे बढ़ कर 'महाभारत' में आकार की बृहदता आ गई। संवादों की विशेषता से ही यह बृहद रूप सौन्दर्य के साथ बँध सका है। जिस प्रकार विशाल भारत एक संस्कृति की आत्मा के सूत्र में ही बँधता है, उसी प्रकार यह 'महाभारत' अपने बड़े विस्तार और अठारह पर्वों के विशाल शरीर को लेकर एक प्रेरक सन्देश से बँधा हुआ है। मानव धर्म ही सब कुछ है। उस मानव धर्म की सेवा से अर्थ और काम दोनों सिद्ध हो सकते हैं। जिस प्रकार दम्पति-वियोग का क्रन्दन 'रामायण' में था उसी प्रकार धर्म और मानवता के वियोग का क्रन्दन 'महाभारत' में है। धर्म को काव्य की भूमिका में लाने के लिए उसका पूरा इतिहास कवि ने सामने रख दिया है। इसलिये इन महाकाव्यों में केवल भारत वंश ही नहीं, पूरे भारत देश का सांस्कृतिक इतिहास छिपा हुआ है।

'रामायण' और 'महाभारत' आर्ष महाकाव्यों की श्रेणी में आते हैं। इनकी सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि इनमें चरित की प्रधानता की अपेक्षा विशेष पुरुषार्थ का दिग्दर्शन महर्षियों ने कराया है।

लौकिक संस्कृत में महाकाव्य

आर्ष महाकाव्यों के उपरान्त हम अश्वघोष और कालिदास के काल में प्रवेश करते हैं। इस काल में महाकाव्य उन साहित्य-मर्मज्ञ सहृदय पाठकों को लक्ष्य करके रचे गए जो काव्यशास्त्र से अभिज्ञ हो चुके थे, जिनमें समय के

---

१. हि० सा० की भूमिका—आ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० १७७.

साथ बौद्धिक विकास भी पर्याप्त मात्रा में हो चुका था। इन्हीं के अनुरूप इन महाकाव्यों के रचयिताओं का व्यक्तित्व भी वाल्मीकि और व्यास से भिन्न हो चुका था। कला के प्रति जितने सचेत अश्वघोष और कालिदास दिखाई पड़े, उतने वाल्मीकि और व्यास नहीं। मनोवृत्ति का यह भेद परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुरूप ही था। नवीन परिस्थितियों के देन स्वरूप नागरिक और ग्राम्य जीवन थे। अस्तु मनोवृत्ति एवं विचारधारा के परिवर्तन के साथ बाह्य अभिव्यक्ति में महाकाव्य का स्वरूप बिलकुल बदल गया।

अश्वघोष ने अपने 'बुद्धचरित' में समय के उच्चतम आदर्श पारलौकिक वैराग्य को अभिव्यंजित करने के लिये महात्मा बुद्ध को अपने महाकाव्य का नायक बनाया। मूल रूप में इस महाकाव्य की रचना २८ सर्गों में हुई किन्तु वर्तमान रूप उसका चौदह सर्गों का ही है। कथा-प्रवाह, वर्णन-शैली, भाव-व्यंजना सभी में पूर्ण प्रभावात्मकता यहाँ वर्तमान है। महाकाव्य का रूप यहाँ अत्यधिक गठा हुआ भी मिलता है और साथ ही अनावश्यक प्रसंगों का परिहार भी है। शैली की आलंकारिकता कवि की सचेत मनोवृत्ति का पूरा परिचय देती है।

अश्वघोष के पश्चात् कालिदास का 'कुमारसंभव' और 'रघुवंश', भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपालवध', और श्रीहर्ष का 'नैषधीय चरित' इस क्षेत्र में आते हैं। इन सभी महाकाव्यों में उच्च कलात्मकता के साथ ही काव्यत्व भी पूर्णरूप से मिला। छन्दों का सुन्दर विधान, रस का पूर्ण परि-पाक, प्रकृति के अलंकृत वर्णन आदि के साथ-साथ मानव जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण दृश्य इन महाकाव्यों में अपने अपूर्व कौशल के साथ अंकित हुआ। इतिवृत्तात्मक प्रसंगों के साथ ही भावात्मक प्रसंगों की योजना भी बड़ी सामंजस्यपूर्ण शैली में यहाँ हुई।

संस्कृत महाकाव्यों पर विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् जो चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है उसके प्रधान अंग दिखाई पड़ते हैं सर्ग, प्रबन्ध, नायक, वर्णन, रस और छन्द। संस्कृत का प्रत्येक महाकाव्य सर्गबद्ध है। इन सर्गों की संख्या निश्चित नहीं। बाद के आचार्यों ने परिभाषा करते हुए इनकी संख्या निश्चित कर दी। आदि महाकाव्य 'रामायण' में हमें सात, 'महाभारत' में अठारह, 'रघुवंश' में उन्नीस और 'बुद्धचरित' में सत्रह सर्ग मिलते हैं। क्रमशः इन सर्गों का आकार बढ़ता-घटता गया।

संस्कृत में महाकाव्यों की कथा अधिकतर वेद, इतिहास और पुराण से ही ली गई। परम्परा-प्रख्यात कथा को ही इनमें स्थान मिला और काल्पनिक

कथाओं का बहिष्कार किया गया। 'बुद्धचरित' में बुद्ध की कथा, 'रघुवंश' में रघु की कथा हमारे यहाँ की प्रख्यात कथाएँ हैं। इसी प्रकार अन्य सभी महाकाव्यों में यही बात सर्वत्र मिलती है। ये प्रख्यात कथाएँ अपनी मूल कथाओं से न मिलती हों ऐसी बात नहीं। कल्पना का योग इनमें वहीं पर हुआ है जहाँ पर कवि अपने कथानक को सरस बनाने के लिए दत्तचित्त है। आशय यह कि कल्पना को वहीं तक स्थान मिला है, जहाँ तक उसमें मूल कथा से कोई भी अन्तर नहीं आने पाया है। इन महाकाव्यों में इस प्रकार इतिवृत्तात्मक प्रसङ्गों के साथ-साथ भावात्मक एवं काव्यत्व पूर्ण प्रसङ्गों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भी विद्यमान है। कथा-प्रवाह में कहीं भी शिथिलता का भान नहीं होता। प्रबन्ध पूर्ण रूप से गठा हुआ है और रचना शैली नाटकीय अधिक है। अस्तु कथोपकथन एवं नाटक की समस्त सन्धियाँ भी मिलती हैं। किन्तु नाटक की ये सन्धियाँ सर्वत्र मिले यह आवश्यक नहीं। ऐतिहासिक नाटकों में इनकी योजना नहीं होती।

संस्कृत के प्रायः सभी महाकाव्यों में चाहे वे आरम्भिक हों चाहे परवर्ती, अलौकिक तत्व की योजना विशेष रूप में हुई है। इस अलौकिक तत्व से कथा-प्रवाह में शिथिलता आई हो ऐसी बात नहीं। जिस ऊँचे आदर्श को लेकर वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि कवि चले उसे अभिव्यक्त करने के लिए यह तत्व बहुत ही सक्षम सिद्ध हुआ। लौकिक और पारलौकिक तत्वों का समन्वय, इहलोक में परलोक की स्थापना आदि ऐसे आदर्श हैं जिनसे युग विश्वासानुरूप अलौकिक तत्वों का आ जाना बिल्कुल स्वाभाविक था। 'रामायण' में धर्म स्वरूप राम की विविध अलौकिक चेष्टाएँ, शिला की स्त्री रूप धारण कर लेना, पुष्प वृष्टि, आकाशवाणी आदि कुछ ऐसे ही प्रसङ्ग हैं जिनमें अलौकिकता भरी हुई है। 'महाभारत' में कृष्ण का अर्जुन को विराट रूप दिखाना, 'रघुवंश' में दिलीप का अपनी सन्तति अभाव के कारण को पूर्व ही जान लेना, सुवर्ण वृष्टि होना, 'बुद्ध चरित' में बालक बुद्ध का जन्म लेते ही बोलने लगना इत्यादि ऐसे ही उदाहरण हैं। वास्तव में देखा जाय तो जब प्रधान नायक का चरित इतना ऊँचा हो जाता है कि उसमें तथा देवत्व में अभिन्नता स्थापित हो जाती है तब स्वयं देवगण उसके कार्यों में हाथ बटाते हुए दिखाई पड़ने लगते हैं—पृथ्वी पर उतर आते हैं और उनकी प्रसन्नता पुष्प वृष्टि के रूप में प्रकट होने लगती है। यहीं से इन महाकाव्यों में अलौकिक तत्व का बीजारोपण हो जाता है।

इन सभी महाकाव्यों में एक प्रधान युद्ध अवश्य दिखाया गया है। युद्धो-

परान्त नायक की विजय होती है और शत्रुपक्ष की पराजय। 'रामायण' में राम-रावण युद्ध', 'महाभारत' में कौरवों और पाण्डवों का युद्ध, 'कुमार-संभव' में कुमार और तारक युद्ध, 'शिशुपालवध' में कृष्ण और शिशुपाल युद्ध तथा 'किरातार्जुनीय' में अर्जुन और किरात का युद्ध दिखाया गया है। किन्तु 'बुद्ध चरित' में ऐसा युद्ध नहीं बुद्ध और मार का युद्ध बड़ी उच्च भूमिका का युद्ध है यहाँ मनुष्य का अपनी इन्द्रियों के प्रति युद्ध है। युद्ध का सूत्रपात करने वाला होता है नायक। यहाँ तो नायक हैं बुद्ध जिनके जीवन का धर्म ही "अहिंसा परमोधर्मः" है अतः यहाँ युद्ध क्योंकर सम्भव हो सकता है। परन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' के युद्ध भी साधारण भूमि पर होने वाले युद्ध नहीं; एक में यदि देवासुर संग्राम की भावना है तो दूसरे में साक्षात् धर्म युद्ध हुआ है। तो भी संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों में युद्ध नायक द्वारा किसी लोकहित साधनार्थ या देवताओं के सुख निमित्त ही हुआ है। 'रामायण' का युद्ध लोक एवं देवताओं दोनों ही हित के लिये है। 'कुमार सम्भव' का युद्ध देवताओं को प्रसन्न करने के लिए है। 'रघुवंश' में इस दृष्टि से विशेषता है। उसमें यदि अनेक नायक हैं तो अनेक युद्ध भी हैं।

इन महाकाव्यों में नायक को बहुत उच्च पद दिया गया है। 'रामायण' में राम, 'महाभारत' के कृष्ण क्षत्रिय राजा हैं, 'कुमारसंभव' में स्वामी कार्तिकेय देवता हैं, 'बुद्धचरित्र' में बुद्ध महात्मा साधु हैं। इसी प्रकार सभी महाकाव्यों में देवता, राजा या ऐतिहासिक पुरुष ही हुए हैं। इन्हीं के साथ प्रतिनायक भी चित्रित हुए हैं। रावण, दुर्योधन, तारक, शिशुपाल, किरात आदि विभिन्न महाकाव्यों के प्रतिनायक हैं। इनके अतिरिक्त नायिकाओं को भी सर्वगुण सम्पन्न आदर्श स्त्रियों के रूप में अंकित किया है।

दूसरी विशेषता जो इन महाकाव्यों की है वह है वर्णनों का प्राधान्य। प्रकृति में जहाँ कहीं जो भी सुन्दर एवं आकर्षक है उन सभी का यथा तथ्य वर्णन इन कवियों ने अपने महाकाव्यों में किया। समस्त प्रकृति उनके आँखों के समक्ष झूला करती थी। और एक-एक कण उन्हें प्रेरित करता रहता था। प्रकृति के सौम्य से सौम्य, उग्र से उग्र स्वरूपों के जो वर्णन प्रस्तुत किये हैं वे समग्र साहित्य में अनुपम स्थान पाते हैं।

वस्तु-वर्णन कहीं तो स्वतन्त्र, कहीं अप्रस्तुत और कहीं उद्दीपन रूप में किया गया है। बाल्मीकि, अश्वघोष और कालिदास के वर्णनों जैसे सुन्दर एवं सजीव वर्णन अन्यत्र दुर्लभ हैं। दूसरी बात जो विशेष उल्लेखनीय है वह यह कि इन महाकाव्यों में इतिवृत्त के कोरे विवरणों का अभाव है।

परन्तु आगे चलकर अपभ्रंश में इतिवृत्तात्मकता अधिक देखने को मिली।

रस को हमारे यहाँ एक ऊँचा स्थान दिया गया है। इसी रस की अनुपम भित्ति पर ये महाकाव्य रचे गए हैं। महाकाव्य में सभी रसों को स्थान मिला और प्रमुखता केवल एक ही रस को दी गई। इन प्रमुख रसों में शृंगार, शान्त और वीर रस ही प्रमुख रूप में नियोजित हुआ। हास्य रस को महाकाव्य की गम्भीरता में कोई स्थान न मिला।

भाषा की दृष्टि से संस्कृत महाकाव्यों में पहले तो सरलता, गहनता एवं शुद्धता को अधिक स्थान मिला; किन्तु 'रामायण', 'महाभारत' के पश्चात् गूढ़ता एवं शुद्धता तो दिखाई पड़ी किन्तु सरलता को उतना स्थान नहीं मिला जितना कि उन आर्ष महाकाव्यों में। परवर्ती महाकाव्यों में विकास के साथ भाषा का परिमार्जन, परिष्कार एवं समृद्ध अधिक मिलता गया। कालिदास में यह बात विशेष रूप में दिखाई पड़ी। उनका बन्ध इतना मसृण एवं प्रांजल है कि पढ़ने में विशेष आयास नहीं करना पड़ता। उनकी वाणी इतनी परिनिष्ठित है कि शब्द परिवर्तन उसमें सम्भव नहीं।

संस्कृत महाकाव्यों का आरम्भ मंगलाचरण से हुआ है। सम्भवतः अमंगल के नाश की भावना से, एवं महाकाव्य निर्माण सरलता से हो सके इसी विचार से इसकी योजना महाकाव्यों में की गई। छन्दों का चुनाव भी बहुत सुन्दर हुआ है। 'रामायण' में अनुष्टुप की प्रधानता है तो 'महाभारत' में इस छन्द के साथ-साथ अन्य छन्दों जैसे जाति, उपजाति शार्दूल विक्रीडित आदि का भी प्रयोग हुआ है। परवर्ती कवियों ने सर्गांत में छन्द परिवर्तन का उतना ध्यान नहीं रखा। क्रमशः महाकाव्यों की रचना रूढ़िबद्ध होती चली गई और उसका रूप भी बड़ा ही कलापूर्ण हो गया।

पालि और प्राकृत काल

पालि भाषा में भी काव्य लिखे गए किन्तु उनमें महाकाव्यत्व प्रायः शून्य है। "जिनचरित"[१] और "जिनालंकार"[२] जैसी कृतियों को महाकाव्य की श्रेणी में रखने में संकोच होता है, क्योंकि उनमें बुद्ध के जीवन की छोटी-सी कथा को लेकर वर्णनात्मक ढंग से कवि ने काव्य का रूप भर दे दिया है। महाकाव्यों के विकास में इन काव्यों का अधिक महत्व इसलिये भी नहीं दिखाई पड़ता कि बौद्ध ग्रंथों का प्रभाव हिन्दी के महाकाव्यों पर बहुत ही कम पड़ा।

---

१. जिनचरित–वनरत्न मेधंकर। २. जिनालंकार–बुद्धरक्षित।

प्राकृत काल में आकर हमें बहुत से प्रबन्धकाव्य अवश्य मिलते हैं जिनमें प्रवरसेन का 'सेतुबंध', वाक्पतिराज का 'गौडवध', हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित' और रामपाणिवाद का 'उषानिरुद्ध' प्रसिद्ध हो गए हैं। किन्तु इन प्रबंधकाव्यों का भी कलेवर छोटा है और शैली में वह भव्यता नहीं मिलती जो संस्कृत के महाकाव्यों में हमें दिखाई पड़ी।

संस्कृत के परवर्ती ऐतिहासिक काव्य

हमने अब तक देखा है कि किस प्रकार वैदिक साहित्य से क्रमशः 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों का विकास हुआ है। इसके पश्चात् तो इन्हीं महाकाव्यों से प्रेरित होकर न जाने कितने सर्गबद्ध महाकाव्यों की रचना होती रही। क्रमशः महाकाव्य सर्गबद्धता में रूढ़ हो गया और उसमें ऊँची कलात्मकता का विधान भी बढ़ता चला गया। फलतः एक समय ऐसा आया जब वह साहित्य केवल मर्मज्ञों की ही वस्तु बन गया।

संस्कृत में ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्रों से सम्बद्ध काव्य तो कई प्राप्त होते हैं पर उन्हें इतिहास नहीं कहा जा सकता। अश्वघोष और कालिदास जैसे कवियों ने किसी ऐतिहासिक पुरुष को लक्ष्य बनाकर कोई काव्य नहीं लिखा। समसामयिक ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख पुराने संस्कृत साहित्य में सिर्फ शिलालेखों और ताम्रशासन-पत्रों में ही प्राप्त होता है, किन्तु काव्य के उद्देश्य से समसामयिक राजाओं के चरित परवर्ती साहित्य में बहुत अधिक प्रचलित हुए। सातवीं शताब्दी के उपरान्त संस्कृत साहित्य में ऐसा काल आया जिसमें अधिकांशतः ऐतिहासिक राजाओं के चरित को कवि ने लक्ष्य बनाया। इन ऐतिहासिक काव्यों में बाणभट्ट का 'हर्षचरित' जिसे उन्होंने आख्यायिका कह कर अभिहित किया, अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ तथा वह ऐतिहासिक काव्य माना जाता है। काव्य की दृष्टि से इसमें ऐतिहासिक व्यक्ति-हर्ष को लेकर उसके जन्मकाल से उत्तरोत्तर प्रौढ़ावस्था तक का सुन्दर वर्णन आठ उच्छ्वासों में निबद्ध हुआ है। उसके पश्चात् आठवीं शताब्दी में शंकुक का 'भुवनाभ्युदय' मिला, जिसमें मम्म और उत्पल के युद्ध का वर्णन किया गया। लगभग १००५ ई० में क्रमशः कवियों का झुकाव कवित्वप्रधान ऐतिहासिक काव्यों की रचना की ओर हुआ। इनमें पद्मगुप्त या परिमल कवि का 'नवसाहसाङ्कचरित' बहुत ही प्रसिद्ध हुआ, जिसमें कवि ने मालवा के राजा सिन्धुराज नवसाहसाङ्क के ऐतिहासिक महत्व का प्रदर्शन हुआ। साथ ही बिल्हण का 'विक्रमांक देवचरित', जिसमें राजकीय युद्धों और विवाहों का विस्तृत वर्णन हुआ, इस दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण

ऐतिहासिक काव्य सिद्ध होता है कि उसमें ऐतिहासिक कथा का इस रूप में वर्णन हुआ है जिसमें कवि का झुकाव इतिहास की ओर कम और कवित्व पूर्ण वर्णनों की ओर अधिक दिखाई पड़ता है। किन्तु इस झुकाव के होते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत काव्य में चरित्र-चित्रण का वही रूप है जो प्रबंधकाव्यों में मिलता है। इसमें युद्ध एवं विवाह की घटनाओं का विस्तार अवश्य बहुत कुछ वैसी ही शैली पर मिलता है जो आगे चलकर हिन्दी के 'रासो' शैली के प्रबंधकाव्यों में दिखाई पड़ा। इतिहासविषयक कुछ सूचनाओं का स्रोत होने पर भी यह ग्रंथ प्रधानतः काव्य-क्षेत्र में रखा जा सकता है। दूसरी बात जो इसमें नवीन दिखाई पड़ी वह यह कि इसमें नीति की बातों का गुंफन भी हुआ है और इसका प्रधान रस शान्त है। इस नीतिपरकता पर 'महाभारत' का प्रभाव हमें दिखाई पड़ता है। ऐसे ही काव्यों में दूसरा सन्ध्याकर नंदी का 'रामपाल चरित' भी मिलता है जिसको 'श्लेषकाव्य' की संज्ञा दी जाती है। इसमें अयोध्या के राजा राम और बंगाल के राजा रामपाल पर घटित होने वाले श्लिष्ट श्लोक मिलते हैं। यहाँ भी इतिहास की अपेक्षाकृत काव्य-चातुरी की ओर कवि का झुकाव अधिक है। बारहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते हमें ऐसे काव्यों में जल्हण का 'सोमपाल विलास' और जयानक का 'पृथ्वीराज विजय' भी मिलते हैं। अनन्त पुत्र रुद्र का 'राष्ट्रौढ़वंश' कन्नौज के नारायण शाह तक होने वाले राजाओं की चरितावली को लेकर निर्मित हुआ।

इसी शताब्दी में हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित' या 'द्वयाश्रय काव्य' जिस रूप में रचा गया उसमें बीस सर्गों की रचना तो संस्कृत में हुई और अन्तिम आठ सर्गों को प्राकृत भाषा में रचा गया। इस प्रकार प्रस्तुत काव्य में हमें काव्य और व्याकरण की चिन्ता स्पष्ट रूप से झलकती हुई मिलती है। इसी भाँति सोमेश्वर की "कीर्ति - कौमुदी" में मन्त्री वस्तुपाल की कीर्त्ति का वर्णन हुआ और सं० १४६० में नयचन्द्र सूरि का "हम्मीर महाकाव्य" मेवाड़ के राजा हम्मीर की प्रशंसा निमित्त रचा गया। इसके साढ़े तीन सर्गों में हम्मीर का विवाह-वर्णन और ऋतु का वर्णन किया गया है, जिसमें हमें काव्यत्व की ओर कवि का झुकाव स्पष्टतः मिलता है।

१७वीं शताब्दी में रामभद्रम्ब नामक महिला लेखिका ने 'रघुनाथाभ्युदय' में अपने प्रिय राजा रघुनाथ के यश का वर्णन किया। इसी प्रकार विजयनगर के राजा अच्युतराय की रानी गंगादेवी ने "वीरकम्पराय चरितम्"

या ''मधुराविजय'' में अपने पति की मदुरा विजय की कहानी का वर्णन किया। इनमें भी काव्यत्व मिलता है।

संस्कृत के उक्त ऐतिहासिक काव्यों के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत के ऐतिहासिक काव्य वस्तुतः पूर्णरूप में इतिहास को लेकर नहीं चले, बल्कि उनमें अधिक काव्यत्व ही मिलता है। ये काव्य अपने-अपने ऐतिहासिक चरित नायकों के ऐतिहासिक पहलू को स्पर्श करते हुए वस्तुतः काव्यात्मक वर्णन की ओर ही झुके हुए दिखाई पड़ते हैं। घटनाओं का कल्पना के साथ यहाँ अनमिल योग होने के कारण एक प्रकार से दोनों ही में अस्तव्यस्तता दिखाई पड़ती है। सच पूछा जाय तो यहाँ किसी भी ऐतिहासिक व्यक्ति के काल, क्रियाकलाप आदि का वास्तविक घटनाओं के साथ वर्णन न होकर आंशिक रूप में ऐतिहासिक सत्य को अपनाते हुए विवाह, युद्ध, केलि आदि के द्वारा नायक का महत्व प्रदर्शित हुआ है। इस प्रकार ये काव्य ऐतिहासिक शोध के लिए अवश्यमेव कुछ सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं, किन्तु उनकी रचना में कवि की मूल प्रवृत्ति की छानबीन इसी निष्कर्ष पर ले जाती है कि इनमें कवि का ध्यान प्रेम, बिरह, केलि, युद्ध आदि वर्णनों की ओर अधिक रमा है। यही कारण है इन ऐतिहासिक काव्यों में हमें नैतिक जटिलताओं द्वारा उपस्थित होने वाली परिस्थितियों का पूर्णतः अभाव मिलता है और साथ ही इनमें ऐसे हास्यपरक अनमिल व्यापार भी गुंफित नहीं हुए जो मनुष्य के वास्तविक जीवन का उद्घाटन करते हैं। उनमें कल्पना की ही प्रधानता है, चरित्र-चित्रण की यथार्थता नहीं मिलती।

क्रमशः इन्हीं ऐतिहासिक काव्यों में ऐसी कथानक रूढ़ियों का प्राधान्य भी होता चला गया जो कोरी कल्पना-प्रसूत लोक-कथाओं में साधारणतः उपलब्ध होती हैं। स्वप्न में प्रिय दर्शन, शुक द्वारा प्रिय संधान और संदेश भेजना, मुनि का शाप, रूप परिवर्तन, लिंग परिवर्तन, परकाय-प्रवेश, अभिज्ञान, प्रिय वस्तु द्वारा पूर्व प्रसंग का ज्ञान, अन्तःपुर की परिचारिका का राजा से प्रेम और अन्त में पुनः उसका राजकन्या के रूप में प्रकट होना, चित्र-दर्शन द्वारा विरहाकुल होना, नायक का औदार्य आदि कुछ ऐसी कथानक रूढ़ियाँ हैं जो परम्परा से भारतीय कथाओं में प्रचलित रहती आई। धीरे-धीरे इन ऐतिहासिक काव्यों में इन्हीं रूढ़ियों का भी समावेश होता चला गया जो प्रधानतः आठवीं शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी तक काव्यों में समाविष्ट होती रहीं।

प्राकृत काल के उद्भव के साथ ही दूसरी ओर ऐसी प्रवृत्ति के अनेक काव्यों की रचना हुई जिनमें ऐतिहासिक काव्यों के विपरीत सम्पूर्ण कथा बिलकुल कल्पना का आधार लेकर खड़ी हुई और इन्हीं काल्पनिक कथाओं का सम्बन्ध युग के किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों से जोड़ दिया गया। प्राकृत के 'सेतुबन्ध',[1] 'गौड़वहो'[2], 'उषानिरुद्ध'[3] आदि प्रबन्ध काव्यों में आंशिक ऐतिहासिकता इसी रूप में समाविष्ट हुई मिलती है। सम्भवतः इसका कारण प्रशंसा एवं प्रसिद्धि पाना ही रहा हो। कोई भी बात इसके मूल में क्यों न रही हो, परन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी की प्रबन्धकाव्य-धारा पर इसका प्रभाव भी अवश्यमेव पड़ा जो अपभ्रंश काव्यों से होता हुआ सीधा हिन्दी में चला आया।

अपभ्रंश के चरित-काव्य और उनका प्रभाव

प्राकृत काव्यों में जिस कथा-तत्व का विनियोग प्रचुर मात्रा में हो रहा था, अपभ्रंश काल में आकर जैन काव्यों में उसका पलड़ा अधिक झुकता हुआ दिखाई पड़ा। इस काल में एक ओर तो पुराणों की रचना हुई और दूसरी ओर ऐसे काव्य रचे गए जिनमें कथा का मोह अत्यधिक मात्रा में समाविष्ट हुआ। जैन कवियों में स्वयंभू का स्थान प्रथम माना गया। इनके 'पउम चरिउ' (पद्मपुराण), में हिन्दी का प्राचीन स्वरूप सुरक्षित मिलता है, साथ ही जीवन की सर्वाङ्गपूर्ण अवस्थाओं का चित्रण यहाँ जिस रूप में हुआ है उसने भी हिन्दी की प्रबन्धकाव्य-धारा पर पूरा प्रभाव डाला; क्योंकि जिस रूप में प्रस्तुत जैन रामायण का विभाजन 'संधि' और 'कांडों' में हुआ बहुत कुछ इसी पद्धति पर आगे चलकर तुलसी के "मानस" में भी कांडों और सोपानों का विभाजन किया गया। स्वयंभू के "पउम चरिउ" का जिस रूप में आरम्भ हुआ है उसमें वन्दना, सज्जन, प्रशंसा, खल स्वभाव वर्णन, पूर्व कवि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन आदि उसी रूप में हैं जिस रूप में हिन्दी के प्रबन्धकाव्यों में हमें आगे चलकर मिलते हैं। वर्णनीय प्रसंगों में भी स्वयंभू के "पउम चरिउ" में सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण उन करुण प्रसंगों के मार्मिक चित्रण में मिलता है जहाँ दशरथ, राम, भरत, रावण, मंदोदरी आदि के विलाप हैं।

शैली की दृष्टि से इसमें अपभ्रंश की 'कड़वक', शैली का प्रयोग है जिसमें कुछ 'पज्झटिका' या 'अलिल्लह' के पश्चात् 'घत्ता' का प्रयोग मिलता

---

१. प्रवरसेन। २. वाक्पतिराज। ३. रामपाणिवाद।

है। इसी शैली का अनुगमन स्वयंभू के पश्चात् पुष्पदन्त ने 'तिसिट्ठिमहापुरिसगुणलंकारु' या 'महापुराण' में किया।

पुराण-काव्यों के अतिरिक्त जैन कवियों ने दूसरी ओर लोक प्रचलित कथाओं का आश्रयण कर ऐसे चरितकाव्यों का निर्माण किया जिनमें प्रेम-भाव को ही अधिक प्रमुखता मिली। इनमें 'भाविसयत्तकहा'[१], 'जसहरचरिउ'[२], 'णायकुमारचरिउ'[३] और 'करकंडुचरिउ'[४] अभी प्रकाश में आए हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से अन्य काव्य जैसे 'सुदर्शन चरिउ', "नेमिनाहचरिउ", 'पज्जुण्णकहा' आदि ग्रन्थों का पता भी चल गया है[५]। ये काव्य प्रेम-प्रधान कहानियों को आश्रय करके निर्मित हुए और इनके कवियों ने अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के अनुरूप सम्पूर्ण काव्य को अलौकिक वातावरण में ही विकसित किया है और प्रत्येक काव्य किसी न किसी धार्मिक व्रत को लक्ष्य करके ही रचा गया। इस व्रत का उल्लेख कवि अपने काव्य का अन्त करते समय ही अधिकांशतः करता हुआ दिखाई पड़ता है। इस प्रकार लौकिक प्रेम-कथा द्वारा जैन कवियों ने अपने चरित-काव्यों में धार्मिक उपदेश ही अधिकांशतः दिए।

काव्यरूप की दृष्टि से इन चरितकाव्यों की छानबीन करने पर यह ज्ञात होता है कि इनमें छन्दों का वही ढंग है जिसे हम स्वयंभू के रामायण में देख चुके हैं। इस छन्द शैली को "कड़वकशैली" के नाम से अभिहित किया गया है।

विषय की दृष्टि से सभी चरितकाव्यों में कवियों ने लोक-प्रचलित कथाओं के अनुरूप नायक अथवा नायिका के गुण-श्रवण अथवा चित्र-दर्शन या स्वप्न-दर्शन द्वारा उमड़े हुए प्रेम से काव्यारम्भ किया। नायक प्रेमिका के लिए समुद्र यात्रा करता हुआ एवं अनेक कष्टों को झेलता हुआ दिखाया गया है। अन्त में नायक, नायिका का मिलन होता है और कहीं-कहीं पुनः ऐसी बाधाएँ दिखाई गई हैं जिससे दोनों का फिर से वियोग हो गया है। इस प्रकार पुनः कथा आगे बढ़ती गई है और अन्त में पुनः मिलन और शान्त रस से कथा का पर्यवसान दिखाया गया है।

इस प्रकार जैन चरितकाव्यों में कथानक सादृश्य तो मिलता ही है, साथ

---

१. धनपाल १०वीं सदी। २. पुष्पदन्त ११वीं सदी। ३. पुष्पदन्त ११वीं सदी। ४. मुनिकनकामर १२वीं सदी। ५. अपभ्रंश के चरित काव्य, रामसिंह तोमर, विश्वभारती पत्रिका, २००३ वि० वैशाख-असाढ़।

ही प्रेम, संयोग, वियोग, प्रकृति वर्णन आदि भी एक ही समान हुए हैं। आरम्भ में सभी काव्यों में मंगलाचरण, सज्जन स्तुति मिलती है और कथा का उद्देश्य, देश, नगर, सिंहल या समुद्रयात्रा, आखेट आदि का वर्णन भी इनमें हुआ है। दूसरी बात जो विशेष रूप से इनमें दिखाई पड़ती है वह यह कि अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के अनुरूप एवं लोक-कथा के आश्रयण से इनमें पारलौकिक एवं आश्चर्य-तत्व का सम्मिश्रण भी हुआ है। इनमें पात्र अपने पूर्वजन्म की कथा से अभिज्ञ दिखाए गए हैं, उनके जीवन में साधुओं द्वारा भविष्यवाणी हुई है, पशु-पक्षी मानवीय क्रियाकलाप करते हुए दिखाई पड़ते हैं। दानवों द्वारा पथ में बाधाएँ, रूप परिवर्तन एवं यक्ष गंधर्वों द्वारा सहायता आदि ऐसे ही प्रसंग हैं जिनमें लोक-हृदय अधिक रमता हुआ दिखाई पड़ता है। इन्हीं विषयों को अपनाने वाले इन चरितकाव्यों ने लोक-हृदय को अत्यधिक प्रभावित भी किया है। ऐसी विशेषताओं के कारण ये चरितकाव्य बड़े ही वर्णन-प्रधान हुए हैं जिनमें इतिवृत्तात्मक प्रसंगों का आधिक्य है। कवि कथा कहने का इच्छुक अधिक है, काव्यत्व लाने की अधिक चेष्टा उसने नहीं की। यही कारण है सभी काव्यों में प्रायः एक से छंद, एक से उपमान प्रयुक्त हुए।

अपभ्रंश के इन चरितकाव्यों की शैली हिन्दी के आदि युग से होती हुई पर्याप्त समय तक हमारी प्रबंधकाव्य-धारा को प्रभावित करती रही। जायसी के 'पद्मावत' और तुलसी के 'मानस' पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा।

हिन्दी के प्रबन्धकाव्यों पर एक अन्य दिशा से भी प्रभाव पड़ा। संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की चर्चा हमने पहले की। इन्हीं ऐतिहासिक काव्यों में बहुत सी ऐसी बातें भी मिलीं जो तत्कालीन राजाओं की प्रशस्तियों के रूप में डिंगलकाव्य में विकसित हुईं। यह विकास पाँच रूपों में हुआ जो 'रासो', 'प्रकास', 'विलास', 'रूपक' और 'बचनिका' के नाम से उपलब्ध होता है। संस्कृत में इन पाँचों प्रकार के रूपों में 'प्रकास' और 'विलास' तो मिले किन्तु 'रासो' जैसा रूप पुराने गुजराती काव्यों में अधिकांशतः मिला। अपभ्रंश में ११वीं शताब्दी में अब्दुर्रहमान कृत 'संनेहरासक' (संदेशरासक) भी हमें उपलब्ध हुआ जिसके 'रासक' शब्द में 'रासो' की ध्वनि सुनाई पड़ी, किन्तु संस्कृत में ऐसा कोई ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया है। उपर्युक्त पाँचों प्रकार के रूपों में भी संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की भाँति इतिहास का स्पर्श करके काव्यात्मक झुकाव दिखाई पड़ा। किन्तु उक्त पाँचों प्रकार के काव्यों की सबसे

बड़ी विशेषता यह है कि उनमें स्त्रियों के मुख से ऐसी-ऐसी वीरभावात्मक उक्तियाँ कहलाई हैं जो न तो किसी पूर्ववर्ती काव्यों में मिलती हैं और न परवर्ती रीतिकालीन वीररसात्मक काव्यों में ही। हाँ, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अपभ्रंश में यह वीररसात्मक, स्वर अवश्य मिला और हेमचन्द्र के अपभ्रंश उदाहरणों में यह स्पष्टतः सुनाई भी पड़ा। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हो न हो देशी भाषाओं में उक्त पाँचों प्रकार के काव्यरूप अवश्य प्रचलित रहे होंगे और समय-समय पर इन्हीं रूपों को ही ध्यान में रखकर संस्कृत में ऐसे काव्य लिखे और लिखाए गए होंगे।

इस प्रकार हिन्दी के आदि युग में पहुँचते-पहुँचते कई धाराओं से प्रबन्धकाव्य पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई पड़ा। एक तो संस्कृत के ऐतिहासिक कथा आख्यायिकाओं और राजप्रशस्तियों का, दूसरे प्राकृत की ऐतिहासिक काव्यत्वमय रचनाओं का और तीसरे अपभ्रंश के चरितकाव्यों का। प्रथम धारा के प्रभावानुरूप 'रासो' शैली के प्रबन्धकाव्य विरचित हुए, जिनमें कथा और इतिहास का मिश्रण हुआ। दूसरी धारा क्रमशः अपभ्रंश काव्यों में पनपी और यहीं से हिन्दी के प्रेमाख्यान काव्यों को मूल प्रेरणा मिली। हिन्दी के प्रेमाख्यानपरक काव्यों में जायसी के 'पद्मावत' को छोड़ कर अन्य सभी, काव्यरूप की दृष्टि से, खण्डकाव्य में परिगणित होते हैं।

तुलसी के 'रामचरित मानस' पर भी इसी धारा का प्रभाव पड़ा। सारांश यह कि विशेष रूप से संस्कृत और अपभ्रंश काव्यों का प्रभाव हिन्दी के प्रायः सभी काव्यरूपों पर पड़ा और प्रबन्धकाव्य की जो धारा हिन्दी में बही, उस पर इन्हीं दोनों भाषाओं के काव्यों की शैली का एक ओर तो 'रासो' जैसे प्रबन्धकाव्यों में विकास हुआ, दूसरी ओर अपभ्रंश के चरितकाव्यों की शैली का और तीसरी ओर संस्कृत के सर्गबद्ध एवं चरितकाव्यों की शैली के मिश्रण युक्त प्रबन्धकाव्यों का विकास हुआ।

हिन्दी के प्रबन्ध काव्य

'रासो' के रूप में जिन प्रबन्धकाव्यों का विकास हुआ उनमें महाकाव्य की ओर झुकता हुआ 'इपिकल' (Epical) प्रथम प्रबन्धकाव्य, चन्द का "पृथ्वीराज रासो" मिलता है। हमें १०वीं शताब्दी के 'सन्देशरासक' में इस "रासो" शब्द की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी और प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य की प्रत्येक पुष्पिका[1] के अन्त में जो "रास के" शब्द आया, उससे इस बात की भी

१. इतिश्री कविचन्द विरचिते प्रथिराज रासके आदि पर्व—पृथ्वीराज रासो—मोहनलाल वि० पंड्या, श्यामसुन्दर दास—सं० १६०४, बनारस।

पुष्टि हो जाती है कि हो न हो यह 'रासो' शब्द 'रासक' से ही बना।

जिस रूप में 'पृथ्वीराज रासो' आज उपलब्ध है उसके विशाल स्वरूप को देखते हुए रूप की दृष्टि से कुछ निश्चित रूप से कह सकना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार अंग्रेजी के आदि काव्य "ब्युवुल्फ" (Beowulf) के विषय में निश्चयात्मक रूप से कह सकना, अंग्रेजी आलोचकों के लिए कठिन बना हुआ है। अस्तु 'पृथ्वीराजरासो' उसी रूप में महाकाव्य की ओर झुकता हुआ काव्यरूप है, जिस भाँति अंग्रेजी का यह काव्य 'ब्युवुल्फ'। प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य "पृथ्वीराज रासो" में चन्द का प्रधान लक्ष्य अनेक वीर कृत्यों के वर्णन द्वारा अपने नायक के चरित्र को ऊँचा उठाना ही रहा है। इस प्रकार जिस रूप में इसमें ऐतिहासिक बातों और काव्य का सम्मिश्रण हुआ है, उसमें संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की छाया भी मिलती है, किन्तु साथ ही संस्कृत के सर्गबद्ध काव्यों की झलक भी। ६९ समयों का विभाजन इसमें बहुत कुछ उसी सर्गबद्ध शैली में ही हुआ है। साथ ही अपभ्रंश के चरितकाव्यों की भाँति यहाँ भी काव्यारम्भ वंदना, आदिदेव, गुरु, वाणी, लक्ष्मीश, सुरनाथ आदि को संबोधित कर मंगल-सूचक पदों से ही हुआ है।

|| साटक || ॐ ||

आदीदेव प्रनम्य नम्य गुरयं वानीय वंदे पदं।
सिष्टं धारन धारयं वसुमती, लच्छीस चर्नाश्रयं || १ ||

[पृथ्वीराज रासो पृ० १.]

इसके पश्चात् कवि धर्म-स्तुति, कर्मस्तुत तथा पूर्व कवियों की स्तुति करता है। अपनी लघुता का यहाँ वर्णन भी है तथा दुर्जन और सज्जन स्वभाव वर्णन भी यहाँ हुआ है। यह शैली अपभ्रंश के चरित-काव्यों का तो स्मरण कराती है, पर साथ ही संस्कृत के महाकाव्यों की शैली को भी सामने ला खड़ा करती है।

'रासो' में पुराण शैली का पुट भी मिलता है जो अनेक अवतारों की कथा के वर्णन में स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। दसवें "समय" में तो अनेक अवतार-कथाएँ नियोजित हुई हैं।[१]

इतिहास प्रसिद्ध बातों में यहाँ उसी प्रकार अनमेल बातों का योग मिलता है जैसा हम संस्कृत के परवर्ती ऐतिहासिक काव्यों में देख चुके हैं। किन्तु काव्यत्व की ओर कवि सचेष्ट भी है। यथास्थान सन्ध्या, प्रभात, रात्रि, मृगया,

---

१. पृथ्वीराज रासो, दसवाँ समय, पृ० १८१, २५४।

आखेट, ऋतु, वन, युद्ध, संयोग, वियोग आदि अनेक प्रसंगों का सन्निवेश प्रस्तुत प्रबंधकाव्य में हुआ है। युद्ध के प्रसंगों में कवि का कौशल अपूर्व है। यहाँ शब्दों द्वारा श्राव्यमूर्त-विधान भी अनुपम ढंग से हुआ है।

॥ छंद भुजंगी ॥

जयँ जाय पंत्तौ प्रथीराज जुद्धं। करीसव्व सेना विरुद्धं-विरुद्धं ॥
बजे ताल काल महा मल्ल वीरं। दुहुँ बाँह सेना विरुद्धं सुधीरं ॥

—आठवाँ समय, पृ० ३७७

छन्दों की जितनी अधिक विविधता 'रासो' में मिलती है उतनी अन्य काव्यों में कम दिखाई पड़ती है। प्रक्षिप्त अंशों के कारण यह विविधता और भी आ गई है। इसी के कारण भाषा में भी यही अति प्राचीनता, कहीं अर्वाचीनता और कहीं विदेशी शब्दों का प्रयोग भी हो गया है। छन्दों में प्राकृत के 'गाथा' अपभ्रंश के 'दूहा' से लेकर छपाद, साटक, अरिल्ल, त्रोटक, तोमर, आर्या, भुजंग प्रयास, पद्धरि, कवित्त, त्रिभंगी, मोतीदाम आदि अनेक छंद प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार भाषा में अरबी, फारसी, प्राकृत, अपभ्रंश आदि सभी का पुट मिलता है।

'रासो' की सच्ची काव्यरूप मीमांसा तो उसके प्रक्षिप्त अंशों के बाहर निकलने पर ही होगी तो भी इतना तो अवश्य कहा जायगा कि इसकी रचना के समय कवि के समक्ष प्रबन्धकाव्य परम्परा अवश्य रही होगी। सम्पूर्ण काव्य का घटनाचक्र पृथ्वीराज के ही चारों ओर चलता है और उसी के चरित्र को प्रकाश में लाने के लिये मानो सब घटनाओं का संभार हुआ। इनके गठन में सुसम्बद्धता नहीं तथापि अधिक से अधिक परिस्थितियों के समावेश से युक्त प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य में अपने आरम्भिक युग की एक निराली एकता अवश्य है। कवि ने नायक द्वारा प्रतिनायक की मृत्यु दिखाकर अपने नायक के चरित्र को ऊँचा उठाया है। अस्तु "रासो" चाहे पूर्ण महाकाव्य न हो परन्तु पश्चिमी अर्थ में "एपिक" अवश्य है। इसीलिये हम उसके स्वरूप को 'एपिकल' या 'महाकाव्यत्वमय' कहते हैं।

पद्मावत

प्रबन्धकाव्य धारा में अपभ्रंश चरित्र-काव्यों की पद्धति पर यदि कोई प्रबन्धकाय निर्मित हुआ तो वह है जायसी का "पद्मावत"। किन्तु काव्यरूप की दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य में हमें अपभ्रंश के चरित-काव्यों का सुन्दर विकास मिलता है। इस विकास को हम अपनी इस प्रबन्ध-काव्य-धारा में एक सफल प्रबन्धकाव्य के रूप ही देखते हैं। सम्पूर्ण काव्य की भावना

(Spirit) की यदि छानबीन की जाय तो जायसी का झुकाव हमें कथात्मकता की ओर अवश्य दिखाई पड़ेगा; किन्तु यह कथा-मोह बिलकुल उस ढंग का नहीं है जैसा हमें अपभ्रंश के चरित-काव्यों में मिलता है। 'पद्मावत' में जहाँ अपभ्रंश काव्यों की प्रबन्ध-रूढ़ियों के अनुसरण से घटनाओं की विविध योजना है वहाँ कवि का लक्ष्य केवल कथा मात्र कहना नहीं है। इन प्रसङ्गों द्वारा प्रबन्धकाव्य के भीतर उन परिस्थितियों को लाकर कवि ने सामने रखा है, जिनमें अन्तर्जगत के नाना भावों का सुन्दर उद्‌घाटन हुआ है।

अपभ्रंश के चरित-काव्यों की कड़वक पद्धति पर ही 'पद्मावत' में सात-सात अर्द्धालियों के पश्चात् एक-एक दोहा रखने की पद्धति मिलती है। उसमें भारतीय महाकाव्य की सर्गबद्ध शैली की छाया न मिल कर इन्हीं चरित-काव्यों की पद्धति पर खण्डों का विभाजन मिलता है। काव्यारंभ में ईश वन्दना, सज्जन प्रशंसा, दुर्जन-निंदा, पूर्व कवि प्रशंसा एवं उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन आदि की लम्बी भूमिका भी हमें उसमें चरितकाव्यों के ढंग पर रचित होने की ओर संकेत करती है। जिन वर्णनीय प्रसंगों को जायसी ने लिया है उनमें भी इसी रूढ़ि का अनुगमन मिलता है। यदि विषय की ओर दृष्टि डालते हैं तो विद्वानों के मतानुसार इसमें एवं अपभ्रंश के "भविसयत्तकहा" के कथानक में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता[१]।

वस्तुतः 'पद्मावत' में जिस प्रकार का आख्यान लिया गया है वह बिलकुल वैसा ही जन प्रचलित प्रेमाख्यान है जो अनेक प्रेम-परक अपभ्रंश चरित काव्यों में हमें मिला। किंतु इसमें एक नवीनता यह है कि जायसी ने सूफी होने के नाते अपनी इस लौकिक-कथा को बड़े ही सूक्ष्म रूप में अलौकिक पक्ष में घटाने का सुन्दर प्रयास किया है। फलतः 'पद्मावत' एक ओर जहाँ अपभ्रंश के चरित काव्यों से प्रेरणा लेता हुआ दिखाई पड़ता है, वहाँ उसे फारसी की "मसनवी" शैली पर रचे गए प्रेम-परक काव्यों से भी प्रेरणा मिली है। इसका संकेत जायसी ने स्वयं दिया है और स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती, प्रेमावती और उषा अनिरुद्ध आदि प्रेमाख्यान काव्यों की चर्चा की है।[२]

---

१. प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ—"जैन साहित्य की हिन्दी को देन" रामसिंह तोमर, पृ० ४६७।

२. जायसी ग्रन्थावली—पं० रामचन्द्र शुक्ल। राजा गढ़-छेका खण्ड॥१६॥ संस्करण पाँचवाँ, पृ० १००।

'पद्मावत' का कथानक लोक-प्रचलित "हिरामन और पद्मिनी रानी" की कथा से प्रेरित होकर ५८ खण्डों के जिस विशाल पट पर एक ओर अंकित होता है, उसमें दूसरी ओर नायक रत्नसेन एवं प्रतिनायक अलाउद्दीन के बीच होनेवाले युद्ध जैसी इतिहास-प्रसिद्ध घटना का समावेश भी हुआ है। इसी प्रधान युद्ध-घटना के चारों ओर सम्पूर्ण कथा का इस कौशल के साथ गुंफन हुआ है जो एक प्रबन्धकाव्य के रचयिता की एक मात्र विशिष्टता निर्धारित की गई है।

'पद्मावत' का पूर्वार्द्ध लोक-प्रचलित कथा के आधार पर काल्पनिक है और उत्तरार्द्ध में जिस प्रधान युद्ध की घटना नियोजित है, उसमें अनेक प्रसंग ऐसे भी आते हैं जिनका कोई भी ऐतिहासिक महत्त्व नहीं माना जाता। परन्तु ये कथाएँ प्रधान कथा को अग्रगामी बनाने में सहायक हैं। उदाहरणार्थ कुछ प्रसंग जैसे राघवचेतन के उकसाने पर अलाउद्दीन का चित्तौड़ गढ़ पर चढ़ाई करना, रत्नसेन को धोखे से पकड़ कर दिल्ली ले जाना, गोरा-बादल द्वारा रत्नसेन का मुक्त होना और पुनः चित्तौड़ पर अलाउद्दीन की चढ़ाई तथा अंत में देवपाल की दूती का पद्मावती को बहकाने के लिए भेजा जाना और देवपाल के साथ युद्ध में रत्नसेन की मृत्यु एवं अंत में पद्मावती और नागमती का सती हो जाना आदि अनेक प्रसंगों की उद्भावना में यद्यपि ऐतिहासिकता नहीं, किन्तु इन प्रसंगों को जिस कौशल के साथ कवि ने अपनी प्रधान कथा के भीतर वर्णित किया है, वह कहीं भी प्रबन्ध-प्रवाह में बाधा नहीं डालता।

कथावस्तु के सुन्दर गठन के साथ-साथ 'पद्मावत' में जीवन के नाना व्यापारों की विविधता पाई जाती है। इसका श्रेय इन्हीं विविध कल्पना-प्रसूत प्रसंगों को दिया जाता है, जिनके द्वारा जायसी को मानव-हृदय के विविध मनोभावों को बाहर खोलकर रखने का अवसर मिला है। ऐसे प्रसंगों को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "मर्मस्पर्शी स्थल" कहकर अभिहित किया है; और यह स्थापित किया है कि सच्चे प्रबन्ध काव्य रचयिता की परख इन्हीं प्रसंगों के चयन द्वारा की जाती है। 'पद्मावत' में ऐसे प्रसंग एक नहीं अनेक हैं। ये हैं "मायके में कुमारियों की स्वच्छन्द क्रीड़ा, रत्नसेन के प्रस्थान पर नागमती आदि का शोक, प्रेम-मार्ग के कष्ट, रत्नसेन को सूली की व्यवस्था, उस दण्ड के संवाद से विप्रलंभ दशा में पद्मावती की करुण अनुभूति, रत्नसेन और पद्मावती का संयोग, सिंहल से लौटते समय सामुद्रिक घटना से दोनों की विह्वल स्थिति, नागमती की विरह-दशा और वियोग-

संदेश, बादल का युद्ध-प्रस्थान, देवपाल की दूती से पद्मावती द्वारा सतीत्व गौरव की व्यंजना, पद्मावती और नागमती का उत्साहपूर्वक सहगमन, चित्तौड़ की दशा आदि" ।[१]

इन प्रसंगों की उद्भावना मात्र से ही 'पद्मावत' की महत्ता नहीं। उसकी महानता इन प्रसंगों के उस अद्वितीय वर्णन में हैं जिससे एक ओर तो कवि के काव्य-कौशल एवं कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है, और दूसरी ओर उनसे कथा की धारा अविरल बहती है।

इस प्रकार इस प्रबन्ध-काव्य में "प्रेम, वियोग, माता की ममता, यात्रा का कष्ट, विपत्ति, आनन्दोत्सव, युद्ध, जय, पराजय आदि के साथ-साथ विश्वासघात, वैर, छल, स्वामिभक्ति, पतिव्रत, वीरता आदि का विधान है।[२] आशय यह कि "पद्मावत" में मानव-प्रकृति के सुन्दर उद्घाटन द्वारा रस-परिपाक भी बहुत अनुपम हुआ है। प्रेम-प्रधान होने के कारण इसका प्रधान रस शृङ्गार है। इसमें भी कवि का वियोग-वर्णन अत्यधिक हृदयग्राही है। वीर, करुण, वात्सल्य और शांत रस का परिपाक भारतीय काव्य-परम्परा के अनुरूप हुआ है। इसके अतिरिक्त जिन वर्णनीय प्रसंगों को जायसी ने लिया है, उनमें रूढ़ि का अनुगमन है। नगर, महल, यात्रा, सिंहलद्वीप, उद्यान-वर्णन, बारह-मासा, षट-ऋतु वर्णन आदि सभी पूर्व चरित-काव्यों की शैली के प्रभावानुरूप ही हैं।

'पद्मावत' की सम्पूर्ण कथा को जिस शैली में जायसी ने रचा है, उसमें लौकिक प्रेम-कथा अध्यात्म-पक्ष पर घटाई गई है। इसका आभास हमें यत्र-तत्र प्रकृति वर्णन, रूप वर्णन आदि में तो मिलता ही है, साथ ही काव्यांत में कवि अपने उन प्रतीकों को सामने रख देता है जिनके सहारे सम्पूर्ण कथानक आध्यात्मिक अर्थ में ग्राह्य होता है।

"तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा ॥
गुरू सुआ जेइ पन्थ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।।
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू।।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु।।

—जायसी ग्रंथावली

---

१. जायसी ग्रंथावली की भूमिका, पृ० ६९, आ० रामचन्द्र शुक्ल।
२. जायसी ग्रंथावली की भूमिका, पृ० ७१, आ० रामचन्द्र शुक्ल।

इसके अनुसार पद्मावती बुद्धि या परमात्मा है, रत्नसेन मन या जीवात्मा है, सिंहल हृदय है, हिरामन तोता गुरु है, नागमती दुनिया धंधा है, अलाउद्दीन माया है और राघव चेतन शैतान है।

"पद्मावत" के ये प्रतीक वस्तुतः इतने समर्थ हैं कि वे कवि के अभीष्ट अर्थ का सुन्दर ढङ्ग से निर्वाह करते हैं। इन्हीं प्रतीकों द्वारा लौकिक प्रेम-कथा को आध्यात्मिक प्रेम-कथा बना कर जो संदेश कवि ने दिया है वह निश्चित रूप से एक महान् संदेश है। यह संदेश समस्त मानव समाज को प्रेम की उस उच्च भाव-भूमि पर ले जाता है, जहाँ जाति और धर्म के भेद-भाव को भुलाकर वह प्रेम के अटूट सूत्र में बँध जाता है। मध्ययुग के लिए यह संदेश वस्तुतः एक देन स्वरूप कहा जा सकता है। अतएव "पद्मावत" प्रबन्धकाव्य-धारा में एक ऐसा महाकाव्य बन जाता है जिसमें अपभ्रंश के चरितकाव्यों की शैली का विकास एक अनुपम ढंग से हुआ।

रामचरितमानस

मध्ययुग में तुलसीदास तक आते आते लोक-कथाओं की उपेक्षा होने लगी थी और प्रबन्धकाव्य की वह धारा, जो जैन चरित्रकाव्यों के प्रभावानुरूप लोक-कथाओं का आश्रयण करती हुई चली आ रही थी, धीरे-धीरे लुप्त होने लगी। तुलसी के "रामचरितमानस" में लौकिक कथा का आश्रय इसी कारण न लिया गया। पौराणिक कथा को लेकर जिस रूप में उसकी कथावस्तु का प्रणयन हुआ, वह प्रबन्धकाव्य की आती हुई धारा में एक नवीन मोड़ दिखाई पड़ा।

तुलसी ने अपने इस काव्य में "कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना"[१] द्वारा इसी ओर संकेत किया है कि प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य में लोक-कथा का आश्रयण कर "प्राकृत जन" का गान नहीं हुआ है। तुलसी को संस्कृत की पूर्व परम्परा का पूरा-पूरा ज्ञान था। वे इस बात से पूर्णतया अभिज्ञ थे कि महाकाव्योचित अभीष्ट मनुष्य के सांस्कृतिक और दिव्य जीवन से सम्बन्ध रखता है। वह विश्व-कल्पना की ऊँची भूमि पर ही जन्म लेता है, जहाँ मानव-जीवन का प्रत्येक पक्ष अपने सर्वाङ्गीण रूप में अभिव्यक्त होता है। अनुभूति की इसी ऊँची भूमि पर पहुँच कर तुलसीदास जी ने अपने इस प्रबन्धकाव्य के लिए सर्वगुणसम्पन्न, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम को चुना और उन्हें साक्षात् ब्रह्म का अवतार मानकर पृथ्वीतल पर जिस

---

१. बालकाण्ड ११।

महान् आदर्श की स्थापना की, उसमें उन्होंने भक्ति का एक ऊँचा संदेश दिया, जो मध्ययुग का एकमात्र जीवन था। इस उच्चतम आदर्श को अभिव्यक्त करने के लिए यथार्थ जीवन के बीच से उन्होंने ऐसे नवनीत रूप राम को निकाला, जिसके जीवन की नाना परिस्थितियों के अंकन में प्रबन्ध-काव्य का सम्पूर्ण कलेवर महाकाव्य की उच्च भूमिका पर पहुँच गया है।

हम पहले देख चुके हैं कि 'मानस' के पूर्व संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा तो थी ही, साथ ही अपभ्रंश में चरितकाव्यों की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी और हिन्दी में 'रासो' एवं 'पद्मावत' की भिन्न-भिन्न दो शैलियाँ भी प्रस्तुत हो चुकी थीं। 'मानस' की रचना में एक ओर तो संस्कृत के महाकाव्यों की शैली, दूसरी ओर अपभ्रंश के चरितकाव्यों की शैली का योग तो हुआ ही, किन्तु एक तीसरी शैली का भी यहाँ गुंफन हुआ। यह है पुराणों की शैली। इन तीनों शैलियों के योग से 'मानस' का काव्यरूप जिस रूप में तुलसी ने खड़ा किया उसमें अपनी निजी मौलिकता है।

"मानस" में जिस आख्यान-योजना की संदर्भण कला को हम देखते हैं उसमें सात कांडों में सम्पूर्ण कथा की रचना हुई है। इन्हीं को सात "सोपान" कह कर भी अभिहित किया गया है।[1] यह सर्ग विभाजन संस्कृत और अपभ्रंश काव्यों जैसा प्रतिभासित होता हुआ भी अपनी निजी मौलिकता रखता है। साथ ही संस्कृत में मानव-जीवन की जिन विविध अवस्थाओं का चित्रांकन कवि का लक्ष्य बना, उसमें कवि ने अपने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक ज्ञान का परिचय भी दिया। किन्तु "मानस" में आकर चरित्रांकन की मौलिक दृष्टि भी दिखाई पड़ी। केवल लक्षण-ग्रन्थों के गिनाए हुए गुणों का रंग भरकर नायक राम का ढाँचा खड़ा कर दिया हो, ऐसी बात नहीं। "मानस" का एक-एक पात्र एक-एक आदर्श का प्रतीक बन गया है। क्या राम, क्या भरत, क्या लक्ष्मण, क्या कौशल्या, क्या सीता, क्या मन्दोदरी और क्या हनुमान, सभी का चरित्र पूर्ण रूप में अंकित हुआ है। प्रत्येक का जीवन कठिन परिस्थितियों के बीच होकर चमक उठा है। इसके अतिरिक्त तुलसी ने नर और नारायणत्व के सुन्दर योग द्वारा जो भक्ति का अनन्य आलम्बन खड़ा किया, वैसा पूर्वकाल में ढूँढ़े से ही

---

१. सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना॥

—बालकांड ३६

मिलेगा; और भक्ति का मणिकांचन संयोग जैसा भरत में दिखाया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

संस्कृत के महाकाव्यों में कुछ ही महाकाव्य ऐसे हैं जिनमें वर्णन और घटनाओं का सुन्दर योग दिखाई पड़ता है, अन्यथा अधिकांश परवर्ती महाकाव्यों में वर्णन का आग्रह अधिक बढ़ता चला गया। तुलसी ने इस पद्धति का अनुगमन नहीं किया, उन्होंने घटनाओं को भावों के अनुरूप विस्तार दिया।

"रामचरितमानस" अपने सुन्दर काव्यत्वपूर्ण कलेवर में जिस भक्ति की झलक रह-रहकर दे रहा है, उसमें हमें अपभ्रंश के धार्मिक चरितकाव्यों का आंशिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। किन्तु यहाँ आकर यह तत्त्व कोरे उपदेशात्मक रूप में नहीं मिलता। यहाँ भक्ति के आलम्बन मर्यादा पुरुषोत्तम राम एवं पतिव्रता सीता की कथा का स्फुरण जिस रूप में कवि के हृदय में होता है, वह कवि के जीवन की एक महती अनुभूति है। तभी तो उनके आराध्यदेव राम समस्त विश्व की आराधना के पात्र बन गए हैं।

'मानस' का आरम्भ बड़ी भूमिका से होता है उसमें अनेक देवी-देवताओं की स्तुतियों से लेकर पूर्व कवियों की स्तुति, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा एवं काव्योद्देश्य-कथन आदि नियोजित हुए हैं। इतनी लम्बी भूमिका से प्रबन्धकाव्य का आरम्भ पूर्व में हमें "पद्मावत" में भी नहीं मिलता। यह शैली हमारे जैन चरितकाव्यों में अवश्य दिखाई पड़ती है, किन्तु उसका विकसित रूप हमें "मानस" में ही आकर मिलता है।

'मानस' में अपभ्रंश के चरितकाव्यों से बाह्य छन्दोमय आवरण की प्रेरणा अवश्य ली गई है। दोहे-चौपाई की शैली पहले पहल "पद्मावत" और उसके बाद अपनी निजी मौलिकता के साथ "मानस" में ही व्यवहृत हुई। परन्तु वह कथा का मोह हमें यहाँ नहीं मिलता जो चरितकाव्यों की प्रमुख विशेषता है। इसीलिए 'मानस' का काव्यरूप उनसे प्रभावित होते हुए भी एक भिन्न प्रकार का बन जाता है।

तीसरी बात जो "मानस" के काव्यरूप में दिखाई पड़ती है वह है उसमें पुराणों की शैली का पुट। पुराण के अन्यान्य तत्वों में सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, देवताओं, महर्षियों एवं राजाओं का वंश सहित वर्णन आदि तो बताए गए हैं, साथ ही उनका जो संकलित प्रभाव पड़ता है वह धार्मिकता के आवरण में लिपटा हुआ होता है। इसी कारण पुराणों की शैली में अति उपदेशात्मकता पाई जाती है। यह उपदेश श्रोता-वक्ता के द्वारा कथा-सूत्र में पिरोया जाता है।

तुलसी ने जिस "रघुनाथ गाथा" को अपने प्रबन्ध-काव्य का विषय बनाया वह उन्हीं के शब्दों में "नाना पुराण निगमागम सम्मत" है। यही कारण है "बालकाण्ड" के आरम्भ में "सती का भ्रम", 'सती का त्याग', 'दक्ष-यज्ञ में अपमान', 'शिव-विवाह', 'नारद-अभिमान' आदि प्रसंगों की शैली, पुराणों की शैली का आभास देती है।

दूसरी बात जो "मानस" की शैली में पुराणों का साम्य रखती है, वह है उसका संवादात्मक रूप में आद्यन्त रचित होना। कवि ने आरम्भ में ही कहा है—

"ते श्रोता बक्ता समसीला। सँव दरसी जानहि हरि लीला ॥"

(१–३०)

इस प्रकार "ते श्रोता बक्ता" कह कर कवि ने स्वतः इस ओर संकेत कर दिया है कि सम्पूर्ण कथा श्रोता-वक्ता के प्रश्नोत्तर एवं शङ्का समाधान की पद्धति पर ही लिखी गई है। इनमें शिव-पार्वती, काकभुसुण्डि-गरुड़, याज्ञ-वल्क्य-भारद्वाज तथा तुलसी और संतजन इसके वक्ता-श्रोता हैं। किन्तु कथा-सौष्ठव एवं प्रबन्ध-रचना की सुगठित शैली पर ध्यान देने पर "मानस" पुराणों के संवादों के भीतर संवाद की शैली से प्रभावित होते हुए भी काव्य-रूप की दृष्टि से भिन्न है।

जितनी अधिक कथाओं को लेकर कवि चला है, उसे आद्यंत कौशल के साथ निबाह ले जाना प्रतिभाशाली कवि का ही काम है। आरम्भ में कवि इसकी प्रबन्ध-शैली को "विचित्र"[1] कहकर अभिहित करता है और अन्त तक अपने इस अनोखे प्रबन्ध-प्रवाह को एक रस बनाए रखता है।

वस्तुतः चार घाटों में विभक्त, सम्पूर्ण कथा, चार संवादों में निरन्तर इतने मनोरम ढंग से चलती है कि हम कवि के प्रबन्ध-कौशल को सराहने लगते हैं। पुराणों में इतने सुगठित सम्वादों को ढूँढ़ना व्यर्थ है। यही सुन्दर गठन "मानस" को पुराणों की तुलना में कहीं अधिक काव्यत्वपूर्ण बना रहा है। यही काव्यमय-प्रतिभा 'मानस' के उपदेशात्मक प्रसंगों को भी अधिक खट-कने नहीं देती।

'मानस' में तुलसी की अनुभूति जितनी महान् दिखाई पड़ती है उतने ही महान् रूप में उन्होंने अपने आदर्श-चरित्र राम को चित्रित किया है और

---

१. सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई ॥

(१–३३)

जहाँ उनको सत्य के साक्षात् रूप में प्रदर्शित किया, वहाँ रावण को असत्य पक्ष के प्रतिनिधि स्वरूप अङ्कित किया। राम और रावण के बीच होने वाला यह युद्ध 'मानस' का ऐसा युद्ध है जिसमें असत्य के नाश द्वारा सत्य की विजय दिखाई गई है। 'मध्य युग' को जिस शान्ति की आवश्यकता थी, वह भक्ति द्वारा तुलसी ने सम्भव कर दी।

इस प्रकार 'मानस' का काव्यरूप पुराणों की ओर झुकते हुए भी अत्यधिक काव्यपूर्ण शैली को अपनाए हुए है और चरितकाव्यों से प्रभावित होते हुए भी अपनी एक भिन्न मौलिकता रखता है। भाषा की शक्ति, शब्द-कौशल, अलङ्कारों की सुन्दर योजना, रस-परिपाक आदि सभी की महत्ता उसमें है। प्रबन्ध-प्रवाह का सौन्दर्य, चरित्रों की महत्ता, मार्मिक परिस्थितियों की योजना एवं महत् उद्देश्य आदि कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो उसे महाकाव्य की उच्च भूमिका पर पहुँचा देते हैं। हिन्दी प्रबन्धकाव्य-धारा में काव्यरूप की दृष्टि से "रामचरित मानस" एक निश्चित विकास को लिए हुए है। वह हमारा सर्वश्रेष्ठ कहाकाव्य है।

रामचन्द्रिका

भक्तिकाल के अन्त होते-होते हिन्दी काव्यधारा में सहसा राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। संस्कृत के काव्य-शास्त्र का प्रभाव इस काल के कवियों पर अत्यधिक मात्रा में पड़ा और हिन्दी का यह काल अलंकृत-काल के रूप में प्रकट हुआ। इसी अलंकृत भावना को लेकर केशव ने अपने प्रबन्धकाव्य "रामचन्द्रिका" की रचना की और अपना सम्पूर्ण आचार्यत्व और अपनी अलंकार-प्रियता का प्रदर्शन इसके ३९ 'प्रकाशों' के अन्तर्गत कर दिखाया। इसी आचार्यत्व के कारण केशव का प्रबन्धकाव्य अलंकारों एवं छन्दों की छटा से इतना घिर गया है कि उसमें जीवन की मार्मिक परिस्थितियों की ओर कवि का ध्यान ही नहीं जाने पाया है। जहाँ कहीं काव्यशास्त्र के विषय नखशिख, ऋतुवर्णन, आदि का प्रसङ्ग आया, उन्हीं में वे उलझ कर रह गए। इसी प्रवृत्ति के कारण कवि के प्रस्तुत काव्य में प्रबन्ध की शृंखला अनेक स्थानों पर टूटती हुई दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं प्रसङ्ग बहुत शीघ्र बदलते हैं, कहीं कुछ प्रमुख प्रसङ्गों की नियोजना इनमें नहीं हुई है। 'राम बन गमन' एकाएक आ जाता है, 'कैकेयी-मन्थरा' प्रसङ्ग उन्होंने रखा ही नहीं है। अस्तु प्रबन्धकाव्य का प्रमुख तत्व, प्रबन्ध की शृंखला-बद्धता का इसमें अभाव आ गया है। इस अभाव के कारण रूप की दृष्टि से यह असफल प्रबन्धकाव्य बन जाता है।

'रामचन्द्रिका' के अलंकृत काव्यरूप के पश्चात् तो हिन्दी काव्य-धारा में रीति और लक्षण-ग्रन्थों की अत्यधिक भरमार होने लगी। यह काल पूर्णरूप से शास्त्रीय रचनाओं का काल था जिसे 'रीतिकाल' कहकर अभिहित किया जाता है। प्रत्येक कवि दरबार से अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए व्याकुल हो उठा, जहाँ उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य पर पर्याप्त अंकुश लगाया गया। फलतः कवियों की अभिव्यञ्जना का स्वरूप बहुत ही बदल गया। राजाओं के रञ्जन के लिये दरबारी कवि 'मुक्तक' रूप में अपनी भावानुभूति को अभिव्यक्त करने लगा। इस बाह्य अभिव्यंजना में उसने संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों का पूरा-पूरा सहारा लिया, जिनमें उनकी मनोवृत्ति के अनुरूप नख-शिख, षट्ऋतुवर्णन, नायिका-भेद आदि की सामग्री पूर्णतः प्राप्त हुई। परिणामतः हमारे साहित्य में मुक्तकों की बाढ़ आ गई और प्रबन्धकाव्य की धारा क्षीण पड़ गई। कवि की प्रतिभा 'मुक्तक' के क्षेत्र में ही प्रकाशित हो पाई।

इस काल में यदि प्रबन्धकाव्य की रचना की ओर किसी कवि का झुकाव दिखाई भी पड़ा तो उसके काव्य में पिछले कवियों का अनुकरण ही मिला। उदाहरणार्थ हम मधुसूदन दास के 'रामाश्वमेध' में 'मानस' की शैली का ही अनुगमन पाते हैं।

'रीतिकाल' के अवरोह काल के समीप आते-आते भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों में एकाएक ऐसे परिवर्तन आरम्भ हो गए जिनसे सम्पूर्ण देश में एक प्रकार से नव-जागर्ति का प्रसार हुआ। सन् १८५७ का विद्रोह एवं अंग्रेजों का सम्पर्क हमारी विचारधारा को दूसरी ओर मोड़ने के लिए पर्याप्त था। इसी संघर्षमय काल से होकर जब हम अपने आधुनिककाल में प्रवेश करते हैं, तब पुरानी ब्रजभाषा काव्य-परम्परा को आगे प्रवाहित करनेवाले कवियों में रींवानरेश रघुराज सिंह का 'रामस्वयंवर' प्रबन्धकाव्य मिलता है। इसमें "रामचरित मानस" की शैली का ही अनुकरण हुआ है। इसके उपरान्त आधुनिककाल की द्वितीय धारा—'द्विवेदी युग'—में आकर प्रबन्धकाव्य विशेष रूप से रचा गया। इस काल तक पहुँचते-पहुँचते एक नया विकास भाषा के क्षेत्र में यह हुआ कि अवधी और ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली को प्रबन्ध-काव्य का माध्यम बनाया गया और 'हरिऔध' जी अपने 'प्रियप्रवास' को लेकर आए।

प्रियप्रवास

'प्रियप्रवास' में कृष्ण के जिस लोक-संग्रही रूप को लेकर एक प्रबन्ध-काव्य की रचना हुई उसमें कवि की मौलिक उद्भावना पूर्ण रूप में वर्तमान

है। यहाँ आकर प्रबन्धकाव्यों में साधारणतः प्रयुक्त दोहा, चौपाई आदि छन्द बदल गए। दोहे और चौपाई के स्थान पर संस्कृत के वर्णवृत्तों में कवि की अनुभूति अभिव्यंजित हुई। कृष्ण के लोकरक्षक रूप को लेकर चलने वाले इस प्रबन्धकाव्य में मानव-जीवन की अनेक परिस्थितियों को उद्घाटित होने का अवसर अवश्य हाथ लगा है, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य का कथांश इतना छोटा है कि सम्पूर्ण काव्य विरह-भाव के चारों ओर ही घूमता हुआ सा प्रतीत होता है। यह अवश्य है कि राधा के विरह के बीचो-बीच लोक-मङ्गल का सूत्र आद्यन्त पिरोया गया है। इसमें कथा का प्रवाह अत्यधिक सुगठित है, मानवीय भावों की व्यंजना अति मार्मिक है, शैली अत्यधिक परिष्कृत भी है—किन्तु सम्पूर्ण प्रबन्धकाव्य की भावना (Spirit) अत्यधिक गीतात्मक है और कथावस्तु का कलेवर इतना छोटा है कि इसे महाकाव्य न कहकर सफल प्रबन्धकाव्य ही कह सकते हैं।

साकेत

आधुनिककाल में खड़ी बोली का दूसरा प्रबन्धकाव्य श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' है, जिसे उपेक्षिता उर्मिला के विरहाश्रुओं से आद्यन्त अभिसिंचित कर गुप्तजी ने अपनी आधुनिकता का पूरा-पूरा परिचय दिया। साथ ही खड़ी बोली के प्रबन्धकाव्यों में 'प्रियप्रवास' के उपरान्त इसमें भाषा की दृष्टि से विकास भी दिखाई पड़ा। 'साकेत' की रचना में कवि को मूल प्रेरणा उर्मिला की उपेक्षिता से मिली है। यही कारण है यह प्रबन्धकाव्य नवीन रूप को लेकर हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत हुआ। प्रेरणा के अनुरूप प्रस्तुत काव्य के नायक और नायिका लक्ष्मण और उर्मिला निश्चित होते हैं और प्रबन्धकाव्य का कार्य बन जाता है, उर्मिला और लक्ष्मण मिलन। कवि इन्हीं दोनों को लेकर काव्यारम्भ करता है और प्रथम सर्ग इसी प्रेमकाव्य की प्रेरणा से रचा भी जाता है। किन्तु आगे चलकर इसका स्वतन्त्र रूप में विस्तार सम्भव न देख कवि रामकथा को लेकर चलता है और अन्त में पुनः लक्ष्मण-उर्मिला को सामने ला उपस्थित करता है। इस प्रकार 'मानस' की आधिकारिक कथा यहाँ गौण बन जाती है। उसका उल्लेख या तो उर्मिला की स्मृति के रूप में होता है, या उन्हें शत्रुघ्न के द्वारा कवि कहलाता है, अथवा हनुमान और वशिष्ठ के योगबल से वह स्वतः विस्तार पाती जाती है। इस प्रकार राम-कथा कहना उनका अभीष्ट न होकर उर्मिला की उपेक्षिता को दूर करना उनका लक्ष्य बन जाता है। इसी भावना से 'नवम' सर्ग की रचना भी की गई है, जिसे यदि प्रबन्ध से हटा भी दें तो कथा-प्रवाह में व्यवधान

नहीं आ पाता, बल्कि प्रबन्ध-धारा अविरल बहने लगती है। उर्मिला के व्यक्तित्व पर प्रबन्ध का प्रत्येक पात्र कुछ न कुछ अवश्य कहता है, जिसमें आद्यन्त उर्मिला को महत्व देना ही कवि का लक्ष्य दिखाई पड़ता है। किन्तु राम-कथा से उर्मिला का भाग्य इस भाँति लिपटा हुआ है कि उसे छोड़ कर कवि आगे बढ़ भी नहीं सकता। अस्तु उर्मिला प्रमुख पात्री बनकर भी प्रमुख नहीं बन पाती और कवि को बीच का मार्ग ग्रहण करना पड़ता है। वह प्रबन्धकाव्य को 'साकेत' कहकर अभिहित करता है, जिससे न तो उर्मिला को प्रधानता मिल पाती है न राम-कथा को गौण रूप।

इस प्रकार 'साकेत' का कार्य उर्मिला-विरह और राम-वन-गमन हो जाता है। किन्तु इसकी उचित योजना प्रबन्धकाव्य में नहीं हो पाई है। प्रथम आठ सर्गों में प्रबन्ध का प्रवाह मसृण तो है किन्तु उनमें कार्य व्यापार की कमी है। कुछ ही दिनों की घटनाओं का उनमें संकलन है। राम-वन-गमन की १४ वर्ष की अवधि का विवरण केवल चार सर्गों में हो पाया है। फलतः प्रबन्ध की शैली में गरिमा का कुछ अभाव अवश्य आ गया है। यह अभाव हमें खटकने लगता है।

'साकेत' में कार्यव्यापार योजना के इस अभाव के होते हुए भी नवीन युग के नवीन आदर्शों के अनुरूप मनोवैज्ञानिक शैली में चरित्र-निर्माण का कौशल, संवादों की विशिष्टता एवं भावाभिव्यंजना का सौन्दर्य अपूर्व है। युग की गीतात्मक भावना (Lyrical spirit) का प्रभाव इसके कवि पर पूर्ण रूप में पड़ा है। यही कारण है कि इस प्रबन्धकाव्य में गीतात्मकता का पुट अधिक पाया जाता है। प्रबन्धकाव्य में ऐसा झुकाव 'प्रियप्रवास' में भी दिखाई पड़ा, किन्तु यहाँ उसका उत्तरोत्तर विकास भी हुआ। साथ ही 'साकेत' में 'प्रिय-प्रवास' की अपेक्षा मानव-जीवन अपनी जटिल परिस्थितियों के बीच अधिक चित्रित हुआ है। इस चित्रण में नवयुग की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति से सर्वत्र काम लिया गया है। यही कारण है 'साकेत' का काव्यरूप महाकाव्य की ओर कुछ झुकता हुआ-सा प्रतीत होने लगता है और उसमें गीतात्मकता का पुट प्रबन्धकाव्य-धारा में एक नवीन विकास सिद्ध होता है।

इन नवीनताओं के होते हुए भी किसी महत् उद्देश्य से अनुप्राणित न होने के कारण "साकेत" युग को कोई नवीन सन्देश नहीं दे पाया। फलतः वह सच्चा महाकाव्य भी न बन सका।

'रामचरित चिन्तामणि', 'सिद्धार्थ' और 'नलनरेश'

खड़ी बोली के इन दोनों प्रबन्धकाव्यों के पश्चात् रामचरित उपाध्याय

"रामचरित चिन्तामणि" लेकर आते हैं। प्रस्तुत काव्य में राम-कथा की पुनरावृत्ति ही प्रबन्धकाव्य के रूप में हुई। कहीं-कहीं आधुनिकता लाने की चेष्टा ने कवि को अपने विषय से बहुत दूर कर दिया है। काव्यरूप की दृष्टि से इसमें कोई नवीनता नहीं मिलती। इसी प्रकार अनूप शर्मा के 'सिद्धार्थ' प्रबन्धकाव्य में जिस शैली का अनुगमन मिला वह 'प्रिय-प्रवास' के संस्कृत के वर्ण वृत्तों की ही शैली थी। पुरोहित प्रतापनारायण ने "नलनरेश" में प्रबंध-काव्यों की पुरानी रूढ़ियों का अनुगमन मात्र किया। प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य में इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य मिलता है। ये तीनों ही काव्यरूप की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य की धारा को कोई नवीन तत्व नहीं प्रदान कर सके।

'द्विवेदी युग' का अन्त उपर्युक्त प्रबन्धकाव्यों से प्रायः हो जाता है और जिस काल में हम प्रवेश करते हैं वह काव्यरूप की दृष्टि से गीतिकाव्य का ही युग कहा जा सकता है। 'छायावाद युग' में जिस व्यक्तिवाद की लहर बही उसने कवियों की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन कर डाले। कवि अन्तर्वृत्ति-निरूपक बन गया और उसकी बाह्य अभिव्यञ्जना ने अनुभूति को अधिकांशतः गीतिकाव्य के रूप में ही सँवारा। अपने ही सुख-दुख का राग, अपनी ही आशा-निराशा कविता में झंकृत हो उठी। जीवन का ऐसा आमूलचूल परि-वर्तन उत्तरोत्तर गाढ़ होता गया और एक समय वह भी आया जब नवीन युग की देन स्वरूप विज्ञान ने भारतीय आध्यात्मिकता की सुदृढ़ नींव को ही गिराने की चेष्टा की। अस्तु ऐसे बौद्धिक युग में मानव सभ्यता का सम्पूर्ण ज्ञान रखते हुए, भाव की उस ऊँचाई पर पहुँचकर, जहाँ "भूमा का सुख" इसी लोक के भीतर प्राप्य होता हुआ दिखाई पड़ता है—प्रसाद ने अपने प्रबन्धकाव्य 'कामायनी' की रचना की।

कामायनी

'कामायनी' का प्रतिपाद्य विषय है समरसता या आनन्दोपलब्धि। आज के इस वैज्ञानिक युग में जीवन जटिलताओं से परिपूर्ण हो गया है। इन जटिलताओं को दूर कर मानव किस प्रकार आनन्द की ओर उन्मुख हो सकता है, इसी महान् विषय को लेकर 'कामायनी' का प्रणयन प्रसाद जी ने एक दार्शनिक पृष्ठभूमि पर किया है। इस बुद्धिवादी युग को विकास के लिए जिस सामंजस्य की आवश्यकता है वह वैज्ञानिक युग की कोरी बुद्धिवादी सभ्यता नहीं प्रदान कर सकती। उसके लिए बुद्धि और हृदय, विज्ञान और धर्म में सामंजस्य की पूरी आवश्यकता है। इस ऊँचे सन्देश को देने के लिए प्रसाद ने भारतीय 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' से समरसता का सिद्धान्त लिया है और

पौराणिक आख्यान के बीच उसे इस रूप में गुम्फित किया है कि उसका स्वरूप युगानुरूप बड़ा ही व्यवहारिक हो उठा है।

मानव सदा से विकासोन्मुख होने के लिए इच्छुक रहा है। मनु की चिंता में यही विकासोन्मुख भावना छिपी हुई है। वे पृथ्वीतल पर स्वग का उतारने के लिए अभिलाषुक बन गए। किन्तु इसकी साधन स्वरूप श्रद्धा है जो मनु को सुख-दुख का मर्म समझाती हुई जीवन की विरोधी वृत्तियों में सन्तुलन का मार्ग सुझाती है। किन्तु मनु को श्रद्धा के त्यागमय जीवन से भी तृप्ति नहीं होती, वे सारस्वत प्रदेश की अधिष्ठात्री इड़ा के पास जाते हैं। उत्कट अधिकार-लिप्सा यहाँ भी उन्हें तृप्ति नहीं प्रदान कर पाती। उनकी अधिकार चेष्टा पर प्रजा विद्रोह करती है और मनु आहत हो जाते हैं। उनके जीवन में पुनः जब श्रद्धा का शीतल सहारा मिलता है तभी सच्ची आनन्दोपलब्धि होती है।

आज के यान्त्रिक युग का प्रतीक सारस्वत प्रदेश है जहाँ निरन्तर सघष छिड़ा हुआ है। इड़ा बुद्धि की प्रतीक है और हृदय की प्रतीक है श्रद्धा। प्रसाद ने बुद्धि के महत्व को पूर्ण रूप में माना है, किन्तु हृदय-समन्वित बुद्धि को ही श्रेयस्कर कहा है। कारण यह कि कोरी बुद्धि पंगु है। विचारणीय विषय के प्रस्तुत होने पर जब मन प्रेरणा देता है तभी बुद्धि निर्णय देती है। 'गीता' में भी कहा है "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् तत्परः संयतेन्द्रियः" जब मन श्रद्धा-समन्वित बुद्धि द्वारा कर्म-क्षेत्र में बढ़ता है तभी इच्छा, क्रिया और ज्ञान तीनों का समन्वय जीवन में हो पाता है और तभी सच्ची आनन्दोपलब्धि भी होती है।

उक्त महत् संदेश को देने के लिए प्रसाद ने मनु और श्रद्धा के पौराणिक आख्यान को बिलकुल ही नवीन ढंग पर प्रबन्धकाव्य के रूप में सँजोया है। इसमें 'सर्गों' का अपना एक विशिष्ट बंधान है जिसमें 'चिन्ता' सर्ग से काव्यारंभ होता है। 'आशा' सर्ग में प्रकृति का सुन्दर चित्रण और 'श्रद्धा' सर्ग से प्रबन्धकाव्य का घटना-क्रम आरंभ होता है। मनु और श्रद्धा के मिलन के इस सर्ग से घटना क्रम क्रमशः 'काम', 'वासना', 'लज्जा' के सर्गों में विकसित होता हुआ 'कर्म' सर्ग में एक निश्चित मोड़ लेता है और 'इड़ा' सर्ग में अपने चरम पर पहुँचने के पश्चात् उत्तरोत्तर पुनः सम को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार संपूर्ण 'कामायनी' का छोटा सा कथानक १५ सर्गों में बड़े ही सम्बद्ध रूप में नाटकीय शैली में विरचित है। यह शैली प्रबन्धकाव्य की अपनी एक नवीन शैली है।

कवि के चरित्र-चित्रण की शैली भी यहाँ बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। क्योंकि उसके पात्र मानव मनोवृत्तियों के प्रतीकों के रूप में भी साथ-साथ प्रकट हुए हैं। श्रद्धा का चरित्र उसमें अत्यधिक व्यापक रूप में अंकित हुआ है। मनु के चरित्र में यथार्थवाद का सुन्दर पुट मिलता है। इड़ा जहाँ स्त्री रूप में अंकित है वहाँ कर्त्तव्य, नीति और मर्यादा से पूर्ण दिखाई पड़ती है और प्रतीक रूप में वह संघर्ष की उत्पादिका दिखाई पड़ती है। यहाँ कवि की मनोवैज्ञानिक चित्रण-शैली द्वारा बाह्य और अन्तःप्रदेश के संघर्ष सुन्दर रूप में खुल पड़े हैं।

'कामायनी' जिस शैली में प्रणीत है उसमें युग की गीतिमत्ता का पुट भी पूर्ण रूप में वर्तमान है। खड़ी बोली के युग में प्रबन्धकाव्य को अत्यधिक काव्यत्व पूर्ण भाषा में रचने का श्रेय प्रसाद को अवश्य दिया जायगा। प्रसाद ने प्रस्तुत काव्य में प्रबन्धकाव्य की परम्परागत आती हुई धारा को नया पथ दिखाया। उसमें रस-व्यंजना, छन्द-योजना, सर्ग-विधान, चरित्र-चित्रण सभी की नवीनता है। उसमें चिन्तनात्मक इतिवृत्त के अनुरूप भाव-प्रधानता अवश्य आ गई है किन्तु महती काव्य-प्रतिभा, संदेश की महानता एवं शैली की गरिमा उसे आधुनिक युग का अमर महाकाव्य बना देती है।

अन्य प्रबन्धकाव्य

खड़ी बोली के इस आधुनिक युग में प्रबन्धकाव्य की पुरानी शैली का सर्वथा बहिष्कार नहीं हुआ है। 'मध्य युग' में प्रबन्धकाव्य के लिये 'अवधी' भाषा को तुलसीदास ने सर्वोपयुक्त सिद्ध कर दिखाया, फिर तो एक रूढ़ि सी बन गई और प्रबन्धकाव्य अवधी भाषा के माध्यम से दोहे और चौपाइयों की शैली में ही अधिकांशतः निर्मित होते रहे। 'आधुनिक युग' में इस क्षेत्र में खड़ी बोली को प्रबन्धकाव्य का माध्यम बना कर एक नवीन पग उठाया गया और पुरानी परम्परा बहुत कुछ भुला सी दी गई। किंतु अपने गौण रूप में वर्तमान वह अवश्य रही।

श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' में 'रामचरित मानस' को आदर्श बनाया गया। बिलकुल उसी शैली में प्रस्तुत काव्य सात कांडों में विभाजित भी हुआ है। कवि ने दोहे और चौपाई की पुरानी पद्धति को अपना कर सम्पूर्ण प्रबन्धकाव्य को उसी वातावरण के बीच पहुँचा दिया है जहाँ 'मानस' जैसे अवधी के प्रबन्धकाव्य हैं। यहाँ प्रबन्धकाव्य के नायक श्रीकृष्ण हैं, जिनके जीवन की सम्पूर्ण अवस्थाओं का चित्रण इसमें बड़े ही अनुपम ढंग से हुआ है। इतनी विविध परिस्थितियों को लेकर श्रीकृष्ण का जीवन प्रबन्धकाव्य के

रूप में सँवर कर पूर्व में न दिखाई पड़ा। 'प्रिय प्रवास' में भी इतनी अधिक परिस्थितियों का प्रत्यक्षीकरण नहीं हुआ।

'कृष्णायन' में कवि ने नायक की विविध परिस्थितियों को लेकर सात काण्डों में कृष्ण के बाल-स्वरूप, गोपीजन-वल्लभ और राधा-कृष्ण के साथ ही उनके लोक-संग्रही रूप को भी अंकित किया है। इस प्रकार वस्तु की गरिमा में प्रबन्धकाव्य महाकाव्य की ओर कुछ अवश्य झुकता हुआ प्रतीत होने लगता है। किन्तु काव्यरूप की दृष्टि से जब हम इसमें 'मानस' का ही अनुकरण पाते हैं और जब महाकाव्योचित भव्यता एवं गरिमा का अपेक्षाकृत अभाव पाते हैं, तब वह महाकाव्य पद पर आसीन नहीं हो पाता।

बलदेव प्रसाद मिश्र का 'साकेत संत' भी प्रबन्धकाव्य-क्षेत्र में प्रस्तुत हुआ। यहाँ ऐसे पुरुष का वर्णन मिलता है जिसका उल्लेख राम-कथा को लेकर चलने वाले प्रबन्धकाव्यों में अधिक न हुआ। ये हैं तपस्वी भरत। कवि ने युगानुरूप नवीन ढंग से राम-कथा का वर्णन किया है जिससे सम्पूर्ण प्रसंग में नया आकर्षण आ गया और भरत का ऊँचा चरित्र और भी ऊँचा उठ गया है। प्रबन्ध-प्रवाह की दृष्टि से तो यह काव्य सफल है ; किन्तु काव्य-रूप की दृष्टि से इसमें 'साकेत' का पूर्णतः अनुकरण मिलता है। युग-संदेश एवं महती काव्य-प्रतिभा के अभाव में यह काव्य भी महाकाव्य नहीं कहा जा सकता।

उपसंहार

हिन्दी प्रबन्धकाव्य-धारा का क्रमशः इतिहास हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि प्रबन्धकाव्यों की रचना समय-समय पर होती रही, किन्तु इनमें सभी प्रबन्धकाव्य महाकाव्य पद पर नहीं पहुँचते। काव्यरूप की दृष्टि से उत्त-रोत्तर विकासोन्मुखता को लक्ष्य में रखना आवश्यक होता है। यही कारण है जिन प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य कहा गया है उनमें काव्यरूप की दृष्टि से एक निश्चित विकास मिला है—उनमें ऐसे तत्त्व मिले हैं जो क्रमशः नवीन दिखाई पड़े हैं। "पृथ्वीरास रासो" 'वीरयुग' की अपनी एक विशिष्ट महा-काव्यत्वपूर्ण देन है। 'पद्मावत' में पुरानी चरितकाव्यों की शैली का महा-काव्य के रूप में विकास हुआ है; "रामचरितमानस" में इस शैली का पुनः एक नवीन काव्यत्वपूर्ण ढंग से विकास हुआ और आधुनिक युग तक आते-आते महाकाव्य एक नवीन आवरण में लिपटा हुआ दिखाई पड़ने लगा। यह विकास आधुनिक युग की वैयक्तिकता को देखते हुए अत्यधिक महत्त्व

रखता है। इस प्रबन्धकाव्य-धारा में आज का महाकाव्य अपने में युग की गीतात्मकता को अपनाए हुए है।

संस्कृत के महाकाव्यों एवं अपभ्रंश के चरितकाव्यों की तुलना में ही नहीं मध्ययुग के "मानस" की तुलना में भी आज का महाकाव्य बिलकुल नवीन है। रूढ़ि का परित्याग कर वह बड़े ही मौलिक रूप में प्रकट हुआ है। प्रतिपाद्य विषय, रचना शैली दोनों ही दृष्टि से "कामायनी" में नवीनता अधिक है। इसीलिए इस महाकाव्य तक पहुँचते-पहुँचते महाकाव्य का स्वरूप भी बहुत बदल जाता है।

यद्यपि आज प्रबन्धकाव्य-रचना की धारा क्षीण नहीं हुई है, तथापि कवि की मूल भावना (Spirit) की छानबीन यदि की जाय तो आज के युग का कवि अन्तर्मुख अधिक मिलेगा जिससे उसकी बाह्य अभिव्यंजना गीतिकाव्यमय हो उठी है। फलतः जीवन की विविध परिस्थितियों को प्रत्यक्ष करने वाले काव्यरूप—महाकाव्य—की रचना अल्प होती जा रही है।

चतुर्थ अध्याय

महाकाव्य का स्वरूप

महाकाव्य शब्द 'महत्' और 'काव्य' इन दो शब्दों के समास से व्युत्पन्न है। 'काव्यशास्त्र' से पूर्व काव्य अपने इस 'महत्' विशेषण के साथ यदि कहीं प्रयुक्त हुआ है तो वह आदि काव्य 'रामायण' में। उत्तरकांड[1] में राम ने लवकुश से प्रश्न कियाः—

> किं प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
> कर्त्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगवः।

अर्थात् यह काव्य कितना बड़ा है और महात्मा की क्या प्रतिष्ठा है? इस महत् काव्य के रचयिता श्रेष्ठ मुनि कहाँ हैं? प्रस्तुत श्लोक में 'कर्त्ता काव्यस्य महतः' इसी 'महत्' और 'काव्य' के योग से बने हुए महाकाव्य शब्द की ओर संकेत करता है।

लक्षण-ग्रंथों में महाकाव्य का स्वरूप

जिस युग में काव्यशास्त्र बने इस 'महाकाव्य' शब्द का प्रयोग 'सर्गबंध' के अर्थ में हुआ और मूल में जाकर देखा जाय तो 'सर्गबंध' की कल्पना भी आदि काव्य 'रामायण' ही से की गई जो संस्कृत साहित्य का प्रथम सर्गबद्ध काव्य माना जाता है। काव्यशास्त्र में जहाँ कहीं भी महाकाव्य की चर्चा हुई वहाँ यह 'सर्गबन्ध' शब्द ही सर्वत्र प्रयुक्त हुआ। आगे चलकर सर्वसाधारण में महाकाव्य शब्द की ही प्रतिष्ठा हुई। 'सर्गबन्ध' जहाँ काव्य के बाहरी रूप की ओर लक्ष्य करता है वहाँ 'महाकाव्य' शब्द आभ्यंतरिक महत्ता का द्योतक है।

---

१. उत्तरकांड, बाल्मीकि रामायण। ६४, २३,

अलंकार-परम्परा के आचार्यों में सर्व प्रथम आचार्य भामह ने महाकाव्य की विवेचना की। उनकी बनाई हुई परिभाषा ही भावी शास्त्रकारों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुई और आगे चलकर आलंकारिकों ने उसे प्रायः ज्यों का त्यों ही स्वीकार कर, परिवर्तन बहुत ही कम किए। अतः विवेचना की दृष्टि से भामह की परिभाषा का ही महत्व अधिक है।

भामह ने काव्य के पाँच भेद बताए हैं। सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा और अनिबन्ध। इनमें से उन्होंने 'सर्गबन्ध' को ही महाकाव्य कहा और यह बताया कि उसमें महान् चरित्रों का विधान होता है तथा वह स्वयं महत् या बड़ा होता है। उसमें ग्राम्य शब्दों का परिहार किया जाता है तथा अलंकारों से पूर्ण वह यथार्थ या सच्ची घटनाओं को लेकर निर्मित किया जाता है। राजदरबार, दूत, आक्रमण, युद्ध और अन्त में नायक के अभ्युदय का वर्णन उसमें होता है। नाटक की समस्त संधियों की योजना भी उसमें होती है। साथ ही उसका कथानक अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। उसमें काव्यगत सौन्दर्य के साथ चारों वर्गों का निरूपण होता है जिसमें प्रधानता 'अर्थ' को दी जाती है। वह लोक-स्वभाव से युक्त होता है। उसमें सभी रसों का पृथक्-पृथक् समावेश होता है। नायक की जाति, शक्ति, यश आदि के वर्णनोपरान्त कवि किसी अन्य व्यक्ति की प्रशंसा निमित्त नायक का वध नहीं दिखाता। यदि महाकाव्य का नायक संपूर्ण महाकाव्य में इस प्रकार व्याप्त न दिखाया गया तो आरंभ में की गई उसकी प्रशंसा व्यर्थ हो जाती है।[1]

भामह के अनन्तर दंडी, रुद्रट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ पंडितराज की महाकाव्य सम्बन्धी विवेचना में अधिक नवीनता नहीं मिलती। दंडी ने अपने 'काव्यादर्श' में यदि कोई नयी बात कही है तो वह है महाकाव्यारम्भ में आशीर्वाद, नमस्क्रिया और वस्तु-निर्देश की ओर उनका संकेत[2]। रुद्रट ने तो केवल वर्णनीय विषय की ओर ही संकेत भर कर दिया है[3]। इसी प्रकार हेमचन्द्र की संक्षिप्त विवेचना में कोई नवीन बात नहीं मिलती[4]। किन्तु आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा में दो एक बातें अवश्य नवीन मिलती

---

१. काव्यालंकार····भामह, १।१८···२३।

२. काव्यादर्श···दंडी, १।१४···१९।

३. काव्यालंकार, रुद्रट, १६।७···१८।

४. काव्यानुशासन···हेमचन्द्र···अ. ८, पृ. ३३०।

हैं। उन्होंने महाकाव्य में सर्गों की संख्या का नियमन किया और उसके नामकरण पर भी दृष्टि डाली। साथ ही सर्गान्त में आगे आने वाली कथा की सूचना को उन्होंने अनिवार्य बताया।[1] उन्होंने महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग आवश्यक बताये जिनका नामकरण सर्गों के प्रसंगानुसार किया गया हो।

संस्कृत में महाकाव्य की चर्चा जिस रूप में हुई उसको ध्यान में रखते हुए महाकाव्य के प्रमुख तत्व सर्ग, छन्द, नायक, कथा, वर्णनीय, रस, शैली और उद्देश्य हैं।

(क) जब महाकाव्य को सर्गबद्ध कहते हैं तब उसका आशय यही होता है कि उसकी कथा कई सर्गों में विभक्त होती है। प्राकृत में 'आश्वास', अपभ्रंश में 'संधि' और 'अस्कंध' इसी 'सर्ग' के पर्याय हैं। साहित्यदर्पणकार ने अपभ्रंश महाकाव्यों के सर्गों को 'कड़वंक'[2] कहा है। इसकी चर्चा हम कर चुके हैं।

(ख) प्रायः सभी आचार्यों ने सम्पूर्ण महाकाव्य में एक ही छन्द की अवस्थिति अनिवार्य कही है। सर्गान्त में छन्द में परिवर्तन की ओर भी लक्ष्य मिलता है। यह नियम कथा-प्रवाह की दृष्टि से किया गया।

(ग) महाकाव्य में नायक या तो देवता या राजा या सद्वंशीय क्षत्रिय कहा गया है जिसमें धीरोदत्त गुण ही नहीं सर्वगुण सम्पन्नता भी अनिवार्य बताई गई। यह नायक ऐतिहासिक, काल्पनिक दोनों ही हो सकता है। नायक के साथ-साथ महाकाव्यों में प्रतिनायक की अवस्थिति भी परमावश्यक बताई गई।

(घ) महाकाव्य की कथा के लिये आचार्यों ने उसका प्रख्यात होना प्रथम तत्व माना और उसकी दूसरी विशिष्टता इसमें निर्धारित की कि उसमें जीवन के सम्पूर्ण अंगों का समावेश भी हो। पंच-संधियों की अनिवार्यता भी इस कथा में शृङ्खलाबद्धता लाने की दृष्टि से बताई गई। कथा का अन्त सदैव नायक के अभ्युदय से ही हुआ।

(ङ) महाकाव्य में नगर, वन, पर्वत, समुद्र, सन्ध्या, प्रभात, सूर्योदय, ऋतु, उद्यान, पुत्रजन्म, विवाह, युद्ध आदि वर्णनीय प्रसंग रसमग्नता की दृष्टि से अनिवार्य कहे गए। इन प्रसंगों में पहुँचकर कवि के काव्यकौशल का परिचय पाठक को शीघ्र ही मिल जाता है, जब वह उनमें रसमग्न हो जाता है।

(च) महाकाव्य में एक प्रधान रस का होना अनिवार्य बताया गया। अन्यान्य

---

१. साहित्यदर्पण···विश्वनाथ···६।३२५···३२४।
२. साहित्यदर्पण···६।३२७

रसों में शृङ्गार, शान्त और वीर इन्हीं तीनों की विशिष्टता स्वीकृत हुई है। इन्हीं में से किसी एक को आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य के लिए उपयुक्त माना है।

(छ) शैली की दृष्टि से महाकाव्य अत्यन्त परिष्कृत होता है और उसकी भाषा अलंकारमयी होती है।

(ज) आचार्यों ने अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष के निरूपण को आवश्यक बता कर, महाकाव्य के लक्ष्य—चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति—की ओर संकेत किया।

महाकाव्य सम्बन्धी पश्चिमी धारणा

संस्कृत के लक्षण—ग्रन्थों में जिस रूप में महाकाव्य की विवेचना हुई उसकी चर्चा के पश्चात् हम पश्चिमी विचारधारा के अनुरूप महाकाव्य शब्द की व्याख्या करते हैं। कारण यह कि हिन्दी में अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वान महाकाव्य को अपने विशिष्ट अर्थ में ग्रहण करते हैं।

अंग्रेजी का 'एपिक' (Epic) जिन दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है उन्हीं दो-अर्थों में हिन्दी का महाकाव्य शब्द भी प्रयुक्त होता है। 'एपिक' कहते ही जिस प्रकार पश्चिमी पाठक के समक्ष प्रथम होमर और वर्जिल की कृतियाँ सामने आती हैं और फिर मिल्टन का 'पेरेडाइज लास्ट' सन्मुख आ जाता है, उसी प्रकार हिन्दी में महाकाव्य कहते ही प्रथम तो 'रामायण' और 'महाभारत' जैसी कृतियाँ सामने आती हैं फिर कालिदास और तुलसीदास के महाकाव्य भी सन्मुख आ उपस्थित होते हैं।

पश्चिम में महाकाव्य की परिभाषा अपने विषद रूप में अरस्तू (Aristotle) के 'काव्यशास्त्र' में मिलती है जहाँ उन्होंने 'ट्रेजेडी' (Tragedy) की परिभाषा करते हुए यह बताया कि जो नियम ट्रेजेडी या दुखान्त नाटक के हैं, वे ही महाकाव्य के लिए अपेक्षित होते हैं[1]। इस प्रकार उनकी धारणा में महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापार का काव्यमय अनुकरण है जो स्वतः गम्भीर एवं पूर्ण हो, वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली में रचा गया हो, जिसमें आद्यन्त एक छन्द हो; जिसमें एक ही कार्य हो, जो पूर्ण हो, जिसमें प्रारम्भ, मध्य और अन्त हो; जिसके आदि और अन्त एक ही दृष्टि में समा सकें, जिसके चरित्र श्रेष्ठ हो, कथा सम्भाविक हो और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करती हो।

आधुनिक अंग्रेजी विद्वानों में एबरक्राम्बी ने महाकाव्य की विस्तृत विवेचना की और संक्षेप में उन्होंने यह बताया कि महाकाव्य एक ऐसा काव्य-

---

१. Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art—Translation By—S. H. Butcher, Page-354.

रूप है जिसको पढ़कर 'पैरेडाइज लास्ट' या 'इलियड' या 'ब्युवुल्फ', या 'सांग आफ रालेंड', जैसी भावना जाग्रत हो उठे।[१]

एफ० बी० गमर ने महाकाव्य को महत् कार्य का निर्देशक बताते हुए उसे युग की स्वतः उत्पाद्य कृति कहकर अभिहित किया है और इस ओर लक्ष्य किया है कि महाकाव्य का स्वरूप जातीय होता है एवं उसमें परस्पर दो जातियों का संघर्ष-प्रदर्शन कवि का एक मात्र लक्ष्य रहता है।[२]

डब्ल्यू० एम० डिक्सन ने सभी देशों के महाकाव्यों को एक समान बताते हुए यह कहा है कि चाहे पूर्व हो वा पश्चिम, उत्तर हो वा दक्षिण किन्तु मानव भाव सर्वत्र एक रस होते हैं और सच्चा महाकाव्य जहाँ कहीं भी निर्मित होगा उसका स्वरूप सदैव वर्णनात्मक एवं सुव्यवस्थित होगा और उसके चरित्र एवं कार्य महत् होंगे, शैली भव्य होगी, उसके कार्य एवं पात्रों के चरित्र आदर्श की ओर अग्रसर होंगे और उसका कथानक सर्वत्र अन्तर्कथाओं से सँजोया हुआ होगा।[३]

हिन्दी साहित्य में आचार्य शुक्ल की धारणा

हिन्दी में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने सफल प्रबन्धकाव्य शब्द का प्रयोग महाकाव्य शब्द के अर्थ में करते हुए, उसे मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य कहा है[४] और उसके जो प्रमुख चार तत्व निर्धारित किए हैं वे हैं इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार वर्णन, भावव्यञ्जना और संवाद।[५]

पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों की महाकाव्य-सम्बन्धी व्याख्या इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि महाकवि दुर्लभ कलाकार होता है और महाकाव्य काव्य-कला का सर्वोत्तम विकास है। अभिनवगुप्त के शब्दों में इस अत्यन्त विचित्र कवि की परम्परा को लेकर चलने वाले संसार में दो तीन या पाँच छः ही महाकवि होते हैं।[६] पश्चिम के आलोचक भी ऐसा ही कहते हैं।[७] राजशेखर ने

---

१. The Epic—An essay—L. Abercrombie—Chapt-3-Page-51.
२. Hand book of Poetics—F. B. Gummere page 15-17.
३. English Epic & Heroic poetry—Dixon. Chapt. (I) P. 24.
४. जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० ८४, ८५।
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १७१।
६. ध्वन्यालोक, अभिनव गुप्त, प्र० उ० पृ० २६।
७. For the epic poet is the rarest kind of artist—The Epic-and essay-L. Aberocrombie—Chapt. III Page 51.

अलंकार, रस और शास्त्र के विचार से आठ प्रकार के कवियों की ओर निर्देश किया और उन्होंने उसी कवि को महाकवि कहा जिसमें आठों कवियों के गुण एक साथ मिलते हैं। इतना ही नहीं उन्होंने तो कवियों की दस अवस्थाओं में एक महाकवि की विशिष्ट अवस्था की ओर भी लक्ष्य किया।[१]

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि महाकाव्य वस्तुतः असाधारण प्रतिभा सम्पन्न महाकवि की रचना है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जिन्होंने काव्य के प्रत्येक अंग प्रत्यंग में अपनी अनुपम प्रतिभा का प्रकाशन किया महाकाव्य न लिख सके। अपनी एक कविता का विषय ही उन्होंने यह रखा है कि अपने जीवन में वे किस कारण महाकाव्य रचना से वंचित रह गए।[२]

थी महाकाव्य रचने को मेरे मन में।
तव कंकण किंकिणि से सहसा टकराकर,
फट पड़ी कल्पना शत सहस्त्र गायन में।
उस दुर्घटना से महाकाव्य कण-कण हो,
चरणों के आगे बिखर पड़ा है क्षण में।
थी महाकाव्य रचने को मेरे मन में।
हा! कहाँ गई वह युद्ध कथा सपने-सी॥
वे सर्ग वीरता चरित चित्र पौराणिक,
तव नयन खड्ग ने खंड खंड कर डाला।
रह गई हाथ में बस केवल जपने को,
दिन-रात प्रेम के ही प्रलाप की माला॥
फिर तो मैंने भावी की गोदी में,
निःसंशय होकर कीर्तिकलाप उछाला।
हाँ! कहाँ गई वह युद्ध कथा सपने-सी[३]॥

विश्व कवि रवि बाबू के इस गीत में उस चित्त प्रवृत्ति की ओर संकेत मिलता है जो अभिव्यक्ति के बाह्य रूप का निर्माण करती है। हृदय की अत्यधिक भावुकता में गीतों का स्रोत फूट कर निकल पड़ता है और उसकी गम्भीरता में महाकाव्य रचने की प्रेरणा मिलती है। रवि बाबू के इन शब्दों

---

१. काव्य मीमांसा, राजशेखर, ५।१७, पृ० १६।
२. 'चयनिका', रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'क्षतिपूरन'।
३. विशाल भारत, रवीन्द्र अंक, जनवरी १६४२ अनुवादक, श्यामसुन्दर खत्री, पृ० ७६।

से हम महाकाव्य की महत्ता का पूरा-पूरा अनुमान लगा सकते हैं। जिस कवि ने अपने अनुभव के आधार पर अपनी कल्पना को एक ऐसे स्थान पर जा टिकाया है, जहाँ से वह संसार के समस्त क्रिया कलापों को उसके वास्तविक रूप में देख, उसके पारिपार्श्विक सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापारों सहित उन्हें महाकाव्य की उच्च भित्ति पर चित्रित करता है, वही महाकवि कहलाता है। उसका अनुभव समस्त संसार का अनुभव होता है। उसकी कला में समस्त विश्व का कल्याण छिपा होता है। उसकी प्रतिभा अपने युग के महापुरुषों से भी आगे बढ़ी हुई होती है और उनकी वाणी में अपने युग का ही नहीं वरन् आगे आने वाले युग का भी सन्देश छिपा रहता है। जहाँ आकर युग का बुद्धिस्तर टिक जाता है, उससे ऊपर ऐसे कवि की प्रतिभा का प्रकाशन होता है। यही कारण है कि विश्वकल्पना की सबसे ऊँची चोटी पर आसीन हो, महाकवि अपने काव्य को जन्म देता है। उसके कथन की शैली तो विशाल होती ही है साथ ही वह जो कुछ कहता है वह विशाल एवं गम्भीर होता है, उससे केवल मनोरञ्जन नहीं युग का बुद्धि स्तर भी आगे की ओर गम्भीर होकर बढ़ता है। वाङ्मय के समस्त प्रकारों पर महाकवि का अधिकार होता है। इसी सर्वगुणी होने में ही उसकी एकमात्र विशेषता होती है।

ऐसे महान् कवि के काव्य का एक-एक अंग महत् होता है, क्या कथा, क्या चरित्र और क्या भावव्यंजना सभी एक विशाल पट पर चित्रित होते हैं। उसके कहे हुए शब्द वास्तवमें उस क्षेत्र के अंतिम शब्द से प्रतीत होते हैं। महाकवि कठोर से कठोर एवं कोमल से कोमलतम प्रसंगों को अपनी प्रतिभा द्वारा सहज ही निष्पन्न कर देता है; कठोर प्रसंगों में वज्र के समान एवं कोमल प्रसंगों में पुष्प से भी अधिक कोमल बनने की क्षमता उसमें होती है। महाकाव्य में जो 'महत्' शब्द है वह बाह्य आकार की महत्ता की ओर ही लक्ष्य न कर आभ्यन्तरिक महत्ता की ओर भी संकेत करता है, जिसे हम अनुभूति की गरिमा कहते हैं। महाकाव्य की यह महत्ता ऐसी हो जो सर्वविध कही जा सके। जब महाकाव्य में अनुभूति के साथ-साथ उसके प्रत्येक अंग का संघटन भी अत्यधिक सुन्दर होता है, तभी उसमें चहुँमुखी महत्ता दिखाई पड़ती है और तभी हम उसे काव्यकला के सर्वोत्तम पद पर आसीन करते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि महाकाव्य किसी महाकवि की ही रचना होती है जिसमें किसी महापुरुष की जीवनगाथा का सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण साधारण काव्य की पृष्ठभूमि से भिन्न, एक उच्च पृष्ठभूमि पर होता है। इसी भूमि पर पहुँच

कर सहृदय उसमें प्रतिष्ठित उस महापुरुष के संपूर्ण जीवन की झाँकी पाकर उसकी सराहना ही नहीं अपितु आराधना भी करने लगते हैं। ऐसे महान व्यक्ति को युग के बीच ढूँढ़ निकालने की क्षमता एवं प्रतिभा साधारण कवि में नहीं होती, बल्कि एक आध ही कवि ऐसी प्रतिभा को लेकर जन्म लेते हैं। ऐसे महाकवि में सारग्राहिणी प्रतिभा होती है जो सहज ही कल्पना द्वारा युग के बीच ऐसे महान् चरित्र को ढूँढ़ लेती है, जिसके व्यक्तित्व में महच्चरित की प्रतिष्ठा सारा युग कर सके और साथ ही वह ऐसा कथानक सामने प्रस्तुत कर देती है जिसमें सबकी वृत्ति रम जाती है। यहाँ आकर पाठक को मानव जीवन का नवनीत मिलता है, जिसे उसका रचयिता अपने अनुभव एवं सूक्ष्म-निरीक्षण द्वारा जीवन के बीच मथकर निकलता है और महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत कर समाज को उसका आस्वादन कराता है। अस्तु वह अपने युग के एक ऐसे चरित्र को अपने काव्य का नायक बनाता है जिसका जीवन महान् होता है, जो जीवन की अन्यान्य विषम परिस्थितियों के बीच सुगमता से चलकर एक आदर्श भूमि पर जा खड़ा होता है, साथ ही जिसे युग एक आदर्श पद पर प्रतिष्ठित भी करता है। महाकाव्य ऐसे आदर्श पुरुष की जीवन-गाथा का गान होता है। उसके जीवन में घटी अन्यान्य प्रभावशालिनी घटनाएँ उसका कथानक बन जाती हैं, जिसको वह एक ऐसा सुव्यवस्थित रूप देता है जिससे उसमें एक भव्यता आ जाती है। इसी भव्यता को महाकाव्य की भव्यता कहते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ होती है।

महाकाव्य के कथानक में कवि का एक महान् आशय निहित होता है जिसमें किसी एक वर्ग को ही नहीं संपूर्ण जाति को प्रभावित करने की क्षमता होती है। परन्तु वह अन्योक्तिमूलक कदापि नहीं होता।[१] पश्चिम के आलोचकों ने इसे न केवल महाकाव्य अपितु काव्यमात्र के लिये शत्रु के समान घातक सिद्ध किया है। कारण यह कि जिस वास्तविकता का दृढ़ आधार महाकाव्य चाहता है उसका सर्वथा अभाव रूपक या अन्योक्ति में होता है। अन्योक्ति में एक तो प्रस्तुत कथा का परिहार होता है दूसरे उसमें कथावस्तु कवि प्रौढ़ोक्ति होती है। किन्तु महाकाव्य की कथावस्तु की प्रेरणा कवि को अपने अन्तःस्थल से ही मिलती है और वही उसका जन्मदाता होता है। जब महाकाव्य जीवन के किसी मार्मिक तथ्य की अभिव्यक्ति करता हुआ कहा जाता

---

१. English Epic And Heroic Poetry.—W. M. Dixon. Chapt. XIV Page. 312.

है तब अन्योक्ति में वह मार्मिक तथ्य ढल कर कोरे उपदेश अथवा प्रचार के रूप में हमारे समक्ष आता है। महाकाव्य उपदेशात्मक कदापि नहीं, वह तो इस साधारण स्थल से कहीं अधिक ऊँचा है, कहीं अधिक भव्यता को अपने में लिपटाए हुआ है। महाकवि के लिये जीवन वास्तव में बहुत ही सांकेतिक एवं महत्वपूर्ण दिखाई पड़ने लगता है, किन्तु इसको ज्यों का त्यों छन्दों में ढाल कर ही तो वह अपना कार्य पूरा नहीं करता। प्रत्युत वह उस महत् जीवन को लेकर कथा में इस प्रकार सँजोता है कि उसमें उसकी प्रवृत्ति मर्मोद्घाटन की ओर अधिक झुकी हुई सी प्रतीत होती है। तभी तो न केवल कथा की वास्तविकता, प्रत्युत जीवन का पारमार्थिक सत्य भी उसमें नियोजित होता है। इसीलिये महाकाव्य युग की सीमाओं के भीतर नहीं बाँधा जाता, उसका सत्य सामयिक नहीं, सार्वभौम महत्त्व से पूर्ण शाश्वत सत्य कहलाता है। समय और परिस्थितियाँ भले ही बदला करें परन्तु महाकाव्य का सत्य एकरस बना रहता है। ऐसा सत्य जब महाकवि के जीवन का अंग बन जाता है, जब उसकी अनुभूति का रूप उसी में रँग जाता है तब अभिव्यक्ति बड़े ही विशाल पट पर चित्रित होने लगती है—उसमें आध्यात्मिकता का पुट स्वतः नियोजित हो जाता है किन्तु उससे बुद्धि-तत्व का तनिक भी परिहार हो ऐसा नहीं होता।

महाकाव्य का विषय वास्तविक होता है। उसका कथानक काल्पनिक नहीं, पुराण—सिद्ध ऐतिहासिक या प्रख्यात भी हो सकता है। महाकाव्य जिस वस्तु का आधार लेता है वह वास्तविक सत्य से पूर्ण होता है और उसमें कवि का अनुभव-सात्विक सत्य ही गुंफित होता है। उसमें मनुष्य मात्र की सामान्य अनुभूति का दृढ़ आधार ही लिया जाता है। वस्तुतः महाकाव्य वास्तविक जीवन का इतिहास भी नहीं होता, प्रत्युत उसमें सार्वजनिक महत्त्व का साक्षात्कार कराना कवि का एकमात्र लक्ष्य होता है। इसके लिये वह अपनी प्रतिभा के बल पर ऐसे महत् चरित्रों को ढूँढ़ निकालता है जिसे युग सदा से मान देता आ रहा हो। तभी उसके महाकाव्य का कलेवर भी महत् रूप में सज पाता है।

महाकाव्य की शैली भी उसी प्रकार परिष्कृत एवं महान् होती है जिस भाँति उसका विषय। उसका कथानक इतना गठा हुआ होता है, कि उसकी एक घटना के अभाव से उसका समस्त प्रवाह-सूत्र टूट जाता है। कथासूत्र में शिथिलता आई नहीं कि समस्त सौन्दर्य बिखर गया। इसी कारण महाकाव्य की गुम्फन-कला भी उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। जिस प्रकार

इलाकेवन्द की कला विभिन्न प्रकार के रङ्ग-बिरङ्गे मोतियों के गूँथने में निहित रहती है, उसी प्रकार महाकवि की कला का कौशल इसी ज्ञान में है कि कौन सी घटना किस स्थान पर अपने अपूर्व सौन्दर्य के साथ रखी जाय। अतः आधिकारिक एवं प्रासङ्गिक कथाओं के प्रवाह की ओर कवि का ध्यान अधिक रहता है। प्रधान कथावृत्त के अतिरिक्त कवि अपनी कल्पना के द्वारा कथानक के लिये उपयुक्त ऐसे प्रसङ्गों को ढूँढ़ निकलता है जिनमें रस होता है। ये प्रसङ्ग पाठक के हृदय को रसमग्न कर उस भावभूमि पर पहुँचा देते हैं जहाँ पहुँचकर उसका हृदय कवि के हृदय के साथ एक सूत्र में बँध जाता है। इस अवस्था पर पहुँचकर महाकाव्य की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं और उसका आभ्यन्तरिक रहस्य खुल पड़ता है।

महाकाव्य तथा अन्य काव्यरूप

महाकाव्य सम्पूर्ण जीवन से गृहीत सर्वाङ्गपूर्ण अनुभूति की अभिव्यक्ति है तो खण्डकाव्य उसी जीवन के एक ही पक्ष से गृहीत अनुभूति की अभिव्यंजना है। यही कारण है जहाँ महाकाव्य में जीवन के प्रत्येक पक्ष का सांगोपांग वर्णन होता है वहाँ खण्डकाव्य केवल खण्ड जीवन से ही पूर्ण है। अस्तु जीवन के विस्तार के भेद से दोनों में तो भेद है ही किन्तु युग-सन्देश की दृष्टि से जहाँ महाकाव्य युगयुगान्तरस्थायी सन्देश देता है, वहाँ खण्डकाव्य में ऐसा कोई भी सन्देश नहीं होता। बाह्य आकार और आभ्यन्तरिक महत्ता दोनों ही दृष्टि में महाकाव्य और खण्डकाव्य एक दूसरे से दूर हैं।

महाकाव्य और गीतिकाव्य ये दोनों दो भिन्न वर्गों के हैं। एक 'प्रबन्ध' वर्ग का है तो दूसरा 'अबन्ध' वर्ग का। अस्तु जहाँ महाकाव्य में अधिक कालाश्रयी अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ गीतिकाव्य जीवन के अत्यन्त तीव्रतम क्षणों की अनुभूति की अभिव्यंजना है। एक में जहाँ बुद्धि का गाम्भीर्य है, वहाँ दूसरे में हृदय की अत्यधिक भावुकता। एक कवि को कथा का आधार प्राप्त है तो दूसरे के पास केवल भाव हैं। अस्तु जहाँ महाकाव्य वस्तुनिष्ठ है वहाँ गीतिकाव्य आत्मनिष्ठ। महाकाव्य में आत्माभिव्यंजना को कोई भी स्थान नहीं। कवि संसार के क्रियाकलापों को एक तटस्थ दर्शक की भाँति देखता है और एक समय ऐसा आता है जब वह उनसे गृहीत अनुभूति को अभिव्यंजित करने के लिए व्यग्र हो उठता है। उसकी मनोवृत्ति आत्माभिव्यंजक नहीं होती और उसकी प्रेरणा भी मनोवृत्ति के अनुरूप बाह्यार्थ-निरूपिणी हो जाती है। उसकी शैली में कहीं भी उसका निजी व्यक्तित्व खुले रूप में अभिव्यक्त नहीं होता, किन्तु गीतिकाव्य में कवि का

प्रेरणा-केन्द्र अन्तर्जगत ही होता है और उसकी अभिव्यक्ति भी बड़ी ही आत्माभिव्यंजक होती है। कवि की निजी भावना व्यक्तिगत रूप में मुखरित हो पड़ती है अस्तु वह बड़ा ही भावप्रधान काव्यरूप बन जाता है। महाकाव्य की शैली में कवि का अपना व्यक्तित्व नहीं प्रकट होता—भले ही उसके बीच उसकी अनुभूति में उसके व्यक्तित्व की झलक हम अप्रकट रूप में पा लें।

कहा जाता है जो स्थान पद्य में महाकाव्य का है बहुत कुछ वैसा ही गद्य में उपन्यास का भी स्थान है। तो क्या उपन्यास यदि पद्य में बद्ध हो जाय तो वह महाकाव्य बन जायगा? या महाकाव्य गद्य में अनूदित होने पर क्या उपन्यास हो जायगा? वस्तुतः ऐसी बात नहीं। महाकाव्य और उपन्यास का भेद माध्यम का ही भेद है—यह भ्रान्त धारणा है। महाकाव्य और उपन्यास यद्यपि जीवन के सर्वाङ्गीण रूप को ही लेकर चलते हैं तथापि दोनों में अनुभूति की दृष्टि से बड़ा भेद होता है। उपन्यास का मूल कोई भी घटना या कल्पना बन सकता है, किन्तु महाकाव्य का मूल सदा युगव्यापी और विश्व को बदलने वाली कल्पना की भूमिका में ही जाकर देखा जाता है। उपन्यास जीवन का चित्र मात्र उपस्थित करता है, किन्तु महाकाव्य उस जीवन के मार्मिक रहस्य का उद्घाटन करता है और युग को ऐसा सन्देश देता है जो अत्यन्त व्यापक होता है। यही कारण है जिस शैली में महाकाव्य का निर्माण होता है उसमें ऐसे प्रतीकों का प्रयोग होता है जो अपनी ऊँचाई में जाकर जीवन के उस मार्मिक सत्य की, युग के महापुरुषार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार महाकाव्य में अलौकिक तत्वों का विनियोग भी सहज हो जाता है, जो उपन्यास में नहीं होता।

महाकाव्य भी विस्तृत पट पर निर्मित होता है और उपन्यास भी, किन्तु महाकाव्य की शैली इतनी विस्तारमय नहीं होती जितनी उपन्यास की। महाकाव्य का कथानक संक्षेप में कहा जा सकता है, किन्तु उपन्यास में यह बात अति कठिन है। उपन्यास में जिस युग को लेकर लेखक चलता है, उसकी गतिविधि का चित्रण जिस रूप में वह करता है, उसका स्वरूप अत्यधिक प्रत्यक्ष होता है। परन्तु महाकाव्यकार,किसी युग की उस अन्तरात्मा को लेकर चलता है जो महाकाव्य के साँचे में नियोजित होकर एक महत् सन्देश के रूप में, अप्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त होती है। अस्तु महाकाव्य का स्तर उपन्यास से कहीं अधिक ऊँचा उठ जाता है और तब केवल माध्यम का ही भेद नहीं रह जाता, प्रत्युत अनुभूति का भेद भी दोनों में दिखाई पड़ने लगता है।

उपसंहार

इतनी विवेचना के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि महाकाव्य की कटी छँटी परिभाषा संभव नहीं। क्योंकि महाकाव्य युगवाणी तो है ही, विश्ववाणी भी है। देश-काल और व्यक्ति की सीमा के भीतर रह कर भी, विश्व की उच्चतम बुद्धि और कल्पना की भूमि में स्थिर होकर भी, वह हृदय की पूर्ण वाणी सुनाता है। प्रत्येक युग का महाकाव्य उस युग की विद्वद्गोष्ठी का मानदण्ड लेकर आगे बढ़ता है और भाव-भूमिका को सब विरोधों का समन्वय करते हुए, विस्तृत और विकसित करने का दावा करता है। इस प्रकार महाकाव्य मानव जीवन के क्रान्तिबिन्दुओं को अभिव्यक्त करनेवाली और स्वयं विकसित होने वाली अनुपम अनुभूति है। इसीलिए उसका स्वरूप विकसित होता रहा है, और मानव-चेतना ज्यों-ज्यों विकास के मार्ग पर अग्रसर होती गई, महाकाव्य भी स्वतः युग की आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन करता चला गया। उसकी पहिचान तो युग के महामना और सहृदय आलोचक ही करते हैं, तो भी दो चार लक्षण निर्धारित कर उसका विश्लेषण कर सकते हैं।

(१) कथासिद्धि

पहली बात जो किसी महाकाव्य में विचारणीय है, वह है उसके कथानक की संपूर्णता। किसी भी महाकाव्य के लिये यह संपूर्णता परमावश्यक है। यह बात उसमें तभी आ पाती है जब कवि की अनुभूति पूर्ण हो, जब कवि मानव-जीवन के संपूर्ण अंग को लेकर महाकाव्य निर्माण करे। महाकाव्य में सर्वाङ्गपूर्ण जीवन के किसी भी अंग का अभाव उसकी महत्ता में क्षति पहुँचाता है। अतः महाकाव्य में महत् चरित्र या महत् जीवन की सरस व्याख्या अवश्य चाहिये। कथासिद्धि की दृष्टि से यह बात अति आवश्यक प्रतीत होती है। इस महत् चरित्र के साथ ही साथ अनुभूति भी विश्व की दृष्टि से पूर्ण होनी चाहिये। अर्थात् महाकाव्य में जीवन की सरस व्याख्या ही नहीं प्रत्युत उच्चादर्श या जीवन के पारमार्थिक सत्य का उद्‌घाटन भी हो। इसी में कवि के अनुभव की गहनता रह रह कर झलकती है और युग को महत् संदेश मिलता है। महाकाव्य में ये उच्चादर्श उपदेश के ढंग पर नहीं रखे जाते, अपितु कवि उन्हें अभिव्यक्त करने के लिये ऐसे प्रतीक ढूँढ निकालता है जिनमें स्वतः उस मार्मिक सत्य को अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है। महाकाव्य के ये प्रतीक इतने समर्थ होने चाहिये कि वे इतनी ऊँची बातों का चित्रण कर, उन्हें विश्वसनीय और लोकप्रिय बना सकें। इसीलिये कथा-

वस्तु की सिद्धि में कठिनाई का अनुभव होता है। प्रत्येक युग के आलोचक यही अनुभव करते हैं कि अब ऐसी कथा का बनना कठिन है जिसमें लोक, परलोक, प्राचीन नवीन, जागरण और स्वप्न, देव और दानव, सब का समन्वय हो सके और हो सके जन मन को हरण करने वाले ढंग से। ऐसी कठिन परिस्थिति में जो महाकवि विश्वकल्पना की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच जाता है उसी की कथासिद्ध होती है। वही कवि अपने उस कलेवर में गरिमा ला पाता है, जिससे उसके काव्य को महान् कहने के लिये हमें बाध्य होना पड़ता है।

महाकाव्य की कथा में संबन्ध-निर्वाह और पूर्ण प्रवाह तो चाहिये, किन्तु साथ ही वे सब गुण भी होने चाहिये जो एक नाटक की सफल कथा में होते हैं। इसी कारण हमारे यहाँ के आचार्यों ने महाकाव्य में भी पंचसंधियों का विधान आवश्यक बताया।[१]

यह तो हुई कथानक के प्रणयन की बात, किन्तु महाकाव्य में वृत्त कैसा हो यह बात भी ध्यान देने योग्य है। किसी भी महाकाव्य का वृत्त ख्यात होना चाहिये, जिसको युग युगों से सुनता चला आ रहा हो और जिसे अपनाने में उसे कोई भी आपत्ति न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि उसकी कथा ऐतिहासिक पौराणिक अथवा परम्परा प्रख्यात होनी चाहिये। उसमें कल्पना का तत्व अपेक्षित है, किन्तु यह तत्व वास्तविक वृत्त से ऐसा घुला मिला हो कि उसमें अविश्वसनीयता की गन्ध न आने पावे। सारांश यह कि महाकाव्य की कथा इस वास्तविक संसार की होनी चाहिये जिसमें निहित अन्य वृत्त काल्पनिक होते हुए भी विश्वसनीय हो। कथासिद्धि की दृष्टि से जो महाकाव्य सफल एवं महान् होता है उसमें अन्य सभी गुण आ जाते हैं।

(२) पारलौकिक तत्त्व

दूसरा तत्व जिसकी मीमांसा करना किसी भी महाकाव्य में आवश्यक है, वह है उसका अलौकिक या पारलौकिक तत्व। सबसे अधिक सफलता महाकाव्य की इसी में है कि वह अलौकिक या पारलौकिक तत्वों की ऐसी नियोजना करे कि कुछ थोड़ी अतिशयोक्ति का तो आभास हो किन्तु असत्य और असम्भव होने का गन्ध न आने पावे। अस्तु कवि को पुरानी शैली के साथ नवीन का समन्वय करना पड़ता है और साथ ही संवादों का ठीक-ठीक विनियोग भी। महाकाव्य का यह एक ऐसा तत्व है जिससे उसकी

---

१. भामह, काव्यालंकार अ. १।१८…२३.

भव्यता एवं गम्भीरता में वृद्धि होती है। प्राचीन महाकाव्यों में युगानुरूप ऐसा पारलौकिकतत्व मिलता है जिसपर आज लोगों को विश्वास नहीं। अस्तु पारलौकिक तत्वों की योजना में इस ओर कवि का ध्यान अधिक आकर्षित होता हुआ दिखाई पड़े कि वह उसके सहारे हमारी श्रद्धा को उद्दीप्त करे, न कि औत्सुक्य या कुतूहल मात्र जाग्रत करे। जब महाकाव्य में नायक का चरित्र बहुत ऊँचा उठ जाता है तब पुष्पवृष्टि होती हुई दिखाई पड़ती है—यहीं से हमें मध्ययुगीन महाकाव्य में अलौकिक तत्व का बीजारोपण होता हुआ दिखाई पड़ा और कभी आकाशवाणी सुनाई पड़ी तो कभी स्वयं देवगण मर्त्यलोक में उतरते हुए दिखाई पड़े।

महाकाव्य में पारलौकिक तत्व ऐसा हो जो कथा-प्रवाह में सहायता पहुँचाए। कवि का महान् आशय भी उसके साथ ही साथ व्यंजित होता चले। कवि की सफलता इसी में है कि वह अपनी कथा के उच्चादर्श को लिये हुए, इन पारलौकिक तत्वों को इस प्रकार समायोजित करे जिससे कथा-प्रवाह में व्यर्थ ठूँसे हुए वे न दिखाई पड़ें। एक बात और जो यहाँ पर विशेषकर उल्लेखनीय है वह यह कि महाकाव्य में अलौकिक तत्व समय और परिस्थिति को भी लेकर चलता हो। ऐसा न होने पर महाकाव्य में उसकी अवस्थिति केवल हास्यप्रद ही सिद्ध होगी। समयानुसार युग का बुद्धिस्तर उन्नत होता चला जाता है। अस्तु पूर्वकालीन बातों पर से उसका विश्वास उठता जाता है। ऐसी अवस्था में महाकाव्यकार के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह अलौकिक तत्व के समावेश में सतर्कता से काम ले। उसके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता इसी तत्व के सुन्दर विनियोग में निहित रहती है। आज के बौद्धिक स्तर का परिचय कवि को होना चाहिये और इसके रहते हुए भाव की ऊँचाई जो कवि दिखाए और ऐसे प्रतीक ढूँढ़े जो युग विश्वास के अनुरूप होते हुए कवि के उच्चादर्श की झाँकी देने में समर्थ भी हों, वही कवि सफल कवि एवं सफल महाकाव्य का रचयिता कहा जासकता है।

(३) युग सन्देश की नवीनता

तीसरी बात जो महाकाव्य में परमावश्यक है वह है उसका युगानुरूप नवीन सन्देश। यदि महाकाव्य युग को नवीन सन्देश न दे पाया तो उसकी महत्ता कम हो जाती है। यह सन्देश भी युगव्यापी सन्देश होना चाहिये जिसमें सम्पूर्ण युग की आत्मा झाँकती हो। उसे ऐसा अभिनव सन्देश देना चाहिये जिसका मूल्य विश्व के मंच पर खरा उतरे। तभी किसी महाकाव्य की महत्ता है।

(४) वर्णन का वैशिष्ट्य

चौथी बात जो किसी महाकाव्य में आवश्यक है वह है वर्णन संबंधी प्रकरण या वर्णनीय। यह तत्व वस्तुतः महाकाव्य का स्थूल एवं बाह्य तत्व कहा जा सकता है। साधारण पाठक इन्हीं प्रकरणों को पढ़कर किसी महाकाव्य की परख करता है और काव्यानन्द भी उसे इन्हीं वर्ण्यविषयों के परिशीलन से मिलता है। ऐसे कुछ वर्णनों की तालिका हमें परम्परा से प्राप्त है। इन वर्णनीय विषयों में हम उन्हीं विषयों में से कुछ विषय चुन सकते हैं जो भामह आदि आचार्यों ने गिनाए हैं। जैसे प्रसंगानुसार सन्ध्या, प्रातः-काल तथा अन्य प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन। महाकाव्य में युद्ध भी दिखाया जाता है किन्तु यह युद्ध अपने कथा-कलेवर की ही भाँति इतनी ऊँची भूमि पर हो जिसमें सत्य और असत्य, देव और दानव के परस्पर संघर्ष का संकेत मिले। इससे यह आशय कदापि नहीं कि जिस महाकाव्य में युद्ध की मारकाट का वर्णन न हो वह महाकाव्य ही नहीं। आशय केवल यही है कि सामान्य रूप से सभी महाकाव्यों में ऐसा संघर्ष दिखाया जाता है, जिसके सहारे कवि सत्य की विजय और असत्य की पराजय की ओर संकेत करता है।

(५) सर्वविध महत्ता

अन्तिम बात जो महाकाव्य में विचारणीय हो जाती है वह है उसकी सर्व-विध-महत्ता अर्थात् किसी भी महाकाव्य के लिये यह महत्ता अत्यधिक आव-श्यक है। व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व सब का समन्वय करके महाकाव्य मानव जीवन के ऐसे स्वरूप और सत्य का चित्रण करे जो उस युग का महापुरुषार्थ माना जा सके। इसीलिये भौतिक सत्य और काल्पनिक आदर्श का एक सुन्दर समन्वय आवश्यक है। समन्वय की महत्ता के अतिरिक्त उसमें रस, शैली, वर्णन, भाषा, छन्द आदि सभी की अभिनवता और महत्ता आवश्यक है। आकार प्रकार की महत्ता महाकाव्य के लिये उतनी अपेक्षित नहीं जितनी संदेश की महत्ता एवं काव्यगत आभ्यंतरिक महत्ता। काव्यशरीर आत्मा या अनुभूति के बिना निर्जीव ही रहेगा। अस्तु कवि को शरीर के अलंकरण की अपेक्षा आत्मा की ओर (अनुभूति की ओर) अधिक ध्यान देना चाहिये। उसमें निहित अनुभूति इतनी महान् हो जो समस्त राष्ट्र को एक रूप से प्रभावित कर सके। इसी में किसी भी महाकाव्य की महत्ता है।

महाकाव्य संबंधी उपर्युक्त कुछ लक्षण निर्धारित किये गए, किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं कि ये लक्षण सदा सर्वकालीन हैं और इन्हीं पर प्रत्येक महाकाव्य की परख हो सकती है। ये तो वास्तव में कुछ ऐसे सामान्य लक्षण हैं जिन

पर काल का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। लक्षण के आधार पर लक्ष्य-ग्रन्थ बनाने की परिपाटी सर्वथा असफल रही और भविष्य में भी इस पथ का अनुगमन विफल ही रहेगा। किसी भी काव्यरूप का विकास तभी संभव है जब उस रूप का अध्ययन कर लक्षण बनाए जायँ। अन्यथा लक्षण-ग्रन्थ पथ-प्रदर्शन तो क्या काव्यधारा को रोकनेवाले उन शिलाखंडों के सदृश हो जायँगे जो उसके स्वाभाविक प्रवाह में कृत्रिमता ला देते हैं। समय की प्रगति के साथ प्रत्येक क्षेत्र में पुरातन सिद्धान्तों को ग्रहण करते हुए नवीन की ओर उन्मुख होना, साथ ही दोनों का सुन्दर सामंजस्य करना ही विकासोन्मुख होना है। अस्तु कुछ स्थूल लक्षणों की असंगति होने पर भी किसी सफल प्रबन्धकाव्य का परिगणन महाकाव्य के अन्तर्गत हो सकता है। महाकाव्य केवल बाह्य लक्षणों की पूर्ति मात्र से संतुष्ट नहीं होता, प्रत्युत उस आभ्यंतरिक संपत्ति को भी चाहता है जिससे उसमें महाप्राणता आ जाती है। इस महाप्राणता के लिये देशकाल में निरन्तर होते हुए परिवर्तनों को समझने की क्षमता अपेक्षित होती है। किन्तु नवीन—प्रियता का आशय यह कदापि नहीं कि हम पुरातन का सर्वथा बहिष्कार कर केवल नवीन का ही ग्रहण करें। सच्ची प्रगति एवं सच्चा विकास तो दोनों के सुन्दर सामंजस्य ही में निहित है।

पश्चिमी आलोचकों के महाकाव्य-सम्बन्धी कुछ अन्य विचार

जिन लोगों ने भिन्न-भिन्न देशों के साहित्य का अध्ययन किया है वे महाकाव्य को कुछ ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों की स्वाभाविक उद्गति बताते हैं। महाकाव्य का स्वरूप समझने के लिए इस प्रकार के विचारों की आलोचना आवश्यक है। इन विचारों की जानकारी इसलिये भी आवश्यक है कि पश्चिम में ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों के अध्ययन के उपरान्त ही महाकाव्य का स्वरूप समझाने का प्रयास किया गया है और हमारे देश के साहित्य-समीक्षकों पर उसका प्रभाव भी पड़ा है।

पश्चिमी धारणा संसार के प्रायः सभी देशों के साहित्य के इतिहास का आरम्भ 'वीर गाथाओं' से मानती है और जिस काल में इन वीरगाथाओं का आरम्भ हुआ उसे साधारणतः 'वीरयुग' कहा गया। यही 'वीरयुग' प्रत्येक देश के महाकाव्यों का उद्भव काल समझा जाता है। सभी देशों के इतिहास में इस प्रकार का काल एक ही साथ नहीं आता। भिन्न-भिन्न देशों की सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार उनका साहित्य भिन्न-भिन्न समय में हुआ है। सभी देशों में इसी वीरगाथोपयोगी काल में महाकाव्य का बीजारोपण

हुआ और आगे चलकर समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप वह विभिन्न रूपों में विकसित होता रहा। भारत में 'रामायण', और 'महाभारत', ग्रीस में 'इलियड'[१] और 'ओडेसी'[२], जर्मनी में 'नेबुलन-गेनालीड'[३], स्पेन में 'सिड'[४], इटली में 'एनिड'[५], और आंग्लसाहित्य में 'ब्युवुल्फ'[६] वीर युग की ही कृतियाँ हैं।

वीरयुग की परिस्थितियों में वीरता, शक्ति, शौर्य एवं साहस की प्रधानता होती है। यह काल संघर्ष का काल होता है जिसमें एक वर्ग का दूसरे वर्ग से परस्पर संघर्ष होता है जिसके फलस्वरूप युद्ध और मारकाट की भरमार हो जाती है। युग के प्रत्येक प्राणी की भावना वीरोन्मुख हो जाती है और उनमें विजीगीषा प्रबल रूप धारण कर लेती है। किसी भी भावना के प्राबल्य से प्रवृत्ति प्रयत्नोन्मुख हो जाती है। अस्तु वीरयुग में ऐसे पुरुषों की आवश्यकता होती है जिनकी विशेषताएँ उन्हें अपने समाज से ऊपर उठा देती हैं। वीरता और पराक्रम उनके विशेष गुण होते हैं। इन्हीं के कारण उनकी विजय होती है और युद्धोपरान्त वे अपनी एक संस्कृति और सभ्यता को जन्म देते हैं। धीरे-धीरे जाति अपनी बर्बर अवस्था से उठ कर सभ्यता की ओर उन्मुख होती जाती है और उनमें व्यक्तित्व का विकास हो जाता है।

वीरयुग में वीरों के अदम्य पराक्रम एवं शौर्य का प्रभाव इतना अधिक पड़ता है कि समस्त युग की भावना वीरभाव—प्रधान हो जाती है। क्रमशः यही भावना इतना तीव्र रूप धारण कर लेती है कि उसका स्वरूप काव्यमय होकर व्यापक बन जाता है। सहसा वीरों के हृदय से गान फूट पड़ता है। यह गान वीरों के पराक्रम का गान होता है। इनकी भाषा में ओज संचार करने का गुण होता है। साहित्य-मर्मज्ञों ने इस श्रेणी के गीतों को 'वीरगीत', 'वीरगाथा' और 'वीरकाव्य' नाम से अभिहित किया है।

इन 'वीरगीतों' में अतीत वीरगाथा और उसकी रक्षा की प्रवृत्ति छिपी हुई मिलती है। अतीत की स्मृतियों को सुरक्षित एवं चिरस्थायी बनाने की प्रेरणा मानव की सहज भावना है। पद्य ही ऐसा माध्यम है जिसमें मनोवेगों को सहज प्रकाशन का अवसर मिला है। मौखिक आदान-प्रदान के लक्ष्य से ही 'वीरगीतों' का सृजन हुआ जिससे इस युग का सम्पूर्ण साहित्य पद्य के माध्यम से रचा हुआ मिलता है।

---

१. Illiad. २. Odyssey. ३. Nibelungenlied. ४. Cid.
५. Aeneid. ६. Beowulf.

इस अतीत-कीर्त्तन का रूप प्रेरणा की विभिन्नता के अनुरूप कभी तो इतिवृत्तात्मक और कभी भावोत्तेजक होता हुआ दिखाई पड़ा। जब बाह्य अभिव्यक्ति में घटनाओं की प्रधानता होने लगी, तब उसका स्वरूप इतिवृत्तात्मक हो गया और जब आन्तरिक प्रेरणा के बल पर अतीत-कीर्तन हुआ, तब वीरगाथाओं को भावोत्तेजक रूप स्वतः प्राप्त हुआ; इन्हीं दोनों के समन्वय में महाकाव्य का बीजारोपण हुआ।

वीरयुग में वीरगाथाओं का प्रचलन केवल राजदरबारों तक ही नहीं सीमित होता, प्रत्युत वे संपूर्ण समाज द्वारा गाई जाती हैं। इन वीरगाथाओं द्वारा महाकाव्य के सामान्याधायक उपादान प्रस्तुत होते चले जाते हैं और जब वीरयुग ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति को जन्म देता है जिसमें सृजनात्मक प्रतिभा विद्यमान रहती है, तब ये सामान्य उपादान उसके द्वारा कलापूर्ण रूप में संगृहीत होकर महाकाव्य रूप में प्रकट होते हैं। ये महाकाव्य जातीय अथवा प्रामाणिक महाकाव्य (Authentic Epic) कहे जाते हैं।

किन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती जाती है कवि भी सचेत होता चला जाता है। उसकी कला में उसका व्यक्तित्व प्रधान हो जाता है। कवि महाकाव्य रचने के ध्येय से महाकाव्य लिखने के लिए बैठता है। अतएव उसकी शैली अत्यधिक परिष्कृत हो जाती है और उसका कलापूर्ण महाकाव्य साहित्यिक महाकाव्य (Literary Epic) कहा जाता है।

इस प्रकार पश्चिम में महाकाव्य के दो स्पष्ट स्वरूप निर्धारित किए गए हैं और इसी विवेचना का प्रभाव भारतीय समीक्षकों पर भी पड़ा है।

पंचम अध्याय

खंडकाव्य के विविध प्रकार और उनका विकास

खंडकाव्य के उत्तरोत्तर विकास को देखते हुए कुछ ऐसी प्रमुख प्रवृत्तियाँ मिलती है, जिन्होंने उसके स्वरूप परिवर्तन में बहुत कुछ हाथ रखा। ये प्रवृत्तियाँ आन्तरिक प्रेरणा के बल पर उत्पन्न हो, स्वतः बाह्य अभिव्यक्ति में रूप का परिवर्तन ला देती है। अस्तु खंडकाव्य भी कवि की आन्तरिक प्रेरणा के परिवर्तन के साथ अन्यान्य रूपों में अभिव्यक्त होता हुआ, क्रमशः विकसित होता गया। जब कवि की प्रेरणा ने लोक के बीच हिल मिल कर काव्यरूप में उद्गीरित होने का पथ ढूँढ निकाला, तब जिन खंडकाव्यों का निर्माण कवि ने किया उनमें लोक-रंजन ही इन कवियों का एकमात्र लक्ष्य दिखाई पड़ा। किन्तु जब कवि को प्रेरणा का स्रोत लोक की उस सहज धारा से दूर, काव्य की शास्त्रीय परम्परा के बीच से मिला, तब ऐसे काव्यात्मक एवं कलापूर्ण खंडकाव्यों को जन्म मिला, जिनका रसास्वादन केवल साहित्य-मर्मज्ञ सहृदय व्यक्ति ही कर सकता है। अस्तु हिन्दी खंडकाव्य सामान्यतः दो प्रधान रूपों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) लोक से उद्भूत लोक-रंजन के लिये निर्मित खंडकाव्य और (२) देशी या विदेशी काव्य-परम्परा से उद्भूत साहित्य—मर्मज्ञ सहृदय के लिये निर्मित खंडकाव्य।

(१) लोक से उद्भूत लोक-रंजन के लिए निर्मित खंडकाव्य

जो काव्यरूप लोक से उद्भूत कहा जाता है, उसे साधारण जन द्वारा स्वतः उत्पन्न काव्यधारा से प्रेरणा मिलती है। यह लोक की काव्यधारा और शिष्ट काव्यधारा समानान्तर बहती हुई आती हैं, और जब कवि को मूल प्रेरणा इसी लोक सामान्य जीवन को लेकर चलनेवाली धारा के बीच से मिलती है, तब जिन खंडकाव्यों की रचना वह करता है उनमें इसी धारा का स्पष्ट

प्रभाव दिखाई पड़ता है। यह लोकधारा किसी एक व्यक्ति की बहाई हुई धारा नहीं, वरन् वह तो एक ऐसी धारा है, जो समस्त समाज या लोक द्वारा एक साथ प्रवाहित की जाती है। जब सम्पूर्ण लोक एक साथ गा उठता है तब उनके गान में मानव जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है। इस सहज अभिव्यंजन में मानव प्रवृत्तियों का सच्चा यथातथ्य चित्र देखने को मिलता है। जीवन यदि कहीं अपने निश्छल रूप में अभिव्यक्त हो सका है, तो वह इसी लोक सामान्य धारा में, जिसमें कृत्रिमता का लेश नहीं। बाह्याडम्बर स्वरूप को विकृत करता हो ऐसी बात नहीं, किन्तु जहाँ सहज सौन्दर्य को निरखने की अभिलाषा हो, वहाँ तृप्ति इन्हीं सहज अकृत्रिम भावों में ही मिलती है। जीवन के यथार्थ स्वरूप को लेकर चलने वाली यह लोकधारा अपने सहज सौन्दर्य को अपनाए हुए है। यही कारण है जीवन के अति निकट पहुँचने वाला यदि कोई काव्यरूप है, तो यही लोक-निर्मित काव्यरूप। जीवन के बीच अनुप्राणित होकर इस धारा ने समय-समय पर शिष्ट काव्यधारा को पूर्ण रूप से प्रभावित किया और आदिकाल में जब इसी लोक के बीच से खंडकाव्य की रचना में कवि को प्रेरणा मिली, तब उसका रूप भी बहुत कुछ उससे प्रभावित हुआ। लक्ष्य की दृष्टि से भी देखा जाय तो लोक सामान्य धारा का प्रमुख लक्ष्य लोकरंजन ही रहा है। जिससे लोक से उद्भूत होने वाले इन खंडकाव्यों का लक्ष्य भी लोकरंजन हो गया। साथ ही ये खंडकाव्य अधिकांशतः किसी न किसी आश्रयदाता के मनोरंजनार्थ भी निर्मित हुए हैं। इस वर्ग में 'खुमानरासो', 'बीसलदेवरासो', 'आल्हा', 'विजयपाल रासो', 'ढोलामारवणी चउपइ', 'माधवानल कामकदला-चरित्र' आदि खंडकाव्य परिगणित हैं।

ऐसे खंडकाव्यों में भी रूप की दृष्टि से भेद दिखाई पड़ते हैं। कुछ खंड-काव्यों में लोक-दृष्टि की ही प्रधानता होती है, तो कुछ में कवि का व्यक्तित्व अधिक प्रधानता लिये हुए रहता है। एक को (अ) लोकदृष्टि-प्रधान खण्ड-काव्य कहते हैं तो दूसरे को (आ) कवि-प्रधान या व्यक्तित्व-प्रधान खण्डकाव्य।

(अ) लोकदृष्टि-प्रधान खंडकाव्य

लोकधारा से प्रेरणा पाने वाले ऐसे खंडकाव्यों में कवि का व्यक्तित्व गौण हो गया और उसकी रचना में कहीं भी वह झलक न मिली, जिससे उसके व्यक्तित्व पर तनिक भी झलक पड़ सके। लोकरंजन के निमित्त लिखे हुए इन खंडकाव्यों में विषय इतना प्रमुख बन गया, कि कवि की सत्ता स्वतः भुला-सी दी गई। कितनी अधिक मनोरंजन की सामग्री वह दे सकता है, यही

मानों उसकी कसौटी बन गई। ऐसे खण्डकाव्यों की प्रमुख विशेषताएँ हमें इस प्रकार मिलती हैं—

जीवन के प्राथमिक मनोभावों का चित्रण

जीवन के प्राथमिक मनोभावों का सहज अकृत्रिम अभिव्यंजन इन खंडकाव्यों में हुआ; फलतः ऐसे ही विषयों में इनके रचयिताओं की वृत्ति रमी जिनमें लोक-हृदय की सामान्य एवं सहज प्रवृत्तियों का गुंफन था। प्रेम, हर्ष, शोक, क्रोधादि कुछ ऐसी व्यापक मनोवृत्तियाँ हैं, जिन्हें लेकर इन कवियों ने अपने खंडकाव्यों की कथावस्तु को सजाया। लोक-काव्यधारा में 'प्रेम' जैसे मनोभाव का चित्रण बहुत हुआ और जितने भी प्रकार से लोक कवि ने अपने हृदय के भावों को अभिव्यंजित करने का प्रयास किया, उनमें प्रेम-भाव के ही चारों ओर अन्य भाव स्वतः प्रसरित होते रहे। प्रेम के संयोग एवं वियोग के चित्र प्रकृति का आधार लेकर खींचे गए। इसी प्रकार भय, करुणा आदि के भाव भी अपने सहज रूप में अभिव्यक्त होते चले आए। अस्तु ऐसे खंडकाव्यों में मानव मनोभावों का चित्रण बिलकुल इसी लोकधारा के उन्मुक्त वातावरण की ही भाँति हुआ। जैसा स्वच्छन्द उन्मुक्त चित्रण उनमें मिला, बिलकुल वैसा ही अभिव्यंजन इन लोकदृष्टि-प्रधान खंडकाव्यों में भी मिला। हृदय वहाँ जिस रूप में उद्गीरित होने के लिये आतुर हो उठा, उसी रूप में यहाँ भी अभिव्यक्त होता हुआ दिखाई पड़ा। हृदय के इस प्रकार प्राकृतिक उत्स के रूप में फूट पड़ने पर, अन्यान्य मनोभावों की धारा में शब्द अपने सहज रूप में सज गए। लोकदृष्टि-प्रधान इन खंडकाव्यों में जैसा निश्छल अभिव्यंजन हुआ, उनमें इतना समय न था कि कवि बैठकर अपनी कला को सँजोता; क्योंकि यहाँ कला की प्रेरणा से काव्य सृजन न हुआ और कला की भावना तो यहाँ प्रायः शून्य ही मिलती है। कवि कविता करने के ध्येय से यहाँ नहीं बैठा, प्रत्युत इसलिये कि बिना अभिव्यक्त हुए उसे चैन न मिल सकता था। यही कारण है इन खंडकाव्यों में कृत्रिमता नहीं मिलती। कला की भावना से काव्य-रचना कुछ आगे वस्तु थी। इस दृष्टि से आदिकालीन खंडकाव्यों में 'रासो' की परम्परा पर जो खंडकाव्य निर्मित हुए, उनमें लोकभाषा अपभ्रंश के 'शृंगारकाव्यों' की छाया अवश्य मिलती है, परन्तु सचेत कलाकार की साहित्यिक रूढ़ि का अनुगमन नहीं।

व्यक्तित्व की प्रधानता

जब लोकदृष्टि-प्रधान खंडकाव्यों के लिये यह कहा जाता है कि उनमें कवि भुला दिया गया, तब उसका आशय यही है कि इन खंडकाव्यों में

लोकदृष्टि इतनी प्रधान होती है, अथवा इनमें विषय को इतना अधिक महत्व दिया जाता है कि जिससे कवि का व्यक्तित्व बिलकुल गौण हो जाता है अथवा पृष्ठभूमि में चला जाता है। आज भी 'आल्हा' का इतना अधिक प्रचार है, किन्तु उसके रचयिता का संभवतः किसी भी गायक-मंडली को ठीक-ठीक पता नहीं। 'आल्हा' के रचयिता जगनिक का व्यक्तित्व वस्तुतः पृष्ठभूमि में चला गया है। जिस प्रकार लोक-काव्यधारा को बहाने वाले कवि का व्यक्तित्व उसी गायक-मंडली में विलुप्त हो गया, वैसे ही कुछ लोक-दृष्टि-प्रधान खंडकाव्यों के रचयिताओं का भी ठीक-ठीक पता नहीं। कभी-कभी ऐसे लोकरंजनार्थ, लोक-दृष्टिपरक खंडकाव्यों की रचना का संबन्ध प्रसिद्ध कवियों से भी जोड़ दिया गया। तुलसी, सूर, कबीर, मीरा आदि कवियों के नाम पर 'पद' ही नहीं, बहुत से छोटे-छोटे कथा-काव्यों को भी प्रचलित कर दिया गया। 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' और 'मीरा के प्रभु गिरिधर नागर' जैसी पंक्तियाँ न जाने कितने पदों के साथ जोड़ दी गईं। इस प्रकार लोकदृष्टि-प्रधान खंडकाव्यों में कवि भुला ही नहीं दिया गया, कभी-कभी उसकी कल्पना भी कर ली गई और इस प्रकार अन्य कवि का नाम लेकर अपने अस्तित्व को पूर्णतः अप्रत्यक्ष रखने की चेष्टा भी गई। सूरदास के नाम से भी अनेक लीलाएँ 'दीनलीला', 'मानलीला', प्रचलित हो गई हैं।

लोक-प्रचलित कथाओं से प्रेरणा

लोक जीवन अपने उन्मुक्त गीतों में इतना घुल-मिल गया है कि उनमें भावों को एक कथात्मक रूप स्वतः उपलब्ध हो गया। भावों को कथात्मक रूप देने के लिये लोकगायक प्रायः पौराणिक या किसी प्रचलित कथा का आश्रय लेकर अपनी भावाभिव्यंजना करता है। इस प्रकार लोक समूह में अनेक कथाएँ प्रचलित हो जाती हैं। इन्हीं से प्रेरणा लेने वाले लोकदृष्टि-प्रधान खंडकाव्यों के रचयिता भावाभिव्यंजना में उतने ही सहज भी हैं।

प्रकृति यहाँ पर मानव के साथ सहानुभूति प्रकट करती हुई दिखाई पड़ती है। इस प्रकार इन खंडकाव्यों में मानव हर्ष, शोक आदि सहज भावों के साथ-साथ प्रकृति चित्रण भी होता चला आया है। हर्ष में प्रकृति भी उल्लसित दिखाई पड़ती है, तो शोक में उसमें भी उसी भाव का छाया मिलती है। इस प्रकार उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन होते हुए भी, यहाँ प्रकृति लोकगीतों के समान उन्मुक्त एवं व्यापक भावना के साथ अभिव्यक्त होती हुई दिखाई पड़ती है। कवि ने संयोग-वियोग के चित्र प्रकृति के सहारे ही अंकित

किये हैं। यही कारण है कि मानव हृदय के साथ प्रकृति का सामंजस्य यहाँ पूर्ण रूप में दिखाई पड़ता है।

लोकदृष्टि-प्रधान खंडकाव्य प्रमुख दो रूपों में दिखाई पड़ते हैं—एक तो वीरभावात्मक और दूसरे प्रेम-प्रधान।

(१) वीरभावात्मक

लोकदृष्टि-प्रधान खंडकाव्यों का आदि स्वरूप उन वीर रस-प्रधान काव्यों में दिखाई पड़ता है जिन्हें 'वीरगीत' कहकर अभिहित किया जाता है। फुटकल रूप में तो इन वीरगीतों की सामग्री बिखरी हुई मिलती ही है; किन्तु जहाँ प्रबंधात्मक रूप में ये वीरों के आख्यान पद्यबद्ध कर दिये गये हैं, वहाँ विविध रोमांचकारी घटनाओं के साथ-साथ मानव जीवन के मार्मिक पक्ष पर भी कवि ने दृष्टिपात किया है। अस्तु वीरता एवं शृंगार दोनों का सुन्दर समन्वय कर, जैसी कथावस्तु का निर्माण कवि ने किया है, उसमें जीवन के किसी एक पक्ष का पूर्ण चित्र उसने प्रस्तुत कर दिया है। इसी चित्र को देखकर इन वीरभावात्मक काव्यों को काव्यरूप की दृष्टि से खंडकाव्य के उस भेद में हम रखते हैं जहाँ कवि को लोक के बीच से दृष्टि मिलती है।

खंडकाव्य वर्णनात्मक काव्य है, जिसमें कथा एकरस चलती है। उसमें जीवन की कोई एक प्रमुख घटना कथा का आधार बनती है। इस दृष्टि से ये वीरभावात्मक खंडकाव्य वर्णनात्मक तो होते ही हैं, साथ ही गीतात्मकता का आग्रह भी उनमें पूर्ण होता है। किसी वीर को नायक बनाकर, उसके जीवन की किसी एक अथवा अनेक घटनाओं को लेकर कवि अपने काव्य का निर्माण करता है। युद्ध और प्रेम तो प्रमुख स्थान इनमें पाते ही हैं, साथ ही जीवन के अन्य मनोभाव घृणा, क्रोध, भय आदि को भी समुचित स्थान मिलता है। नायक के चरित्र पर इन विविध भावों की व्यंजना से सुन्दर प्रकाश पड़ता हुआ दिखाई देता है। 'खुमान रासो' की प्रति खंडित मिलती है, अतएव हम उसकी विवेचना न कर 'बीसलदेवरासो' और 'आल्हा' को ही लेते हैं।

बीसलदेव रासो

लोकदृष्टि-प्रधान-वीरभावात्मक खण्डकाव्यों में पहला प्राप्य खण्डकाव्य 'बीसलदेव रासो' है जिसमें धार के राजा भोज की कन्या राजमती और अजमेर के राजा बीसलदेव के विवाह एवं बीसलदेव की उड़ीसा यात्रा का वर्णन है। कथा का प्रणयन चार खण्डों में हुआ है। प्रथम सर्ग का आरम्भ सरस्वती और गणेश वन्दना से होता है। तत्पश्चात् कवि राजमती और

बीसलदेव के विवाह का वर्णन करता है। द्वितीय खण्ड में बीसलदेव की उड़ीसा यात्रा का वर्णन है, जहाँ वह हीरे की खान को हस्तगत करता है। तृतीय खण्ड में राजमती के वियोग का वर्णन है और चतुर्थ में बीसलदेव का राजधानी लौटना वर्णित है।

चतुर्थ खंड से ग्रंथ समाप्त हो जाता है और कवि आशीर्वादात्मक पद्यों से काव्यांत करता है। इस प्रकार प्रस्तुत खंडकाव्य की कथा छोटी है और नायक के जीवन की दो-तीन घटनाओं को लेकर कवि ने उनका विस्तार किया है। इसमें अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ हैं और कुछ तो ऐतिहासिक महत्व भी रखती हैं, किन्तु कुछ इतिहास विरुद्ध बातें भी जोड़ी हुई दिखाई पड़ती हैं। उसके मौखिक होने का प्रमाण तो स्वयं कवि की आरम्भिक पंक्तियों से ही मिल जाता है—

नाल्ह रसायण नर भणई।
हियडइ हरषि गायण भाई ।। पृ० ३ खण्ड १

... .

सरसति सामणी करउ इउ पसाउ
खेलाँ पइसइ मॉंडली
आखर आखर आण जे जोड़ि ।। पृ० ४[1]

उपर्युक्त पद्यों में 'गायण भाई' से 'गीत की भाँति' कवि ने इस खंडकाव्य को रचा, इस ओर संकेत है और दूसरे पद्य में कवि ने यह बताने की चेष्टा की है कि उसने किसी मण्डली में इसके एक-एक अक्षर को जोड़ कर, रास बना कर, लोगों के बीच सुनाया। ऐसे उल्लेख 'बीसलदेव रासो' में सर्वत्र मिलते हैं, जो इसी बात की पुष्टि करते हैं कि इसकी रचना गाने के ध्येय से ही हुई और इसका आरम्भिक रूप अवश्य मौखिक ही रहा होगा। तभी तो आगे चलने पर कवि कहता है—

गायो हो रास सुणै सब कोई,
सॉंमल्यों रास गंगा फल होई ।। पृ० ५ ।।

....

कर जोड़े नरपति कहहि,
रास रसायण सुणै सब कोई ।। पृ० ५ ।।

---

१. बीसलदेव रासो, संपा० सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०, ना० प्र० सभा, काशी, सं० १९८२।

सर्गों में विभक्त होकर प्रस्तुत खण्डकाव्य की कथा बड़े ही सरल ढङ्ग से आगे बढ़ती जाती है जिसमें सूक्ष्म बातों को लेकर कवि ने विश्लेषण करने का प्रयास नहीं किया है। लोक के बीच से प्रेरणा लेने वाले कवि ने प्रेम जैसी व्यापक भावना को ही लेकर इस खंडकाव्य की रचना की है। यही कारण है कि वीरयुग की सृष्टि होते हुए भी जब हम इसमें युद्ध का अभाव पाते हैं, तब आश्चर्य होता है। फलतः यह शृंगार-प्रधान खण्डकाव्य ही कहलाता है। युद्धक्षेत्र के वर्णनों की कर्कशता का यहाँ पूर्ण अभाव है और छन्दों के प्रयोग में भी कवि ने बड़ी कोमलता का प्रदर्शन किया है।

लोकगीतों की सहज कल्पना के अनुरूप इस खंडकाव्य में 'बारहमासा' भी है जिसमें एक-एक महीने को लेकर कवि ने राजमती के विरह का वर्णन किया है। राजमती अपनी सखी को सम्बोधित कर अपना विरह-विदग्ध हृदय खोलती है—

आघण कर दिन छोटा होई
सखी! सन्देशो मोकलउ कोई
सन्देस्रांहि बवज पड़यो
लांध्या पर्वत दुर्घट घाट
परदेसां परि भूमि गयउ
वीरी जराह न चालइ बाट॥ खं० ३, पृ० ६॥

लोकभाषा अपभ्रंश के कथा-काव्यों में पात्रों की अलौकिकता प्रसिद्ध है, जो अपने पूर्वकाल की बातों से अभिज्ञ होते हैं। इसकी छाया भी प्रस्तुत खंडकाव्य पर पड़ी है। राजमती अपने पूर्वजन्म की कहानी सुनाती है। यह प्रभाव प्रस्तुत खंडकाव्य पर लोक-प्रचलित कथाओं से पड़ा है, जो अपभ्रंश के चरित-काव्यों की विशेषता है।

लोकदृष्टि-प्रधान खंडकाव्यों का आदि स्वरूप होने के नाते 'बीसलदेव-रासो' में ऊँचा काव्यत्व ढूँढ़ना एक प्रकार से व्यर्थ है। कवि बड़े ही सहज ढंग से कथा को वर्णनात्मक शैली में कहता चलता है और यदि कहीं रुका है, तो वह राजमती के वियोग-वर्णन के स्थल पर। यहाँ प्राकृतिक व्यापारों के साथ राजमती अपने हृदय की तीव्रतम होती हुई वेदना को व्यक्त करती है। विरह में उसके हृदय के उद्‌गार बहुत ही स्वाभाविक हैं और सम्पूर्ण खंडकाव्य का सौन्दर्य इसी विरह-वर्णन में है। अन्य स्थानों में यदि कहीं वह ठहरा है, तो वह विवाह के अवसर पर, जहाँ उसने वैवाहिक रीतियों और शुभ शकुनों का वर्णन किया है।

प्रथम सर्ग में राजमती और बीसलदेव के विवाह का वर्णन कवि ने किया है। इसमें वैवाहिक रीतियों का उल्लेख इसे लोकधारा के समीप ला रहा है। लोक का रंजन वस्तुतः इन्हीं सहज प्रसंगों द्वारा होता है—

पाँच सखी मिली बइठी आई,
राजा है माय पूजावण जाई।
मोती का आखा किया,
काथ सोपारी पाका पान।
हइ हथलेवउ जोड़ीयउ,
जाणिक रुक्मिणी मिलीयो कान्ह। [पृ० २२, (५७)]

यहाँ पर 'माय पुजावण', 'हथलेवउ' मातृपूजन और पाणिग्रहण संस्कार के अर्थ में प्रयुक्त हैं। इस प्रकार के उल्लेख इसमें अनेक स्थानों पर आए हैं। इन्हीं प्रसंगों से इस लोकदृष्टि—प्रधान खंडकाव्य में युग की छाप गहरी मिलती है। यही स्थानगत-विशेषता ऐसे खंडकाव्यों की विशेषता होती है। 'बीसलदेव रासो' इस दृष्टि से सफल है। साथ ही इसमें छन्दों की पुनरावृत्ति भी स्थान-स्थान पर हुई है। पुनरावृत्ति की यह पद्धति वीरभावात्मक खंडकाव्यों में सर्वत्र मिलती है। इन सब प्रवृत्तियों को देखते हुए प्रस्तुत खंडकाव्य रूप की दृष्टि से बहुत ही सहज और अकृत्रिम काव्यरूप है।

भाषा की दृष्टि से भी यदि इसको देखा जाय तो इसमें हिन्दी का प्राचीनतम रूप उपलब्ध होता है, जिसमें इसके कवि ने अपने समय की बोलचाल की भाषा को ही अपना कर, उसमें प्राकृत और अपभ्रंश का पुट दिया है। कवि का झुकाव अलंकारों की ओर नहीं है। सहज उद्‌गार के रूप में भाषा जिस स्वाभाविक रूप को लेकर निकल पड़ी, उसे उसी रूप में कवि ने धर दिया है। शृंगार-प्रधान होने के कारण इसमें श्रुति-मधुर शब्द ही अधिकांश रूप में प्रयुक्त हुए हैं। यही कारण है कि यह खंडकाव्य बहुत ही गीतात्मक हो उठा है।

आल्हा

वीरभावात्मक खंडकाव्यों में यदि कहीं कवि भुला दिया गया है, यदि किसी काव्य का रूप आज तक मौखिक रूप में कंठानुकंठ चला आया है, तो वह 'आल्हा' है, जिसके मूल रूप का अभी तक कोई निश्चित रूप से पता नहीं चला है। इस प्रकार वीरभावात्मक खंडकाव्यों की समस्त विशेषताएँ इसमें उपलब्ध होती हैं। प्रथम तो इसका मौखिक रूप में होना ही इस ओर संकेत करता है कि इसकी रचना गाने के लिए ही हुई होगी और आज भी

अवसर विशेष पर लोक-मंडली में 'आल्हा' का गान होता ही है। जितनी प्रभावात्मकता इसके गान में दिखाई पड़ती है उतनी उसके लिपिबद्ध रूप में वर्तमान नहीं। इसका कारण केवल यही है कि इसका रचयिता सहज उद्गार के रूप में इसका निर्माण करता गया, जिसमें काव्यत्व एवं साहित्यिकता ढूँढ़ना व्यर्थ है। क्योंकि इसकी रचना-शैली बहुत ही साधारण एवं कृत्रिमता रहित है। इस साधारण रूप में 'आल्हा' लोक समूह का प्रतीक दिखाई पड़ता है, जिसके बीच कवि का अस्तित्व बिलकुल घुल-मिल गया है। कहने को तो जगनिक इसका रचयिता है और जनश्रुति के आधार पर इसे प्रायः ठीक भी माना जाता है। यदि इसमें आंशिक सत्य भी हो तो हम देखते हैं कि किस प्रकार कवि का व्यक्तित्व यहाँ पृष्ठभूमि में चला गया है। एक तो मंगलाचरण में जहाँ 'बीसलदेव रासो' में कवि का नाम अनेक बार आया है वहाँ 'आल्हा' के मंगलाचरण में जगनिक का नाम नहीं; उसका आरम्भ इस प्रकार होता है :—

श्रीगणेश गुरुपद सुमिर, इष्ट देव मन लाय।
आल्ह खंड वर्णन करत, आल्हा छन्द बनाय ॥[1]

दूसरे, 'आल्हा' में जगनिक कथा के पात्रों के साथ इस प्रकार घुल-मिल गया है कि पता ही नहीं चलता वस्तुतः वह कवि है अथवा पात्र। अनेक स्थानों पर कवि के नाम का उल्लेख इस प्रकार आया है :—

विकट लड़ाई भइ दोनों में। ढेवा जूझि गयो मैदान ॥
घोड़ी बढ़ाई जगनायक तब। औ चौंड़ा को दइ ललकार ॥
बहुत लड़ाई भइ दोनों में। सो मैं कहँ करौं बखान ॥
जगनिक जूझि गए खेतन में। आगे बढ़ौ चौंड़िया राय ॥ (पृ०८५)

अपने काव्य में कवि का इस प्रकार घुल-मिल जाना भी वीरभावात्मक खंडकाव्यों की एक विशेषता है। इसके मूल में वही सहज अभिव्यक्ति की भावना निहित है, जिसमें कवि कला की ओर सचेत नहीं रहता। यदि वास्तव में 'आल्हा' जगनिक द्वारा ही रचा गया, तो यह उसकी एक विशेषता है। समूह के साथ अपने व्यक्तित्व को घुला-मिला देना प्रायः सभी देशों में आदिम काव्यों की विशेषता रही है।

'आल्हा' के वर्तमान रूप को देखकर दूसरी बात जो दिखाई पड़ती है, वह यह कि मूल रूप इसका मौखिक अवश्य रहा होगा। कारण यह कि

---

१. हिन्दी के कवि और काव्य,—गणेशप्रसाद द्विवेदी प्रथम भाग।

आज उसकी भाषा बिल्कुल आधुनिक रूप में है। मौखिक आदान-प्रदान के कारण बदलती हुई भाषा के साथ उसका रूप भी आज बहुत कुछ दूसरा हो गया है। अस्तु भाषा की दृष्टि से इसकी मीमांसा करना अत्यन्त कठिन है। तो भी इसके बाहरी रूप को देखते हुए, इसके मूल रूप का थोड़ा बहुत अनुमान लगाया जा सकता है।

अपने वर्तमान रूप में 'आल्हा' आल्हा छन्द में ही है, जिसमें संगीतात्मकता पर्याप्त मात्रा में है। सम्पूर्ण काव्य युद्ध वर्णनों से आपूर्ण है। इन वर्णनों में वीरयुग की छाप स्पष्ट रूप में वर्तमान है। प्रेम और युद्ध इन्हीं दोनों प्रसंगों से वीरयुग के काव्य पूर्ण हैं और 'आल्हा' में ऐसे ही प्रसंग बावन हैं। काव्यारम्भ एवं प्रत्येक युद्ध-खंड ईशवन्दना से हुआ है, तत्पश्चात् कथा-प्रसंग बड़ी ही गतिपूर्ण शैली में आरम्भ हुआ है। प्रधान रूप से कवि ने कथोपकथनात्मक शैली को ही अपनाकर, बीच-बीच में वर्णनात्मक शैली को अपनाया है। अतः शैली दृष्टि से 'आल्हा' में मौलिकता बहुत है और सम्भवतः मौखिक आदान-प्रदान के लिये ही ऐसी शैली को कवि ने जन्म भी दिया है। :—

हाथ जोरि के कढ़िया बोलो। दादा सुनो हमारी बात।
बैर तो तुम्हीं से जैचन्द को। हे ददुआ हे मेरे तात।
तो तो बेटा मैं तुम्हरो हूँ। बाकी माफ लऊँ करवाय।

दादा पौत्र के वार्तालाप के बाद कवि स्वयं कहने लगता है :—

इतनी बात सुनी जम्बे ने। तुरते हुकुम दियो फरमाय।
करी तयारी तब कढ़िया ने। फौज कटीली लई सजाय।[1]

इस प्रकार कथोपकथनात्मक और वर्णनात्मक शैली के योग से कथा को आगे बढ़ाने की शैली में 'आल्हा' बहुत ही प्रवाह युक्त हो गया है।

दूसरी विशेषता इसकी यह है कि कवि एक प्रसंग समाप्त कर चट, दूसरे प्रसंग पर बिना किसी व्यवधान डाले पहुँच गया है और 'यहाँ की बातें यहँ छोड़ो। अब आगे की सुनो हवाल' कहकर उसने नए प्रसंग को प्रारम्भ कर दिया है। मौखिक रूप में होने के कारण ही इस शैली का अनुगमन कवि ने किया है, जिससे कथा की धारा अविरल बहती गई है। इस प्रकार कला की

---

१. हिन्दी के कवि और काव्य भा० १, गणेशप्रसाद द्विवेदी पृ० ५७,५८.
[महोबे की लड़ाई]

भावना जहाँ शून्य होती है, वहाँ काव्य की रचना-विधि भी बहुत ही सहज एवं अकृत्रिम होती है। 'आल्हा' में यही बात मिलती है।

अब हम 'आल्हा' के उन सजीव वर्णनों पर आते हैं, जिनमें दृश्यांकन की क्षमता पूरी है और प्रभावात्मकता कूट-कूट कर भरी हुई है। ये वर्णन हैं युद्ध-क्षेत्र के वर्णन। इनमें उपमा एवं अप्रस्तुत-विधान सुन्दर और सहज हैं। कवि ने प्रकृति के कार्य-व्यापारों से बड़े सजीव उदाहरण दिये हैं। साथ ही अतिशयोक्ति भी इन वर्णनों में बहुत हैं। रणक्षेत्र के वर्णन में शब्दों के ध्वन्यात्मक प्रयोग की प्रेरणा आगे चलकर सूदन को संभवतः 'आल्हा' से ही मिली :—

अररर अररर गोला छूटै। कड़ कड़ करे अगिनियाँ बान।
रिमझिम रिमझम गोला बरसैं। सननन परी तीर की मार।
तड़-तड़-तड़-तड़ तासे बाजे। जंगी ढोल रहे झड़नाय।[1]

और कवि ने यहाँ उत्प्रेक्षा प्रकृति से दी है है :—

मानहुँ टेसू बन में फूले। ऐसी रही लालरी छाय।
होदा भरिगे है लोहू ते। और चुचुआत फिरे असवार ॥पृ०८४॥

'आल्हा' में आल्हा और ऊदल के चरित्र पर कवि ने विशेष रूप से प्रकाश डाला है। यह प्रकाश अपनी ओर से नहीं, अपितु स्वयं उनके वीर कृत्यों एवं स्वभाव से प्रकट हुआ है। दोनों की धीरता, वीरता एवं निर्भीकता का ही प्रदर्शन उनके कृत्यों में हुआ है। सभी पात्रों में मुख्य रूप से मल्हना का चरित्र आदर्श माता का है।

वीरभावात्मक खंडकाव्यों की एक विशिष्टता जो 'आल्हा' में वर्तमान है, वह है उसमें स्थित युद्धपूर्ण काल की दूरागत गूँज। समय के निरन्तर प्रवाह के साथ आज भी वह ज्यों की त्यों सुनाई पड़ रही है। युग की सच्ची झलक इसके इस वर्तमान रूप में भी वर्तमान है और मूल रूप में तो न जाने यह कितनी ओजस्विनी एवं प्रभावोत्पादक-शैली में निर्मित हुआ होगा। वर्णनात्मकता के साथ काव्य का गेय तत्व मिलकर, शैली में सजीवता ला रहा है। साथ ही कवि ने जिस कथोपकथनात्मक शैली को अपनाया है, उससे अभिनेयता भी इसमें आ गई है। इस शैली को लेकर 'आल्हा' 'बीसलदेव रासो' से बहुत

---

१. हिन्दी के कवि और काव्य भा० १, गणेशप्रसाद द्विवेदी पृ० ८३.
[बेला के सती होने की लड़ाई]

भिन्न है। 'आल्हा' में घटनाओं की अनेकता है और इतनी अधिक घटनाओं का उल्लेख है कि संक्षेप में कहना भी कठिन है। परन्तु 'बीसलदेव रासो' में एक छोटी-सी कहानी है, जो सुव्यवस्थित रूप में वर्णित है। 'बीसलदेव रासो' की भाँति 'आल्हा' सर्गबद्ध भी नहीं; यहाँ एक-एक युद्ध को लेकर एक-एक खंड है, जिनमें कथा प्रबन्धात्कक रूप में चलती है। सम्पूर्ण कथा दिल्ली, कन्नौज और महोबे के राजा पृथ्वीराज, जयचन्द और परमार के परस्पर युद्धों को लेकर निर्मित है।

जितने उत्साह और शौर्य के साथ 'आल्हा' का आरम्भ होता है, उतने ही निराशा भरे वातावरण से उनका अन्त। सब स्त्रियाँ सती हो जाती हैं और सब वीर वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं। आल्हा विरक्त होकर कजरी बन की ओर चल देते हैं।

(२) प्रेम-प्रधान खंडकाव्य

जब कवि को लोक-प्रचलित आख्यानों से अधिक प्रेरणा मिलने लगी तब लोकदृष्टि-प्रधान खंडकाव्यों में दूसरी ओर प्रेम-प्रधान खंडकाव्यों को जन्म मिला।

ये प्रेम-प्रधान खंडकाव्य भीतरी प्रेरणा के अनुरूप दो रूप में रचित दिखाई पड़ते हैं। एक तो जब कवि की इस भीतरी प्रेरणा ने लोकगीतों की उन सहज प्रेम-प्रधान कथाओं के बीच से होकर पल्लवित होने का मार्ग ढूँढा, तब ऐसे प्रेम-प्रधान खंडकाव्यों की रचना हुई जिनमें लौकिक प्रेम का ही वर्णन हुआ। दूसरे, जब कवि को लोक-प्रचलित पौराणिक कथाओं से प्रेरणा मिली, तब अभिव्यक्ति का स्वरूप भी उसी के अनुरूप अलौकिक या भक्तिप्रधान हो गया। इस प्रकार प्रेम-प्रधान खंडकाव्य दो मुख्य वर्ग में विभाजित हो गए। एक तो (क) लौकिक प्रेमभावात्मक और दूसरे (ख) भक्तिमूलक।

(क) लौकिक प्रेमभावात्मक खण्डकाव्य

हिन्दी के आदि युग (वीरयुग) में प्रेम-प्रधान कहानियाँ अत्यधिक लोकप्रचलित हो गई और इन प्रेम-प्रधान कहानियों में यदि किसी कहानी का प्रचार लोक में अधिक था, तो वह 'ढोलामारु' की कथा का। यह कथा राजस्थान की प्रचलित लोककथा है जो अज्ञात समय से मौखिक रूप में यों ही परम्परागत चली आती है। इस लोककथा को लेकर कवि हरराज ने 'ढोलामारवणी चउपई' नामक छोटा-सा खंडकाव्य जयसलमेर के राजा के रंजनार्थ रचा, जिसका काल संवत् १६०७ है। प्रस्तुत खंडकाव्य की

कथावस्तु छोटी-सी है जिसमें मारवाड़ के राजा पिंगल की कन्या मारवणी और नलवरगढ़ के राजा नल का पुत्र ढोला (साल्ह कुमार) की प्रेम कहानी है। ढोला का पहला विवाह मारवणी से और दूसरा विवाह मालवा की राजकुमारी मालवणी से हो जाता है। इधर मारवणी को जब सखियों द्वारा अपने पति ढोला का समाचार ज्ञात होता है, तब वह अपना सन्देश भेजती है। ढोला आकर उसे विदा करवा ले जाता है। और सुख से दोनों स्त्रियों के साथ रहता है।

प्रस्तुत खंडकाव्य 'चौपाई' में विरचित है, परन्तु बीच-बीच में 'गाथा' छन्द भी गुंफित है। आरम्भ में कवि ने सरस्वती वन्दना की है—

> सकल सुरासुर सामनी गुण माता सरसत।
> विनय करे नै विनमुं भमु द्यो अविरमत।।
> जो तं नवरसि एणि युगि सविहु धुरि सिणगार।
> राजै सूर नर रंजियै:, अवला तारा अधार।।[१]

रूप की दृष्टि से इसका प्रणयन वीरभावात्मक खंडकाव्यों से कुछ-कुछ मिलता-जुलता है, किन्तु यहाँ कथा एकरस आद्यन्त लोकगीतों की सहज भावात्मक शैली में विरचित है। विरह का वर्णन भी इसमें बड़ी ही सहज प्रभावात्मक शैली में हुआ है।

'ढोला' के सदृश 'माधवानल कामकन्दला' की कथा भी बहुत ही लोकप्रचलित कथा रही है। इस कथा को लेकर कुशललाभ ने संवत् १६१६ में रावल-माल-दे के राज्य में, कुमार हरराज के रंजनार्थ, यह काव्य निर्मित किया।

प्रस्तुत खंडकाव्य की रचना भी दोहे-चौपाई में हुई है। परन्तु एक नवीनता यह है कि इसके दोहों में बीच-बीच में संस्कृत के श्लोकों का भी गुंफन हुआ है। कथा एकरस बिना व्यवधान के चलती है और यहाँ भी भावाभिव्यंजना बड़े ही सहज रूप में हुई है। वीणावादक माधवानल एवं वेश्या कामकन्दला के प्रेम की कथा को लेकर कवि ने इस खंडकाव्य की रचना की है। सरस्वती वन्दना से इसका आरम्भ होता है। कवि का विरह, वर्णन अत्यधिक मर्मस्पर्शी है। कामकन्दला राह के पंथी से विरह-निवेदन करती है—

---

१. ढोला मारवणी चउपई—हस्तलिखित प्रति ना० प्रा० सभा काशी।

सुणि पंथी ! हूँ वीनवुं, तू पाछल वलाजे ।
माहरा वेरी छइ घणा, रीस घणेरी राजे ।।[१]

इस प्रकार की पद्धति लोकगीतों की अपनी विशिष्ट पद्धति है, जिसमें विरह वर्णन की विशेषता रहती है। प्रेम-भाव का चित्रण भी अनुपम ढंग से हुआ है।

इस प्रकार के छोटे-छोटे लौकिक-प्रेमभावनापूर्ण खंडकाव्यों का रूप, लोकगीतों की सहज भावना के अनुरूप बहुत ही अकृत्रिम एवं कलात्मकता की भावना से रहित है।

(ख) भक्तिमूलक खण्डकाव्य

दूसरी ओर जिन कवियों ने पौराणिक कथाओं से प्रेरणा ली, उन्होंने बड़े ही भक्ति-प्रधान खंडकाव्यों की रचना की।

संस्कृत के महाकाव्यों के काल से ही 'महाभारत' और 'रामायण' के अनेक आख्यान लोक में मौखिक रूप में प्रचलित होते चले आए। इनमें राधाकृष्ण, नलदमयंती, शकुन्तला आदि की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। मौखिक रूप में प्रचलित होने के कारण तथा उसका मौखिक रूप में प्रचार होने के कारण, समय-समय पर यदि इन आख्यानों में नवीन से नवीन कथाएँ जुड़ती चली गईं तो यह अत्यन्त स्वाभाविक-सी बात है। भीतर चाहे जितनी अन्तर्कथाएँ क्यों न नियोजित होती गईं, परन्तु इन कथाओं का मूल रूप नहीं लुप्त होने पाया।

संस्कृत-काल में ही अपभ्रंश में अधिकतर पौराणिक कथाओं से प्रेरणा लेकर न जाने कितने चरितकाव्यों का निर्माण जैन कवियों ने किया। ठीक इसी प्रकार हिन्दी के 'आदि काल' में एक ओर जहाँ वीरभावों को लेकर खंडकाव्य रचे गए, वहाँ दूसरी ओर आगे बढ़कर 'रामायण' और 'महाभारत' के प्रचलित आख्यानों से कवियों को बहुत प्रेरणा मिली। कृष्ण की अनेक लीलाओं से जो कवि अधिक प्रभावित हुए, उन्होंने उनकी लीलाओं को लेकर अनेक लीला सम्बन्धी छोटे-छोटे खंडकाव्य रचे। किन्तु इन खंडकाव्यों में अधिकांशतः लेखक की कल्पना कर ली गई है। कभी-कभी प्रसिद्ध कवियों के नाम से इन्हें प्रचलित किया गया है और उनके मूल रचयिता के विषय में अब भी संशय बना हुआ है। इसके कारण की ओर

---

१. माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध—संपा० एम० आर० मजूमदार (खं० १—ओरियन्टल इंस्टिट्यूट, बम्बई १९४२).

संकेत किया जा चुका है, जिसमें कला की भावना का अभाव ही एकमात्र कारण निश्चित किया गया है। इस प्रकार के भक्तिमूलक खंडकाव्य कहीं-कहीं सूर के नाम पर भी मिलते हैं। ऐसे छोटे-छोटे काव्य हैं—'बिसातिनलीला', 'नागलीला', 'दानलीला'[1]। इनमें सहज भावों का अभिव्यंजन सहज रूप में ही हुआ, जिसमें भाषा जिस रूप में निकल पड़ी उसी रूप में कवियों ने उसे सँजो दिया। लोकदृष्टि-प्रधान खंडकाव्यों की भाषा में परिष्कार न होने का कारण एकमात्र यही है कि इनके कवियों में कला की भावना शून्य थी। किन्तु इस सहज भाषा का रूप कहीं भी भावों को विरूप करता हो, ऐसी बात नहीं। उनमें बाहर से अलंकारों की योजना नहीं, शब्दों का शुद्ध रूप सर्वत्र नहीं, तथापि इस आडम्बरहीन, अकृत्रिम भाषा में गतिशीलता और प्रवाह पूर्ण रूप में विद्यमान है। गतिशीलता हृदय के उन्मुक्त उद्‌गार में स्वतः आ जाती है। ये खंडकाव्य लोक के बीच से उद्‌भूत हुए, अस्तु अपने साथ लोकगीतों का सहज अभिव्यंजन लेते आए। यही कारण है कि कवियों के भाव जहाँ भाषा को सरल बना रहे हैं, वहाँ भाषा अपनी सरलता में भावों को प्रभावशालिता प्रदान कर रही है।

(आ) कवि-प्रधान या व्यक्तित्व-प्रधान खंडकाव्य

लोकरंजन के उद्देश्य से लिखित एवं लोक से उद्‌भूत खंडकाव्यों का दूसरा भेद वह है जिसमें कवि की प्रधानता होती चली गई। प्राथमिक अवस्था में निर्मित हुए खंडकाव्यों में कवि का व्यक्तित्व उतना प्रधान न हो पाया, क्योंकि लोकदृष्टि-प्रधान होने के कारण उनमें विषय मुखपृष्ठ पर आ गया था। किन्तु ज्यों-ज्यों काव्य आगे प्रगतिशील होता गया, त्यों-त्यों कला की भावना भी प्रमुख होती गई और व्यक्तित्व की बिखरी हुई कड़ियों को उसने एक साथ जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ आकर प्रत्येक कवि के व्यक्तित्व में निहित सृजनशीलता ने बड़े ही कलापूर्ण रूप में उसकी अन्तर्प्रेरणा को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। कवि की काव्यकला में कवि का व्यक्तित्व यहाँ आकर मुखरित हो उठा। उसकी कला में उसके व्यक्तित्व की पूरी छाप मिली और साथ ही कवि के व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का आभास भी पाठक को मिलने लगा।

तुलसी, नन्ददास और पृथ्वीराज राठौर के काव्य में हम कवि को

---

१. 'बिसातिनलीला'—सरस्वती प्रेस काशी; 'नागलीला' सं० १९४३ काशी; 'दानलीला' १९४२ काशी। वेंकटेश्वर प्रेस से भी ये पुस्तकें छपी हैं।

गौण रूप में नहीं पाते। पहले कवि का व्यक्तित्व सामने आता है, फिर उनके खंडकाव्य। किन्तु कवि-प्रधान खंडकाव्यों को प्रेरणा देने वाला वही लोक-समुदाय ही रहा, जिसके बीच उन्मुक्त अभिव्यंजन आदिम-काल से चला आ रहा है। बाह्य आकार ही नहीं विषय की दृष्टि से भी ये खंडकाव्य लोक-सामान्य धारा से प्रभावित हुए। लोकदृष्टि-प्रधान खंड-काव्यों और ऐसे खंडकाव्यों का भेद केवल एक ही दृष्टि से है। प्रथम प्रकार के खंडकाव्य में लोक-साहित्य के समान वह भोलापन है जहाँ कवि स्वयं इस बात से अनभिज्ञ था कि वह किसी कला की कृति को जन्म दे रहा है। उसके उस भोलेपन में उसका व्यक्तित्व कला कृति के बीच प्रकाशित न हो पाया। अस्तु वह या तो उसमें घुलमिल गया, या भुला दिया गया। किन्तु विकास-क्रम की दूसरी अवस्था में कवि सचेत हो गया। उसने देखा और प्रत्यक्ष इस बात का अनुभव उसे हुआ कि उसने एक अनोखी कला को जन्म दे दिया है, जिसे यदि वह अपनी प्रतिभा के बल पर और भी कलापूर्ण रूप में सजा सके तो उतनी ही महत्ता उसकी समझी जाय। इस भाव के उमड़ते ही उसने भाँति-भाँति से अपने काव्यरूप को सँजोना आरम्भ कर दिया। उसकी लेखनी अधिक तो नहीं, परन्तु कुछ-कुछ रुक कर अवश्य चलने लगी। क्योंकि उसे काव्योचित सौन्दर्य सृष्टि करनी थी। वह साधारण जनता के लिये तो काव्य-निर्माण कर ही रहा था साथ ही कलात्मकता की ओर भी उसकी दृष्टि समुचित रूप में उन्मुख थी। इसके लिये भाषा, शैली और भाव तीनों का सौष्ठव अपेक्षित था। किन्तु कविप्रधान खंडकाव्यों के रचयिताओं ने इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए भी जिस रूप में भावाभिव्यंजना की, उसमें सहज भाव की भी पूर्ण रूप में रक्षा हुई।

जब कवि सचेत होकर काव्य सृजन करता है तब उसके लिए रस और अलंकार की ओर ध्यान देना परमावश्यक हो जाता है। रस-परिपाक के विविध अवयवों अनुभाव, विभाव, संचारी आदि भावों की योजना इस कौशल के साथ वह करता है जिससे वे अपनी पूर्ण परिपक्वावस्था को पहुँच कर उचित रस-सृष्टि कर सकें। इसी रस-परिपाक द्वारा सहृदय पाठक उसमें पूर्ण रूप से तन्मय हो जाता है; इसी तन्मयता अथवा तदाकारपरिणति में ही उसके काव्य की परख होती है। इसी प्रकार अलंकारों द्वारा कवि शब्द एवं अर्थ के सौन्दर्य को बढ़ाने में सफल हो पाता है। भाषा में लय एवं सङ्गीत का सौन्दर्य लाने के लिये वह शब्दालंकारों का प्रयोग करता है और अर्थ-गत चमत्कार की सृष्टि उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के द्वारा होती है। इस

प्रकार काव्य के विविध अंगों में सौन्दर्य लाने की चेष्टा धीरे-धीरे अंकुरित होने लगती है। परन्तु वह काव्योचित सौन्दर्य-सृष्टि इस रूप में होती है जिसमें कृत्रिमता का तनिक भी भान न हो सके। क्योंकि सहृदय पाठक को लक्ष्यीभूत करने के साथ ही साथ कवि साधारण जन को पीछे नहीं छोड़ता। वास्तविक प्रेरणा तो इन्हीं लोकधारा को प्रवाहित करने वाले साधारण लोगों द्वारा ही मिलती है। यही कारण है कि कवि लोकधारा की उन्मुक्त अभिव्यंजना पद्धति को दृढ़ता से थामे हुए कलात्मकता के क्षेत्र क उतरता है। अस्तु प्रेरणा का बीज लोकधारा में होने के कारण ये कवि-प्रधान खंडकाव्य अपने सहज भाव को भी पूर्ण रूप से सुरक्षित किये हुए हैं। प्रेम, करुणा, हर्ष-शोक, ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष आदि सहज भावों की व्यंजना को ही यहाँ प्रधानता भी दी गई। लोकगीतों में जिस प्रकार ये भाव अपने अकृत्रिम रूप में व्यक्त हो पड़े, उसकी तुलना में यहाँ पर काव्य-सौष्ठव की भावना से भावों में सान्द्रता लाने का पूर्ण प्रयास किया गया। एक प्रकार से भाव यहाँ पर सहज होते हुए भी परिष्कृत रूप में व्यक्त किये गए हैं।

कविप्रधान खंडकाव्यों में मुख्यतः दो भेद दिखाई पड़ते हैं, एक प्रेम-प्रधान, दूसरा भक्ति-प्रधान। यह भेद वस्तुतः प्रेरणा की ही दृष्टि से आ गया है, क्योंकि दोनों प्रकार के खंडकाव्यों की विशेषताएँ समुचित रूप में वही हैं जिनका उल्लेख अभी तक हुआ है।

(१) प्रेम प्रधान

लोक जीवन में ही कवियों को वह प्रेरणा का बिन्दु मिला जिससे प्रभावित होकर कवियों ने प्रेम-प्रधान खंडकाव्यों की रचना की। इन प्रेम-प्रधान खंड-काव्यों का रूप लोक-प्रचलित दंत कथाओं के आधार पर खड़ा किया गया। अपने सहज रूप में इन कथाओं को हम काल्पनिक वृत्तों से आपूर्ण पाते हैं। क्रमशः जब उनकी सर्वप्रियता को साहित्यिक कवि देखता है तब उन्हीं का आधार लेकर सुन्दर प्रेमाख्यानों का निर्माण कर लेता है।

लोक-प्रचलित कथाओं का रूप सदैव गीतों के रूप में ही रहा। इन्हीं गीतों में होकर जीवन अपने सहज रूप में अभिव्यक्त हुआ। मानव-जीवन के प्रत्येक भावों को स्पर्श करने वाले ये गीत इतने प्रिय होते चले गए कि मध्यकाल के कवि उनको अपनाने का लोभ संवरण न कर सके। इन गीतों का जनरुचि के अनुकूल होने का कारण एकमात्र यही था कि उनमें ऐसी कथा का हलका सा आधार मिला, जिसमें संयोग एवं वियोग के हृदयस्पर्शी चित्र अंकित होते थे। ये भाव सहज ही लोक-

हृदय को आकर्षित करने वाले होते हैं। धीरे धीरे जब लोग इन्हीं भावात्मक गीतों को लेकर कल्पना द्वारा बनाई हुई प्रेम-कथा के साथ जोड़ते चले गए तब उनका स्वरूप शृंखलाबद्ध होने के साथ साथ स्मरण करने के लिये अधिक सरल होगया और ये कथात्मक गीत कंठानुकंठ प्रचलित होते चले गए। ये गीत प्रेम-प्रधान गीत ही थे जिनमें संयोग एवं वियोग के चित्र प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में बड़े ही व्यापक रूप में चित्रित किये गए। यहाँ लोक-हृदय ने प्रकृति के साथ अपना निकटतम संबंध स्थापित कर समानुभूति की भावना का प्रदर्शन किया। यह सहज संबंध-स्थापना प्रायः सभी स्थानों के लोकगीतों की विशेषता है। इस प्रकार जहाँ इन कथात्मक गीतों में प्रकृति का स्वतंत्र रूप में वर्णन हुआ, उसी प्रकार प्रेम भावना भी बड़े विशाल पट पर अंकित हुई। जिस कथा के सूत्र में लोक के ये मर्म-स्पर्शी उद्गार पिरोए गए उसमें नायक का परदेश चला जाना और विरहिणी स्त्रियों का पक्षियों द्वारा संदेश भेजना, ऐसा सहज स्वाभाविक व्यापार है जिसमें नारी-हृदय की व्यापक सहानुभूतिमय भावना का निदर्शन हुआ है। इस संदेश की भावना ने संस्कृत की साहित्यिक काव्य-परंपरा पर प्रभाव डाला और इसी प्रेरणा से मेघदूत, हंसदूत, पवनदूत आदि काव्यों की रचना हुई। लोक-गीतों में काग, कुंभ, तोता, पपीहा, आदि पक्षी सामान्य रूप से संदेशवाहक बनाए गए।

इन्हीं लोक-गीतों और उनमें नियोजित प्रचलित प्रेमकथाओं की प्रेरणा पर एक ओर (क) ऐसे प्रेमप्रधान खण्डकाव्य विरचित हुए जिनमें भावना एवं काव्यरूप बिलकुल अपने सहज रूप में तो दिखाई पड़ा किन्तु उन पर सूफी प्रभाव भी था और दूसरी ओर (ख) ऐसे प्रेमप्रधान खण्डकाव्य रचे गए जो बिलकुल स्वच्छन्द लोकगीतों की परम्परा पर थे।

(क) सूफी प्रेमभावना पूर्ण खण्डकाव्य

मध्ययुग में प्रेमप्रधान खण्डकाव्यों की प्रधानता हो गई। इसी समय सूफी धर्म को लेकर भारत में मुसलमान कवि भी आए और अपने साथ वे मसनवियों की प्रतीक पद्धति को भी लेते आए। इन कवियों की एकमात्र भावना प्रेम ही थी और इसी भावना के आधार पर उन्होंने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की कि परस्पर के द्वेष का भाव यदि कोई भाव दूर करने में समर्थ है तो वह यही प्रेम भाव है, केवल उस 'प्रेम की पीर' को जगाने की आवश्यकता होती है। संपूर्ण सृष्टि उसी समय परम तत्व के विरह में आकुल

है और जितने साज शृंगार के साथ प्रकृति प्रकट होती है मानों उसी के समागम की इच्छा से किया हुआ सब सम्भार है। ऐसी भावना को लेकर आने वाले इन सूफी कवियों ने इन प्रचलित भारतीय कथाओं को अपने उद्देश्य सिद्धि में अनुकूल पाया। क्योंकि इन कथाओं में प्रेम के ही संयोग एवं वियोगमय चित्रों की प्रधानता थी जिनके द्वारा 'प्रेम की पीर' को दिखाकर मनुष्यमात्र में प्रेम का अंकुर एक ही रूप में प्रस्फुटित होता हुआ दिखाना इन कवियों के लिये सहज हो गया। लोक में प्रचलित कथाओं का आधार मुख्यरूप से इतना ही होता है कि किसी राजकुमार ने किसी राजकुमारी के अनिंद्य सौन्दर्य को सुना, सुनकर उसको पाने के लिये अनेक कष्टों को झेलने के उपरान्त सफलता उसे मिली। कभी-कभी इन कथाओं में ऐतिहासिक सत्य भी निहित रहता है और लोक कवि कल्पना द्वारा ऐसी परिस्थितियों की योजना कर लेता है जिनमें वियोग वर्णन के लिये पर्याप्त अवसर मिल सके। ऐसी ही कथावस्तु की आवश्यकता इन सूफी कवियों को थी जिसमें लौकिक प्रेम द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना वे सरलतापूर्वक कर सकते। कभी-कभी इन कवियों ने इन्हीं कथाओं के अनुकरण पर अन्य कथाओं की कल्पना भी की, किन्तु इन सभी प्रेमप्रधान खंडकाव्यों की रचना ठीक 'मसनवी' के ढंग पर नहीं हुई, जिसमें आद्यन्त एक ही छन्द का निर्वाह होता है और कथा के प्रमुख स्थलों के अनुसार सम्पूर्ण कथा खंडों में विभाजित होती है। आरम्भ में पैगम्बर, नबी, तत्कालीन बादशाह आदि की स्तुति करने के उपरांत कथा का सूत्र खुलता है। 'मसनवी' की दूसरी विशेषता होती है, सम्पूर्ण कथा को अन्त में जाकर अन्योक्ति कहकर आध्यात्मिक अर्थ में घटा देना। किन्तु इन प्रेमप्रधान खंडकाव्यों में एक आध ही खंडकाव्य में यह बात समुचित रूप में मिलती हो, अन्यथा सभी में एक सीधी-सादी प्रेम-कथा वर्णनात्मक ढंग से कही हुई मिलती है, जिसमें प्रकृतिवर्णन, रूपवर्णन के क्षेत्र में अवश्य ऐसे संकेत मिलते हैं जिसमें अध्यात्मिकता की भावना निहित है। इन्हीं आध्यात्मिक संकेतों को देखकर यह प्रतिभासित होने लगता है कि हो न हो कवि ने सम्पूर्ण कथा को ही न कहीं अलौकिक अर्थ में घटाया हो। सच पूछा जाय तो जायसी के उपरान्त जितने भी प्रेममार्गी सूफी कवि आए, उन्होंने काव्य के क्षेत्र में एक ही निश्चित पद्धति का अनुगमन किया। अतः रूप-वर्णन एवं प्रकृतिवर्णन की शैली स्वतः उसी प्रकार की हो गई जिसमें अध्यात्मिक संकेत दिये जाते थे। यही कारण है इन खंडकाव्यों की आध्यात्मिक भावना इन्हीं दोनों प्रकार की वर्णना-पद्धति

तक ही सीमित मिलती है। सम्पूर्ण कथा का आध्यात्मिक अर्थ ठीक-ठीक लग जाय ऐसी बात तो ढूँढ़े से ही किसी खंडकाव्य में मिलेगी। ऐसे खण्ड-काव्यों में वर्णन के मोह के साथ कवियों का ध्यान कथा के घटनात्मक स्थलों की ओर भी झुका हुआ अधिक है और सम्पूर्ण इतिवृत्त में जहाँ कहीं भी अवसर मिला है कवि ने ठहर कर प्रकृति-वर्णन, विरह-वर्णन तथा रूप-वर्णन किया है। इनमें कुतबन की 'मृगावती', मंझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली', कासिमशाह का 'हंसजवाहर', नूरमोहम्मद का 'इन्द्रावती' और शेखनिसार का 'यूसुफ जुलेखा', आलम का 'माधवानल-कामनन्दला' खण्डकाव्य परिगणित हैं।

सूफी प्रेमभावना-पूर्ण खण्डकाव्यों की ही शैली पर कुछ हिन्दू लेखकों ने अपने प्रेमप्रधान खण्डकाव्यों की रचना की। इनमें प्रमुख रूप से पुहकर कवि का 'रसरतन', दुखहरनदास की 'पुहुपावनी', सूरदास का 'नलदमन काव्य' और बोधा का 'विरहवारीश' आते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रेमाख्यानक काव्य मिलते हैं जिनका उल्लेख डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में किया है, परन्तु वे अभीतक प्रकाश में न आ सके हैं।[1]

सूफी प्रेमप्रधान खण्डकाव्यों में सबसे प्रथम रचना कुतबन की 'मृगावती' मिलती है। यद्यपि इसकी प्रति खंडित है, तथापि जो अंश उपलब्ध हैं उनमें पीर, शाहेवक्त आदि की प्रशंसा एवं रचनाकाल तथा काव्य में प्रयुक्त छन्दों तक का निर्देश मिलता है—

सेष बुढ़न जग साचा पीरू। नाम लेत सुध होय सरीरू॥
....
साह हुसेन आहे बड़राजा। छत्र सिंहासन उनको छाजा॥
....
गाहा दोहा अरेल अरल। सोरठा चौपाई कै सरल॥
....

—सूफी काव्यसंग्रह, प० चतुर्वेदी, पृ० ९५-९६

इस भूमिका के पश्चात् काव्य का आरम्भ होता है। इनकी कथा

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा पृ० ४६२-४६६

जितनी मिलती है उसमें चन्द्रगिरि के राजकुमार और कंचननगर की राजकुमारी मृगावती के प्रेम का वर्णन है। अनेक कष्ट झेलने के उपरान्त राजकुमार मृगावती तक पहुँच पाता है, परन्तु मृगावती एक दिन उड़ जाती है। इसपर राजकुमार योगी बनकर भटकते हुए किसी रुक्मिणी नामक बाला को राक्षस के हाथों से बचाता है। पुनः राजकुमार मृगावती से मिलता है और तीनों लौट कर चन्द्रगिरि आते हैं, परन्तु राजकुमार एक दिन हाथी पर से गिर कर मर जाता है और रानियाँ सती होती हैं।

इस अधूरे खण्डकाव्य से उसके रूप का आभास अवश्य मिल जाता है, जिसकी रचना जैन चरितकाव्यों की पद्धति पर हुई है जिनमें कथा एक रस चलती है और बीच-बीच में खण्डों का नामकरण हो जाता है। पाँच अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहा, यह क्रम सम्पूर्ण खण्डकाव्य का है।

'मृगावती' के पश्चात् मंझन की 'मधुमालती' खण्डकाव्य भी अधूरा ही मिलता है। परन्तु इसके जितने अंश मिलते हैं उनमें इसके काव्यरूप की वही शैली है जो 'मृगावती' में मिलती है। यहाँ प्रेम का स्फुरण प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर होता है। इसमें केसरनगर के राजकुमार मनोहर और महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की प्रेम कहानी है।

आगे चलकर इस शैली के खण्डकाव्य अपनी कथा के अनुरूप बृहदाकार में उपस्थित हुए, जैसे उसमान की 'चित्रावली'। इसमें नेपाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर की चित्रावली की प्रेम-कथा ४५ खंडों में पूर्ण होकर विचित्र घटनाओं से आपूर्ण है। इन अलौकिक कथाओं के विनियोग से खण्डकाव्य के स्वरूप में विशृंखलता आ गई है। 'मृगावती' और 'मधुमालती' की ही शैली पर रूप-वर्णन तथा प्रकृति-वर्णन कवि ने किया है। इस प्रकृति-वर्णन में पक्षियों के उल्लास द्वारा आध्यात्मिक प्रेम का पुट भी परम्परागत रूढ़ि का अनुगमन ही है।

जान कवि ने बहुत से काव्य लिखे जिनमें 'कनकावति', 'कामलता', 'मधुकर मालती', 'रतनावति' आदि प्रसिद्ध हैं। इनका काव्यरूप पिछले खंडकाव्यों जैसा ही है केवल इनकी पंक्तियों में द्रुतगामिता की विशेषता है। इसी प्रकार नूरमुहम्मद की 'इन्द्रावती' में काव्यरूप की दृष्टि से कोई नवीन नवीनता नहीं। इस अधूरे खंडकाव्य में कालिंजर के राजकुँवर और आगमपुर की इन्द्रावती की प्रेमकथा वर्णित है।

शेख निसार ने अपने 'यूसुफ जुलेखा' की कथावस्तु का चुनाव भारतीय प्रचलित कथाओं में से नहीं किया है जैसा कि अन्य कवियों ने किया। फारसी

के काव्य 'यूसुफ जुलेखा' से ही प्रेरणा लेकर कवि ने संपूर्ण कथा को एक दूसरे ही आदर्श पर रचा है। पर यहाँ नायक यूसुफ जुलेखा के प्रेम में पागल नहीं दिखाया जाता, वह साधुचरित्र है! इसका निर्देश कवि ने स्वयं किया है। किन्तु काव्यरूप बिलकुल उसी पद्धति पर आधारित है जिसपर अन्य पूर्वकथित खंडकाव्य रचे गए।

आलम ने भारत की अतिप्रचलित कथा पर अपना खंडकाव्य रचा। संस्कृत में माधवानल कामकन्दला का आख्यान अधिकांशतः नाटकों में प्रयुक्त हुआ। तत्पश्चात् अपभ्रंश काल में राजस्थान के गणपति कवि ने इसकी रचना खंड काव्य के रूप में की। इसी जन-प्रचलित कथा को आलम ने लेकर १३ खंडों को एक बृहद् प्रबन्धकाव्य रच डाला जो काव्यरूप की दृष्टि से प्रेमप्रधान खंडकाव्य के अन्तर्गत ही आयगा। पुष्पावती नगरी का ब्राह्मण माधवानल एक कुशल वीणावादक था, जिसका प्रेम कामावती नगरी की वैश्या कामकन्दला से हो जाता है और किस प्रकार उसकी वीणा स्वयं उसी के जीवन के लिये भारी हो जाती है एवं किस प्रकार उसे अपने प्रेम पर सफलता प्राप्त होती है, यही प्रस्तुत खंडकाव्य का विषय है। विरहवर्णन इसमें विशेष रूप से हुआ है, एक तो कामकन्दला का विरह, दूसरा माधव का। दोनों ही वर्णनों में शरीर के ताप पर ही कवि का ध्यान अधिक रहा है[1], किंतु यहाँ पर प्रकृति-वर्णन को स्थान अपेक्षाकृत कम मिला है। कवि ने कहीं-कहीं तो अपना ज्ञान राग-रागिनियों के विस्तृत वर्णन में प्रदर्शित किया है। खंडकाव्य में कथा घटनाओं से भरी है, किन्तु सबका मूल बीज माधव और कामकन्दला का प्रेम है जो वियोग-संयोग की धूप-छाँह में पल्लवित होकर अन्त में संयोग में परिणत होता है।

हिन्दू लेखकों ने जिन प्रेम-कथाओं को लेकर अपने प्रेमप्रधान खण्डकाव्य रचे उनकी शैली भी बिलकुल मुसलमान कवियों के खण्डकाव्यों की-सी मिलती है; यह अवश्य है यहाँ सूफी सिद्धान्त-निरूपण की भावना नहीं। यहाँ कवि का मुख्य लक्ष्य लोकरंजन ही रहा और कविप्रधान खण्डकाव्य श्रेणी में जब हम इनकी गणना करते हैं तब जहाँ मुसलमान कवि सहज और सरल भावाभिव्यंजना की ओर झुका है, वहाँ इन कवियों ने काव्यत्व लाने की चेष्टा भी की है। भाषा का परिष्कार एवं अलंकृत शैली का आभास

---

१. हिन्दी के कवि और काव्य, गणेशप्रसाद द्विवेदी, भा० २, पृ० २०३।

इनमें मिलता है। किन्तु रूप की दृष्टि से ये खण्डकाव्य किसी भिन्न परम्परा के होते नहीं दिखाई पड़ते। इनमें 'रस-रतन', 'पुहुपावती', 'नलदमन' और 'विरह वारीश' प्रमुख हैं।

(१) रस रतन

पुहकर कवि का रसरतन, अन्य खण्डकाव्यों की शैली में निर्मित होकर भी नवीनता इस दृष्टि से लिए हुए है कि कवि ने आरम्भ में जिन देवताओं की स्तुति की है वे भारतीय हैं। इनमें नारायण, देवी, कृष्ण, रुद्र, सरस्वती की वंदना प्रमुख है। इसके उपरान्त कवि ने शाहेवक्त शाहजहाँ की प्रशंसा भी की है। दोहे और चौपाई के बीच-बीच में कवि ने छप्पय का भी प्रयोग बहुलता के साथ किया है। खंडकाव्य का आरंभ भी इसी छन्द से कवि ने किया है :—

श्रीरूप निरूप बहु गुन विस्तारन,
अविनासी अवगति अनादि अय अटक निवारन।
घट घट प्रगट प्रसिद्ध गुप्त निर्लेख निरन्जन,
तुम त्रिरूप तुम त्रिगुन तुमहिं त्रेपुर अनुरंजन।
तुमहि आदि तुमहि अंत हौ तुमहिं मध्य मायाकारन।
यह चरित नाथ कहँ लगि कहौं सुनाराइनी असरन सरन ।। १ ।।[1]

इसमें चंपावती के राजा राण विजयपाल की पुत्री रंभावती और वैरागढ़ के राजकुमार सूरसेन की प्रेमकथा नौ खंडों में समाप्त हुई है। प्रत्येक खंड में १० से लेकर १६ तक अध्याय भी हैं। इसमें विरह-वर्णन तो है ही, साथ ही उसकी दस अवस्थाओं का चित्रण भी हुआ है। बालवर्णन, वयःसंधि का वर्णन भी सुन्दर और विस्तृत है। अन्य प्रेमप्रधान खण्ड काव्यों की भाँति यहाँ अलौकिक बातों में आकाशवाणी की भी नियोजना हुई है। कवि ने इस खण्डकाव्य का अंत बड़े ही वैराग्यपूर्ण ढंग से किया है:—

पुहुकर वेद पुरान मिल कीनो यही बिचार।
यह संसार असार में रामनाम है सार ।।६१।।[2]

प्रेमप्रधान खंडकाव्यों की इस प्रकार वैराग्यमय भावों में परिणति बहुत कम दिखाई पड़ती है।

---

१. रसरतन, पुहुकर कवि हस्तलिखित प्रति, काशी ना० प्र० सभा।
२. रसरतन, वैराग्यखंड।

(२) दुःखहरनदास की "पुहुपावती"[1] को भी लें तो हम देखेंगे कि प्रस्तुत खंडकाव्य भी अन्य खंडकाव्यों की शैली पर ही निर्मित है। कवि स्वयं अन्त में "मृगावती", "मधुमालती" और "चित्रावली" का उल्लेख करता है :—

हा मृगावती जमुनीमाना। कहा ! चित्रावली कुँअर सुजाना।
हा मधुमालती कुँअर मनहर। जनमत भयो सभन घर सोहर।

इससे स्पष्ट है कवि अपने पीछे आती हुई परम्परा से पूर्णतः अभिज्ञ था। खंडकाव्य का आरम्भ भी ईशवन्दना से होता है। यद्यपि यहाँ कवि राम, महादेव, देवी, गणेश आदि भारतीय देवों की स्तुति करता है:—

प्रथम ही सुमिरों राम क नाउ। अलख रूप व्यापीक सब ठाउ।
घट माह रहा मीली सोइ। अरावोह जो तीन देषौ कोइ।
ससी सूरज दीपक गनतारा। इन्ह की जोती जगत उजियारा।
जगत जोती देषी पहीचानी। वह सो जोती जग रहे छपानी। [पृ० १]

प्रस्तुत खंडकाव्य में राजपुर के राजकुमार की प्रेमकथा है जो पिता से रुष्ट होकर अनूपगढ़ पहुँचता है और वहाँ की राजकुमारी पुहुपावती से विवाह करता है। तदुपरान्त आखेट में गया हुआ राजकुमार पुनः अपने मामा द्वारा राजपुर पहुँचाया जाता है, जहाँ उसका पुनः विवाह हो जाता है। पुहुपावती विरह से उसका पुनः किस प्रकार संयोग हो जाता है, इसी का विस्तार में वर्णन कवि ने किया है। दानव का राजकुमार को उठा ले जाना तथा काव्यांत में परमात्मा का प्रकट होकर उसकी परीक्षा लेना इसके कुछ अलौकिक स्थल हैं।

प्रस्तुत खंडकाव्य में २७ खंड हैं और दोहे, चौपाई के बीच-बीच में कहीं-कहीं कवित्त, सवैया और अरिल्ल छन्दों का भी प्रयोग किया गया है।

(३) ऐसा ही खंडकाव्य सूरदास कवि का विरचित "नलदमन"[2] काव्य है। ये भक्तिकाल के सूर से भिन्न हैं। इसके अन्तर्गत नलदमयंती की प्रख्यात प्रेमकथा आद्यन्त एकरस चलती है। यहाँ खंडों का विधान नहीं हुआ है। कवि ईशवन्दना से ग्रन्थारंभ करता है जिसमें जैन कवियों की छाया स्पष्ट है :—

---

१. पुहुपावती, दुःखहरनदास, हस्तलिखित प्रति, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

२. नलदमन, सूरदास, हस्तलिखित प्रति, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

सुमिरौं आदि अनादि जो कोई । आदि अनंत पुनि एकै सोई ॥
जाइ न बरन न रूप न रेखा । अविगत गति अभाव तिन भेखा ॥[पृ.१]

तत्पश्चात् शाहेवक्त की प्रशंसा भी कवि ने की है :—

"शाहजहाँ सुलताना चकता । भानु समान राज एक छता ॥ [पृ० ६]

कवि अपने गुरुदेव की प्रशंसा के उपरांत मूल प्रसंग पर आता है और अन्य प्रेमप्रधान खंडकाव्यों की शैली में रूपवर्णन, वियोग में व्याकुलता और संयोग के चित्र अंकित करता है। अलौकिक तत्वों में आकाशवाणी भी यहाँ पर होती है । अन्त में कवि प्रेम कहानी की विशिष्टता एवं भाषा के सौन्दर्य का संकेत कर काव्यांत इस प्रकार करता है :—

काह सो नल राजा, कहँ रानी । प्रेम उरझ रह गई कहानी ।
प्रेम अमर यह मरै न मारा । बुझै न प्रेम अगिन चिनगारा ॥ [पृ.१६०]
बाग बगीचा सोभल, जों सबही साझा होइ ।
बानी तस भाखे, जिन्ह समझै सब कोइ ।। [पृ०१६१]

काव्यान्त की पद्धति मुसलमान कवियों जैसी है ।

(४) बोधा के "विरहवारीश" की शैली इसी प्रकार की ही है जिसमें सात खंड हैं । और चौपाई दोहे में संपूर्ण खंडकाव्य रचा गया है । कथा इसकी वही प्रसिद्ध प्रेमकथा है जिसे आलम ने अपने खंडकाव्य में लिखा । परन्तु कथा का जितना अधिक विस्तृत रूप में वर्णन बोधा ने किया उतना उनके पूर्व न आलम ने किया, न हरनारायण ने । साथ ही 'प्रेम की पीर' की व्यंजना भी इनके खण्डकाव्य में बहुत सुन्दर है । कहते हैं जीवन की व्यक्तिगत प्रेम-पीड़ा के बीच इसकी रचना हुई, अतः मार्मिकता इसकी बढ़ गई है ।

इन खण्डकाव्यों के अतिरिक्त अनेक बहुत सी भारतीय कथाएँ हिन्दू-मुसलमानों द्वारा गृहीत होकर प्रेमप्रधान खण्डकाव्यों के रूप में रची गईं । प्रायः जितने अन्य प्रेमाख्यान काव्य मिले हैं उन सभी का रूप एक सा है ।[1]

प्रेम-प्रधान खण्डकाव्यों पर अपभ्रंश के चरित्र-काव्यों का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा । यों तो मुसलमान लेखक अपने साथ फारसी की मसनवी शैली

---

१. 'रतनरंग', 'कामरूप की कथा', 'मधुमालती', 'अंजनासुन्दरी की कथा', (मुनिमाल) "चित्रमुकुट"; (नन्दकिशोर) हस्त० लि० प्रतियाँ, (काशी नागरी प्रचारिणी सभा)

को लेकर आए और "यूसुफ जुलेखा" जैसी अभारतीय कथा को खंडकाव्य का रूप भी मिला। साथ ही खण्डों का विभाजन एवं ईश्वर, पैगम्बर, शाहेवक्त की प्रशंसा जैसा अभारतीय प्रभाव सा दिखाई पड़ा किन्तु शैली की दृष्टि से यह तत्त्व और साथ ही जिस अर्द्धालियों और दोहों की शैली को मुसलमान और हिन्दू लेखकों ने अपनाया, उसका मूल स्रोत अपभ्रंश के चरितकाव्यों और उनकी "कड़वक" पद्धति में मिलता है। साथ ही विषय की दृष्टि से जिस प्रकार अपभ्रंश के चरितकाव्य लोक-प्रचलित आख्यानों के आधार पर निर्मित हुए उसी भाँति ये प्रेमप्रधान खण्डकाव्य भी। इतना अवश्य है कि मुसलमान लेखकों का झुकाव अपनी कथा द्वारा अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की ओर था। यह बात हिन्दू लेखकों में नहीं मिलती। किन्तु काव्यरूप की दृष्टि से दोनों ही कवियों के खण्डकाव्यों पर अपभ्रंश का प्रभाव एक समान पड़ा। वर्णन का मोह, आश्चर्य तत्व, कथात्मक कौतूहल, अमानवीय व्यापार आदि सभी बातें इस प्रभाव का द्योतन करती हैं। "बारह-मासे" की प्रेरणा भी अपभ्रंश से ही इन कवियों को मिली। इस प्रकार ये खण्डकाव्य काव्यरूप की दृष्टि से अपभ्रंश चरित-काव्यों के ही निकट के कहे जाते हैं।

(ख) स्वच्छन्द प्रेम-प्रधान खंडकाव्य

प्रेम-प्रधान खंडकाव्यों में दूसरी ओर कुछ खंडकाव्य ऐसे मिलते हैं जो सूफियों की आध्यात्मिक भावना एवं शैली के प्रभाव से बिलकुल मुक्त हैं। इनमें प्रेरणा का स्रोत लोक से तो मिला किन्तु भावाभिव्यक्ति बिलकुल लोक-गीतों की ही पद्धति पर बड़े ही सहज रूप में हुई। सूफी प्रभाव से युक्त प्रेम-प्रधान खंडकाव्यों में कलात्मकता की प्रवृत्ति पूर्ण रूप से मिली और भाव बँधी हुई परम्परा के भीतर से होकर अभिव्यक्त हुए। अतः काव्य का स्वरूप बहुत कटा-छँटा और एक सा दिखाई पड़ा। किन्तु स्वच्छन्द परम्परा पर चलने वाले खण्डकाव्यों में मानव-भावनाएँ अपने प्रकृत रूप में प्रकट हो पड़ीं और कलात्मकता की भावना यहाँ प्रायः शून्य मिली। यहाँ संयोग-वियोग के चित्रों में किसी अन्य भावना से आरोपित न होने के कारण बड़ी सजीवता आ गई। ये खण्डकाव्य लोक की सहज भावना को ही अपनाने के कारण लोक के समीप आ गए और यहाँ कवि ने अपना अस्तित्व उसी प्रकार खो दिया, जिस प्रकार लोकगीतों में कवि का व्यक्तित्व समूह के साथ घुलमिल जाता है। यहाँ प्रकृति के साथ मानव-हृदय का पूर्ण सामंजस्य स्थापित होता हुआ दिखाई पड़ा। मानव के सुख-दुख में प्रकृति भी उल्लसित

एवं दुःखी दिखाई पड़ी। यही नहीं, उसने मनुष्य और प्रकृति की सहानुभूति को एक सूत्र में बँधा हुआ दिखाया। यह सहानुभूति की भावना लोकगीतियों में पक्षियों से बातचीत करने, उनसे अपना दुखी हृदय खोलकर प्रकट करने में तथा उनसे संदेश भेजवाने में दिखाई पड़ती है। अस्तु इन्हीं से सीधे प्रेरणा लेनेवाले कवियों ने अपने खण्डकाव्यों में भी संदेश भेजने की प्रणाली को अपनाया। इस सहानुभूति की भावना में प्रकृति के चित्र यहाँ बड़े व्यापक हो उठे हैं। इसी प्रकार प्रेम का वर्णन भी यहाँ पर बड़े ही व्यापक रूप में हुआ है।

ऐसे खण्डकाव्य स्वच्छन्द भावना से आपूर्ण होते हुए भी साहित्यिक रूढ़ियों को भी लेते हैं। संयोग में 'अष्टयाम' वर्णन की पद्धति ऐसी ही हैं। 'ढोलामारू रा दूहा' प्रेमप्रधान खण्डकाव्यों के इसी स्वच्छन्द वर्ग में आता है।

ढोलामारू रा दूहा

प्रस्तुत खण्डकाव्य की कथावस्तु राजस्थान की अत्यधिक जनप्रचलित कथा है और उसका प्रचार लोकगीतों के रूप में ही हुआ है। इन्हीं प्रचलित लोकगीतों में इसका स्वरूप भिन्न रूपों में मिलता है, किन्तु विद्वानों ने इसका संपादन जिस रूप में किया है उसमें कथा सुव्यवस्थित प्रबन्धाकार रूप में ही उपलब्ध है।[१]

लोक में जब कोई कथा अति प्रचलित हो जाती है तब जनसुलभ भावना के अनुरूप उसमें अनेक प्रसंग स्वतः नियोजित होते चले जाते हैं। प्रस्तुत खण्डकाव्य की भी ऐसी ही स्थिति रही। राजस्थान के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक इस प्रेम भरी कथा से आज भी लोग अभिज्ञ हैं। परिणामस्वरूप इसके मूल से अनेक प्रसंग भी जुड़ते चले गए हों तो कोई सन्देह नहीं। दूसरे, यदि भाषा की दृष्टि से 'ढोलामारू रा दूहा' को देखा जाय तो उससे भी यही प्रतिभासित होता है कि उसकी रचना किसी एक काल में नहीं हुई है। उसमें कहीं तो अतिप्राचीन शब्द प्रयुक्त मिलते हैं, तो कहीं नवीन प्रयोग। इससे यही प्रतीत होता है कि सम्भवतः इसका स्वरूप भी पहले मौखिक ही रहा होगा और बाद में कवियों ने इसे संग्रहीत रूप दे दिया

---

१. ढोलामारू रा दूहा, सं० रामसिंह, सूर्यकरणपारिख, नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०, विशारद ना० प्र० सभा० १९९१।

होगा।[1] प्रसिद्ध तो यह है कि जब पृथ्वीराज कवि की 'वेलिक्रिसन रुक्मिणीरी' की प्रशंसा अकबर ने मुक्त कंठ से की, तब उसी की स्पर्द्धा में हरिराज ने 'ढोलामारू' के बिखरे दूहों को कथारूप में अपने कवि कुशललाभ से क्रमबद्ध करवाया और यह रचना 'वेलि' से भी बढ़कर निकली।

प्रेमप्रधान सूफी खण्डकाव्यों की प्रस्तावना से उनके रचयिता और उसके रचनाकाल का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है, किन्तु 'ढोलामारू रा दूहा' की स्थिति बिलकुल लोकगीतों जैसी ही रही, जिसमें कवि का व्यक्तित्व कभी प्रकाशमान नहीं होने पाता। यही कारण है, इस खण्डकाव्य का रूप की दृष्टि से विवेचन किया जाय तो इसमें लोकगीतों का रूप तो मिलता है साथ ही अपभ्रंश जैन चरितकाव्यों की वर्णनात्मक और कथात्मक शैली का पूरा-पूरा अनुगमन भी इसमें है। साथ ही इसका स्वरूप बिलकुल स्वच्छन्द लोकगीतों की परम्परा पर होते हुए भी परिष्कृत काव्यरूपों, विशेषकर संस्कृत की काव्यगत रूढ़ियों से प्रभावित है। संयोग में 'षटऋतु वर्णन' तो प्रचलित ही है जिसको सूफी कवियों ने बहुत अपनाया, परन्तु 'ढोलामारू' में 'अष्टयाम' में आठों पहरों को लेकर शृङ्गारिक वर्णन एक नया तत्व है, जिसे देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि कवि का ध्यान कलात्मकता की ओर बिलकुल है ही नहीं। कवि यहाँ अवश्य सचेत दिखाई पड़ता है।

जहाँ तक प्रेम-व्यंजना और प्रकृति-वर्णन का सम्बन्ध है 'ढोलामारू' लोकगीतों की भाँति आद्यन्त प्रेम के वियोग एवं संयोग के चित्रों से परिपूर्ण है। लोकगीतों में इन कोमल भावों को व्यक्त करने का एकमात्र माध्यम बनाई गई है प्रकृति। उसी को प्रतीक बनाकर लोक ने अपना हृदय खोलकर रख दिया। प्रकृति के बदलते हुए रूपों के साथ विरहिणी स्त्रियों की वेदना भी तीव्रतम रूप में अभिव्यक्त होती चली जाती है। किन्तु जब विरहिणी स्त्रियाँ प्रकृति में अपने भावों को प्रतिबिम्बित होते देखती हैं, तब उन्हें प्रकृति भी मानों अपनी सहेली-सी लगने लगती है, जो उनके सुख-

---

१. जैसलमेर के रावल हरिराज ने अपने समय में प्राप्य दूहों को एकत्र करवा कर अपने आश्रित जैन कवि कुशललाभ को उनका कथासूत्र मिलाने को आज्ञा दी। उक्त कवि ने चौपाइयाँ बनाकर और उनको दूहों के बीच-बीच में जोड़कर यह कार्य सम्पन्न किया। [ढोलामारू]
[पृ० ११ निवेदन 'ढोलामारू रा दूहा']

दुःख में हाथ बटाती हुई प्रकट होती है। इस व्यापक भावना के आते ही लोक-बाला पशु-पक्षियों के साथ अपने हृदय का तादात्म्य या सहज सम्बन्ध स्थापित कर, उनको अपनी व्यथा सुनाने लगती है। इतने से ही उसका हृदय हलका नहीं हो पाता। वह उनको अपना विरह भरा सन्देश देकर विदेश भेजती है। लोकगीतों की यह भावना बड़ी मार्मिक और बड़ी सहज है। 'ढोलामारू' में आद्यन्त यह प्रकृति का रूप और ऐसी ही प्रेम की व्यंजना मिलती है।

"ढोला मारू रा दूहा" की कथा प्रेम-कथा है, जिसमें कथांश बहुत थोड़ा किन्तु भाव-व्यंजना अधिक है। पूँगल देश के राजा पिंगल की कन्या मारवणी और नरवर देश के राजा नल के पुत्र ढोला की प्रेम-कथा जो राजस्थान की प्रचलित कथा है इस खण्डकाव्य का विषय है। यही कथा हरराज की "ढोला मारवणी चउपई" में भी आई है परन्तु यहाँ विस्तृत रूप उसे मिला है। यद्यपि बहुत कुछ ऐसी ही कथा वीर-भावात्मक खण्डकाव्यों की भी होती है किन्तु प्रस्तुत काव्य का उन खण्डकाव्यों से इतना ही साम्य है कि इसमें प्रेम के संयोग-वियोग के चित्र एवं अनेक कठिनाइयों के उपरांत नायक की सफलता का वर्णन है। किन्तु रूप की दृष्टि से इसकी अपनी स्वतन्त्र शैली है। 'ढोलामारू रा दूहा' आद्यन्त शृंगार-रस से भरा हुआ है। कलात्मकता के स्थान पर भावात्मकता इसमें इसी कारण अधिक है। इन भावात्मक प्रसंगों में भी वियोग के चित्रों की ही बहुलता है। ये चित्र उसे लोकगीतों का सहज रूप प्रदान करते हैं।

काव्यारंभ बिना किसी मंगलाचरण के आरंभ हो जाता है और प्रथम दोहे से ही कवि पिंगल और नरवर के संयोग की घटना से कथा-सूत्र को खोल देता है। फिर ढोला मारवणी का विवाह और मारवणी का युवावस्था को प्राप्त होकर ढोला के विरह में घुलना वर्णित है। मारवणी के वियोग-वर्णन में कवि ने प्रकृति का आधार लेकर भावाभिव्यंजना की है। महाकाव्य के समान यहाँ प्रकृति-वर्णन कथा के बीच आए हुए प्रसंगों के रूप में नहीं आया है। यहाँ प्रकृति खण्डकाव्य में वर्णित विप्रलंभ के भाव को ही व्यंजित करने के लिये ही प्रयुक्त हुई। अस्तु इस भावव्यंजना में बड़ी ही सजीवता आ गई है। मारवणी का विरह वर्षाऋतु में अत्यधिक तीव्र हो उठता है। वह कहती है "बादल उमड़ आए और ढोला मेरे चित्त में उमड़ कर आ गया। किन्तु बादल तो अपनी ही ऋतु में बरसता है पर मेरे नेत्र नित्य बरसते रहते हैं" :—

उनमि आई बद्दली, ढोलउ आयउ चित्त ।
पो बरसइ रितु आपणी, नइण हमारे नित्त ।४१। (ढोला मारू रा दूहा)

वियोग-वर्णन में वर्षाऋतु के व्यापारों के साथ मारवणी के हृदय की व्यथा व्यंजित हुई है। धीरे-धीरे यह विरह का भाव बहुत ही व्यापक रूप धारण कर लेता है। मारवणी पपीहे, कुन्झ और कुररी पक्षी से अपना संदेश भेजने के लिए विनय करती है।

मारवणी जब जाते हुए ढाढियों को अपना सन्देश देती है तब कवि ने प्रत्येक वस्तु को याद करवा कर उसके मुँह से वर्णन करवाया है। यहाँ पर मारवणी प्रकृति के अन्यान्य उपकरणों के साथ अपनी अवस्था की तुलना करती है। ऐसी भावव्यंजना ने इस खण्डकाव्य को सूफी प्रेमप्रधान खण्ड-काव्य की भावव्यंजना से बहुत दूर कर दिया है।

ढाढियों का संदेश ढोला को व्याकुल कर देता है और उसके चलने की बात सुनकर मालवणी प्रत्येक ऋतु का वर्णन कर संयोग के समय प्रकृति के उल्लसित रूप का चित्र खींचती है।[१]

उधर प्रत्येक ऋतु का वर्णन कर मालवणी ढोला को रोक लेने का प्रयत्न करती है, किन्तु ढोला चल देता है। मालवणी ऊँट से बातचीत करती है। इस प्रकार पशुपक्षियों से बोलना बिलकुल लोकगीतों की शैली होती है और इससे कथोपकथनात्मक शैली का आधार लेकर कवि कथा के सूत्र को बढ़ाने में सफल होता है। प्रस्तुत काव्य में रूप-वर्णन को बहुत कम स्थान मिला है। केवल संयोग के समय सखियों द्वारा मारवणी के के श्रृंगार के समय कवि ने उसकी मधुर बोली और सुन्दर चाल का वर्णन अवश्य किया है। इस दृष्टि से सूफी प्रेमप्रधान खंडकाव्यों में साहित्यिक रूढ़ि का अनुगमन अधिक है। 'ढोलामारू रा दूहा' में संयोग श्रृंगारान्तर्गत वाक्-चातुरी के सुन्दर प्रसंग की नियोजना साहित्यिक रूढ़ि के अनुसार ही हुई है। मारवणी ढोला से कोई नई गाथा या कहानी कहने का अनुरोध करती है। कवि ने जिस प्रकार पहेलियों और उनके उत्तर को कथोपकथनात्मक ढंग से रखा है, उसकी प्रेरणा अपभ्रंश में प्रचलित पहेलियों से मिली है।[२]

मिलन के पश्चात् अष्टयाम का वर्णन आता है। संयोग का यह प्रसंग

---

१. दोहा १६६ ।

२. 'ढोलामारू रा दूहा'···दोहा ५७५,५७६ आदि ।

लोकगीतों के स्वच्छन्द वातावरण का न होने के कारण उस सौन्दर्य को नहीं लिए हुए है जो विप्रलंभ में हमें मिलता है। साहित्यिक परम्परा में ऐसे अष्ट-याम वर्णनों की परम्परा संस्कृत में पाई जाती है। उसी का अनुकरण यहाँ पर भी हुआ है।

प्रेम-कथाओं का प्रणयन सदैव इस ढंग से होता आया है कि प्रेम में सफल होने के पश्चात् नायक ऐसी परिस्थितियों के बीच हुआ दिखाया गया जिनमें प्रिया पर कोई दुर्घटना आ पहुँची अथवा किसी के धोखे में नायक आ गया। 'ढोला मारू' में ढोला के समक्ष ऐसी अनेक परिस्थितियाँ आ पहुँचीं। ऊमर सूमरा का धोखा देना तथा मारवणी की सर्प द्वारा मृत्यु और बाद में उसका किसी योगी द्वारा जीवित हो उठना, प्रेमकथाओं की प्रचलित परंपरा के अनुरूप ही है। सूफी खंडकाव्य 'माधवानल कामकन्दला' में माधव और कामकन्दला दोनों ही की मृत्यु और बाद में दोनों को जीवनदान मिलते हुए हमने पूर्व ही देखा है। यह कल्पना लोकगीतों की सहज भावना के अनुरूप है, जिसके द्वारा भावाभिव्यंजना करने का अवसर कवियों को हाथ लगा है। मारवणी की मृत्यु पर ढोला का विलाप, उसकी प्रेम भावना को प्रदर्शित कर रहा है।

ढोला नरवर पहुँच गया और सुख से उसके दिन व्यतीत होने लगे। यहाँ पर सपत्नी जैसी भावना की व्यंजना भी लोकभावना के अनुरूप है। सूफी प्रेमकाव्यों में भी ऐसी भावना को कवियों ने स्थान दिया।

संपूर्ण काव्य को देखने पर 'ढोलामारू रा दूहा' में किसी निश्चित काव्यरूप में होकर कवि की भावना का प्रसार हुआ हो, ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती। प्रत्युत कवि की स्वच्छन्द भावना जहाँ जिस ओर से प्रभावित हुई, वहीं से कुछ भाव एवं प्रणयन सामग्री लेकर काव्य में अभिव्यक्त हो गई। यही कारण है इससे कहीं संस्कृत की साहित्यिक परंपरा का अनुगमन है, कहीं अपभ्रंश काव्यों की पद्धति का अनुसरण। परन्तु इन सब स्रोतों से प्रभावित होने पर भी इसका रूप लोकगीतों का ही है। संपूर्ण कथा कथात्मक ढंग से नहीं चलती, प्रत्युत बड़ी ही भावात्मक शैली में हृदय के उद्गारों के रूप में निकलती चली गई है। सच पूछा जाय तो 'ढोलामारू रा दूहा' इतिवृत्त पृष्ठभूमि में चला गया है और जहाँ कहीं भी वियोग और संयोग के अवसर आन पहुँचे हैं वहाँ कवि ने रुक कर भावाभिव्यंजना की है। कुछ दोहों में कथा के सूत्र को बीच-बीच में पकड़ कर भावधारा को ही कवि ने आगे प्रवाहित किया है। कथा कहना उसका ध्येय नहीं, भावव्यंजना ही

प्रमुख है। इस प्रकार इस खण्डकाव्य में प्रेमकथात्मक खण्डकाव्यों और लोकगीतों का सुन्दर मेल हुआ है। बाह्य स्वरूप में तो नहीं, आभ्यंतरिक भावव्यंजना में प्रस्तुत खण्डकाव्य सूफी प्रेमप्रधान खण्डकाव्यों से अवश्य साम्य रखता है। किन्तु जहाँ वे कलात्मकता को अधिक लिये हुए हैं, जहाँ उनमें अलंकारों की ओर अधिक झुकाव है वहाँ 'ढोला मारू' का रूप बहुत सहज है।

उपसंहार

स्वच्छन्द भावना को लिये हुए इन खण्डकाव्यों पर जिस प्रकार लोक गीतों की उन्मुक्त काव्यधारा का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा उसी प्रकार सूफी प्रेम-प्रधान खण्डकाव्यों पर भी लोकगीतों ने अपना प्रभाव डाला। 'षट्ऋतु-वर्णन' और 'बारहमासे' की पद्धति, जिनमें मानवीय भावों को प्रकृति के सहारे अभिव्यक्त किया है, उसकी मूल प्रेरणा इन कवियों को लोक-प्रचलित गीतों से ही मिली। सूफी प्रेमप्रधान खण्डकाव्यों में भी कहीं पवन, कहीं शुक, कहीं हंस को संदेशवाहक बना कर भेजने की पद्धति कवियों ने अपनाई, जिसका स्रोत भी इन्हीं लोकगीतों में ही मिलता है।

इस दृष्टि से सूफी और स्वच्छन्द प्रेमप्रधान खण्डकाव्य निकट आ पहुँचते हैं। दोनो में अधिक अन्तर नहीं रह जाता; केवल प्रबन्ध के अन्तर्गत नियोजित वर्णनों के हलके से आध्यात्मिक संकेत में जहाँ सूफी खण्डकाव्य फारसी की मसनवियों के निकट जा पहुँचते हैं, वहाँ स्वच्छन्द प्रेमप्रधान खण्डकाव्य सीधी-सादी शैली में उन्मुक्त लोकगीतों से हिलमिल जाते हैं। सूफी प्रेमप्रधान खण्डकाव्य अपने में धार्मिकता के पुट को लेकर कुछ गम्भीरता लिये हुए हैं, किन्तु भारतीय कवियों के स्वच्छन्द प्रेमप्रधान खण्डकाव्यों में लोकरंजन के लक्ष्य ने उनमें वैसी गंभीरता न आने दी। पहले ने दोहे और चौपाई को अपनाया, तो दूसरे ने ऐसा कोई बन्धन न मानते हुए अधिकांश रूप में दोहे को ही अपना प्रिय छन्द बनाया। रचना-विधान की दृष्टि से दोनों ने सर्गबद्ध शैली में अपने खण्डकाव्य न लिखे। सूफी प्रेमप्रधान खण्डकाव्यों के रचयिताओं ने अपभ्रंश के चरित काव्यों के ढंग पर अपने खण्डकाव्य रचे। यहाँ बन्दना और कृतज्ञतासूचक लम्बी भूमिका से कथारंभ भी कवियों ने किया जिससे ये कलात्मक अधिक हो गए। किन्तु स्वच्छन्द प्रेमप्रधान खण्ड-काव्यों में काव्यरूप अपने सहज रूप में ही खिल उठा।

(२) भक्ति-प्रधान खंडकाव्य

जब कवि ने लोकोत्तर विषय में अभिरुचि रखकर बाह्य अभिव्यंजना की

तब उसके खण्डकाव्य भक्तिभाव से आपूर्ण हो गए। विषय यहाँ पर चरित्र के अलौकिक होने के कारण लौकिक न होकर लोकोत्तर हो गए, जिनमें उन चरित्रों की महत्ता का गुणगान विविध रूपों में हुआ। किन्तु काव्यरूप की दृष्टि से इन खण्डकाव्यों में कोई भेद न दिखाई पड़ा। लौकिक छन्दों से ही कवियों को प्रेरणा मिली, जिन्हें लेकर कवि ने अपनी कला द्वारा एक परिष्कृत रूप अवश्य प्रदान किया। आशय यह कि ऐसे खण्डकाव्यों में विषय-सामग्री के लोकोत्तर होते हुए भी काव्यरूप लौकिक भित्ति पर ही अंकित हुआ। इन खण्डकाव्यों में तुलसी का 'नहछू', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल', नन्ददास का 'भ्रमरगीत', 'नरोत्तमदास' का 'सुदामा-चरित', 'रासपंचाध्यायी', 'रुक्मिणी मंगल', पृथ्वीराज की 'क्रिसन रुक्मिनी री वेल', और ब्रजवासीदास का 'ब्रजविलास' आदि खण्डकाव्य लिये जा सकते हैं। इनमें तुलसी के 'मंगल-काव्य' और 'नहछू' साहित्यिक होते हुए भी लोक-गीतों की प्रचलित परम्परा से अधिक प्रभावित हैं। इनसे 'नहछू' में तो लोकप्रचलित गीतों को कथात्मक रूप देकर, कवि ने लोक द्वारा ही निर्मित छन्दों को भावों के परिष्कार से माँजकर खण्डकाव्य का सुन्दर रूप प्रदान किया है।

'नहछू', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल' तीनों काव्यरूप की दृष्टि से कविप्रधान खण्डकाव्यों के अन्तर्गत इसी दृष्टि से आते हैं कि तुलसी ने एक विशेष लक्ष्य को सामने रख कर इनकी रचना की। यह लक्ष्य था लोक तक राम-कथा को पहुँचाना और यही कारण है कवि के वे खण्डकाव्य लोक-दृष्टि प्रधानखण्डकाव्यों की ही श्रेणी में रखे जाते हैं। साथ ही जिस भित्ति पर इनका निर्माण हुआ है वह लोकप्रचलित भावों से आपूर्ण हैं। 'नहछू' में कोई कथा नहीं केवल विवाह के अवसर पर गाँवों में 'नहछू' कराने की रीति को लेकर कवि ने मंगलमय भावों को बीस "सोहर छन्द" में अभि-व्यक्त कर दिया है। किन्तु 'जानकी मंगल' एवं 'पार्वती मंगल' में कथा की धारा सुव्यवस्थित रूप में प्रवाहित होती है जो आदि में मंगलाचरण से ही आरम्भ की जाती है। मंगल भावों को लेकर चलने वाले इन खण्डकाव्यों में सीता और पार्वती के विवाह के प्रसंगों में कोई अशुभ-सूचक बात कवि ने नहीं आने दी है। यही कारण है 'मानस' के इन प्रसंगों से यहाँ कुछ भिन्नता आ गई है। न तो शिव की बारात को देखकर 'पार्वती मंगल' में हाहाकार मचता है और न 'जानकी मंगल' में परशुराम क्रोध ही दिखाते

हैं। यदि कहीं कवि रुका है तो वह पार्वती-तप विवाह अथवा राम-विवाह आदि प्रसंगों पर। इन विवाह के प्रसंगों में वैवाहिक रीति-रिवाजों का वर्णन कवि ने विशेष रूप से किया है। इन्हीं प्रसंगों में कवि लोक के समीप पहुँच गया है। 'सुन्दर समधौरा', 'परिछन', 'आरती', 'न्योछावर', आदि एक रीति की चर्चा इन खण्डकाव्यों में हुई है।

यों तो तीनों ही खंडकाव्य सर्गविहीन हैं तथापि 'नहछू' को छोड़कर अन्य दो मंगलकाव्यों की कथा में सुव्यवस्थित प्रवाह और वर्णनात्मकता पूर्ण है। 'नहछू' में कथांश नहीं केवल विवाह का एक प्रसंग और उसकी रस्म पर मंगलसूचक छन्द निर्मित हुए हैं। भाषा एवं भावों का सुन्दर सामंजस्य तीनों खंडकाव्यों में हुआ है।

नन्ददास के खंडकाव्य भक्तिभावना के आवरण में सजकर जीवन-खंड की मर्मस्पर्शिता में कथात्मकता के साथ-साथ गीतात्मकता को भी लिये हुए हैं।

नन्ददास ने 'भागवत' के ही प्रसंगों को लिया और अपने भावात्मक खंडकाव्यों की रचना की। काव्यरूप की दृष्टि से इनका 'रुक्मिणी मंगल', तुलसी के मंगलकाव्यों की शैली में ही विरचित हैं। अतएव अमंगलकारी घटनाओं का यहाँ भी परिहार है। कवि रुक्मिणी-हरणोपरान्त रुक्म, जरासन्ध आदि राजाओं का भीषण युद्ध-प्रसंग नहीं छेड़ता। मंगलाचरण से खंडकाव्य आरम्भ होता है। कथा के बीच-बीच में कवि ने रुक्मिणी के हृदय की व्यथा का सुन्दर चित्रण करते हुए प्रकृति का वर्णन भी किया है जो परम्परानुरूप है। कवि ने प्रकृति और नगर वर्णन के अवसर प्रस्तुत खंडकाव्य में मथुरापुरी की ओर जाते हुए ब्राह्मण के प्रसंग में निकाले हैं और साथ ही रूप-वर्णन भी किया है। विरह-वर्णन का प्रसंग भी आया है। अतएव प्रस्तुत खंडकाव्य अपने छोटे से आकार में प्रत्येक अंग को लेकर विरचित है।

'रास पंचाध्यायी' में खण्डकाव्य पाँच अध्यायों में विरचित है। कवि ने कथा के एक छोटे से सूत्र को पकड़, अपनी भक्तिभावना के अनुरूप खंडकाव्य को अत्यधिक भावात्मक बनाया है। क्रीड़ा करते हुए कृष्ण का अन्तर्धान होना, गोपियों के विलाप को देख पुनः प्रकट होना और रास-क्रीड़ा में मग्न हो जाना यही प्रस्तुत खण्डकाव्य का विषय है। इतने छोटे प्रसंग को अपनी प्रतिभा के बलपर खण्डकाव्य का रूप देना नन्ददास की विशेषता है। कवि अलंकृत रूप में प्रकृति-वर्णन करते हुए गोपियों की वियोगावस्था का चित्रण एवं संयोग में रास का विस्तृत वर्णन कर खंडकाव्य का भक्तिप्रधान स्वरूप खड़ा कर देता है।

इसी प्रकार नन्ददास का 'भ्रमरगीत' भी खंडकाव्य के रूप को लिए हुए है। सूर अपने 'भ्रमरगीत' में हृदय की सूक्ष्म भावनाओं के अंकन में ही लगे रह गए, किन्तु नन्ददास ने इसी कथा में ऐसा तार पकड़ा है जो प्रबंधात्मक बन गया है। कवि की कथोपकथनात्मक शैली इस प्रबन्ध की धारा को आगे प्रवाहित करती है। सूर ने अधिकांशतः गोपियों के हृदय की भावाभिव्यंजना की है अतएव उनका 'भ्रमरगीत' खण्डकाव्य न बन सका। किन्तु नन्ददास आरंभ से ही उद्धव और गोपियों को साथ-साथ लेकर चले हैं, अतएव उनके भ्रमरगीत में भावव्यंजना के साथ कथा की धारा भी साथ-साथ चल रही है। इसके अतिरिक्त रोलाछन्द का प्रयोग वर्णनात्मकता की दृष्टि से यहाँ पर हुआ है और बीच-बीच में दोहों का भी पुट है।

नन्ददास के खंडकाव्य आकार में छोटे हैं। कारण यह कि उन्होंने उनमें जिस अनुभूति के विन्दु को पकड़ा है वह जीवन के छोटे से क्षण की अनुभूति है। इसी कारण इनमें गीतात्मकता और कथात्मकता का सुन्दर मिश्रण हो गया है।

नरोत्तमदास की प्रतिभा कथोपकथन की मार्मिकता का आधार लेकर नाटकीय रूप में खण्डकाव्य के रचने के लिए चमक उठी। उनका 'सुदामाचरित' रूप की दृष्टि से भिन्न है। अभी तक खण्डकाव्यों में अधिकांशतः वर्णनात्मक तत्व ही प्रमुख मिला, किन्तु नरोत्तमदास के 'सुदामाचरित' में संवादात्मक शैली में खंडकाव्य की रचना हुई है। शैली में प्रस्तुत खण्डकाव्य की मर्मस्पर्शिता बढ़ गई है। साथ ही जहाँ कवि को कथा का वर्णन इतिवृत्तात्मक शैली में करना अभीष्ट रहा है, वहाँ उसने दोहे छन्द का प्रयोग किया है। अन्यत्र कवित्त-सवैया की पद्धति का आश्रय लिया है। दोहे छन्द की योजना ने कथा 'सूत्र' को आगे प्रवाहित किया है। कवि ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के सहज प्रयोग द्वारा खण्डकाव्य के कलापक्ष को भी सुन्दर बनाने की चेष्टा की है। परन्तु काव्योचित सौन्दर्य के लिये सचेष्ट होते हुए भी हृदय के उन्मुक्त अभिव्यंजन की ओर ही कवि का झुकाव है। यही कारण है कलापक्ष के साथ यहाँ भावपक्ष का सुन्दर मिश्रण भी हो गया है।

पृथ्वीराज ने इन सभी कवियों से भिन्न खण्डकाव्य का रूप प्रस्तुत किया जिसमें एक प्रकार से संस्कृत की अलंकृत एवं कलात्मक परम्परा का पुनरुद्धार हुआ। 'वेलिक्रिसन रुक्मिणी री' काव्यरूप की दृष्टि से बिल्कुल संस्कृत के

खंडकाव्यों की ही पद्धति पर रचा गया है। अतः यह तुलसी के खण्डकाव्य की तुलना में अधिक कलापूर्ण शैली का खण्डकाव्य है।

'बेलिक्रिसन रुक्मिनी री' भागवत दशम स्कंध के अन्तर्गत आई हुई रुक्मिणीहरण की कथा के आधार पर रचा हुआ अलंकृत खण्डकाव्य है। नन्ददास ने अपने 'रुक्मिणी मंगल' में इसी कथा को लिया, किन्तु जितनी कलात्मकता 'बेलि' में है उतनी 'रुक्मिणी मंगल' में नहीं। पृथ्वीराज के समक्ष संस्कृत के काव्यों की परंपरा वर्तमान थी। फलतः खंडकाव्य का आरंभ मंगलाचरण, परमेश्वर स्तुति और सरस्वती वंदना से होता है। इतना अवश्य है कि यहाँ सर्गों का बंधन नहीं। संस्कृत के कवियों की ही भाँति कवि आरंभ में अपनी असमर्थता एवं पिछले कवियों के प्रति अपनी कृतज्ञता भी प्रकट करता है। इतनी बड़ी भूमिका के उपरांत कवि रुक्मिणी के शैशवकाल से लेकर यौवनावस्था का वर्णन बड़े ही अलंकृत रूप में करता है।

प्रस्तुत खण्डकाव्य में युद्ध-वर्णन विस्तार में हुआ है और कहीं-कहीं यह वर्णन बीभत्स रस से युक्त होने के कारण भक्तिपूर्ण खण्डकाव्य में दोष ला रहा है।[1]

खण्डकाव्य का अन्तिम अंश शुद्ध कलात्मकता की भावना से निर्मित है।

ब्रजवासी दास के 'ब्रजविलास' में तुलसी के 'मानस' की शैली का पूरा-पूरा अनुगमन कवि ने किया। अस्तु विषय की दृष्टि से तो उपर्युक्त सभी खण्डकाव्यों में भक्तिभावना का प्राधान्य है किन्तु रूप की दृष्टि से प्रत्येक कवि की रचना अपनी भिन्न विशेषताएँ लिए हुए है।

(२) देशी या विदेशी काव्य-परंपरा से उद्भूत साहित्य मर्मज्ञ के लिये लिखित परवर्ती खंडकाव्य

खण्डकाव्य के प्रथम भेदान्तर्गत ऐसे खण्डकाव्यों की चर्चा हुई जो लोक से उद्भूत हुए और लोकरंजन के ही उद्देश्य से निर्मित भी हुए। ये खण्ड-काव्य प्राथमिक एवं मध्यकाल के लगभग ही रचे गए। इसी मध्यकाल के परवर्ती खण्डकाव्यों की प्रवृत्तियों को देखते हुए कुछ तो साहित्यिक परंपरा पर निर्मित खण्डकाव्य लिखे गए, कुछ में प्राचीन शैली का ही अनुगमन मिला और कुछ बिलकुल नवीन शैली पर निर्मित हुए। इन नवीन शैली पर रचे गए खण्डकाव्यों पर विदेशी शैली का प्रभाव भी दिखाई पड़ा।

---

१. 'बेलिक्रिसन रुक्मिणी री'—पृथ्वीराज राठौर, संपादक रामसिंह सूर्यकरण पारीख-छन्द नं० १२०, १२१, ११८ ना० प्र० स० संवत् १९३१

विकास क्रम की प्रथम अवस्था में खण्डकाव्य लोक से प्रेरित हो, लोक के लिये निर्मित हुआ। इस अवस्था में भी प्रथम तो कवि का व्यक्तित्व गौण रूप में मिला और बाद में कवि के सचेत होने पर कला की भावना से खण्ड-काव्य रचे गए। किन्तु विकास-क्रम की इस प्रथम अवस्था में इन दोनों प्रमुख प्रवृत्तियों के रहते हुए भी खण्डकाव्य पूर्ण रूप में विकसित नहीं हो पाता। सच्चा विकास तो आगे चलकर विकास क्रम की इसी द्वितीयावस्था में होता है जब खण्डकाव्य-रचना उस सचेत कलाकार द्वारा होती है जिसमें कला की भावना अत्यधिक जाग्रत हो उठती है। यहाँ कवि की लेखनी साहित्य के मर्म जाननेवाले सहृदय पाठक को सामने रखकर चलती है। अस्तु क्या भाषा, क्या भाव और क्या शैली, क्या अलंकार सभी दृष्टियों से यहाँ परिष्कार हो जाता है। सच्चा शैली का निखार यहीं आकर होता है। किन्तु इस द्वितीय अवस्था में भी पुनः हमें दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम अवस्था में पर्याप्त कलापूर्णता और व्यक्तित्व की झलक खण्डकाव्य में मिलने पर भी शैली उसकी हमें पुनः उसी प्राथमिक काल की याद दिला देती है जब कि वीरोल्लास भरे खण्डकाव्यों की रचना हुई। किन्तु आगे चलकर बिलकुल नवीन शैली के खण्डकाव्यों का विकास हुआ।

जिसे शैली का सच्चा निखरना कहा जाता है वह आगे चलकर आधुनिक काल के खण्डकाव्यों में परिलक्षित हुआ। कवि का व्यक्तित्व उसकी कला में रह-रहकर झलक तो उठा, पर साथ ही कवियों ने विविध विषयों को लेकर अपनी लेखनी उठाई। इतना ही नहीं, पुराने विषयों को भी यदि उन्होंने लिया तो उन्हें इस रूप में ढाला कि प्राचीनता में नवीनता के पुट ने उस प्राचीन इतिवृत्त में नवजीवन डाल दिया। यहाँ कवि का ध्यान वस्तु की ओर उतना नहीं रहा जितना उसे कलापूर्ण ढंग से सँजोने की ओर। कल्पना-शक्ति ने यहाँ अपूर्व सौन्दर्य सृष्टि की। भाषा में शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग, उनके द्वारा ध्वन्यर्थ व्यंजना और सुन्दर प्रतीक-विधान द्वारा काव्य का सौष्ठव अधिकाधिक मात्रा में आता हुआ दिखाई पड़ा। क्रमशः कवियों ने वर्णनात्मकता के आग्रह को बहुत ही कम कर दिया और खण्डकाव्यों में बौद्धिकता का पुट भी आने लगा। कथा का आधार-मात्र लेकर कवियों ने ऐसे मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से हृदय की खुली मुँदी प्रवृत्तियों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया कि खण्डकाव्य का बिलकुल ही स्वरूप-परिवर्तन हो गया। धीरे-धीरे जब कथा का आग्रह बहुत कम होता गया तब अनेक भावभंगिमाओं के साथ कवि पात्रों के मनोवैज्ञानिक संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व को ही खण्डकाव्य

में प्रस्तुत करने लगे। विषय की दृष्टि से पर्याप्त नवीनता तो दिखाई पड़ी, किन्तु आधुनिक काल में आकर विषय भले ही उतना नहीं बदला हो उसको अभिव्यंजित करने की शैली अवश्य बदल गई। इस शैली में युग की गीतोन्मुख प्रवृत्ति का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा और खण्डकाव्य में भी गीतात्मकता का पुट आ गया और उसका रूप भी बहुत परिवर्तित हो गया।

विषय की दृष्टि से खण्डकाव्यों की विभाजन शैली प्रायः अपूर्ण ही रहती है, क्योंकि उसमें एक निश्चित सीमा-रेखा खींचना कठिन होता है। तो भी विषय के अनुरूप ही शैली को जन्म मिलता है और विषय एवं शैली मिलकर काव्यरूप का निर्माण करती हैं, अतः इस दृष्टि से कुछ खण्डकाव्य पौराणिक चरित्रों को लेकर निर्मित हुए, कुछ ऐतिहासिक और कुछ काल्पनिक चरित्रों को लेकर प्रणीत हुए। कुछ अन्य खण्डकाव्य महान् व्यक्ति के प्रति श्रद्धा-निवेदन की भावना को लेकर भी रचे गए। शैली की दृष्टि से इन परवर्ती खण्डकाव्यों में कुछ काव्यरूप तो पुरानी परम्परा को अपनाए हुए हैं और कुछ नवीन शैली में निर्मित हैं।

(१) प्राचीन शैली

पुरानी परम्परा पर निर्मित खण्डकाव्यों में दो मुख्य वर्ग दिखाई पड़ते हैं—पहला तो वह जो वीरगाथाओं की 'रासो' शैली में लिखा गया और दूसरा वह जो वीरगाथाओं की शैली को स्पर्श करते हुए स्वतन्त्र शैली में निर्मित हुआ।

(क) 'रासो' पद्धति पर रचे हुए खण्डकाव्य वीरपूजा की भावना से लिखे गए। इनकी कथावस्तु का चयन भी ऐसे ही वीररसात्मक प्रसङ्गों से पूर्ण प्रेम-कथाओं के बीच से ही हुआ जिनमें वीररस के साथ साथ शृङ्गार का पुट भी मिलता गया। ऐसे खण्डकाव्यों की शैली वर्णनात्मक होती है और घटनाचक्र ऐसा होता है जिससे पाठक की साकांक्षता बराबर बनी रहती है और वह उत्सुक होकर 'आगे क्या हुआ' यह जानने के लिये व्यग्र हो जाता है। सच पूछा जाय तो इन खण्डकाव्यों में काव्यरूप की दृष्टि से विकास के चिन्ह बहुत कम हैं और कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ही अधिकतर ये खण्डकाव्य लिखे, जिनको विरुदावली कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। सूदन का 'सुजानचरित' जोधराज का 'हम्मीर रासो', चन्द्रशेखर का 'हम्मीरहठ', केशव का 'वीरसिंह देवचरित' आदि खण्डकाव्य इसी के अन्तर्गत आते हैं।

जोधराज ने 'हम्मीर रासो' में रणथम्भोर के राजा हम्मीरदेव की वीरता

की प्रशंसा में वीर रस का यह खण्डकाव्य निर्मित किया। कवि ने रचना की मूल प्रेरणा की ओर आरम्भ में ही संकेत किया है:—

नृप एक समय दरबार माँहि, रासो हंमीर कहि सुन्यो नाहिं।
नृप प्रश्न करिय यह उभै बात, सब कहौ वंश उत्पति सुतात।
अस कहौ साहि हम्मीर बैर, किहिं भांति कंक बढ्यो सु फेर॥[1]

इस प्रकार वीरपूजा की भावना वीरभावात्मक खण्डकाव्यों की एकमात्र विशेषता है। यही कारण है खण्डकाव्य का बाह्य रूप बिलकुल 'रासो' की शैली पर निर्मित हुआ है। परन्तु प्रस्तुत खण्डकाव्य में सर्गों का बंधान नहीं, केवल बीच बीच में आवश्यक प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक रूप में किया गया है और हम्मीर तथा अलाउद्दीन के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध में कल्पना द्वारा ऐसे प्रसंगों की उद्भावना की है जिससे कथा आगे प्रवाहित होती गई है। वीर के साथ साथ शृङ्गार-रस का मिश्रण 'रासो' पद्धति के खण्डकाव्यों की विशेषता है। इसमें भी हमें यह मिश्रण मिलता है। परन्तु पद्य के बीच-बीच में गद्य का प्रयोग खण्डकाव्य के प्रवाह को विकृत भी कर रहा है। अतएव रूप की दृष्टि से यहाँ कोई नवीनता नहीं मिलती।

सूदन का 'सुजान चरित' भी वीरभावात्मक खण्डकाव्यों की पद्धति पर निर्मित हुआ है जिसमें कवि ने अपने आश्रयदाता सुजान सिंह के सात ऐतिहासिक युद्धों का वर्णन बड़ी ही वर्णनात्मक शैली में किया है। यहाँ वीर-रस को ही प्रमुखता दी गई है, परन्तु वीर-रस के प्रसंगों में कवि का ध्यान केवल शब्दों के प्रयोग की ओर ही अधिक रहा है:—

धड़ धधूधरं धड़ धधूधरं। झर झम्मझरं झर झम्मझरं।
अर रर्ररं अर रर्ररं। सर रर्ररं सर रर्ररं। [(जंग ६, पृ० ४५५)हिन्दी के कवि और काव्य, ग० प्र० दिव० भा० १]

इस प्रकार प्रस्तुत खण्डकाव्य भी रूप की दृष्टि से विकसित शैली का द्योतन नहीं करता।

चन्द्रशेखर के "हम्मीरहठ" में सूदन जैसी चमत्कृति उसके युद्ध-वर्णन में नहीं मिलती तथापि हम्मीर और अलाउद्दीन के बीच होनेवाले युद्ध को जो कथा का रूप खण्डकाव्य में मिला है, उसमें काव्यरूप की दृष्टि से अधिक मौलिकता नहीं मिलती।

---

१. हम्मीर रासो—जोधराज—संपादक श्यामसुन्दर दास, ना० प्र० सभा, काशी, संवत् १९०८, पृष्ठ ३

[ख] दूसरे वर्ग के खण्डकाव्य, वीरगाथाओं का स्पर्श अपनी वर्णनात्मकता में करते हैं; जिनमें विषय-निर्वाचन उन्हीं के समान प्रेम और युद्धमय प्रसंगों के बीच से ही किया गया; किन्तु ये खण्डकाव्य 'रासो' की शैली के सदृश वर्णन-विस्तार को नहीं अपनाए हुए हैं। इनका आकार बहुत छोटा है और काव्यत्व इनमें अधिक है। नाटकीय तत्व कथा की वर्णनात्मकता में यहाँ अधिक मिलता है और कथा के प्रणयन में अनुपात का ध्यान भी यहाँ तुलना में अधिक रखा गया है। किसी किसी खण्डकाव्य में तो शैली, भाषा आदि का सौष्ठव बहुत मिलता है और प्रायः सभी खण्डकाव्यों में देशभक्ति की भावना प्रमुख मिलती है। कवि ने यहाँ पर बीच बीच में वाचकवृन्द को उसी प्रकार सचेत किया है जिस प्रकार 'आल्हा' जैसे वीरभावात्मक खण्डकाव्य में यह प्रवृत्ति मिलती है। समुचित रूप से देखा जाय तो ये खण्डकाव्य अधिक परिष्कृत शैली में रचे गए हैं। मैथिलीशरण गुप्त के 'रंग में भंग', 'विकटभट', 'सिद्धराज', 'पलासी का युद्ध', सियारामशरण का 'मौर्यविजय', आदि आधुनिक युग के काव्य इसी शैली के खण्डकाव्य हैं।

गुप्तजी के 'रंग में भंग' में सर्ग विधान नहीं किया गया है। कथा बड़े ही इतिवृत्तात्मक रूप से चलती है जिसमें बूँदी के राजा वीर सिंह के भाई लाल सिंह की कन्या के विवाह का वर्णन है। वर-वधू पक्ष में घोर युद्ध की प्रथा 'आल्हा' में मिलती है। कवि ने इसी शैली में गीतिका छन्द के प्रयोग द्वारा प्रस्तुत खण्डकाव्य को बड़े ही नाटकीय ढंग से रचा है। नाटकीय शैली में कथोपकथन का सौन्दर्य अपूर्व है।

इसी नाटकीय शैली में 'विकटभट' की भी रचना हुई है। सबसे बड़ी विशेषता इसकी वीरयुगीय वातावरण के निर्माण करने में है। अतुकांत छन्दों में पात्रों के कथोपकथन द्वारा कथा बड़े ही सुंदर ढङ्ग से अपने भावोत्कर्ष पर पहुँच जाती है, जहाँ एक छोटे-से वीरबालक की निर्भीकता का प्रदर्शन इस काल्पनिक खण्डकाव्य में कवि ने किया है। कथोपकथन की शैली में नाटकीय तत्त्व यहाँ अधिक नियोजित हुआ है। इसी प्रकार गुप्तजी के अन्य खण्डकाव्य 'पलासी का युद्ध', 'सिद्धराज' आदि वीरभावात्मक खण्डकाव्यों की शैली पर निर्मित हुए हैं। सियारामशरण गुप्त का 'मौर्यविजय' भी ऐसा ही खण्डकाव्य है।

(२) नवीन शैली के खण्डकाव्य

नवीन शैली में रचित खंण्डकाव्यों में आकर कवि के काव्यत्व का पूर्ण आभास मिल जाता है। ये खंण्डकाव्य अत्यधिक विकसित अवस्था के द्योतक

भी हैं। काव्यरूप का पूर्ण परिष्कार यहीं आकर हुआ और विविध शैलियों में खण्डकाव्य निखर उठा। यहाँ भी बाह्य रूप की दृष्टि से प्रमुख दो प्रकार दिखाई पड़े, (क) ऐसे खण्डकाव्य जो विस्तृत वर्णनात्मक शैली में लिखे गए और (ख) दूसरे वे जो संक्षिप्त प्रभावात्मक शैली में प्रणीत हुए।

(क) विस्तृत वर्णनात्मक शैली

जिन खण्डकाव्यों का निर्माण विस्तृत वर्णनात्मक शैली में हुआ उनके बाह्य आकार को देख उनके महाकाव्य होने का आरोप किया गया। इन खंडकाव्यों में वर्णन शैली का विस्तार, वस्तुतः महाकाव्य जैसा होने के कारण ही ऐसे संदेह का कारण हुआ। अन्यथा काव्यानुभूति की छानबीन की जाय तो वह जीवन के किसी एक खण्ड से अथवा किसी घटना विशेष से ही मिलती हुई दिखाई पड़ेगी। श्यामनारायण पांडेय का 'हल्दीघाटी', 'जौहर', और गुरुभक्त सिंह का 'नूरजहाँ' ऐसे ही खण्डकाव्य हैं जिनमें प्रथम दोनों खण्डकाव्यों की शैली वीरभावात्मक खण्डकाव्यों के समान कुछ साम्य रखती हैं यह साम्य उनकी ओजस्विता में है। 'नूरजहाँ' अपने वृत्त के अनुरूप प्रेम-प्रधान होने के कारण अत्यधिक भावपूर्ण है। उसकी शैली विषयानुरूप कोमल स्पन्दन से आपूर्ण भी है। काव्यरूप की दृष्टि से इसमें नवीनता यह है कि गद्य में जो शैली उपन्यास की होती है मानो उसी शैली में यह पद्यबद्ध खण्डकाव्य रचा हुआ है। साथ ही इसमें काव्यत्व भरपूर है।

विस्तृत वर्णनात्मक शैली में लिखे गए खण्डकाव्य में काव्यत्व का स्फुरण अधिक है। 'हल्दीघाट' और 'जौहर' में क्रमशः प्रताप और पद्मिनी की चारित्र्यगत महानता का दिग्दर्शन उनकी प्रसिद्ध घटनाओं द्वारा निर्दिष्ट है। कथावस्तु प्रत्येक सर्ग में बड़े ही सुव्यवस्थित ढंगसे शृंखलाबद्ध रूप में प्रवाहित हुई है। घटनाओं के साथ पात्रों के चरित्र का सुन्दर अंकन भी साथ-साथ होता चला है। यहाँ आकर खण्डकाव्य में भाव, भाषा एवं विधान तीनों का उत्कर्ष दिखाई पड़ा।

गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ' में प्रकृति के सुन्दरतम चित्रों की पृष्ठभूमि पर प्रेमकथा का अंकन बड़ी ही काव्यत्वपूर्ण शैली में हुआ है। अभिव्यंजना की प्रौढ़ता भी यहाँ आकर दिखाई पड़ी। वस्तुवर्णन, भावव्यंजना और संवाद तीनों का सुन्दर रूप इस खण्डकाव्य में वर्तमान है।

नूरजहाँ की कथावस्तु में सलीम और नूरजहाँ के प्रेम की विख्यात कहानी बड़े ही प्रबन्धात्मक रूप में आद्यन्त अठारह सर्गों में समाप्त हुई है। कथावस्तु का सूत्र छोटा है जिसमें सलीम और नूरजहाँ के प्रेम में असफलता तथा बाद

में पुनः उसकी सफलता का चित्र है। कवि ने अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा द्वारा ऐसे प्रासंगिक प्रसंगों की उद्भावना की है जो प्रधान प्रसंग को अग्रगामी कर रहे हैं। यही कल्पना पंचम सर्ग में प्रकृति के सुन्दर चित्रण के रूप में दिखाई पड़ती है। कथोपकथन की सजीवता का कारण भी कवि की यही प्रतिभा है और इसी के बल पर कवि ने खण्डकाव्य में मानव मनोवृत्तियों का सहजतम उद्घाटन भी किया है। सम्पूर्ण खण्डकाव्य में शैली की दृष्टि से एक नवीनता यह है कि इसकी रचना में उपन्यास की शैली का आभास मिलता है। इन्हीं विशेषताओं को लेकर नूरजहाँ रूप की दृष्टि से अनुपम खण्डकाव्य है।

(ख) संक्षिप्त प्रभावात्मक शैली

इस शैली में जिन खण्डकाव्यों की रचना हुई वे एक तो सर्गबद्ध शैली में और दूसरे सर्गविहीन शैली में रचे गए हैं।

सर्गबद्ध शैली में कुछ खण्डकाव्य इतिवृत्तात्मक होते हुए भी अत्यन्त भावात्मक शैली में निर्मित हुए हैं। इनमें गुप्तजी का 'जयद्रथवध', 'शकुन्तला', रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न', 'मिलन', 'पथिक' जैसे खण्डकाव्य आते हैं। कुछ खण्डकाव्यों की शैली रीतिकालीन ओजपूर्ण शैली की याद दिलाती है। रत्नाकर के 'गंगावतरण', और 'हरिश्चन्द्र' इसी में परिगणित होते हैं। दूसरी ओर कुछ खण्डकाव्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की नवीन शैली को लेकर विरचित हुए हैं। इनमें सर्गों का बन्धान भी नवीन ढंग पर हुआ है। गुप्तजी के 'नहुष' की शैली ऐसी नवीन शैली है।

सर्गबद्ध शैली के उपर्युक्त सभी खण्डकाव्यों में काव्यरूप की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त के 'नहुष' की शैली महत्वपूर्ण है। कारण यह कि अन्य खण्डकाव्यों की कथावस्तु बड़े ही साधारण ढंग से सर्गों में विभक्त होकर खण्डकाव्य के रूप में प्रस्तुत हुई है। किन्तु 'नहुष' में इस दृष्टि से नवीनता है। यहाँ सर्गों का बन्धान प्रमुख पात्रों एवं घटनाओं के आधार पर हुआ है।

'नहुष' में पौराणिक इतिवृत्त को लेकर गुप्तजी ने केवल राजा नहुष के उत्थान और पतन को ही दिखाने की चेष्टा नहीं की है। अपितु उसके द्वारा मानव के उत्थान-पतन के निरन्तर चलनेवाले चक्र को दिखा कर निराशा के भीतर ही आशा के सूत्र को व्याप्त दिखाया है। जहाँ मनुष्य ऊँचा उठ कर भी अतल गहराई में गिर सकता है, वहाँ उसकी उस अधोगति में उसके उर्द्ध्वगामी विकास के लिए तिनके सहारा भी उपलब्ध है। शत-शत बार गिरकर भी मानव की महत्वकांक्षा उसे उच्च पद की अभि-

लाषा से रहित नहीं कर पाती। मानव जीवन में जब यही भावना बद्धमूल हो जाती है, तब विजय उसके आगे अपने आप बिखर पड़ती है। 'नहुष' जैसे पौराणिक आख्यान को इस नवीन आँखों से देखने वाले गुप्तजी ने बड़े ही नवीन ढंग से उसे खण्डकाव्य में सँजोया भी है। सम्पूर्ण काव्य शची और नहुष के मानसिक घात-प्रतिघातों, हृदय के अन्तर्द्वन्द्वों से आपूर्ण है। कथात्मकता का आग्रह यहाँ बहुत गौण है।

काव्यरूप की दृष्टि से प्रस्तुत खण्डकाव्य का परिगणन विचारात्मक खण्डकाव्यों की श्रेणी में ही होता है। कवि ने मंगलाचरण से इसका आरम्भ अवश्य किया है जो गुप्तजी के प्रत्येक काव्य की अपनी विशेषता है। 'नहुष' खण्ड से आरम्भ होकर उसके 'पतन' तक सब मिलाकर सात सर्ग या खण्ड हैं। इन्हीं के बीच नहुष का उत्थान और पतन अंकित है। शची और नहुष के हृदयोद्‌गार बहुत ही स्वाभाविक रूपमें अंकित हुए हैं। नहुष के पतन पर उसके उद्‌गार बड़े ही सजीव हैं—

आज मेरा मुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी।
तन जिसका हो मन और आत्मा मेरा,
चिन्ता नहीं मुझे है उजेला या अँधेरा।
... ...
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूँगा मैं।

[नहुष, पृष्ठ ३९]

इसी प्रकार पात्रों के अपने उद्‌गारों द्वारा सम्पूर्ण कथा का अंकन इस खण्डकाव्य को एक नवीन वर्ग में रखता है। क्या छन्द, क्या शैली, सभी दृष्टि से यह खंडकाव्य नवीनता लिए हुए है। कवि ने पुरानी कथा को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के इस नवीन आवरण से सुशोभित कर जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसमें कथा पुरानी होकर भी पुरानी नहीं लगती। यहाँ इतिवृत्त प्रबन्धात्मक रूप में नहीं गुम्फित है, बल्कि नहुष और शची के हृदय और मस्तिष्क की कथा प्रबन्ध रूप में बद्ध है। काव्यरूप की दृष्टि से यही इसकी विशेषता है।

सर्गविहीन शैली में रचित खण्डकाव्य भी कुछ तो इतिवृत्तात्मक हैं, कुछ बौद्धिक प्राधान्य से युक्त। गुप्तजी के त्रिपथगा के अन्तर्गत आए हुए तीनों खण्डकाव्य 'बकसंहार', 'बन वैभव' और सैरन्ध्री इतिवृत्तात्मक शैली में है।

उनकी 'पंचवटी' में काव्यत्व अधिक है। निराला के 'तुलसीदास' में मानव के अन्तरतम का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कवि ने किया है, जहाँ बौद्धिकता का आग्रह अधिक है।

सर्गविहीन खण्डकाव्यों में गुप्तजी की 'पञ्चवटी' अत्यधिक काव्यत्वपूर्ण है और यहाँ प्रकृति-वर्णन एवं कथोपकथन का सौन्दर्य भी अनुपम है। किन्तु सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' रूप की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

आधुनिक युग की गीतात्मकता में कथा का तत्व नाम मात्र को रह गया है। निराला ने विश्ववंद्य तुलसी के जीवन की महत्वपूर्ण घटना को लेकर बड़े ही मनोवैज्ञानिक रूप में इस खण्डकाव्य की रचना की है। कथा की पूर्ति इसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा हो गई है और कथा तो पृष्ठभूमि में आद्यन्त प्रवाहित हो रही है, किन्तु साथ ही रहस्यवाद की धारा भी उसके साथ-साथ बह रही है। नायक तुलसी के हृदय और मस्तिष्क के उथल-पुथल को एक-एक करके उद्‌घाटित करने के लिए कथा का आंशिक रूप ही प्रस्तुत करना कवि का एकमात्र ध्येय बना है। इसी नवीन मनोवैज्ञानिक शैली में खण्डकाव्य को रचकर कवि ने उस महान व्यक्ति के प्रति श्रद्धा-निवेदन ही प्रस्तुत किया है। इसी श्रद्धा की भावना से उसने तुलसी के जीवन की उस महत्वपूर्ण घटना में एक उच्च मार्मिक तथ्य देखा है, जिसके ही कारण तुलसी ऊपर को उठते हुए चले गए। इस उच्च अवस्था पर तुलसी क्योंकर पहुँचे और किस प्रकार उन्होंने अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर ली, इसी को मनोवैज्ञानिक ढंग पर कवि ने इस खण्ड-काव्य में चित्रित करने का प्रयत्न किया है।

गुप्तजी के 'नहुष' में इसी मनोवैज्ञानिक शैली का हमें परिचय मिला, किन्तु वहाँ कवि ने अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा। यहाँ कवि को वर्णन का आग्रह भी है। खण्डकाव्य का आरंभ प्रकृति-वर्णन से होता है। क्रमशः कवि बाह्य प्रकृति के साथ अन्तःप्रकृति का भी चित्रण करता गया है। बाह्य क्रियाकलापों का सूत्रधार मनुष्य का अन्तर्जगत है। तुलसी के जीवन में जो महत्वशाली घटना घटी वह अन्तरतम के कितने सतहों को पार करने के पश्चात् कार्य में परिणत हुई, उसके लिये उनके हृदय और मस्तिष्क में कितनी आँधियाँ उठीं, उसका क्रमिक विकास इस खण्डकाव्य में प्रदर्शित है। अतः विचारात्मक खण्डकाव्य का यह दूसरा नवीन खण्डकाव्य कहलाता है।

आजके गीतोन्मुख युग में खण्डकाव्य वस्तुतः एक नवीन बाना पहन कर

प्रस्तुत हुआ है। उसमें अब इतिवृत्तात्मकता का आधार मात्र अपेक्षित है। इसी हलके से कथासूत्र को कवि लेकर अब उसमें से कुछ नवीन तथ्य ढूँढ निकालना चाहता है। पात्रों की जीवन-कथा की अन्यान्य परिस्थितियों के अनुरूप मानसिक संघर्ष एवं हृदय के अन्तर्द्वन्द्वों को दिखाना कवि का लक्ष्य बनता जा रहा है। यही नहीं, यदि कवियों ने पुराने वृत्त भी लिये तो केवल इतिवृत्तात्मक ढंग से उसे प्रस्तुत न कर, नवीन आँखों से उसे देखकर प्राचीन में नवीनता का पुट उन्होंने दिया है। गुप्तजी के 'नहुष' और निराला के 'तुलसीदास' जैसे खण्डकाव्यों में प्रख्यात कथाओं को कितने नवीन ढंग से रखने का प्रयास किया गया है, यह उसका बाह्यरूप ही नहीं, आभ्यंतरिक भावव्यंजना पद्धति भी बता रही है। इनमें कथासूत्र में से ऐसे मार्मिक बिन्दुओं को ढूंढ निकाला है जिनमें हृदयजगत के अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक भूमि के अन्यान्य संघर्षों को प्रकट करने का पूरा-पूरा अवसर कवियों को मिल गया है। वस्तु के इस नवीन संघटन में काव्यरूप आकार में छोटा तो हो गया है किन्तु प्रभावात्मकता उसकी उतनी ही बढ़ गई है। आज का खण्डकाव्य रूप की दृष्टि से बहुत बदल चुका है। उसने काव्यरूप की दृष्टि से सचमुच विकास किया है।

षष्ठ अध्याय

खंडकाव्य का स्वरूप

प्रबन्ध-काव्य में एक ओर तो महाकाव्य आता है और दूसरी ओर खण्ड-काव्य। खण्डकाव्य प्रलंबकालाश्रयी क्षणों की अनुभूति की अभिव्यंजना है। उसका परिगणन प्रवन्धकाव्यान्तर्गत होता है। किन्तु जीवन के ये प्रलम्बित क्षण जीवन के विस्तार के अनुरूप आपस में भिन्न होने के कारण कभी एक स्थान पर खण्डकाव्य को जन्म देते हैं, कभी महाकाव्य को। महाकाव्य संपूर्ण जीवन को आश्रय करने वाला है, खण्डकाव्य उसके एक ही पक्ष को लेकर चलने वाला है। गद्य-क्षेत्र में जो अन्तर उपन्यास और कहानी में है, वैसा ही भेद महाकाव्य और खण्डकाव्य में पाया जाता है। कहानी में जीवन के किसी एक मर्मस्पर्शी पक्ष की अनुभूति अभिव्यंजित होती है, तो उपन्यास संपूर्ण जीवन की अनुभूति की अभिव्यंजना है। एक का क्षेत्र छोटा होता हुआ भी पूर्ण है, तो दूसरा विस्तृत होकर अपने में पूर्ण है। ठीक इसी प्रकार खण्डकाव्य यद्यपि जीवन के एक ही अंग को लेकर चलता है तथापि वह अपने में पूर्ण होता है, और उसकी अनुभूति भी पूर्ण होती है। जिस प्रकार कहानी और उपन्यास का भेद आकार का ही भेद होकर प्रकार का भी भेद होता है, और उपन्यास का छोटा रूप न तो कहानी ही बन सकता है, न कहानी का बृहदाकार उपन्यास ही, उसी प्रकार महाकाव्य का एक अंश, जिसमें जीवन की एक झलक भर मिल रही हो, अलग रखकर खण्डकाव्य कदापि नहीं बन सकता और न तो खण्डकाव्य बड़े आकार में होकर महाकाव्य ही बन पाता है। वास्तव में देखा जाय तो महाकाव्य में जब कवि की अनुभूति प्रतिभा के सहारे अपनी उच्चतम अवस्था को पहुँच जाती है, तब उसमें जीवन की सर्वांगपूर्णता के अनुरूप सर्वविध महत्ता आ जाती है, जिससे उसका रूप बहुत ही भव्य हो जाता है। किन्तु खण्डकाव्य में कवि की अनुभूति उस विश्व-कल्पना की चोटी पर नहीं पहुँच पाती।

उसमें जीवन का एक ही खण्ड लिया जाता है, किन्तु वह खण्ड अपने में स्वतः पूर्ण होता है।

खण्डकाव्य के 'खण्ड' शब्द का यह अर्थ कदापि नहीं कि वह बिखरा हुआ अथवा किसी महाकाव्य का एक खण्ड है। प्रत्युत यह 'खण्ड' शब्द उस अनुभूति के स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसमें जीवन अपने संपूर्ण रूप में कवि को न प्रभावित कर, आंशिक या खण्ड रूप में ही प्रभावित करता है। खण्डकाव्य में अनुभूति का स्रोत जिस जीवन खण्ड से आता है वह जीवन अपने में पूर्ण होता है और वह अनुभूति भी उसी भाँति अपने में पूर्ण होती है। जब अनुभूति का बिन्दु जीवन के एक पक्ष में जाकर स्थिर हो जाता है तब अभिव्यक्ति का रूप भी जीवन के एकपक्षी विस्तार के अनुरूप अधिक नहीं हो पाता—तभी खण्डकाव्य का बाह्य शरीर भी प्रायः छोटा ही होता है। यह अनुभूति सर्गों के कितने ही विशाल पट पर क्यों न अभिव्यक्त की जाय, जब भी अभिव्यक्त होगी उसका स्वरूप खण्डकाव्य का ही होगा। कारण यह कि उसमें उतनी ही सामग्री प्रस्तुत करने की क्षमता होती है जितनी एक जीवन-खण्ड से मिल सकती है।

खण्डकाव्य का रचयिता महाकाव्यकार की भाँति अपनी उस सारग्राहिणी प्रतिभा के बल पर युग के बीच से किसी महत् चरित्र को ढूँढ़ कर, उसकी सर्वांगपूर्ण प्रतिष्ठा कर, युग को कोई महत् सन्देश नहीं देता। वह तो कभी किसी पौराणिक या इतिहासप्रसिद्ध चरित्र के जीवनांश को और कभी कभी कल्पना द्वारा प्रतिष्ठित चरित्र के जीवन-खण्ड को लेकर ही काव्य निर्माण करता है। किन्तु उसकी इस अभिव्यंजना में अनेक परिस्थितियों में पड़े हुए मानव की अनेक अवस्थाओं का चित्रण अनिवार्य नहीं होता। यही कारण है कि खण्डकाव्य उस कहानी के समान है जिसमें एक ही घटना का विस्तार आद्यन्त किया जाता है। जीवन के किसी प्रभावपूर्ण बिन्दु को लेकर कहानी का सूत्रपात होता है। उसमें समय काल और प्रभाव की एकता परमावश्यक होती है। इसी प्रकार खण्डकाव्य जीवन के किसी एक विशेष अंग की अनुभूति के बिन्दु को लेकर विकसित होता है। किन्तु वह पद्य में कहानी हो ऐसा भी नहीं। गद्य पद्य का प्रमुख भेद तो दोनों में होता ही है पर साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ कहानीकार की दृष्टि अन्विति और चरमोत्कर्ष पर ही टिकी रहती है और अपने चरम उत्कर्ष के साथ कहानी का अन्त भी हो जाता है, वहाँ खण्डकाव्य वह वर्णनात्मक प्रबन्धकाव्य है जिसमें कवि धीरे धीरे कथा का आरम्भ और विकास करता है। यहाँ अत्यधिक

प्रभावात्मक स्थल से आरम्भ हुआ जीवन, कहानी की भांति एकाएक चरम सीमा पर नहीं पहुँचा दिया जाता। खण्डकाव्य का थोड़ा सा साम्य कहानी से केवल इतना ही है कि दोनों में जीवन के किसी एक ही पक्ष की अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है।

संस्कृत में खण्डकाव्य की उतनी व्याख्या नहीं हुई जितनी महाकाव्य की। साहित्यदर्पणकार ने उसकी परिभाषा करते हुए कहा है, 'खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च'[1] अर्थात् 'महाकाव्य के एक देश या अंश का अनुसरण करने वाला काव्य खण्डकाव्य कहलाता है।' उसका संविधानक महाकाव्य जैसा नहीं होता। क्योंकि उसमें जीवन का एक ही पक्ष विस्तार पाता है। फलतः उसका बाह्य स्वरूप भी छोटा होता है। अपनी कथा की प्रबद्धता में वह महाकाव्य के सदृश केवल इसी दृष्टि से साम्य रखता है कि उसमें भी एक कथा होती है जो अपने में पूर्ण होती है, तथा कवि जिस जीवनवृत्त को लेकर काव्य सृजन करता है वह प्रबन्ध रूप में ही विकसिक होता है। संस्कृत में खण्डकाव्य का उदाहरण 'मेघदूत' दिया जाता है। सच पूछा जाय तो 'मेघदूत' का बाह्य स्वरूप तो गीतात्मक है ही, आभ्यन्तरिक प्रेरणा का स्वरूप भी अत्यधिक भावात्मक है। यही कारण है कि उसके बाहरी रूप में भी कवि के हृदय का उच्छ्वास ही बहता हुआ दिखाई पड़ता है। अनुभूति की भित्ति पर ही काव्यरूप का भवन निर्मित होता है; इस दृष्टि से 'मेघदूत' में गीतात्मक उद्रेक भले ही कथात्मक रूप में शृङ्खलाबद्ध होकर बह निकला है, तथापि उसका संकलित प्रभाव जिस रूप का निर्णय करता है वह बिलकुल गीतिकाव्य का है। अस्तु हमारे 'खण्डकाव्य' की परिभाषा भिन्न हो जाती है।

खण्डकाव्य में कथांश या कथा-सूत्र का होना परमावश्यक है। इस कथा के लिये महाकाव्य की कथा की भाँति ख्यात या इतिहासप्रसिद्ध होना अनिवार्य तत्व कदापि नहीं। कारण यह कि उसका ध्येय अपनी कथा द्वारा कोई महत् सन्देश देना नहीं होता। कथानक के प्रणयन में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। कभी तो वह अपनी कथा का निर्माता और पात्रों का विधाता स्वयं होता है और कभी वह अपनी कृति के लिये ऐसे वृत्त को भी ढूँढ़ निकालता है जो पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा जनप्रचलित होते हैं। अस्तु कल्पना

१. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, परि० ६, श्लोक ३२६।

का जितना अधिक क्षेत्र खण्डकाव्यकार को मिलता है उतना महाकाव्य-कार को नहीं।

खंडकाव्य की कथावस्तु के गठन की ओर ध्यान दें तो यहाँ कथा-संगठन उतना सुव्यवस्थित भी नहीं मिलेगा जितना महाकाव्य में मिलता है। महाकाव्य का सौन्दर्य इसी कथावस्तु के सुंदर एवं सुव्यवस्थित गठन पर ही निर्भर होता है। इसकी आवश्यकता वहाँ इसलिये अनिवार्य है कि उसमें जीवन के समस्त उत्थान और पतन को लेकर चलने वाला इतिवृत्त अनेक प्रासंगिक कथाओं को भी लेकर अपने साथ चलता है और यही कारण है कि उसमें समस्त नाटकीय संधियों की अनिवार्यता भी बताई गई है। इसके बिना कथा-वस्तु के तीन प्रधान अंगों आदि मध्य और अन्त के अनुपात में एक रसता नहीं आ पाती। किन्तु खंडकाव्य की कथा के गठन में इतना सौन्दर्य अनिवार्य तत्व नहीं। कारण यह कि उसमें जीवन के विविध पक्षों, समस्त उत्कर्षापकर्षों का दिग्दर्शन नहीं। अस्तु वहाँ प्रासंगिक कथाओं का प्रायः अभाव ही होता है। कभी कभी छोटी छोटी घटनाएँ अवश्य उसमें प्रासंगिक रूप से आ जाती हैं, अन्यथा उसमें एक प्रधान कथा ही आद्यन्त चलती है। प्रकारान्तर से कथा के विकास में खंडकाव्यकार को इतना अधिक ध्यान नहीं रखना पड़ता कि प्रत्येक अंग अपनी आवश्यकतानुसार वर्णित हो।

हिन्दी में उत्तरोत्तर विकास के साथ खंडकाव्य में बहुत परिष्कार होता गया और आगे चलकर तो अत्यधिक साहित्यिक खंडकाव्य रचे गये। वीरभावात्मक खंडकाव्यों और आधुनिक खंडकाव्यों में शैली की दृष्टि से बहुत भेद है। प्रथम प्रकार के खंडकाव्यों में कथानक अनेक घटनाओं से यदि भरा हुआ है तो उनमें प्रधान और अप्रधान के अनुपात का ध्यान नहीं रखा गया। प्रेम-भावात्मक खण्डकाव्यों में लम्बी-चौड़ी भूमिका से काव्यारम्भ किया गया। इस प्रकार खण्डकाव्य की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों को देखते हुए इतिवृत्त साधारण गति से युक्त कहा जा सकता है।

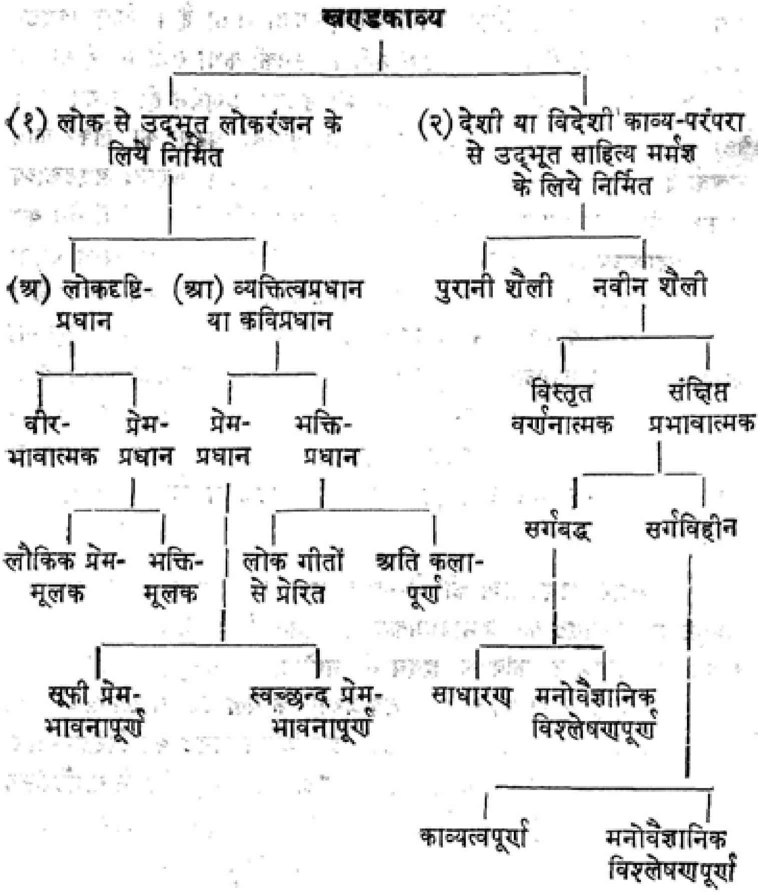
संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य की भाँति खण्डकाव्य की चर्चा में सर्ग-बद्धता का नियम अनिवार्य नहीं बताया। महाकाव्य के लिये सर्गबद्ध होना अनिवार्य तत्व है। कारण यह है कि उसमें मानव-जीवन की बहुमुखी परिस्थितियों का समावेश होता है और कवि अनेक प्रासंगिक कथाओं को भी अपने साथ लेता चलता है। फलतः कवि सम्पूर्ण कथा को इस प्रकार अनेक सर्गों में विभक्त करके रचता है जिससे प्रासंगिक कथाओं के सूत्र आधिकारिक कथा को बढ़ाने में सहायक हो सकें। अतः महाकाव्य में कथा के अविच्छिन्न

प्रवाह के लिये सर्गों का बंधान नितांत आवश्यक हो जाता है। किन्तु खण्ड-काव्य के लिये यह नियम अनिवार्य नहीं। उसकी कथा सर्गों में होकर भी गूँथी जा सकती है और उसके बिना भी उसका प्रणयन हो सकता है। क्योंकि जीवन के जिस विच्छिन्न अंश को अथवा घटना को लेकर कवि चलता है, उसमें विस्तार का क्षेत्र बहुत छोटा होता है। फलतः खण्डकाव्य में कथा की धारा आद्यन्त एक रस भी चल सकती है और सर्गों में बँध कर भी। महाकाव्य जिन प्रसंगों पर एक सामान्य दृष्टि डालता हुआ आगे बढ़ता जाता है, उन्हीं प्रसंगों में कभी-कभी खण्डकाव्य-रचयिता रम जाता है। यही कारण है कि जिन महाकाव्यों और खण्डकाव्यों को प्रेरणा पुराणों अथवा प्राथमिक महाकाव्यों से मिलती है, उनमें जहाँ महाकाव्यकार कथा के सभी प्रसंगों पर समान रूप से अपनी दृष्टि डालता है, वहाँ खण्डकाव्य-कार उसके अन्तर्गत आई हुई किसी एक घटना को ही लेकर प्रकाश में लाता है। अपने छोटे से कलेवर में ही खण्डकाव्य की रोचकता बढ़ जाती है।

इस प्रकार खण्डकाव्य की प्रेरणा के मूल में अनुभूति का स्वरूप एक सम्पूर्ण जीवन-खण्ड की प्रभावात्मकता से बनता है। जीवन के मर्मस्पर्शी खण्ड का बोधमात्र कवि के हृदय में नहीं होता, प्रत्युत उसका समन्वित प्रभाव उसके हृदय पर पड़ता है। तब प्रेरणा के बल पर जो रूप खड़ा होता है वह खण्डकाव्य कहलाता है। कहीं इस जीवन-खण्ड की विस्तार-सीमा अधिक होती है, तो कहीं उसकी परिधि छोटी होती है; जिससे खण्डकाव्य का कथानक कहीं बहुत बड़ा होता है, तो कहीं बहुत छोटा। किन्तु कथा के इस विस्तार एवं संकोच के तारतम्य से खण्डकाव्य की महत्ता नहीं आँकी जाती; क्योंकि जीवन के किसी एक अंग को स्पर्श करने वाला खण्डकाव्य अपनी छोटी-सी परिधि में भी चमक उठता है।

खण्डकाव्य के स्वरूप की इतनी मीमांसा हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि वह प्रबन्धकाव्य का एक दूसरा प्रकार है, जिसमें मानव जीवन के किसी एक साधारण अथवा मार्मिक पक्ष की अनुभूति का अभिव्यंजन काव्यात्मक रूप में होता है।

खण्डकाव्य के विविध प्रकारों और उसके स्वरूप की चर्चा के उपरान्त हम उसके विविध प्रकारों की वर्गीकृत तालिका इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—


खण्डकाव्य
(१) लोक से उद्भूत लोकरंजन के लिये निर्मित
(२) देशी या विदेशी काव्य-परंपरा से उद्भूत साहित्य मर्मज्ञ के लिये निर्मित
(अ) लोकदृष्टि-प्रधान
(आ) व्यक्तित्वप्रधान या कविप्रधान
पुरानी शैली
नवीन शैली
वीर-भावात्मक
प्रेम-प्रधान
प्रेम-प्रधान
भक्ति-प्रधान
विस्तृत वर्णनात्मक
संक्षिप्त प्रभावात्मक
सर्गबद्ध
सर्गविहीन
लौकिक प्रेम-मूलक
भक्ति-मूलक
लोक गीतों से प्रेरित
अति कला-पूर्ण
सूफी प्रेम-भावनापूर्ण
स्वच्छन्द प्रेम-भावनापूर्ण
साधारण
मनोवैज्ञानिक विश्लेषणपूर्ण
काव्यत्वपूर्ण
मनोवैज्ञानिक विश्लेषणपूर्ण

तृतीय खंड

प्रबन्ध काव्य

सप्तम अध्याय

(१) गीतिकाव्य—

गीतिकाव्य का उद्भव और विकास

वेदों में संगीत तत्व और आत्माभिव्यंजना

वेदों में ऋषि महर्षियों की आत्मानुभूति जिस रूप में अभिव्यक्त हुई है उसका स्वरूप गीतात्मकता को लिये हुए है। वस्तुतः 'वेद' सांसारिक कोलाहल से दूर प्रकृति के शान्त एवं सौम्य वातावरण में रहने वाले उन महर्षियों के हर्षातिरेक, भावोद्रेक एवं चिन्तन की ऐसी अभिव्यक्ति है जिनमें उनकी हृदयस्थ अनुराग एवं सौन्दर्य भावना को एक संगीतमय रूप सहज ही मिल गया है। प्रकृति की रम्य गोद में रहकर भय, विषाद एवं आनन्द आदि मनोवेगों के उत्पन्न होने पर उनका हृदय गीतों में मुखरित हो उठा। उनके इस प्रकाशन में स्वाभाविकता तो मिलती ही है, साथ ही सजीवता एवं संगीतात्मकता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इतना ही नहीं वैदिक सूत्रों का प्रणयन भी इस ढंग से हुआ है जिनमें उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्वरों का पूरा-पूरा ध्यान कवियों ने रखा है। कहीं भी इस दृष्टि से न्यूनता नहीं आने पाई है। अस्तु संगीत तो वैदिक सूत्रों में है ही क्योंकि बिना लय के उनका पाठ या गान सम्भव नहीं। उनके प्रणयन में स्वरों का तो इतना ध्यान रखा गया है कि कहीं भी स्वरों में हेरफेर समस्त अर्थ को बदल कर उनके सौन्दर्य को नष्ट कर देता है। अतः उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित के विधान द्वारा वेदों का प्रत्येक सूक्त कहीं भी असंतुलित नहीं होने पाया है। काव्य और संगीत का इतना सुन्दर सामंजस्य दुर्लभ है। यह संगीत तत्व गीतकाव्य की एक विशेषता है और इस दृष्टि से वेदों को लें तो हम देखेंगे कि ऋग्वेद में तो इसकी अवस्थिति है ही अन्य वेदों में भी यह तत्व उपलब्ध होता है। सामवेद की रचना तो बहुत ही गीतात्मक है जिसका प्रत्येक सूक्त संगीत से

लिपटा हुआ है। इसकी गायनरीति इतनी मधुर है कि वेदपाठियों में साम-वेदी पाठ होने पर अन्य कोई भी वेद पुनः नहीं गाया जा सकता।

ऋषियों का आत्मदर्शन ही शब्दों द्वारा अभिव्यक्त हो, वेदों के सूक्तों में प्रकट हुआ है। तात्पर्य यह कि वेदों में आत्माभिव्यंजना बहुत अधिक है। यह आत्माभिव्यंजना गीतिकाव्य का प्रथम लक्षण है। वेदों में जहाँ अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की स्तुतियाँ हैं वहाँ प्रकृति के अन्यान्य सुन्दर दृश्यों के साक्षात् दर्शनोपरान्त ऋषियों के हृदय में उठे हुए नाना प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति की है। इन्हीं अनुभूत मनोभावों का वर्णन वेदों के प्रत्येक सूक्त में हुआ है। प्रातःकाल, सन्ध्या, ऋतु, वन, पर्वत आदि की भव्यता एवं विशालता को देख ऋषियों का हृदय कविता के रूप में फूट पड़ा। अस्तु आत्माभिव्यंजन तो वेदों का विशेष गुण ही है। विभिन्न देवों की स्तुतियाँ आत्मप्रकाशन के अतिरिक्त और क्या हैं? तभी तो वेदों को ऋषियों की आत्मानुभूति का व्यक्त स्वरूप कहते हैं। उनमें उनके हृदय का गान बहकर निकल पड़ा है जिसमें नाद-तत्व, छन्द, अर्थ, ध्वनि और रूप-तत्व स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। गीतिकाव्य में इन्हीं अवयवों की प्रमुखता होती है और साथ ही विषय की एकता का अन्तर्भाव भी उसमें होता है। एक ही विचार, एक ही चिन्ता एवं एक ही अवस्था के चित्रण में ही गीति-काव्य की विशिष्टता है। इस दृष्टि से वेदों के सभी छोटे-बड़े सूक्तों के विषय में यह निश्चित निर्णय दिया जा सकता है कि उनमें एक ही विचार, एक ही भाव और एक ही अवस्था सूक्त रूप में पाई जाती है। अस्तु वेदों के सूक्तों में हमें गीतिकाव्य के पूर्ण रूप का दर्शन, जिनमें प्रेरणा, कल्पना, शब्द-शक्ति, छन्द, साहित्यिक-ध्वनि और अन्तिम रूप का चित्रण, सभी विशेषताएँ अपने सुन्दर रूप में वर्तमान हैं—हो जाता है।

'ऋग्वेद' में गीतिमत्ता

'ऋग्वेद' का प्रथम सूक्त उपर्युक्त सभी तत्वों से सम्पन्न है। इसमें अग्नि को सम्बोधित कर कवि यों कहता है :—

> अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥१॥
> अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति ॥२॥
> अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमं ॥३॥
> अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति ॥४॥
> अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरा गमत् ॥५॥
> यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमंगिरः ॥६॥

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्। नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥७॥
राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम्। वर्ध॑मानं॒ स्वे दमे॑ ॥८॥
स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व। सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥९॥[1]

'यज्ञ के पुरोहित दीप्तिमान, देवों को बुलाने वाले ऋत्विक और रत्नधारी अग्नि की मैं स्तुति करता हूँ। प्राचीन ऋषियों ने जिनकी स्तुति की थी आधुनिक ऋषि लोग जिनकी स्तुति करते हैं, वह अग्नि देवों को, इस यज्ञ में बुलावें। अग्नि के अनुग्रह से यजमान को धन मिलता है और वह धन अनुदिन बढ़ता और कीर्त्तिकर होता है तथा उससे अनेक वीरपुरुषों की नियुक्ति की जाती है। हे अग्निदेव! जिस यज्ञ को तुम चारों ओर से घेरे रहते हो, उसमें राक्षसादि द्वारा हिंसा कर्म सम्भव नहीं है और वही यज्ञ देवों को तृप्ति देने स्वर्ग जाता है या देवताओं का सान्निकर्ष प्राप्त करता है। हे अग्नि! तुम होता, अशेष बुद्धिसम्पन्न या सिद्धकर्मा सत्यपरायण, अतिशय कीर्ति से युक्त और दीप्तिमान हो देवों के साथ इस यज्ञ में आवो। हे अग्नि! तुम जो हविष्य देने वाले यजमान का कल्याण साधन करते हो, वह कल्याण हे अंगिरः! वास्तव में तुम्हारा ही प्रीति-साधक है। हे अग्नि! हम अनुदिन दिन-रात अन्तस्थल के साथ तुम्हें नमस्कार करते-करते तुम्हारे पास आते हैं। हे अग्नि! तुम प्रकाशमान यज्ञरक्षक कर्मफल द्योतक और यज्ञशाला में वर्द्धनशाली हो। जिस तरह पुत्र पिता को आसानी से पा जाता है, उसी तरह हम भी तुम्हें पा सकें या तुम हमारे अनायास-लभ्य बनो और हमारा मंगल करने के लिये हमारे पास निवास करो।'[2]

प्रस्तुत सूक्त की प्रेरणा यह है कि कवि अग्नि के दिव्य रूप को देखकर इतना प्रसन्न होता है कि उसे सदा साथ रखने के लिये लालायित हो उठता है। इस सूक्त में नौ छन्द हैं किन्तु सब में मिला कर जो एक अखंड अनुभूति है वह यही कि दिव्य अग्नि का साथ मिल जाने से कवि को सब कुछ मिल जायगा इसमें कल्पना पूरे यज्ञ के जीवन की है। कल्पना भी छोटी परन्तु पूर्ण और समृद्ध है। शब्द की दृष्टि से इसके शब्द कवि की हृदयगत अभिलाषा से इस प्रकार भरे पड़े हैं कि उनमें सरलता से ही शक्तियों और

---

१. ऋग्वेद प्रथम मंडल, १ सूक्त, १ मंत्र।

२. 'ऋग्वेद संहिता'—टीकाकार पं० रामगोविन्द त्रिवेदी व पं० गौरीनाथ झा, पृ० २–भागलपुर–१९८८ वि०।

वृत्तियों का ज्ञान हो जाता है। पहला ही शब्द है 'अग्निमीळे पुरोहितं' मैं अग्नि से प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे यज्ञ के पुरोहित हैं। इन शब्दों से झलकता है कि कवि अपनी हृदयगत अभिलाषा को प्रकट करने के लिये आतुर है और सीधे से कह देना चाहता है। तुम मेरे पुरोहित हो और मैं हृदय खोल कर अपनी कामना प्रकट करता हूँ। ऐसी सरल, सीधी और प्रभावोत्पादिनी पदावली सुनकर कोई भी गृहस्थ मुग्ध हो जाता है। जिस समय आगे चलकर सूक्त के आठवें छन्द में सहृदय पाठक पढ़ता है, 'वर्धमानं स्वे दमे', 'अपने घर में बढ़नेवाला' उस समय गार्हस्थ्य जीवन की एकमात्र भाव-लहरी उसे उत्फुल्ल कर देती है। इसी प्रकार 'स नः पितेव सूनवे' 'पुत्र के लिये पिता के समान' में अनेक गहरी व्यंजना है। छन्द की दृष्टि से भी यह पूर्ण है। गायत्री छन्द वेद का सबसे प्रसिद्ध छन्द माना जाता है। यह यथा नामः तथा गुणः है। गायत्री अर्थात् जो गाया जाय; गाने पर ही इस छन्द की महत्ता निर्भर है। वैदिक छन्दों में जो स्वर का स्थान है वह मर्मज्ञों से छिपा नहीं है।

ऋग्वेद का पाठ दो रूपों में मिलता है। संहितापाठ और पदपाठ। संहितापाठ के अन्दर शब्द की समस्त योजना (Synthesis) का रूप पाते हैं और पद-पाठ में शब्दों का स्वर लयसमन्वित विश्लेषण रूप में पाठ होता है। अतः पद-पाठ में स्वर लय को प्रदर्शित करते हुए पाठ करने की विधि इसी ओर लक्ष्य करती है कि वैदिक छन्दों में संगीत का तत्व अभिन्न रूप से है।

उषाविषयक ऋचाओं में गीतात्मकता

ऋग्वेद में यों तो अन्यान्य देवताओं के विषय में लिखे गए सूक्त गीति-तत्व को लिये हुए हैं किन्तु उषा-विषयक ऋचाएँ बहुत ही संगीतात्मक हैं। वैदिक कवि प्रकृति की रम्य गोद में पले थे। प्रातःकालीन उषा की अरुणिमा को देख उसका हृदय जिस आह्लाद से भर गया एवं उन्हें जिन भावों की अनुभूति हुई स्वतः ऋचाओं में अभिव्यक्त हो गई। उषा उनके मनस् चक्षुओं के समक्ष एक सुन्दरी तरुणी के रूप में आती है। सूर्य उसका प्रणयी है रात्रि उसकी भगिनी है। वस्तुतः ये ऋचाएँ अपनी गीतिमत्ता एवं भावों की मौलिकता के लिये बहुत ही प्रशंसनीय हैं :—

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमो स्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात् ॥

एषा प्रतीची दुहिता दिवो न्हन् योषेव भद्रा नि रिणते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः ॥[1]

यह उषा प्राची में इस प्रकार आकर खड़ी हो गई है जैसे अभी स्नान करके उठी हो और मानो वह अपने अंगों के सौन्दर्य से अभिज्ञ है तथा यह स्वयं अपने को हमें दिखाना चाहती हो। संसार के द्वेष एवं अंधकार को दूर करती हुई अपने प्रकाश के साथ स्वर्ग की यह पुत्री उषा आई है। कल्याणी रमणी के सदृश नतमस्तक हो स्वर्ग की यह पुत्री उषा मनुष्यों के सम्मुख खड़ी है। वह धर्मशीलों को ऐश्वर्य दान करती है। दिन का प्रकाश पुनः इसने संसार में फैला दिया है।

उषा के भावमय गीतों के अतिरिक्त रात्रिदेवी की स्तुति में प्रस्तुत किये वर्णनों में भी कल्पना की विशिष्टता एवं भावों का सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा में परिलक्षित होता है। प्रकृति का मूर्तविधान सजीवता को लिए हुए है जिसमें शब्दग्रहण नहीं बिम्बग्रहण मिलता है।[2]

उषा और रात्रि के वर्णनों में तो हमें कल्पना की उत्कृष्टता एवं मौलिकता मिलती है किन्तु ऋग्वेद में ऐसे भी गीत मिलते हैं जिनमें मनोवैज्ञानिक चित्रण ही नहीं मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण भी किया गया है। ऐसे स्थलों में ऋग्वेद का वह द्यूत-विषयक सूक्त, जहाँ एक जुआरी सर्वस्व हार चुकने पर अपनी मनोव्यथा अपने आप सुना रहा है, बहुत ही स्वाभाविक है। कवि ने वस्तुतः व्यथित हृदय में प्रवेश कर बहुत ही सुन्दर अभिव्यक्ति की है।[3]

मानवीय अन्तर्जगत का चित्रण इन गीतों में बड़े ही आकर्षक ढंग से हुआ है। हृदय की उथल-पुथल का सजीव अंकन इसकी विशेषता है।

'यम यमी' प्रसंग में गीतिमत्ता

गीतिकाव्य की दृष्टि से ऋग्वेद का नवाँ और दसवाँ मंडल जिसमें 'यम यमी' की कथा समायोजित है, उत्कृष्ट है। गीतिमत्ता तो उसमें पर्याप्त है, साथ ही हृदय के अन्तर्द्वन्द्व का जैसा जीता जागता चित्रण कवि ने किया है, उसमें कल्पना की उड़ान बेपरी नहीं प्रत्युत सजीव एवं स्वाभाविक है।

---

१. ऋग्वेद, ५,८०,५,६।
२. ऋग्वेद, १०,१२८,१,२,४,५,६।
३. ऋग्वेद, १०,३४....२,३,४,५,६,८,११।

हृदयस्थ भावनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण, नारी-हृदय की दुर्बलता, काम-पिपासा की आतुरता, और अन्त में अतृप्त हृदय की निराशा, सभी भावों को इन सूक्तों में स्थान मिला है।

'पुरूरवा और उर्वशी'

ठीक इसी प्रकार पुरूरवा और उर्वशी का प्रसंग भी गीतिमत्ता को लिए हुए है। दोनों ही प्रसंग संवाद के रूप में आए हैं। विशेषता इन प्रसंगों में यह है कि संवादात्मक रूप में होते हुए भी इनमें गीतितत्व ज्यों का त्यों बना हुआ है। गीतिकाव्य में संवाद हृदयस्थ भावों के शृङ्खलाबद्ध रूप में अभिव्यक्त होने में बाधक होते हैं; किन्तु यहाँ बात ऐसी नहीं। इन गीतों में भावों का धारावाहिक रूप परिलक्षित होता है। मानव भावों की आभ्यन्तरिक लालसा यदि कहीं अपने प्रकृत स्वरूप को लेकर अभिव्यक्त हुई है तो इन्हीं प्रसङ्गों में, जहाँ भाव और संगीत का सुन्दर परिणय हुआ है।

अस्तु ऋग्वैदिक काव्य की गीतात्मकता का परिचय इन प्रसङ्गों में पूर्ण रूप से मिलता है। यों तो सम्पूर्ण 'ऋग्वेद-संहिता' ऋषि कवियों के अनुभूत आनन्द की गीतात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें सौन्दर्य की साधना, एवं कला की आराधना है। फिर भी उपर्युक्त अवतरण कुछ ऐसे हैं जिनमें गीति-तत्व अपेक्षाकृत अधिक हैं।

'सामवेद' की संगीतात्मकता

'सामवेद' में आकर काव्य और सङ्गीत का सुन्दर समन्वय हो गया। यह समन्वय जीवन और काव्य के स्वस्थ सम्मिलन का ही प्रतिरूप था। 'सामवेद' जिन दो भागों में विभक्त किया गया है उन्हें 'पूर्वार्चिक' और 'उत्तरार्चिक' की संज्ञा दी गई है। इस 'आर्चिक' शब्द का अर्थ है गेय मंत्रों का संग्रह। ये मन्त्र वास्तव में 'ऋग्वेद' के ही मन्त्र हैं जिन्हें सामन् मन्त्र की संज्ञा दी गई है। इन्हीं को जब सामवेद में एक विशिष्ट सङ्गीतात्मक रूप में सँजो कर रखा गया, तब उन्हीं मन्त्रों का माधुर्य संगीत तत्व के योग से द्विगुणित हो उठा। यही कारण है 'सामवेद' गानवेद नाम से भी अभिहित किया गया और श्रीकृष्ण ने भी उसकी विशिष्टता 'वेदानां सामवेदोऽस्मि', कहकर प्रकट की।

वैदिक काल की रचनाओं में संगीत और काव्य का समन्वय

वैदिक काल में काव्य का स्थान बहुत ऊँचा था। वैदिक ऋषि सौन्दर्यान्वीक्षण द्वारा अनुभूत आनन्द को बाह्य उपकरणों के सहारे ऐसी अभिव्यक्ति

देते थे जिसमें गेयता प्रमुख हुआ करती थी। वैदिक ऋषि के धार्मिक संदेश कला के माध्यम से ही प्रकट हुए हैं। इस साधना में निरत ऋषि की कृतियों में जहाँ बाह्य आकार का सौष्ठव है वहीं आभ्यन्तरिक सौन्दर्य की भी बहुत सुन्दर व्यंजना है। वैदिक युग में काव्य और सङ्गीत में एक अन्योन्याश्रय सम्बन्ध पाया जाता है। काव्य सङ्गीतमय एवं सङ्गीत काव्यमय दिखाई पड़ता है। काव्य का चरमोद्देश्य सङ्गीत की सृष्टि द्वारा अपने हर्षोल्लास को व्यक्त कर उस दिव्य शक्ति के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता था। 'हंस इव कृनुथ श्लोकम्।'[१] का आशय यही था कि कवि अपने गीत की रचना करे तथा उसका गान ऐसे मधुर स्वरों में हो जैसे हंस की मधुर ध्वनि। अर्थात् हंस की उन्मुक्त, कोमल, सुस्पष्ट सूक्ष्म एवं गम्भीर ध्वनि के समान कवि के गीतिकाव्य की रचना आवश्यक है। अतः वैदिक काल में सङ्गीत का महत्व बहुत अधिक माना गया। यज्ञ के समय तो वह एक अनिवार्य अङ्ग समझा गया। इस सङ्गीत को 'गान्धर्व' भी कहा गया जिसका प्रयोग गन्धर्व किया करते थे। यज्ञों के सामूहिक स्वरूप के कारण वैदिक सङ्गीत में सामूहिकता की प्रधानता थी। और उसमें ढला हुआ काव्य व्यक्तिगत भावों का सामूहिक रूप में प्रदर्शन मात्र था। इस प्रकार सङ्गीत की अनिवार्यता ने समस्त वैदिक जीवन को सङ्गीतमय बना दिया। जीवन के सङ्गीतमय होने के फलस्वरूप उद्‌गारों में भी वही तन्मयता, सुकोमलता एवं माधुर्य आ गया और काव्य में स्पन्दन भी आ गया। इस प्रकार गीतिकाव्य की इस प्रथम अवस्था में हम उसे सङ्गीत के बहुत ही निकट पाते हैं। इसमें दो तत्व स्पष्ट थे एक तो ऋषियों के तत्वचिन्तन फलस्वरूप उपलब्ध आध्यात्मिक सत्य और दूसरा उनके व्यक्तिगत अनुभूतियों की स्पष्ट अभिव्यक्ति। फिर भी वे तत्व जीवन की सामूहिक प्रवृत्तियों से जकड़ गए थे।

वैदिक काल के अनन्तर 'रामायण' और 'महाभारत' में काव्य नये छन्दों के माध्यम से आत्मप्रकाश करने लगा। वाल्मीकि नूतन छन्द के प्रथम आविष्कार माने जाते हैं। जान पड़ता है यहीं से सङ्गीत का अलग विकास होने लगा। यद्यपि वाल्मीकि का 'रामायण' भी गाये जाने के लिये ही लिखा गया था, लवकुश ने इसे गाकर ही राम को सुनाया था।

भरतमुनि ने जब अपने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की तब सङ्गीत के सम-

---

१. ऋग्वेद ३, ५३, १०.

स्वरों की योजना भी हो गई। इस प्रकार नाटकों में अनवरत गीतों की रचना होने लगी और इन गीतों में केवल सङ्गीत तत्व की प्रमुखता थी, जिनका प्रधान उद्देश्य था दर्शकों का मनोरंजन। वैदिक सङ्गीत में मनोरंजन सङ्गीत का ध्येय न था वहाँ मोक्ष जैसे उच्च ध्येय की प्राप्ति को सङ्गीत का एकमात्र लक्ष्य माना गया। यज्ञ जैसे पवित्र अवसर पर गान की योजना इस तथ्य को और भी पुष्ट करती है। अस्तु जहाँ भावावेश, सहज हृदयोद्गार, एवं आत्माभिव्यक्ति सभी वैदिक गीतों में प्राप्य हैं वहाँ नाटकान्तर्गत आए गीतों में सङ्गीतात्मकता ही प्रमुख मानी गई।

बौद्ध और जैन काल तथा गीतिकाव्य का अभाव

क्रमशः हम बौद्ध और जैन काल में प्रवेश करते हैं। इस काल में धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनकी भाषा पालि थी। बौद्ध धर्म के निवृत्तिमूलक एवं निराशावादी दृष्टिकोण ने जिस काव्य सामग्री को जन्म दिया उसमें गीतों का प्रायः अभाव ही रहा। फलतः ऐसे मुक्तकों की रचना हुई जिनमें नीति और उपदेश का प्राधान्य था। 'थेरगाथा' और 'थेरीगाथा' में उपदेशात्मक धार्मिक मुक्तकों का संग्रह है। हाँ एक-आध स्थलों पर 'थेरीगाथा' में ऐसे स्थल भी अवश्य आए हैं जहाँ व्यक्तिगत भावोन्मेष दिख जाता है किन्तु शुद्ध गीतिकाव्य का यहाँ अभाव ही रहा है।

प्राकृत काल और लोकगीत का वैभव

प्राकृतकाल तक आते-आते ऐसी रचनाएँ हुई जिनमें गीतिकाव्य का रूप न मिलकर लौकिक मुक्तकों का रूप ही वर्तमान रह सका। इस काल में लोकगीतों की छटा दिखाई पड़ने लगी। राजा 'हाल' ने 'गाथा सप्तशती' का संग्रह किया! इसी का अनुकरण गोवर्द्धनाचार्य की 'आर्या सप्तशती' में हुआ। वास्तव में देखा जाय तो इन पर लोकगीतों का ही प्रभाव पड़ा और इनकी गणना मुक्तकों के अन्तर्गत ही होती है। इस समय यदि कहीं गीतों की अवस्थिति इस काल में देखने को मिलती है तो वह नाटकों में। 'मृच्छकटिक', 'रत्नावली', तथा कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' एवं 'विक्रमोर्वशीय', नाटकों में गीतों की प्रचुरता है। इन गीतों की रचना का श्रेय कालिदास को ही है। इन्होंने अपने नाटकों के मध्य ऐसे गीतों की योजना की जिससे एक ओर तो मनोरञ्जन हुआ और दूसरी ओर कल्पना एवं आन्तरिक मनोभावों का प्रकाशन। कालिदास के ये गीत प्राकृत भाषा में ही हैं।

लौकिक संस्कृत में कालिदास का 'मेघदूत'

लौकिक संस्कृत में गीतिकाव्य के लक्षण कालिदास के मेघदूत में मिलते हैं। बाह्यस्वरूप के साथ ही आभ्यान्तर स्वरूप भी इसका इतना मधुर है कि अनुकूल रसपुष्टि उसके पढ़ते ही हो जाती है। इसका प्रत्येक पद अपनी संगीतात्मकता के लिये विख्यात है। परन्तु यह संगीतात्मकता संगीत के शास्त्रीय विधान का आधार नहीं लिए हुए हैं। इस गीतात्मकता के साथ ही इसकी विशेषता यह है कि इसका बाह्य स्वरूप साथ ही वर्णनात्मक भी है। गीतों में कथा भी पिरोई हुई है। सम्पूर्ण काव्य में विरही यक्ष की मनोवेदना का चित्रण प्रकृति के सुन्दर दृश्यों के साथ किया गया है। इस प्रकार अन्तःप्रकृति के साथ ही बाह्य प्रकृति का भी सहज ही चित्रण हो गया है। कवि के सूक्ष्म विश्लेषण का हमें पूरा-पूरा आभास मिल जाता है। विरही यक्ष तो साधन मात्र है जिसके द्वारा कवि ने मानव हृदय की अन्यान्य सुख-दुःखमयी अनुभूतियों को व्यक्त करने का प्रयास किया है। प्रयास की सफलता में संदेह भी नहीं। यक्ष बादलों को संकेत कर अपनी प्रिया के पास संदेश ले जाने के लिये प्रार्थना करता है। कल्पना की उत्कृष्टता एवं सजीवता, संगीत का माधुर्य, शब्दों का सौष्ठव, और विरह विदग्ध हृदय की विह्वलता आदि सभी बातें अपने वैशिष्ट्य के साथ मेघदूत में वर्तमान हैं। गीतात्मकता तो उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है—

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा।
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दा तपं स्यात्॥
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे।
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वाद्वियोगव्यथाभिः॥[1]

[मेघदूत, पृ. ३०६]

ऐसा क्यों न हो कि ये लम्बी रातें पल समान कट जाँय।
और दिवस के ताप पापमय सब प्रकार झटपट घट जाँय॥
मृगनयनी ऐसी अनहोनी के पीछे जल रहा शरीर!
तेरी विरह-वेदनाओं ने मेरा मन कर दिया अधीर॥[2]

ऐसे श्लोकों में विरह-विदग्ध हृदय की व्यंजना बड़े ही अनुपम ढंग से

---

१. मेघदूत—कालिदास—पृ० ३०६ 'उत्तरमेघ' [कालिदास ग्रन्थावली—अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी—संवत् २००१।

२. मेघदूत—(अनुवादक—केशव प्रसाद मिश्र) पृ० श्लोक ५६।

हुई है। इस विरह वेदना को देख हमें अंग्रेजी की 'शोक गीति' (Elegy) का ध्यान आ जाता है। 'कीथ' ने इसे 'ऐलिजी' के निकट का बताया है[१]। वस्तुतः मेघदूत में हृदय की आतुरता एवं आकुलता एक-एक पंक्ति में भरी हुई है, किंतु इसकी कथात्मकता को देखकर गीत में प्रबन्धात्मकता का योग भी हो गया है। इसी कथा के आग्रह को देखकर उसे कभी कभी खंडकाव्य की संज्ञा भी दी जाती है। किन्तु यह काव्य इतना अधिक भावप्रधान है कि उसके प्रत्येक श्लोक से कवि की अनुभूति की गीतात्मकता झलकती रहती है। वस्तु की विशिष्टता इसका ध्येय नहीं; भावों का वैशिष्ट्य ही इसमें प्रदर्शित हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर उसमें कवि के हृदय का उच्छ्वास उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। कथा,कथा नहीं रह जाती केवल कवि के हृदय का उच्छ्वास हमारे हृदय को स्पर्श कर लेता है। यक्ष यक्षिणी तो साधन मात्र रह जाते हैं और 'मेघदूत' में मानव-हृदय का विरह मुखरित हो उठता है।

कालिदास के प्रस्तुत गीतिकाव्य ने संस्कृत में अन्य 'संदेश काव्यों' को जन्म दिया। इसी के आधार पर न जाने कितने 'संदेश काव्य' संस्कृत में लिखे गए। जैन कवियों ने भी इसी का अनुगमन किया और उनके यहाँ भी 'दूतकाव्यों' की रचना हुई। संस्कृत में धोयी का 'पवनदूत' बहुत प्रसिद्ध हुआ। इन संदेशकाव्यों की विशेषता एकमात्र यही है कि ये शृङ्गार-प्रधान होते हैं जिनमें वियोग के चित्रों का अंकन होता है।

अपभ्रंशकाल और सिद्धों के चर्यापद

गीतिकाव्य का बीजारोपण तो कालिदास द्वारा हो गया किन्तु उसकी धारा को प्रवाहित करनेवाला समकालीन अन्य कोई भी कवि न था। धीरे-धीरे प्राकृत भी साहित्य की भाषा का रूप छोड़ने लगी और अपभ्रंश उसके स्थान पर आ गई। अपभ्रंश काल बौद्ध सिद्धों और जैन आचार्यों का काल था। इन सिद्धों ने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ काव्य का माध्यम अपनाया और दोहे तथा चौपाइयों की रचना की। बौद्धधर्म के ह्रास के साथ भारत में वज्रयान और सहजयान शाखाएँ निकल पड़ीं और सिद्धों का संप्रदाय 'सहजयानी' सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनकी संख्या चौरासी थी और कहा जाता है कि ये सभी अच्छे कवि भी थे। इन्होंने एक अनोखे संगीत को जन्म दिया और राग-रागिनियों के आधार पर पदों की रचना भी की। ये पद अपभ्रंश में राग-ताल समन्वित होते थे। इन्हीं पदों का प्रभाव हिन्दी पर

---

१. Kalidas and the guptas—A. B. Keith (Part ii Page 87).

भी पड़ा और परवर्ती गीतों की रचना में मूल प्रेरणा यहीं से कवियों को मिली। आगे चलकर ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के लगभग[1] गोरखनाथ का नाथ संप्रदाय इन्हीं सिद्धों के सम्प्रदाय से प्रभावित हुआ और वज्रयान शाखा से ही नाथपंथ की उत्पत्ति हुई। इन्हीं सिद्धों की बानी को हिन्दी के संत कवियों ने विशेष रूप से अपनाया और कबीर, दादू आदि संतों ने पदों की रचना में यहीं से प्रेरणा ली। इन सिद्ध कवियों का एकमात्र उद्देश्य अपने साधनामार्ग का प्रतिपादन करना था अस्तु इन्होंने जिन पदों की रचना की उन्हें संगीत का आधार दिया और जनता में उनका गान कर अपने मार्ग की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया है। इन सिद्धों में लुहिया, विरुपा, कारहपा, डोम्बिया आदि सिद्धों की बानी प्रसिद्ध हैं। इनके काव्यरूपों में 'चर्यापद' की रचना जिस शैली में हुई है उसी में हमें गीति-तत्व इस दृष्टि से मिलता है कि उसकी रचना विशिष्ट राग-रागिनियों में हुई है। इन राग-रागिनियों का संकेत भी मिलता है। और यह संगीत अनोखा भी प्रतीत होता है। सिद्ध वीणापा के लिये तो यह लोक-प्रसिद्ध है कि वे अपने गीतों को वीणा पर गाया करते थे। गीतिकाव्य के विकास में इन 'चर्यापदों' का महत्व इतना ही है कि उनसे जिस पद-गीतों की शैली को जन्म मिला उसका प्रभाव आगे संत कवियों में दिखाई पड़ा।

डोम्बिया का एक चर्यापद 'राग धनसी' में यों मिलता है :—

गंगा-जउँना-माँझे वहइ नाई।
तँह बुडिली मातंगी पोइया लीलें पार करेई॥
बाहतु डोम्बी बाहलो डोम्बी, बाट भइल उछारा।
संदगुरु–पाअ-प (सा) ए जाइव पुनुजिनउरा॥
पाँच केडुआल पडन्ते माँगे पीठत काच्छी बाँधी।
गअण दुखोलें सिंचहू पाणी न पइसइ साँधी॥
चंद-सूज्ज दुइ चक्का सिठि-संहार-पुलिन्दा।
वाम दहिन दुइ भाग न चेवइ वाहतु छन्दा॥
कवड़ी न लेइ बोडी न लेइ सुच्छड़े पार करई।
जो एथे चढ़िया बाहव न जा (न) इ कूलें कूल बड़ाई॥१४॥[2]

---

१. इस प्रकार गोरखनाथ ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में हुए होंगे। 'आ० ह०प्र० द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ६१.

२. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १४० चर्यापदः राहुलसांकृत्यायन, प्र० सं० १६४५।

सिद्धों ने जिन रागरागिनियों में अपने पदों की रचना की उनके नामकरण में ही केवल अन्तर मिलता है अन्यथा सभी राग रागिनियाँ संगीत की प्रचलित रागरागिनियाँ हैं 'धनसी' राग 'धनाश्री' है, 'रामकी' का प्रयोग 'रामकली' के लिये हुआ है, 'मालशी' राग 'मालकोश' राग है। इसी प्रकार जहाँ शब्द बहुत ही परिवर्तित रूप में है वहाँ भी अनुमान लग जाता है। उदाहरणार्थ उनकी राग 'वलाड्डि' वराली या वरारी राग है। और 'देशाख' देवशाक या देवशाख राग ही है।

जब अनेक अश्लील एवं वीभत्स कर्मों को योजना सहजयानी सम्प्रदाय में होने लगी तब इन सिद्धों का क्रमशः ह्रास होने लगा। फलतः उनका काव्य भी उसी भाँति निकृष्ट कोटि का हो गया।

क्षेमेन्द्र

इसी ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकाल के लगभग एक ऐसे प्रतिभाशाली कवि का प्रादुर्भाव हुआ जिसने उस बीज को बोया जो आगे चलकर जयदेव के मधुर गीतों के रूप में प्रस्फुटित होकर विकसित हुआ। ये थे क्षेमेन्द्र जो कश्मीर के राजा अनन्त (१०२८ ई० १०६३) और कलश (ई० १०६३, १०८६ ई०) के राज्यकाल में विद्यमान कहे जाते हैं।[1] इन्होंने लगभग १०६६ ई० में अपने एक ग्रन्थ 'दशावतारचरित' की रचना की। प्रस्तुत रचना में भगवान विष्णु के दस अवतारों का वर्णन कवि ने बड़े ही आलंकारिक रूप में किया है। इसी काव्य के अन्तर्गत जहाँ श्रीकृष्णावतार का वर्णन आया है। वहाँ उनके रूप, शौर्य, ऐश्वर्य आदि की प्रशंसा में एक ऐसा श्लोक आया है जिसमें कोमलकान्त पदावली के प्रयोग के साथ ही भाषा में प्रसाद-गुण का अत्यधिक मात्रा में गुम्फन हुआ है। अतएव सम्पूर्ण श्लोक अपनी सरस पदावली की मसृणता में अत्यधिक गीतात्मक हो उठा है। इसी श्लोक में सर्वप्रथम गीतिकाव्य का स्वरूप बिल्कुल नवीन रूप में हमें दिखाई पड़ता है :—

ललित विलास कला सुख खेलन
ललना लोभन-शोभन यौवन-
मानितनव मदने।
कोशिकिशोर महासुर मारण
दारुण गोकुल दुरित विदारण
गोवर्द्धन धरणे।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १७१।

कस्य न नयन युगं रति सज्जे
मज्जति मनसिज तरल तरंगे-
वर रमणी रमणे ॥८॥१७३॥[1]

अर्थात् जिनकी सुन्दर विलासयुक्त कलाओं द्वारा खेलना, स्त्रियों के दिल को लुभाने वाला जिनका यौवन शोभायमान है, नवीन कामदेव को भी जो नीचा करने वाले हैं भौंरों का कुल, कोयल, कमल, कज्जल और काल-रूप यमुना के लहलहाते जल में स्थित कालिय कुल को दमन करने वाले, सिंह के बालक के समान, महान् असुर को मारने वाले, गोकुल के दारुण पापों को नष्ट करने वाले, गोवर्द्धन धारण करने वाले, सुन्दर स्त्रियों में रमण करने वाले, काम की सुन्दर तरङ्गों से युक्त, रति से सजायमान श्रीकृष्णचन्द्र में किसके नेत्र युगल नहीं डूबते ?

क्षेमेन्द्र के संपूर्ण 'दशावतारचरित' में श्रीकृष्णावतार के अन्तर्गत ही ऐसे गीतितत्व से पूर्ण श्लोक का आना यह निर्देशक है कि कृष्णविषयक गीतों का इस काल में प्रचार रहा हो, जिससे प्रेरित होकर क्षेमेन्द्र ने इस शैली को अपनाया हो। यथार्थता कुछ भी हो किन्तु जिस रूप में क्षेमेन्द्र का यह श्लोक विरचित है, उसी का अनुकरण जयदेव के 'गीतगोविन्द' में मिलता है।

इस प्रकार संस्कृत में गीतों की जिस परम्परा का आरम्भ जयदेव से हुआ उसका बीजारोपण क्षेमेन्द्र द्वारा पूर्व ही हो चुका था। क्षेमेन्द्र का महत्व इस दृष्टि से बहुत है।

जयदेव का 'गीतगोविन्द' और गीतिकाव्य की सुदृढ़ परम्परा

बारहवीं शताब्दी में जयदेव का प्रादुर्भाव हुआ जिनका 'गीतगोविन्द' संस्कृत का सर्वोत्कृष्ट गीतिकाव्य है। श्रीकृष्ण और राधा की लीला के वर्णन में गीतगोविन्द के कतिपय पद अपने में कुछ वर्णनात्मकता को अवश्य लिए हुए हैं, परन्तु संपूर्ण काव्य में जो रस का स्रोत प्रवाहित हुआ है वह कवि की गीतात्मक प्रतिभा का परिचायक है, और साथ ही भावों की अपूर्व मधुरिमा जिस संगीतमय रूप में अभिव्यंजित हुई है वह जयदेव की अपनी निजी मौलिकता को लिए हुए है। इस भावाभिव्यंजना शैली में क्षेमेन्द्र से कवि को प्रेरणा अवश्य मिली है किन्तु भावों को राग रागिनियों के आधार पर 'अष्टपदी' के रूप में बाह्य अभिव्यंजना का स्वरूप सर्वप्रथम जयदेव ने ही दिया। संगीत

१. दशावतार चरितम्, क्षेमेन्द्र, काव्यमाला २६, सं० १८०१, बंबई।

के शास्त्रीय विधान के अनुरूप क्षेमेन्द्र का उपर्युक्त, श्लोक नहीं विरचित है तथापि तुक एवं कोमलकान्त-पदावली के माधुर्य में जो संगीतसृष्टि हो रही है वह जयदेव की अष्टपदी से कम मधुर नहीं। यह अवश्य है कि स्वतन्त्र रूप में गीतिकाव्य की रचना द्वारा संगीत और काव्य का सम्मिलन जयदेव ने ही कर दिखाया।

जयदेव के पीछे सिद्धों की परम्परा भी चली आ रही थी और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे इस परम्परा से अवश्य परिचित थे किन्तु लोकगीतों के आधार पर अपने गीतों की रचना करने पर भी उनके इस काव्य में जहाँ वैदिक परम्परा से भिन्नता पाई जाती है वहाँ इन सिद्धों के गीतों से भी उसमें पर्याप्त भिन्नता मिलती है। धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रधान लक्ष्य होने के कारण सिद्धों के गीतों में राग-रागिनियों की उत्कृष्टता, भाषा की कोमलता और भावों की सरसता प्रायः नष्ट हो गई है, जब कि जयदेव में उन सभी की रक्षा है। सच पूछा जाय तो संस्कृत में 'गीतगोविन्द' गीति-काव्य के अधिक निकट है। किन्तु 'मेघदूत' से उसकी शैली में बहुत अन्तर है। जहाँ मेघदूत में वर्णन का आग्रह अधिक है, वहाँ 'गीतगोविन्द' में यह तत्व कम हो गया है। कालिदास ने जहाँ अपनी हृदयस्थ भावनाओं को यक्ष में आरोपित कर व्यक्त किया है वहाँ जयदेव ने राधाकृष्ण के माध्यम द्वारा अपनी सुकुमार भावनाओं का प्रकाशन सङ्गीतशास्त्र की राग-रागिनियों में किया है। इसकी शैली, भाव और अनुभूति तीनों ही अत्यधिक गीतात्मकता को लिये हुए हैं।

वास्तव में 'गीतगोविन्द' द्वारा जो रस का स्रोत संस्कृत में बहा उसका प्रभाव परवर्ती काल के कवियों पर निश्चित रूप से पड़ता है। जयदेव के 'गीतगोविन्द' में एक स्थान पर आया है :—

> मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
> र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय ।।
> इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्व कुञ्जद्रुमं ।
> राधा माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ।।
>
> —सर्ग १, १ गीतगोविन्द ।

इसी का अनुवाद सूरसागर में मिलता है :—

> गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
> पौन झकझोर चपला चमकि चहुँ ओर ,

सुवन तन चितै नन्द डरत भारी।
कह्यौ वृषभानु की कुँवरि सौ बोलि कै,
राधिका कान्ह घर लिये जारी।
दोऊ घर जाहु सङ्ग गगन भयौ-,
श्याम, रँग कुँवर कर गह्यौ वृषभानु-बारी।
गए वन घन ओर, नवल नंद-किसोर,
नवल राधा, नए कुञ्ज भारी।
अङ्ग पुलकित भए मदन तिन तन,
जए सूर प्रभु श्याम श्यामा बिहारी।
—'सूरसागर' दशमस्कन्ध ६८४, १३०२।

दोनों पदों के भाव-साम्य को देखकर यह कथन सत्य हो जाता है कि सूर पर जयदेव का प्रभाव पड़ा।

'गीतगोविन्द' में राधा-कृष्ण के प्रेम का बड़ा ही सजीव एवं स्वाभाविक वर्णन हुआ। इसके गीतों में सङ्गीत का आश्रय अधिक लिया गया और साथ ही इसमें वह विशेषता भी आ गई है जिसे अभिनय की विशेषता कहते हैं। तात्पर्य यह कि 'गीतगोविन्द' में जैसा कि नाम ही से यह प्रतिध्वनित होता है गेयता तो अपूर्व है ही नाटकीय तत्व की योजना भी हो गई। पाठक पढ़ते-पढ़ते उसमें रसमग्न हो जाता है। भाषा का माधुर्य, शब्दों की कोमलता एवं उनका सजाव आकर्षक है। राग एवं ताल के आधार पर इसके गीतों की रचना होने के कारण गान एवं नृत्य दोनों का आनन्द मिल जाता है।

'गीतगोविन्द' में कवि की वैयक्तिक अनुभूति का सीधा अभिव्यंजन नहीं परन्तु राधाकृष्ण के प्रेम द्वारा कवि ने अपनी ही भावनाओं को अध्यंतरित रूप में प्रकट किया है। यही कारण है, इसमें वर्णन का आग्रह भी है और सर्गों का विधान भी, जो सब मिला कर बारह हैं। प्रारम्भ में कवि ने विष्णु एवं उनके दस अवतारों की वन्दना भी की है। यही वर्णनात्मकता एवं सर्ग-बन्धान भ्रम में डाल देता है। सच पूछा जाय तो जिसे शुद्ध आत्माभिव्यञ्जना कहते हैं, जिसमें वैयक्तिक अनुभूति को ही प्रधानता दी जाती है, उसका यहाँ यहाँ भी अभाव ही मिलता है। परन्तु सम्पूर्ण काव्य की आत्मा उसमें अन्त-र्हित अनुभूति की छानबीन करने पर 'गीतगोविन्द' अत्यधिक गीतात्मक श्रेणी में ही परिगणित होता है। जब भावना अति गीतात्मक होती है तब भावों की प्रायः आवृत्ति भी हो जाती है। 'गीतगोविन्द' में एक ही भाव के अनेक पद्य मिलते हैं संयोग-वियोग से मार्मिक चित्रों से कवि की भावात्मकता

स्पष्ट हो जाती है और इस प्रकार 'गीतगोविन्द' भावात्मक गीतिकाव्य की श्रेणी में आ जाता है। राधा-कृष्ण को लेकर जितने गीतों की रचना हिन्दी के मध्यकाल में हुई सभी पर 'गीतगोविन्द' का कुछ न कुछ प्रभाव है।

गीतिकाव्य जिस अभिव्यञ्जना कौशल को लेकर निर्मित होता है वह 'गीतगोविन्द में अनुपम है। शब्दों की ध्वनि एवं अर्थ का सुन्दर सामंजस्य भी उसमें मिलता है। भाषा की कोमलता एवं भावों की तीव्रता गीतिकाव्य की विशेषता है। इनका तो सुन्दरतम उदाहरण 'गीतगोविन्द' है। अनुप्रास-मयी कोमलकान्त पदावली का प्रयोग इसमें अनोखा है। राधा का वियोग कितने मर्मस्पर्शी रूप में कवि की लेखनी द्वारा अंकित हुआ है यह सम्पूर्ण विरह के पदों से प्रतिभासित होता है—

मामहह विधुरयति मधुरमधुयामिनी।
कापि हरिमनुभवति कृत सुकृत कामिनी। यामि हे० ॥ ४ ॥
अहह कलयामि •वलयादिमणिभूषणम्।
हरि विरह दहन वहनेन बहु दूषणम्। यामि हे० ॥ ५ ॥
कुसुमसुकुमारतनुमतनुशर लीलया।
स्रगपि हृदि हन्ति मामतिविषमशीलया। यामि हे० ॥ ६ ॥
अहमिह निवसामि नगणितवनवेतसा।
स्मरति मधुसूदनो मामपि न चेतसा। यामि हे० ॥७॥ [सर्ग७]

'हाय! यह वसन्त की मधुर रात्रि मुझे विकल कर रही है, कोई अन्य पुण्यशीला रमणी भगवान के समागतम का सुख अनुभव कर रही है। हाय! ये मेरे मणिनिर्मित अलंकार भगवान के विरहअग्नि को धारण करने के कारण दोषमय हो गए हैं। अति विकट है यह मदन-बाण-लीला जिसके कारण यह माला भी मुझ कुसुम-कोमल-शरीर वाली के हृदय में चोट कर रही है। हाय! मैं तो इस विषम वन की (भयावनी) वेत्र लताओं का कुछ भी ख्याल न कर यहाँ ठहरी हुई हूँ, पर भगवान् मुझ मन में भी नहीं याद करते।'[1]

जयदेव के इस काव्य का प्रभाव विद्यपति पर पड़ा और इसका प्रमाण दिया जा चुका है कि इनसे सूर ने भी प्रेरणा ली थी। इस दृष्टि से 'गीत-

---

१. अनुवाद आ० ह० प्र० द्विवेदी, । गीतगोविंद की विरहिणी राधा, 'नव-जीवन' पृ. ६६ होलिकांक १६४६

गोविन्द' का महत्व गीतिकाव्य के विकास में बहुत ऊँचा हो जाता है। उसकी प्रशंसा पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से की है।

उपसंहार

सारांश यह कि संस्कृत में जहाँ एक ओर जयदेव की परम्परा है वहाँ दूसरी ओर अमरुक एवं भर्तृहरि की भी परम्परा चली आती है। किन्तु पहली परम्परा गीतिकाव्य की है और दूसरी मुक्तक के अन्तर्गत आती है। परवर्ती संस्कृत काल की चर्चा हमें इसी निष्कर्ष पर ले जाती है कि जिसे हम स्वानुभूति का निश्छल अभिव्यंजन कहते हैं, यह पूर्ण रूप में संस्कृत काव्य में नहीं मिलता। जहाँ कहीं भी कवि ने व्यग्र होकर अपने हृदय को बाहर प्रकट करने का संभार किया है वहाँ उसने किसी आलम्बन पर अपनी भावनाएँ आश्रित कर दी हैं और उसी की छाया में अपना हृदय खोल कर रखा है। अर्थात् उन्होंने किसी पात्र विशेष में अपना अभिमान (आरोपण) भावाभिव्यक्ति की है। इस प्रकार कवि की आत्माभिव्यंजना का रूप यहाँ आभ्यंतरिक रूप में मिलता है। कालिदास के 'मेघदूत' में, जयदेव के 'गीतगोविंद' में सभी स्थान पर आत्मप्रकाशन का रूप व्यक्तिगत नहीं हो पाया है। साथ ही बाह्य रूप का निर्धारण आन्तरिक अनुभूति करती है—इस दृष्टि से कवियों की मनोवृत्ति का अध्ययन करने पर यदि उसमें गीतात्मकता की प्रबलता मिलती है तब रूप की आंशिक वर्णनात्मकता उसे गीतिकाव्य श्रेणी में आने से अवरोध नहीं डालती। यही कारण है 'मेघदूत' में वर्णन का आग्रह होते हुए भी उसे गीतिकाव्य के अन्तर्गत ही रखा जाता है और जयदेव की रागात्मक अनुभूति की तीव्रता को देख 'गीतगोविन्द' को गीतिकाव्य के विकास में सुदृढ़परम्परा चलाने का श्रेय मिलता है। गीतिकाव्य की ऐसी कोई परम्परा कालिदास के 'मेघदूत' द्वारा न बह सकी। कारण यह कि उन्होंने संगीत के शास्त्रीय विधान के अनुरूप स्वतन्त्र पदों का निर्माण अपने 'मेघदूत' में न किया। राग रागिनियों के आधार पर संस्कृत में सर्वप्रथम जयदेव ने ही अपनी प्रतिभा के बल पर काव्याभिव्यंजना का नवीन पथ-निर्माण किया। उनकी इस अभिव्यंजना के पीछे लोकहृदय से एकतानता स्थापित करने की अभिलाषा भी कार्य कर रही थी तभी तो उनके गीतिकाव्य का प्रभाव युगयुगान्तर पड़ता रहा और भावाभिव्यंजना का जो बाह्य स्वरूप जयदेव ने निश्चित कर दिया उसी से प्रेरणा लेकर परवर्ती कवियों ने गीतिकाव्य की धारा को सतत प्रगतिशील बनाया।

प्राकृत में नाटकान्तर्गत आए गीत अवश्य देखने को मिलते हैं और

अपभ्रंशकाल तक पहुँचते पहुँचते सिद्धों के गीतों की भरमार हो जाती है। यद्यपि ये गीत राग रागिनियों के ही आधार पर लिखे गए तथापि उनमें हृदय के भावावेग का प्रायः अभाव ही रहा। आन्तरिक मनोभावों की गीत रूप में बाह्य अभिव्यक्ति यहाँ उतनी नहीं हुई क्योंकि ये लोग प्रधान रूप से कवि नहीं थे, धर्म-साधक थे। उनके गीतों में धार्मिक अनुभूति और उपदेश के अतिरिक्त अन्य भावों को बहुत गौण स्थान मिल सका। संतों की पद-शैली को प्रेरित करने में इनका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है।

हिन्दी में गीतिकाव्य की परम्परा

आदि युग और शुद्ध गीतों का अभाव

अपभ्रंश काल के पश्चात् हम हिन्दी साहित्य के प्राथमिक काल सं० (१०५०....१३७५) में आते हैं। देश की राजनीतिक अस्तव्यस्तता ने इस काल को वीर-भावों से पूर्ण बना दिया। असंतोषजनक देश की अवस्था में जब कि बाहरी आक्रमण हो रहे हों, समस्त पश्चिमोत्तर सीमा त्रस्त हो रही हो, स्वतन्त्र काव्यसृजन क्योंकर संभव होता ? किन्तु यदा कदा पराजित राजाओं को हताश होते देख राज्याश्रित भाट चुप भी नहीं रह सकते थे। उन्होने आश्रय-दाताओं को प्रोत्साहित करना अपना एकमात्र लक्ष्य बनाया। वीरों की प्रशंसा में उन्होंने गीत बनाए और रणक्षेत्र में जाकर उनका गान भी किया। ये गीत वीर-रस से भरपूर होते थे जिनमें उत्साहवर्द्धक शब्दावली का प्रयोग एवं वीरों की प्रशंसा निहित रहती थी। दूसरी ओर युद्धोपरान्त राजाओं के मनोरंजनार्थ ये ही कवि शृंगार रस की कविताएँ भी रचा करते थे। इस प्रकार इस युग की कविता एक ओर तो वीररस से पूर्ण है तो दूसरी ओर शृंगार से। युद्ध और प्रेम के इस काल में वीर और शृंगार रसकी प्रधानता काव्य में आ गई। ऐसे काव्यों का रूप वर्णनात्मक अधिक होता है जिसमें घटनाओं की योजना एक के बाद दूसरी होती चली जाती है। आख्यान का आग्रह यहाँ इतना अधिक होता है कि ये काव्य गीतिकाव्य की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। इन्हें वीरभावात्मक खंडकाव्य कहते हैं। यद्यपि गीतात्मकता इनमें पर्याप्त मात्रा में मिलती है किन्तु आख्यान-आग्रह उन्हें शुद्ध गीतिकाव्य का रूप नहीं दे पाता। जयदेव और कालिदास के काव्यों ('गीतगोविन्द' 'मेघदूत') में यह आग्रह दूसरे प्रकार का है। वहाँ कवि की दृष्टि घटना-वैचित्र्य की ओर कदापि नहीं। परन्तु 'बीसलदेवरासो'

और 'आल्हा' इसी तत्व को लेकर वीरभावात्मक खंडकाव्यों (Ballad) की श्रेणी में आते हैं।

खुसरों के पदों में गीति-तत्व

हिन्दी के आदि युग के अन्तिम दिनों में हमें गीतिकाव्य के चिह्न यदि कहीं देखने को मिलते हैं तो वह खुसरो के पदों में। इनका काल (१३१०—१३८१) है; इन्होंने यों तो अधिकांशतः फारसी में ही कविता की परन्तु हिन्दी में सर्वप्रथम खड़ीबोली का प्रयोग इन्होंने ही किया। इनकी 'पहेलियाँ', 'मुकरियाँ' और 'दोसुखने' प्रसिद्ध हैं। इन्होंने-पदों की रचना भी की जिस में फारसी हिन्दी मिश्रित गज़ल का रूप दिखाई पड़ा। इन्हीं पदों ने परवर्ती गीतिकाव्य के रचयिताओं को प्रेरित किया। प्रेरणा की दृष्टि से इनके पद वस्तुतः विशेष महत्व को लिए हुए हैं।

यद्यपि खुसरो के पीछे गोरखनाथ की परम्परानुगामिनी नाथपंथियों की पदों की भिन्न धारा चली आ रही थी, किन्तु खुसरो पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बोलचाल की भाषा को लेकर काव्य-रचना खुसरो ने की जिसमें यत्र तत्र अरबी फारसी के शब्द भी आते गए। 'खालिकबारी', की रचना तो हिन्दी और अरबी फ़ारसी के योग से हुई है। किन्तु पदों की रचना भी अधिकतर ब्रजभाषा में ही खुसरो ने की। शुक्ल जी ने भी इतिहास में कहा है, "पर गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख प्रचलित काव्य भाषा ही है।"[1] आगे चल भक्ति काल में भी पदों की भाषा ब्रज ही रखी गई।

गीतों में संगीततत्व

खुसरो ने रागरागिनियों में पदों की रचना की। उर्दू की कव्वाली गज़ल के ढंग पर बहुत से पद निर्मित किये। 'बरवा राग' में लय रखने की प्रणाली इन्होंने ही प्रारम्भ की और सर्वप्रथम इन्होंने ही भावोन्मेष को अपने पदों में ढाला। शृंगार, शान्त रसों का समावेश इनके पदों में विशेष रूप से हुआ। संयोग, वियोग और विरह के भावों को उनके तीव्रतम रूप में खुसरो ने इन पदों में ढाला। वसन्त के पद इस दृष्टि से अत्यधिक प्रभावात्मक हैं....भावों की तीव्रता इनमें पर्याप्त मात्रा में मिलती है :—

मोरा जोबना नवेल रा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस मोरी माल॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६६।

निजामदीन औलिया को कोई समझाए।
जो जो मनाऊँ वह तो रूसा ही जाय ।।
—मोरा जोबना०, पृ० ३२२। ना० प्र० पत्रिका, भाग २ सं० १६७८

झूले के गीत भी बड़े भावात्मक हैं—

जो पिया आवन कह गए अजहूँ
न आए स्वामी हो।
(ए), जो पिया आवन कह गए,
आवन आवन कह गए आए न बारह मास।
(ए हो) जो पिया आवन कह गए

अरबी फ़ारसी मिश्रित गज़ल पहले पहल खुसरो ने ही बनाई—

जे हाल मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैना बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिजराँ न दारम ए जां न लेहु काहे लगाय छतियाँ ।।
शबाने हिजराँ दराज़ चूँ जुल्फ़ व रोजे वसलत चु उम्र कोताह।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अंधेरी रतियाँ ।।
—ना० प्र० पत्रिका, भा. २, सं० १६७८, पृ० ३२४.

लोकगीतों का माधुर्य

खुसरो के पदों और विशेषकर झूले के गीतों में लोकगीत का माधुर्य झलकता है। लोकगीतों की 'टेक' की पद्धति का प्रयोग अपने गीतों में सर्वप्रथम इन्होंने ही किया। यही 'टेक' पद्धति परवर्ती कबीर, सूर आदि कवियों के गीतों में भी मिलती है। संगीत की सृष्टि में जहाँ छन्द सहायक होते हैं वहाँ 'टेक' के दुहराने की शैली उसके संगीत को बढ़ाने में योग देती है। छन्द की दृष्टि से खुसरो ने अधिकतर उर्दू के 'बह्रों' का अनुकरण किया और जब उन्होंने हिन्दी के छन्दों का चुनाव किया तब सार, चौपाई, ताटंग आदि का प्रयोग किया और साथ ही छन्दों के प्रयोग में भी पूरी स्वतन्त्रता से काम लिया है। ऐसे छन्द लोक गीतों के प्रयोग में आए हैं। लोकगीतों से प्रेरित होने के कारण गीतिकाव्य का रूप यहाँ बिल्कुल नवीन हो उठा है।

वैयक्तिक उन्मेष

उपर्युक्त पदों से यह स्पष्ट है कि खुसरो अच्छे संगीतज्ञ थे। उनका हृदय वाद्ययन्त्र के समान झंकृत होता रहता था और उसी झंकार को उन्होंने अपने गीतों मे भरने का प्रयत्न भी किया। गीतिकाव्य के विकास में इनके पदों का स्थान ऊँचा है। वैयक्तिक अनुभूति का अभिव्यंजन उनमें हुआ है, जो आज

के गीतिकाव्य में प्रधानतः मिलता है, और खड़ी बोली में काव्य रचने की परिपाटी इन्हीं से आरम्भ होती है। खुसरो के पदों में यद्यपि पर्याप्त काव्यत्व एवं परिष्कार नहीं तथापि उनमें अपने पूर्ववर्ती सिद्धों की परम्परा से पर्याप्त नवीनता मिलती है। सिद्धों ने केवल दार्शनिक सिद्धान्तों को पदों के ढाला, पर खुसरो ने आन्तरिक भावों का प्रकाशन अपने गीतों में किया। मानों हिन्दी में गीतिकाव्य की प्रेरणा-सामग्री यहीं आकर प्रस्तुत हो गई। गीतिकाव्य कवि के अन्तरतम में उठने वाले अन्यान्य भावों की कथा है। इस दृष्टि से हिन्दी में सर्वप्रथम खुसरो की कविता में हमें वह तत्व मिलता है जो गीति-काव्य का मेरु-दंड है। यह तत्व वैयक्तिक अनुभूति है जिसका अभाव सिद्धों के पदों में था और अभिव्यंजना की दृष्टिसे जिसकी न्यूनता संस्कृत काल में भी मिली। खुसरो के गीतों में ही सर्वप्रथम हृदयावेश वैयक्तिक रूप में फूट पड़ा। गीतिकाव्य के विकास में जयदेव के पश्चात् खुसरो के पद उस कड़ी के समान हैं जो एक ओर कबीर के पदों और दूसरी ओर विद्यापति की पदावली एक सूत्र में बाँध रही है।

मध्ययुग और गीतिकाव्य का स्वर्णयुग

शुद्ध गीतिकाव्य के अभाव की पूर्ति

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग से पूर्व हिन्दी में गीतिकाव्य का स्वरूप विकास की प्रथमावस्था में ही था। यह रूप वह पनपता हुआ रूप था जिसे खुसरो ने अपने संगीतपूर्ण हृदय से सींचा। कहना यों चाहिये कि हिन्दी में गीतिकाव्य का बीजारोपण खुसरो ने ही किया। उसमें एक तो वैयक्तिक अनुभूति का ही समावेश दिखाई पड़ा, दूसरे खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा के प्रयोग द्वारा भावाभिव्यक्ति के माध्यम का प्रश्न भी उससे हल हो गया। किंतु जिस रूप का विकास संस्कृत में जयदेव के 'गीतगोविंद' में दिखाई पड़ा उसका अभी तक अभाव ही था। यही अभाव एकबारगी इस मध्यकाल में आकर भली-भाँति पूर्ण हो गया जब भक्ति का अविरल स्रोत चारों ओर से प्रबल वेग के साथ बह निकला। इसी मध्यकाल संवत् (१३७५, सं० १७००), की लम्बी अवधि में गीतों का इतना अधिक परिष्कार हुआ कि हम इस काल को गीतिकाल का स्वर्णयुग कह सकते हैं।

इस काल के गीतिकाव्य का प्रधान प्रेरणास्रोत भगवद्भक्ति है। भक्ति और गीतिकाव्य का इस काल में अन्योन्याश्रय संबन्ध स्थापित हो गया। रवि बाबूने इस युग की प्रशंसा करते हुए यही कहा है कि इस युग के काव्य में

साधक और कवि का सुन्दर सामंजस्य हुआ है ।[१] यह सामंजस्य वस्तुतः अन्यत्र दुर्लभ है । भक्ति के प्रादुर्भाव के साथ गीतिकाव्य का भी जन्म हुआ और उसके चरमोत्कर्ष के साथ गीतिकाव्य भी अपने उच्चतम स्वरूप को प्राप्त हो गया ।

भक्ति की दो धाराएँ

इस काल में भक्ति की दो धाराएँ बहीं । एक निर्गुण धारा और दूसरी सगुण धारा । दोनों ही धाराएँ पूर्वकाल से चली आ रही थीं । निर्गुण मत का संधान जैन और बौद्ध कवियों की रचनाओं से ही मिलने लगता है । इन रचनाओं में भक्ति का अभाव था इस लिये इनमें नीरसता थी । इस युग में भक्ति-तत्व के मिश्रण से निर्गुण भाव के भजनों में ऐसी मिठास आई जो पहले के निर्गुण-भावापन्न रचनाओं में एकदम नहीं थी । सगुण भक्ति की धारा बहुत पुरानी थी जो क्रमशः भागवत धर्म के रूप में आती हुई मध्ययुग में वैष्णव भक्ति के रूप में विकसित हुई । इस प्रकार एक ओर संतमत और दूसरी ओर वैष्णवमत के प्रादुर्भाव के साथ गीतिकाव्य भी स्वतः फूट पड़ा और उसने इन्हीं मतों के अनुरूप अपना कलेवर सजाया और इन्हीं के अनुरूप उसका स्वरूप निर्धारण भी हो गया ।

प्रतिपादन की भिन्नता के कारण भक्ति की दोनों धाराओं के पदों का स्वर एक दूसरे से भिन्न लगता है । सगुण भाव के भक्तों ने अपने पदों में भगवान के नर रूप की लीलाओं का गान किया था इसलिये उनमें एक प्रकार का मानवीय रस है । उधर निर्गुण भक्तों के उपास्य में किसी प्रकार के साम्प्रदायिक विश्वास का आधार न होने से उनमें एक प्रकार का विश्वजनीन भाव पाया जाता है ।

संत मत और कबीर

कहा जाता है कि सिद्धों का 'सहजिया' सम्प्रदाय गोरखनाथ द्वारा 'नाथ' पंथ के रूप में विकसित हुआ था, इसका प्रचार भी सर्वत्र हो चुका था । इधर भारत में मुसलमानों के आक्रमण द्वारा मुसलमानों की संख्या भी बढ़ती चली जा रही थी । इस पंथ के चलाने वालों ने इस बात का प्रतिपादन किया कि ईश्वर एक है, जो सबमें बसता है, जाति-पाँति का भेदभाव व्यर्थ है, वेद, पाठ, पूजा आदि भी निरर्थक हैं । साथ ही इनकी साधना-पद्धति हठयोग

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली, 'भूमिका', संपादक—पुरोहित हरिनारायण शर्मा । संवत् १९९३ ।

कहलाती थी जिसमें कठिन साधना—इंगला, पिंगला, सुषम्ना, चक्र, रन्ध्र, कुन्डलिनी, आदि को प्रधानता दी गई। महाराष्ट्र में प्रायः इसी प्रकार के अद्वैतवाद का प्रचार हुआ। सन्तों ने हिन्दू मुसलमानों को एक करने का प्रयत्न किया। साधना के तत्वों में कर्म, ज्ञान का तो प्राधान्य इनके निर्गुण मत में मिला किन्तु भक्ति में जिस हृदय तत्व की अपेक्षा थी, उसका अभाव इनके पंथ में रहा, अस्तु जनता पर इनके मार्ग का प्रभाव इतना न पड़ा जितना वैष्णव भक्ति का।

कबीर संत मत के प्रमुख प्रवर्तक थे। इन्हों ने आकर सर्वप्रथम निर्गुण भावना को नये मार्ग पर खड़ा किया। 'नाथ-पंथियों' ने निर्गुण साधना का प्रचार अवश्य किया था किन्तु उसमें हृदय पक्ष का नितान्त अभाव था। भक्ति के मिश्रण से उसी को कबीर ने सुदृढ़ किया। इनकी साधना-पद्धति में योगियों के हठयोग की क्रियाओं को स्थान मिला। सूफियों के प्रेम तत्व को लेकर उन्होंने उसमें सरसता भरी, निराकार ब्रह्म के लिये भारतीय वेदान्त से प्रेरणा ली और वैष्णव भक्ति मार्ग से अहिंसा और प्रपत्तिवाद लिया। इस प्रकार कबीर के संतमत में ईश्वर अपने ऐसे प्रेममय, ज्ञानमय रूप में अभिव्यक्त हुआ जिसमें भाव-माधुर्य तो है परन्तु गद्गदाश्रु भावुकता नहीं है। उसकी अखंड एकता में उन्होंने विश्वास कर उसे सृष्टि के कण-कण में व्याप्त मान कर उसे निराकार बताया। वस्तुतः निर्गुण शब्द का प्रयोग उन्होंने गुणातीत अर्थ में किया। भगवान सगुण-निर्गुण से परे अनुभवैकगम्य है। उन्होंने माया को इस अनुभवगम्य भगवान की प्राप्ति में बाधक बताया और उसे उन्होंने त्रिगुणात्मक भी कहा है।

कबीर के संत मत में जहाँ नाथ पंथियों की साधना पद्धति (हठयोग) का पूरापूरा योग हुआ वहाँ सूफियों के शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारफत के चारों स्तरों की योजना भी हुई। इसके अतिरिक्त सूफियों के माधुर्यभाव एवं 'प्रेम की पीर' को भी उन्होंने अपनाया, जिसके कारण उनके विरह के पदों का रूप अत्यधिक मार्मिक हो उठा। जहाँ धार्मिकता की चिन्ता में सिद्धों के पदों में अधिकांशतः नीरसता मिली वहाँ इनके ऐसे पदों ने सरसता भी बहुत ला दी।

हमें कबीर के मत की रूप-रेखा इस कारण खींचनी पड़ी कि कबीर का मौलिक स्वरूप पहले धर्मगुरु का है फिर कवि का और इसी प्रथम स्वरूप के ही आधार पर उनका काव्यरूप खड़ा भी हुआ है अतएव उसे छोड़कर उनके काव्यरूप का अध्ययन समीचीन नहीं।

संतमत का प्रधान उद्देश्य पढ़ते हुए भेद-भाव, पाखंड, आडंबर आदि को दूरकर मनुष्य के प्रति प्रेम को उत्पन्न कराना था। इस दृष्टि से सभी संत-कवियों ने अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये काव्य का माध्यम ग्रहण किया और विशेष कर दोहों और पदों की ही शैली को अपनाया। इन दोनों शैलियों में गीतिकाव्य की दृष्टि से पदों की ही शैली महत्व रखती है। इनकी रचना राग रागिनी के आधार पर हुई है। धर्मोपदेश, सुधार एवं प्रचार की भावना ने इनकी अभिव्यक्ति का स्वरूप अत्यधिक सीधा और सरल बना दिया। जनता तक अपने मत को पहुँचाने के ध्येय ने कबीर आदि संत कवियों में उच्च कलात्मकता का अभाव भले ही ला दिया है किन्तु महत्व उसका इसी बात में है कि भाव जिस रूप, जिस भाषा में निकल पड़े उसी में इन्होने अपने पदों की रचना कर डाली। राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं के शब्द जो प्रचुरता से कबीर की बानी में मिलते हैं वे मूल रूप में कबीर के नहीं और अनुसंधान द्वारा ऐसा सिद्ध किया जा चुका है कि ऐसा मिश्रण बहुत परवर्ती काल का है।

जहाँ एक ओर रहस्यवाद की भावना ने उनके पदों में विरह, मिलन के भाव भरे वहाँ मतप्रतिपादन के उद्देश्य की भावना ने दूसरी ओर उनमें हठ-योग की समस्त क्रियाओं की सूची भी प्रस्तुत कर दी। इस प्रकार पदों का रूप कबीर में आकर उनकी साधना के अनुरूप भिन्न हो गया है और जब हम इस काव्यरूप की छान-बीन उनके वास्तविक साधक रूप को प्रथम दृष्टि में रखकर करते हैं तब हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बाह्य अभिव्यंजना का जो रूप कबीर के पदों ने ग्रहण किया वह बिल्कुल उनकी आन्तरिक अनुभूति के ही अनुरूप है। अस्तु कबीर के गीतिकाव्य के अध्ययन में उस अनुभूति को जो निरन्तर साधना में रत रहने के कारण उनके जीवन में प्रादुर्भूत हुई, हमें ध्यान में रखना होगा, तभी उनके गीतिकाव्य का मूल्यांकन संभव है।

कबीर का गीतिकाव्य

कबीर की सहज कलात्मकता-शून्य बानी में निःसन्देह वह माधुर्य नहीं जो उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों में उपलब्ध होता है, किन्तु यह भी निश्चित है कि जो कुछ भी कबीर के पदों में है वह अपनी एक निजी मौलिकता लिए हुए है। इस मौलिकता के स्वरूपांकन के लिए हमें कबीर की उस भूमि तक पहुँचना होगा जहाँ से उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए उपक्रम किया। क्योंकि बाहरी अभिव्यंजना में भीतरी मनोवृत्ति का हाथ प्रथम रहता है। इसी मनोवृत्ति के अध्ययन से हम कबीर को प्रथम भक्त और धर्मगुरु के रूप में पाते

हैं और तब कवि का रूप उन्हें मिलता दिखाई पड़ता है। यह रूप भी बड़ा ही अयत्नसाधित है, फलतः कबीर के गीतिकाव्य का रूप उनकी भीतरी मनोवृत्ति के अनुरूप यदि पूर्ववर्ती कवियों से भिन्न हो गया तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु पदों का जो रूप कबीर में है वह एक निश्चित रूप है जिससे पदों की एक भिन्न परम्परा हिन्दी में प्रवाहित हुई।

कबीर की बानी के संग्रह

कबीर की बानी का संग्रह उनके सम्प्रदाय के सर्वमान्य ग्रन्थ 'बीजक' में तो मिलता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त एक तो नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'कबीर ग्रन्थावली' के नाम से उपलब्ध हुआ जिसका संपादन बाबू श्याम-सुन्दरदास ने किया और दूसरा संग्रह 'गुरुग्रंथ साहब' के अन्तर्गत आए हुए 'कबीर वचन' के रूप में भी प्राप्य हुआ है। इन तीनों संग्रहों में सबसे प्राचीन बीजक ही प्रमाणित किया गया है।[1]

जिस प्रति का संपादन श्यामसुन्दर दास ने 'कबीर ग्रन्थावली' में किया, उसके लिए यह कहा गया है कि उस आधार प्रति का काल कबीर का मृत्यु से लगभग १५ वर्ष पूर्व का है। परन्तु परवर्ती शोध द्वारा आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने इस विषय में संदेह प्रकट करते हुए इस ओर लक्ष्य किया है कि यदि इनके पदों को प्रामाणिक मान भी लिया जाय तो १४ वर्ष की अवधि में कबीर ने अवश्य ही बहुत से पद, दोहे आदि कहे होंगे जो इस संग्रह में न आ सके। दूसरे, प्रस्तुत संग्रह में छपा हुआ पुरानी प्रति का एक अन्तिम पृष्ठ भी है जिसमें संवत् की लिखावट दो स्थान पर दो प्रकार से है। अतः इसकी प्रामाणिकता में सन्देह है। किन्तु इसकी प्राचीनता में आचार्य द्विवेदी जी ने सन्देह नहीं किया है। यह अवश्य उन्होंने निर्धारित किया है कि जिस रूप में इसका सम्पादन हुआ है वह इसे १८वीं शताब्दी के आदि या मध्य भाग का ही बताती है।[2]

एक बात और। 'कबीर ग्रन्थावली' का सम्पादन वस्तुतः दो प्रतियों के आधार पर हुआ। ये प्रतियाँ 'क' और 'ख' के रूप में हैं। इनमें 'क' प्रति को ही अधिक प्रामाणिक मानते हुए उसका काल सम्पादक ने संवत् १५६१ माना है और 'ख' प्रति का काल सं० १८८१। परन्तु इस पर भी विचार

---

१. कबीर, ह० प्र० द्विवेदी पृ. १८।
२. पृ. १६, २०. ह० प्र० द्वि०

करते हुए आचार्य द्विवेदी ने दोनों में बहुत कम अन्तर देखकर केवल ५० वर्ष का अन्तर माना है।[1]

तीसरा संकलित ग्रन्थ भी पुराना प्रमाणित किया गया है जिसका समय 'गुरुग्रन्थ साहब' के संकलन का काल निर्धारित किया गया है। इसलिये इसका संकलन ईसवी सन् की १६वीं शताब्दी में अवश्य हो चुका होगा। क्योंकि कहा यही जाता है कि 'गुरुग्रन्थ साहब' का संकलन सं: १६६१ में में हुआ था।[2] डा० राजकुमार वर्मा ने अपने सन्त कबीर में गुरुग्रन्थ साहब के अन्तर्गत आए बचनों का संग्रह किया और 'कबीर ग्रन्थावली' के परिशिष्ट में भी इसके पदों का संग्रह है।

इन तीनों संग्रहों में कबीर पंथी सन्तों ने यदि किसी को प्रामाणिक माना है तो 'बीजक' को और इन्हीं पदों का वे पाठ करते हुए भी मिलते हैं। एक संग्रह अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', का भी कबीर वचनावली' के नाम से निकला है।

'बीजक' में पदों का संग्रह मुख्यरूप से एक तो 'सबद' और 'रमैनी' में हुआ है और दूसरे लोकगीतों के आधार पर निर्मित पदों का संग्रह 'कहरा' 'वसंत' 'चाँचर' 'बेली' 'बिरहुली' और 'हिंडोला' नामक प्रकरणों में हुआ है। 'सबद' और 'रमैनी' के पदों की रचना शास्त्रीय रागरागियों के आधार पर हुई है। खुसरो के समान इन गीतों की भाषा भी ब्रजभाषा है एवं पूर्वी बोली का पुट भी उसमें दिया गया है। गीतिकाव्य की दृष्टि से 'सबद' और 'रमैनी' के पदों में गीतितत्व मिलता है। किन्तु इन दोनों संग्रहों में भी 'सबद' में काव्यत्व और गीतात्मकता अधिक मिलती है। 'रमैनी' के पद अधिकांशतः सिद्धान्त-निरूपक हैं जिससे काव्यत्व का अभाव इन पदों में आ गया है। यही कारण है गीतिकाव्य की दृष्टि से 'रमैनी' के पदों को हम विवेचना में नहीं लेते। उनमें न तो भावात्मकता है न रागात्मक आवेश की बाह्य अभिव्यंजना। केवल रागरागियों का आधार ही गीतिकाव्य के लिये अपेक्षित नहीं। प्रत्युत वह तो हृदय के भावों की तीव्र संगीतात्मक अभिव्यक्ति है। अस्तु कबीर के पदों में 'सबद' के अंतर्गत आए हुए पद ही गीतात्मक उन्मेष से भरपूर हैं और वे ही गीतिकाव्य के अन्तर्गत रखे जाते हैं। साथ ही अन्य

---

१. 'कबीर के बचन', विश्वभारती पत्रिका, ह० प्र० द्विवेदी।
२. " " ह० प्र० द्विवेदी।

प्रकरणों में आए हुए लोकगीतों के आधार पर निर्मित पद भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

पदों के अन्यान्य प्रकार

यों तो कबीर की आध्यात्मिक प्रवृत्ति उनके संपूर्ण पदों में परिलक्षित होती है और उनका एक-एक पद संतमत की आधारशिला पर टिका हुआ है, तथापि मोटे तौर पर उनका वर्गीकरण गीतितत्व के तारतम्य में सहायक है। उनके पद मुख्यरूप से चार वर्गों में रखे जाते हैं—१. उपदेशात्मक और नीतिपरक, २. वैराग्यसंबंधी, ३. सिद्धांतनिरूपक, ४. विरह-मिलन के पद।

विषय के अनुरूप ही गीतों के बाह्यस्वरूप में भी परिवर्तन होते गए हैं जहाँ हृदय की भावात्मकता को अभिव्यक्त होने का अधिक अवसर मिला है, वहाँ पदों में संगीत का तत्व स्वतः इस प्रकार नियोजित हो गया है कि वे अति मार्मिक बन गए हैं। किन्तु जहाँ हृदय-तत्व का योग नहीं, वहाँ पदों का रूप बौद्धिकता से बोझिल है। कुछ पदों में रागात्मक उन्मेष इतना अधिक मिलता है कि अभिव्यंजना का स्वरूप बड़ा ही वैयक्तिक है।

(१) उपदेशात्मक पदों में कवि की भावना अधिक गीतात्मक नहीं हो पाई है :—

अपन पौ आपुहीं बिसरेवो।
जैसे श्वानहि काँच मन्दिर महँ।
भरमत भूकि मरेवो।
ज्यों केहरि बपु निरखि कूप जल।
प्रतिमा देखि परे वो।
वैसे ही गज स्फटिक शिला महँ।
दशननि आनि अरेवो।
मरकट मूठि स्वाद नहि बिहुरे।
घर घर रटत फिरे वो।
कहहिं कबीर ललनी के सुगना।
तुहिं कवने पकरे वो। ४०॥[१]

ऐसे पदों में अधिक भावात्मकता नहीं मिलती, क्योंकि कवि की मनोवृत्ति उपदेशात्मक बातों के निरूपण में उलझ गई है।

(२) वैराग्य भरे पदों में कवि ने संसार की असारता इस रूप में अभिव्यक्त की है कि एक-एक पंक्ति से नैराश्य एवं अवसाद के भाव टपकते हैं:—

---

१. मूल बीजक, शब्द प्रकरण, सन् १९३८, बड़ोदा।

रहना नहीं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार कांटे की बाड़ी उलझ पुलझ मरि जाना है।
यह संसार झाड़ और झाँखर आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भई साधो सतगुरु नाम ठिकाना है ॥२१०॥

—कबीर बचनावली, पृ० १८२।

प्रस्तुत पद में गीतिमत्ता का अभाव होने पर भी हृदय की सच्ची अनुभूति का अभिव्यंजन होता हुआ दिखाई पड़ता है, जिसमें कवि जीवन के अनुभूत सत्य को बड़े सहज रूप में कहता हुआ दिखाई पड़ता है।

(३) सिद्धान्त निरूपण के पदों में हठयोग की अन्यान्य बातों का समावेश है जिससे कवि की कोमल भावना दब गई है, बौद्धिकता ऊपर उठ आई है। ऐसे पदों में वर्णन अधिक है और कबीर इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, चक्रों में उलझ गए हैं। कहीं-कहीं सिद्धान्त निरूपण के पदों की शैली उलटबाँसियों के रूप में हैं। गीतिकाव्य की दृष्टि से ये बिल्कुल महत्वहीन हैं। अस्तु इनको उसके अन्तर्गत नहीं रखते। उनका रूप पदों से भिन्न हो गया है। किन्तु उन पदोंमें जहाँ कवि की भावना इंगला, पिंगला में अटक गई है, सच्चा गीतिकाव्य-तत्व नहीं मिलता। हाँ, एक-आध स्थलों पर ऐसे पदों में कवि का कौशल सचमुच प्रंसनीय भी है, जहाँ संगीत के तत्व से कवि की भावना योग की बातों का निरूपण करते हुए भी, अति गीतात्मक हो उठी हैं। शब्दों के चयन में पद का संगीत बहुत मधुर हो गया है :—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे का ताना काहे का भरनी, कौन तत्व से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कवँल दल चरखा डोले, पाँच तत्व गुन तीनी चदरिया।
सांइ को सियत मास दस लागे, ठोक ठोक के बीनी चदरिया।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ि, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ि, ज्यों की त्यों रख दीनी चदरिया।

—क० ब० २२३, पृ० १८७।

(४) विरह के पदों में ही आकर कबीर का सच्चा गीतात्मक स्वरूप देखने को मिलता है। इन पदों में कबीर की आत्मा विरह की वेदना से आकुल होकर अभिव्यक्त हो पड़ी है। यहाँ अनुभूति अपने सहज रूप में बिना किसी अवरोध के बड़े ही स्वतःप्रवृत्त रूप में बाहर प्रकट हुई है। यहाँ न तो

'नाद' का चक्कर है और न किसी 'चक्र' का फेर; प्रत्युत कवि उस परमात्मा के विरह में यहाँ तड़पता दिखाई पड़ता है। भावों की तीव्रता के साथ अभिव्यंजना का स्वरूप बड़ा ही गीतात्मक हो उठा है। इसमें सगुण धारा के कवियों की-सी भावात्मकता भी मिलती है। अस्तु, विरह के पदों में उनके उन्मुक्त हृदय का उन्मुक्त अभिव्यंजन, उन पदों को सच्चे गीतिकाव्य की श्रेणी में रखता है।

उस अनन्त सत्ता के विरह में क्योंकर दिन कटेंगे, यह जतन केवल वही बता सकता है, दूसरा कोई नहीं। अतः कातर होकर वे गा उठते हैं—

कैसे दिन कटिहैं, जतन बताए जइयो ।। टेक ।।
एहि पार गंगा, वोहि पार जमुना,
बिचवाँ मड़इया हम का छवाये जइयो ।। कैसे० ।।
अँचरा फारि के कागद बनाइन,
अपनी सुरतिया हियरे लिखिये जइयो ।। कैसे० ।।
कहत कबीर सुनो भई साधो,
बहियाँ पकरि के रहिया बताए जइयो ।। कैसे० ।।

—कबीर बचनावली (१०२)

इस पद की प्रथम पंक्ति ही कितनी मर्मस्पर्शिणी है अनुभूति और अभिव्यक्ति मिलकर एक हो रही हैं, जिसमें संगीत स्वतः फूट पड़ा है और काव्यरूप बड़ा ही गीतात्मक हो उठा है।

विरह के पदों के समान मिलन में संयोग का आह्लाद भी भरपूर है। विरहाकुल हृदय से जब कबीर ने 'बाल्हा आव हमारे ग्रेह रे; तुम बिन दुखिया देह रे' [1] कहकर पुकार की, तब उनकी सच्ची प्रेमनिष्ठता को देख भगवान उनके पास स्वयं आते हैं। तब कवि गा उठता है :—

दुलहिनी गावो मंगल चार
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ।।टेक।।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ,
पंच तत्त बराती ।।
रामदेव मोरे पाहुने आए।
मैं जोबन मैमाती ।।

---

१. कबीर-ग्रन्थावली—पद ३०७ पृ० १९२

सरीर सरोवर वेदी करिहूँ।
ब्रह्मा वेद उचार ।।
रामदेव संगि भाँवरि लैहूँ।
धनिधनि भाग हमार ।।
सुर तैतीसुँ कौतिक आए।
मुनियर सहस अठयासी ।।
कहै कबीर हंस ब्याहि चले हैं।
पुरुष एक अविनासी ।। १ ।।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० ८७।

विरह के पदों में हमें कवि का आत्मनिवेदन भी मिलता है और मिलन के चित्रों में हृदय की उत्फुल्लता का ही अभिव्यंजन है। आत्मनिवेदन में वैयक्तिकता का तत्व गीतिकाव्य में अत्यधिक मात्रा में सन्निविष्ट हुआ है। अतएव कबीर के विरह के पद गीतिकाव्य की दृष्टि से उत्तम हैं।

विरह और मिलन के पदों में कबीर की दार्शनिकता प्रेम के साथ एकाकार हो गई है। यहाँ विचार और अनुभूति का समन्वय दिखाई पड़ता है, जो गीतिकाव्य की विशेषता है। उनमें हृदय का स्पन्दन, व्याकुलता, आवेश, औत्सुक्य सभी बातें मिलती हैं। वैयक्तिक अनुभूति को इन पदों में व्यापक रूप दिया गया है। कबीर के भाव, उनका सुख-दुःख, इस रूप में मानवमात्र का सुख-दुःख बन गया है। प्रेरणा एवं भावना की उत्कृष्टता में ये पद उच्च कोटि के हो गए हैं। इनमें बाह्य अलंकरण के न होते हुए भी अन्तर की पुकार है।

कबीर के निर्गुण पद और विशेषकर विरह के पद, अनुभूति और विचार के सामंजस्य को लेकर, रूप की दृष्टि से गीतिकाव्य के एक नवीन स्वरूप को लिए हुए हैं। यह बात अवश्य है कि उनमें कहीं कहीं अनुभूति और कला मिलकर एक नहीं हो पाई है, परन्तु जहाँ कहीं ये दोनों तत्व एकरूप हो गए हैं, वहाँ रूप एक मौलिकता को भी लिए हुए है। विकास की दृष्टि से कबीर तक पहुँचते-पहुँचते वैयक्तिक अनुभूति के अभिव्यंजन को गीतिकाव्य में अधिक स्थान मिलने लगा; किन्तु रूप का परिष्कार यहाँ उस रूप में न मिला जो सचेत कलाकार की कृति में परवर्ती काल के कवियों में मिला। उनके पदों का संगीत, सिद्धों के प्रभाव से मुक्त एक भिन्न संगीत है और छन्दों का ढंग भी निराला है। इस संगीत का आनन्द तभी मिल पाता है, जब पद के सूक्ष्म मर्म को समझने वाला उसे गाता है। लोकगीतों की अनोखी मिठास उनके पदों

में अवश्य है। उनके पदों में 'टेक' की पद्धति ने गीतों की संगीतात्मकता में योग दिया है। इसी 'टेक' के तौल पर अन्य चरण स्वतः जुड़ते हुए चले जाते हैं। जहाँ कहीं उनके ये पद लोकगीतों की माधुरी को अपने में लिये हुए हैं, वहाँ काव्यरूप अपेक्षाकृत मधुर हो गया है।

छन्दों के प्रयोग में कबीर ने स्वतन्त्रता से काम लिया है। उन्होंने पदों में छन्द का बन्धन स्वीकार नहीं किया है; अतएव इस स्वतन्त्र भावना की दृष्टि से कबीर के पदों का महत्व बढ़ जाता है। भाव के अनुरूप ही इनके छन्दों का रूप स्वतः घट-बढ़ गया है। आगे चलकर 'छायावाद' युग में छन्द को लेकर इस प्रकार की स्वतन्त्र प्रवृत्ति का द्योतन अनेक कवियों ने भी किया।

कबीर के 'सबद' के अन्तर्गत आए हुए पद आध्यात्मिक श्रेणी में रखे जायँगे। उनमें बौद्धिकता एवं भावात्मकता का ऐसा मिश्रण हुआ है कि कहीं आध्यात्मिकता उनके बौद्धिक पदों में उतरी है, तो कहीं भावात्मक पदों में उसने अपनी अभिव्यक्ति का सुन्दर मार्ग ढूँढ़ निकाला है। फलतः एक ओर उपदेश और सिद्धान्त प्रतिपादन से पदों में रुक्षता आ गई है, तो दूसरी ओर हृदयावेग बड़े ही सरस पदों में ढल गया है।

कबीर के गीतिकाव्य के कुछ अन्य रूप

कबीर के 'बीजक' के अन्तर्गत कुछ ऐसे रूप आए हैं जो लोकगीतों से लिए गए हैं। इन रूपों में विशेष कर 'कहरा', 'बसन्त', 'बेली', 'बिरहुली', 'चाँचर', 'हिंडोला', अधिकांश रूप में संत कवियों द्वारा गृहीत हुए। किन्तु भाव की दृष्टि से संतों के ये काव्यरूप, लोकगीतों से भिन्न हो गए हैं। कबीर ने 'कहरा' ताटंक छन्द में लिखा जिसमें संगीत बिलकुल लोकगीतों के आधार पर नियोजित हुआ है:—

ओढ़न मोरे राम नाम के।
रामहिं के बनिजारा हो॥
रामनाम के करौं वणिजारा।
हरि मोरे हटवाई हो॥
सहस्र नाम का करौं पसारा।
दिन दिन होत सवाई हो॥
....
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो।
जोर चला जहँडाई हो॥ २॥[1]

---

१. मूलबीजक, रामखिलावन गोस्वामी, सन् १९३८।

'बसंत' में कबीर ने ऋतु का वर्णन न कर, योग की बातों का ही गुंफन किया है :—

रसना पढ़ि लेहु श्री बसंत ।
पुनि जे परिहहु यम के फन्द ।।
मेरु दण्ड पर डंक कीन्ह ।
अष्ट कमल परजारी दीन्ह ।।
कहैं कबीर इ हरि के दास ।
फगुवा माँगै बैकुण्ठ बास ।।८।। —बसंत प्रकरण ।

'बेली' में उपमान छन्द का प्रयोग कर उपदेशात्मक भाव भरे हुए हैं :—

हंसा सरबर शरीर में, हो रमैया राम ।
जागत चोर घर मूसे, हो रमैया राम ।। १ ।।
—बेली प्रकरण ।

'बिरहुली' साँप के काटने पर झाड़ते समय का गीत है । कबीर ने इसका प्रयोग भी अपनी आध्यात्मिकता के अनुरूप ही किया है । यहाँ माया-रूपी सर्प के काटने के अर्थ में कबीर ने 'बिरहुली' रची है :—

आदि अन्त नहि होत बिरहुली ।
नहि जर पल्लव पेड़ बिरहुली ।।
निशि बासर नहि होत बिरहुली ।
पवन पानि नहि मूल बिरहुली ।। १ ।।
—बीरहुली प्रकरण ।

इसी प्रकार होली के अवसर पर गाया जाने वाला 'चाँचर' भी यहाँ आध्यात्मिक भाव के प्रदर्शनार्थ ही प्रयुक्त हुआ है :—

खेलति माया मोहिनी ।
'जिन' जेर कियो संसार ।।
रच्यो रङ्ग तिनि चूनरी ।
'कोई' सुन्दरि पहिरे आय ।। १ ।।
—चांचर प्रकरण ।

'हिंडोला' भी यहाँ भ्रम का है और पाप पुण्य के दो खम्भे लगे हैं :—

भरम हींडोलना जामें ।
झूलै सब जग आय ।।
पाप पुण्य के खम्भ दोऊ ।
मेरू माया मानि ।। १ ।।
—हिंडोला प्रकरण ।

परवर्ती सन्त कवि

कबीर के पश्चात् इस धारा के अनेक सन्तों ने पदों की रचना की। इनमें दादूदयाल, धर्मदास, रैदास, नानक, सुन्दरदास, मलूकादास आदि प्रसिद्ध हो गए हैं। परन्तु गीतिकाव्य के विकास की दृष्टि से इनके पदों में अधिक मौलिकता नहीं मिलती। यदि किसी कवि में कुछ अपनी मौलिक उद्भावना दिखाई पड़ती है तो वह दादूदयाल ही में।

दादूदयाल पर कबीर का प्रभाव कुछ न कुछ तो अवश्य पड़ा, किन्तु उन्होंने अपने भिन्न व्यक्तित्व के अनुरूप इस प्रभाव को अपने पदों में इस प्रकार आत्मसात करके दिखाया है कि हम यही कह पड़ते हैं कि कबीर कबीर हैं और दादू दादू। इनके पदों ने अभिव्यंजना का जो स्वरूप ग्रहण किया है उससे उनका हृदय विरह से आप्लावित दिखाई पड़ता है और इस विरह में वे इतने लीन हो गए हैं कि उन्हें समाज को न तो फटकारने का अवकाश मिला और न किसी पर कठोर व्यंग्य करने का अवसर ही हाथ लग पाया। उन्हें तो अभीष्ट था अपने पदों में विशेष रूप से विरहजन्य अनुभूति का अभि-व्यंजन। विरहाकुल हृदय की वेदना बड़े ही सहज रूप में बाहर अभिव्यंजित हुई है। इस रूप में न तो कवित्व प्रदर्शन की प्रवृत्ति है, न कलात्मकता की ओर झुकाव। इसी कारण उनके पद बड़े ही मर्मस्पर्शी हुए हैं। विरह में तड़पन के आधिक्य से उनके पदों का रूप बड़ा ही मार्मिक हो गया है :—

॥ राग गौडी माडी ॥

अजहूँ न निकसे प्रान कठोर ॥ टेक० ॥
दरस बिना बहुत युग बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ॥
चार पहर चारहु युग बीते, रैन गँवाई भोर।
अवध गए अजहूँ नहिं आये, कतहूँ रहे चित चोर ॥
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर।
दादू अइसहिं आतुर बिरहिनी, जइसहिं चन्द चकोर ॥ ५ ॥[1]

कहीं-कहीं इनकी भावना मीरा जैसी हो गई है। यहाँ राजस्थानी पुट भी इमें मिलता है :—

कोई कहियो रे म्हारा नाथ ने, थारी नैन निहारे वाट ॥ टेक० ॥
दीन दुखिया सुन्दरि करनां, बचन कहै रे।
तुम्ह बिन नाह बिरहिनी व्याकुल, किमि करि नाथ रहै रे ॥

---

१. दादूदयाल की बानी, वेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद सन् १६१४।

भूधर बिना भावइ नहिं कोई, हरि बिन और न जानई ।
देह ग्रेह हूँ तेन्है आपौ, जो कोइ गोविन्द आनई ।।
जगपति नैं जोवा नै करजै, आतुर थई रही रे ।
दादू ने देषा डौं स्वामी, व्याकुल होइ गई रे ।। १४६ ।।

अन्य सन्त कवियों ने 'सबद' के अन्तर्गत पद-रचना तो की, परन्तु लोक-गीतों के रूपों में भावाभिव्यंजना को अधिक अपनाया । बुल्लासाहब, गुलाल साहब, तुलसीसाहब आदि कवियों ने 'बसन्त', 'हिंडोला', 'होली', 'लावनी' के ढंग पर गीतों की रचना अधिक परिमाण में की । इनमें तुलसीसाहब ने 'लावनी' का प्रयोग नवीन ढंग से किया :—

।। लावनी ।।

पिया दरस बिना दीदार दरद दुख भारी ।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी ।। टेक ।।
क्या जनम लिया जग माँहि मूल नहिं जाना ।
पूरन पद को छाँड़ि किया जुलमाना ।।
× × × ×
जुग जुग में जीवन मरन आज नर देही ।
सुख सम्पति में पार पुरुष नहि सोई ।।
जग में रहना दिन चार बहुरि मरना ही ।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी ।। १ ।।[1]

वैष्णव भक्ति और गीतिकाव्य का परिष्कृत रूप

वैष्णव भक्ति का प्रादुर्भाव अत्यन्त प्राचीनकाल से माना जाता है, जब अपनी प्रथमावस्था में उसे 'भागवत धर्म' कहकर पुकारा गया । कहा जाता है, ईसा से पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी में वासुदेव सर्वश्रेष्ठ देवता माने गए और इन्हीं के उपासकों को 'भागवत' कह कर पुकारा गया; अतः उनका धर्म भागवत धर्म के नाम से अभिहित हुआ । इसी भागवत धर्म में जब विष्णु एवं उनके अवतारों की उपासना एक नवीन ढंग से होने लगी, तब यही भागवत धर्म वैष्णव धर्म के रूप में प्रस्तुत हुआ । इस वैष्णव-भक्ति में, शैव-भक्ति की अपेक्षाकृत अधिक आकर्षण निहित था । यही कारण है उसने न केवल साहित्य वरन् कला के क्षेत्र में भी अमिट प्रभाव डाला । यहाँ उपास्य-देव के प्रधानतः दो रूप मिले । एक तो कृष्ण और दूसरा राम । इनमें भी

---

१. तुलसीसाहब की बानी, बेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद सन् १९१४ ।

जितना आकर्षण कृष्ण-भक्ति में दिखाई पड़ा, उतना राम-भक्ति में नहीं। सच पूछा जाय तो कृष्ण-भक्ति के प्रादुर्भाव के साथ गीतिकाव्य का अविरल स्रोत फूट पड़ा। अतएव वैष्णव सम्प्रदाय का महत्व मध्यकालीन गीतिकाव्य के उद्भव और विकास में बहुत है।

भागवत धर्म में कृष्ण के जिस रूप की उपासना की गई उनका स्वरूप वासुदेव कृष्ण का था, किन्तु वैष्णव संप्रदाय में आकर कृष्णोपासना में कृष्ण के बाल-स्वरूप अथवा गोपालकृष्ण की उपासना को प्रधानता दी गई। ये गोपालकृष्ण, वासुदेव-कृष्ण से भिन्न दिखाई पड़े। महाभारतकाल के पर्याप्त समयोपरान्त, लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी में जब हमारा 'आभीरों' से संसर्ग हुआ, तभी उनके उपास्यदेव के बाल-रूप में वैष्णव धर्म के कृष्ण की भावना का आरोप किया गया। सम्भवतः तभी से इस संप्रदाय में बाल-स्वरूप की उपासना भी प्रचलित होने लगी और आगे चलकर बल्लभाचार्य तक पहुँचते-पहुँचते इन्हीं गोपाल कृष्ण को अत्यधिक प्रधानता मिल गई।

वैष्णव-भक्ति-मार्ग के आदि प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य हुए जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती शङ्करके 'मायावाद'का खंडन कर 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त की स्थापना की। इनके पश्चात् मध्वाचार्य ने आकर अपने ब्रह्म संप्रदाय की प्रतिष्ठा की। तत्पश्चात् निम्बार्क का 'सनक सम्प्रदाय' और विष्णुस्वामी का 'रुद्र सम्प्रदाय' प्रसिद्ध हुआ।

परवर्ती भक्त

उत्तर भारत में इन चारों भक्तों द्वारा चार प्रकार की भक्ति का प्रचार हुआ और इन्हीं से प्रभावित होकर अन्य भक्तों ने अपने नए सम्प्रदायों का प्रतिपादन नए ढङ्ग पर किया। प्रेरणा लेनेवाले इन भक्तों में रामानन्द हुए, जिन्होंने रामानुज से प्रभावित होकर उनके श्रीसम्प्रदाय को एक बड़ा ही व्यापक रूप दिया। इन्होंने नारायण या विष्णु को एक नवीन रूप में भक्ति का आलम्बन बनाया। अर्थात् सीधे उनकी भक्ति न कर, उनके अवतार-रूप 'राम' की भक्ति को महत्ता दी और रामानुज के कर्मकाण्ड की उपेक्षा की। इस प्रकार इनकी भक्ति राम और सीता पर आश्रित होकर, बड़ी ही मर्यादा-पूर्ण भक्ति प्रमाणित हुई। इन्हीं से प्रेरणा लेनेवाले भक्त कवि हुए तुलसी। दूसरी ओर विष्णुस्वामी के 'शुद्धाद्वैतवाद' से प्रभावित हुए बल्लभाचार्य, जिन्होंने अपना नया भक्ति मार्ग निकाला, जिसे 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। इसी भक्ति मार्ग से प्रेरित हुए भक्त कवि सूरदास, जिन्होंने कृष्ण की भक्तिमें गीतों का सागर भर दिया।

वल्लभ सम्प्रदाय और उसका शुद्धाद्वैतवाद

वल्लभाचार्य के आते ही कृष्णभक्ति में इतना अधिक आकर्षण समायोजित हो गया कि उस ओर जनता अधिक से अधिक संख्या में झुकने लगी। वल्लभाचार्य से पूर्व के आचार्यों ने 'प्रस्थानत्रयी' के आधार पर भक्ति का प्रतिपादन किया, किन्तु इन्होंने उसके स्थान पर 'प्रस्थान-चतुष्टयी' की प्रतिष्ठा कर 'उपनिषद्', 'ब्रह्मसूत्र', 'गीता' और 'भागवत' इन चारों को प्रधानता दी और अपने भक्ति मार्ग की स्थापना की। यह भक्ति मार्ग 'पुष्टि-मार्ग' कहलाया, जिसका स्पष्ट उल्लेख 'भागवत' के दशम स्कन्ध में 'पोषणं तदनुग्रहः' द्वारा हुआ है। भगवान का अनुग्रह, पोषण है। इस अनुग्रह को भक्त शुद्ध प्रेम द्वारा प्राप्त करता है, अतः इस अनुग्रह से प्राप्त भक्ति को वल्लभाचार्य ने पुष्टि-भक्ति कह कर अभिहित किया। इस भक्ति का स्वरूप यहाँ 'प्रेम-स्वरूपा' ही है, अर्थात् प्रेम-लक्षणा भक्ति को अपना कर उन्होंने अपनी भक्ति के अन्तर्गत श्रद्धा के अवयव को दूर ही रखा, जिसे मर्यादा मार्ग में प्रधानता मिली। इस पुष्टि-भक्ति को उन्होंने चार प्रकार का बताया—(१) प्रवाहपुष्टि, (२) मर्यादापुष्टि, (३) पुष्टिपुष्टभक्ति और (४) शुद्ध पुष्टिभक्ति। प्रथम में भक्त अहंभाव (मैं, मेरा) के होते हुए ईश्वर की प्राप्ति के लिये उद्यत होता है और कुछ कर्मों द्वारा अपनी इच्छापूर्ति करता है। दूसरे प्रकार की भक्ति में भक्त सांसारिक विषयों से विमुख होकर भगवान के गुणगान, कीर्त्तन आदि द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करता है। 'पुष्टि-पुष्ट' भक्ति में भक्त ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त कर अपने ज्ञान द्वारा उस तक पहुँचने का मार्ग निकालता है और इस प्रकार उसकी भक्ति में लीन होता है। चौथे प्रकार की भक्ति में भक्त बिना किसी बाह्य प्रयास के उस परमात्मा का भजन-कीर्तन आदि अपने प्रेम के कारण करता है।

इसी पुष्टि भक्ति को वल्लभाचार्य ने सर्वश्रेष्ठ माना और इसी पर अपनी भक्ति का विशाल स्वरूप भी खड़ा किया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि भगवान के अनुग्रह से भक्त के हृदय में उस भक्ति का संचार होता है, जिसे प्राप्त कर वह भगवान के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वह आसक्ति के समस्त ग्यारहों स्तरों से होता हुआ 'परम विरहासक्ति' को पहुँच जाता है। यही कारण है वल्लभ-सम्प्रदाय में समस्त आसक्तियों का वर्णन भी मिलता है। ये हैं क्रमशः गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति। भक्त वात्सल्यासक्ति से क्रमशः

होता हुआ परम विरहासक्ति को पहुँच जाता है, जहाँ जाकर भक्त और भगवान एक हो जाते हैं। किन्तु विरह का भाव तब भी बना रहता है। यही भक्ति की चरमावस्था है।

अष्टयाम और उसका महत्व

वल्लभ सम्प्रदाय में उपासना का स्वरूप भी एक नवीन ढङ्ग से खड़ा हुआ। चैतन्य ने भक्ति-क्षेत्र में रासक्रीड़ा को अधिक प्रधानता दी, अतः नृत्य-संगीत-समन्वित कीर्तन को उनके सम्प्रदाय में प्रमुख स्थान मिला। किन्तु वल्लभ ने इसको प्रधानता न देकर नित्याचार को प्रधानता दी और इसी नैमित्तिक आचार को दृष्टि में रखकर वैष्णव मन्दिरों में 'अष्टयाम' की उद्‌भावना की गई। इसी को आठ झाँकियाँ कहते हैं। ये झाँकियाँ उपास्य-देव के नित्यकर्मों के अनुसार सजाई जाती थीं। प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक ये झाँकियाँ क्रमशः थीं, जागरण, कलेऊ, दधिमाखन, गोदोहन, गोचा-रण, यमुना-तट-क्रीड़ा, सन्ध्यासमय गृह आगमन और शयन। इनके क्रमशः ये नाम थे—१. मङ्गला, २. शृङ्गार, ३. ग्वाल, ४. राजभोग, ५. उत्थापन, ६. भोग, ७. सन्ध्या, ८. शयन। एक-एक पहर पर एक-एक गायक नियत झाँकियों के समय गाता था। ये गान समयानुकूल राग-रागिनियों में विभक्त होते थे। और गायन-वादन के सहित कीर्तन नित्यप्रति होता था। फलतः नित्य नवीन पदों की रचना भक्तों के लिए परमावश्यक हो गयी और ये भक्त कुशल संगीतज्ञ ही नहीं, कवि भी बन गए। वल्लभ सम्प्रदाय की इस उपासना पद्धति के अनुरूप कृष्णलीला विषयक गीतिकाव्य की धारा बह निकली।

गोस्वामी विट्‌ठलनाथ और उनका अष्टछाप

वल्लभाचार्य ने जिस 'अष्टयाम' की पद्धति को अपनी उपासना में स्थान दिया, उसको एक सुव्यवस्थित रूप उस समय मिल गया जब गोस्वामी विठल-नाथ ने 'अष्टछाप' की स्थापना की। इसमें सूरदास, नन्ददास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास, ये आठ भक्त थे। ये आठों भक्त अच्छे संगीतज्ञ तो थे ही, साथ ही कवि भी बहुत उच्च श्रेणी के थे। आचार्य की व्यवस्थानुसार आठों भक्तों का समय निर्धारित भी कर दिया गया था, जिसमें प्रत्येक भक्त आत्मनिवेदन के रूप में पदों को गाता था। 'मंगला' झाँकी के समय परमानन्ददास, 'शृंगार' में नन्ददास, 'ग्वाल' में गोविन्दस्वामी, 'राजभोग' में कुंभनदास, 'उत्था-पन' में सूरदास, भोग में चतुर्भुजदास, 'सन्ध्या' में छीतस्वामी और 'शयन'

में कृष्णदास द्वारा कीर्तन करने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार प्रतिदिन नवीन से नवीनतम पदों की रचना प्रस्तुत होने लगी और एक ओर जहाँ भक्ति-भावना में उज्ज्वलता आती गई, वहाँ काव्योत्कर्ष भी देखने को मिला, साथ ही संगीत के शास्त्रीय विधान में परिष्कार भी होता गया। यही कारण है 'अष्टछाप' का महत्व न केवल भक्ति की दृष्टि से है, प्रत्युत साहित्यिक एवं कलात्मक दृष्टि से भी बहुत है। संगीत और काव्य का जितना सुन्दर सामंजस्य इन वैष्णव पदों में हुआ उतना अन्यत्र दुर्लभ है। अस्तु जब वैष्णव भक्ति का अविरल स्रोत प्रवाहित हुआ, तब गीतों की भरमार हमारे साहित्य में हो गई। इन गीतों का मूल इन्हीं सांप्रदायिक कीर्तनों एवं भजनों में छिपा हुआ मिलता है। ये कीर्तन, यों तो सामूहिक होते थे, किन्तु झाँकी के समय उनका स्वरूप व्यक्तिगत होता था। यही कारण है आत्मनिवेदन के पदों में कवि का अन्तःकरण बड़े ही आत्माभिव्यञ्जक रूप में अभिव्यञ्जित हुआ है।

अष्टछाप का संगीत

कीर्त्तन-पद्धति ने इस संप्रदाय में संगीत की योजना कर, उसका परिष्कार ही न किया, प्रत्युत नवीन राग-रागिनियों को जन्म भी दिया। प्रायः अष्टछाप के सभी भक्तों को संगीतशास्त्र से अभिज्ञ पाया जाता है। यही कारण है कि ये भक्त-कवि काव्य का संगीत के साथ समन्वय कर पाए। उनके पदों में संगीत के शास्त्रीय विधान की ओर इतना अधिक ध्यान दिया गया है कि संगीतशास्त्र की एक-एक रागिनी को लेकर पद निर्मित हुए। वैष्णव गीतों के पूर्व सहजयानियों एवं नाथपंथियों में गीतोंका प्रचार था, किन्तु उनके पदों में संगीत का अपना भिन्न माधुर्य है। ध्रुपद शैली में भारतीय संगीत का सौन्दर्य अपूर्व है। वैष्णव गायन-पद्धति में इसी का सुन्दर परिष्कार हुआ।

अष्टछाप के भक्तों की काव्य-पद्धति संगीत के शास्त्रीय विधान के अनुकूल थी, जिसमें छन्दों के विधान की ओर उतना अधिक ध्यान न दिया गया जितना संगीत की ओर। यही कारण है कि इस काल तक आते-आते पदों का स्वरूप अपने परिस्कृत रूप को पहुँच गया—जहाँ जाकर कविता संगीत का सुर भरने लगी और संगीत काव्यमय हो उठा। सच पूछा जाय तो वैष्णव भक्ति की कृष्णोपासना पद्धति ने भक्तों को कवि का रूप इस प्रकार प्रदान किया कि एक रूप दूसरे से भिन्न नहीं किया जा सकता। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ये महानुभाव प्रथम तो भक्त हुए, फिर कवि और यही कारण है कि काव्य-रचना का लक्ष्य भगवद्कीर्तन होने के कारण, संगीत की ओर वे अधिक झुके। संगीत के स्वरों पर ही जैसे उनका काव्य बहता

सा प्रतीत होता है। कीर्त्तन द्वारा भक्त अपने आप को संगीत के लय के साथ उस भूमि पर पहुँचा देता था, जहाँ जाकर हर्ष और आनन्दातिरेक द्विगुणित होकर भक्त को आध्यात्मिक रस में लीन कर देता है। उसके उस कीर्तन में आत्माभिव्यंजन होता था, जिसमें कभी-कभी वह अपने दैन्य, कभी असामर्थ्य, कभी नैराश्य, तो कभी अपनी मूर्खता को अपने आराध्यदेव के समक्ष रखता था। यही नहीं, प्रत्युत उसके इस अभिव्यंजन में आराध्यदेव की विविध क्रीड़ाओं का कथन एवं उनके द्वारा उद्दीप्त हुए मन के हर्षोल्लास का व्यक्तिकरण भी होता था। बल्लभ संप्रदाय में इसी आत्मनिवेदन को सबसे अधिक महत्व दिया गया। यही आत्माभिव्यंजना गीतिकाव्य का प्रमुख गुण है।

पदों की मूल प्रेरणा

पुष्टिमार्ग में भक्ति का स्वरूप 'प्रेम' को ही लेकर पनपा। अस्तु आत्माभिव्यंजना के रूप में भक्तों ने जिन पदों की रचना कीर्तन के लिये की, उसमें प्रेम की ही प्रधानता हो गई। प्रेम के आलम्बन कृष्ण थे, जिनका स्वरूप 'भागवत' में तो बालमुकुन्द ही है, किन्तु इस संप्रदाय में आकर वे त्रिमुखी हो गए, अर्थात् बल्लभ ने न केवल कृष्ण के बाल स्वरूप को ही अपनाया, वरन् उनके राधिकाविहारी एवं गोवर्द्धनधारी स्वरूप की भी प्रतिष्ठा की। इस प्रकार जहाँ कृष्ण के लीला-विषयक पदों में वात्सल्य रस का परिपाक हुआ, वहाँ राधा-कृष्ण लीला में शृंगार रस का भी स्रोत बहा। सारांश यह कि पुष्टिमार्ग के भक्त कवियों ने वात्सल्य और शृंगार रस में ही अपने पदों की रचना की। शृंगार के अन्तर्गत भगवद्भक्ति और दाम्पत्य-रति, दोनों को स्थान मिला। साथ ही विनय के पदों में शान्त रस की भी छटा देखने को मिलती है। समुचित रूप से देखा जाय तो बालस्वरूप की ही उपासना को अधिक प्रमुखता देने के कारण बाललीला विषयक पदों का आधिक्य हो गया। इसके आगे बढ़े तो उन्होंने यौवन काल को ही अपनाया। अस्तु जीवन की नाना परिस्थति-विधायिनी घटनाओं एवं अवस्थाओं का दिग्दर्शन उनसे न बन पड़ा, उनकी प्रतिभा प्रबंध क्षेत्र में न चमक सकी, उसे केवल गीतों के क्षेत्र में उन्मुक्त प्रकाशन का पथ मिला।

इस प्रकार वैष्णव भक्ति का महत्व मध्यकालीन गीतिकाव्य के उद्भव और विकास में बहुत ऊँचा है। इसी वैष्णव भक्ति से गीतिकाव्य का विकास एक नवीन पथ से होता हुआ दिखाई पड़ा और क्रमशः इतने परिष्कृत रूप में वह प्रस्तुत हुआ कि हम इस काल को गीतिकाव्य का स्वर्णयुग कहने लगे। बाह्य रूप के साथ आभ्यंतर अनुभूति इतनी अधिक समन्वित होकर भक्तिमय

उद्‌गारों के रूप में प्रकट हुई कि उसका रूप अत्यधिक गीतात्मक हो गया। भक्ति, काव्य और संगीत की त्रिवेणी इसी मध्यकाल के वैष्णव-पदों में ही आकर दिखाई पड़ी।

विद्यापति और वैष्णव पदों पर उनका प्रभाव

मध्यकाल का कृष्ण विषयक गीतिकाव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रख कर भी विद्यापति के पदों का आभारी है। अष्टछाप के कवियों पर इनका प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पड़ा। यह प्रभाव पदों के बाह्य स्वरूप पर ही अधिकतर परिलक्षित हुआ—आभ्यन्तरिक भावों पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा। विद्यापति अपने साथ संस्कृत के जयदेव की शैली लाए और अपने पदों को बहुत कुछ उसी रूप में उन्होंने ढाला जिस रूप में जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' के पदों की रचना की। उनके शृंगारिक पदों पर भाव एवं विधान दोनों ही दृष्टि से जयदेव की शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि उन्हें 'अभिनव-जयदेव' की पदवी से विभूषित भी किया गया। उनका यह 'अभिनव-जयदेव' कहलाना ही संकेत करता है कि विद्यापति में जो कुछ है वह जयदेव के गीतिकाव्य में पाए जाने वाले तत्वों से परिपूर्ण है। रागरागिनियों से समन्वित शास्त्रीय विधान को दृष्टि में रखकर जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' की रचना की। इसी के अनुरूप विद्यापति ने राग-ताल-समन्वित अपने पद रचे। साथ ही जिस शृंगार भावना से 'गीतगोविन्द' ओतप्रोत है, उसी को लेकर आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, विभाव, संचारी आदि के योग से विद्यापति ने भी अपने पदों में शृङ्गार रस का पूर्ण परिपाक किया। यों तो वैष्णव भक्ति मार्ग के आठों भक्तों द्वारा गीतिकाव्य का उद्‌भव अपने स्वतन्त्र रूप में हुआ, तथापि उनके गीतिकाव्य पर विद्यापति का प्रभाव अवश्य पड़ा। इस दृष्टि से विद्यापति का स्थान बड़े महत्व का है।

सूर के पदों की शैली कहीं-कहीं विद्यापति की शैली से बिलकुल साम्य रखती है। इसी शैली के साम्य को देख कर हम सूर को विद्यापति से प्रेरित कहते हैं, अन्यथा प्रेम भाव में दोनों में पर्याप्त अन्तर है। विद्यापति कहते हैं :—

अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहिं बिसरल अपने गुन लुबुधाई॥
× × ×
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छलछल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि॥

राधा सयं जब पुनतहिं माधव, माधव सयं जब राधा।
दारुन प्रेम तबहिं नहिं टूटत, बाढ़त बिरहक बाधा।।
दुहुँदिसि दारु-दहन जइसे, दगधइ आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि, कवि विद्यापति भान।। पद २१६।।

—पदावली, ४७२४।

यही भाव सूर के एक पद में भी मिलता है :—

सुनहु स्याम यह बात और कोउ क्यों समुझाइ कहै।
दुहुँ दिसि के अति विरह बिरहिनी कैसैं कै जु सहै।।
जब राधा तबही मुख माधौ माधौ रटत रहै।
जब माधौ ह्वै जात सकल तन राधा-बिरह दहै।।
उभै अग्र दव दाह कीट ज्यौं सीतलताहिं चहै।
सूरदास अति विकल बिरहिनी कैसेहुँ सुख न लहै।।

—सूरसागर, ४१०६।

इसके अतिरिक्त सूरदास के दृष्टिकूट के पदों में भी विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

विद्यापति के पद

विद्यापति का गीतिकाव्य मुख्य रूप से श्रृङ्गार रस से ओतप्रोत है तथापि उन्होंने भक्ति विषयक पद भी लिखे जिनमें शिव, दुर्गा, गंगा, आदि के प्रति आत्मनिवेदन उन्होंने प्रकट किया है। इसी के अन्तर्गत 'नचारी' और 'प्रार्थना' परक पद भी आते हैं। अन्य पदों के भीतर राजा शिवसिंह की प्रशंसा के पद आते हैं।

इस प्रकार विद्यापति के पद बाह्य रूप की दृष्टि से दो प्रकार के हो जाते हैं। एक तो अतिभावात्मक और दूसरे वर्णनात्मक। अतिभावात्मक पदों के अन्तर्गत (१) श्रृङ्गारिक और (२) भक्तिपरक पद हैं और उनकी 'कीर्तिलता' में पाई जाने वाली अनेक कविताएँ विशुद्ध वर्णनात्मक हैं। इन पदों में गीतिकाव्य की दृष्टि से प्रथम प्रकार के पद अत्यधिक सुन्दर हैं और इनमें भी ऐसे पद जो श्रृंगार रस से ओत-प्रोत हैं। इन पदों में विद्यापति का भावावेश, सौन्दर्य भावना एवं कल्पनात्मक प्रतिभा दर्शनीय है। भावावेश की तीव्रता में ये पद कहीं-कहीं जयदेव के पदों से भी सुन्दर हैं। भावात्मकता के अति आग्रह ने इन श्रृङ्गारिक पदों में वह वर्णनात्मक आग्रह नहीं आने दिया है, जो जयदेव के 'गीतगोविन्द' में आ गया है। यही कारण है ये पद गीतिकाव्य के रूप की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं।

शृंगारिक पदों के पश्चात् भक्तिपरक पद आते हैं, इन पदों में कवि का आत्मनिवेदन बड़ी ही आतुर वाणी में प्रकट हुआ है। ऐसे भक्ति विषयक पदों में ऐसे भी पद रचे गए हैं, जिन्हें शिव के भक्त नाचते समय गाते हैं। इन्हें 'नचारी' कहते हैं। इन भक्तिपरक पदों में भी गीतिकाव्य की आत्माभिव्यंजना पद्धति पूर्ण रूप से मिलती है और सङ्गीत तो उसमें अटूट रूप से वर्तमान है।

किन्तु शृङ्गारिक एवं भक्तिपरक पदों की शैली में जो भेद आ गया है वह यह है कि जहाँ शृङ्गारिक पदों में कवि की भावना राधा-कृष्ण के आलम्बन से अभिव्यक्त हुई है, वहाँ भक्तिमय पदों में कवि की निजी भावना बड़े ही आत्माभिव्यंजक रूप में प्रकट हुई है। अस्तु बाह्य रूप की दृष्टि से साम्य होते हुए भी भावाभिव्यंजना शैली में अन्तर आ गया है। शृङ्गारिक पद जहाँ कहीं भी राधा-कृष्ण के सौन्दर्य अथवा संयोग-वियोग के भाव को लेकर लिखे गए हैं, वहाँ अधिकतर सखि को सम्बोधन कर कवि ने भावाभिव्यंजना की है। इस प्रकार कवि की भावना सीधे अभिव्यक्त न होकर, राधाकृष्ण अथवा अन्य व्यक्ति का आधार लेकर बाहर अभिव्यक्त हुई है। परन्तु दूसरी ओर भक्ति एवं प्रार्थनापरक पदों में शुद्ध गीतिकाव्य की शैली का अनुगमन है। एक में अभिव्यंजना का रूप अप्रत्यक्ष है, दूसरे में प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यंजन है।

वर्णनात्मक पदों में वर्णन के आग्रह ने गीति तत्व में अभाव ला दिया है। अस्तु इनका महत्व अधिक नहीं है। इस प्रकार विद्यापति के पदों में एक तो अभ्यन्तरित शैली के पद हैं और दूसरे शुद्ध आत्माभिव्यंजक पद।

शृंगारिक पद

इनके शृङ्गारिक पदों में शृङ्गार रस के प्रत्येक अंग को लेकर पदों की रचना हुई है। वयःसन्धि, नखशिख, सद्यःस्नाता, मिलन, वियोग आदि से लेकर अभिसार, मान इत्यादि सभी विषयों पर उनकी पदावली में पद संग्रहीत हैं। इन सभी प्रसंगों में भाव तथा उसकी कल्पना अपनी पूर्णता को लिए हुए है। परन्तु कवि का ध्यान काव्यत्व पर उतना नहीं, जितना भावोत्कर्ष-विधायक वैभव पर है। प्रत्येक पद में कोमल शब्दों का प्रयोग लय को उत्पन्न कर, एक ऐसे संगीत का सृजन करता है, जिसमें प्रभावात्मकता भरपूर है। पद लालित्य की ओर कवि का ध्यान अवश्य है। इससे भावावेश में तीव्रता आ गई है। शृङ्गारिक पदों की शैली अभ्यन्तरित शैली है। वियोग वर्णन का एक पद लीजिये :—

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज ,
की सरसिज बिनु सूरे ।
जोबन बिनु तन-तन बिनु जोबन ,
की जोबन पिय दूरे ।। २ ।।
सखि हे मोर बड़ दैब विरोधी
मदन बेदन बड़ पिया मोर बोलछड़ ,
अबहु देहे परबोधी ।। ४ ।।
—पदावली, पृ० २५२, पद १९१ ।

यहाँ कवि वेदना की अनुभूति को राधा पर आरोपित कर अभिव्यक्त कर रहा है। इसी प्रकार प्रेम भाव की अभिव्यक्ति कितनी कठिन है, इस भाव को राधा और सखि के वार्तालाप द्वारा कवि यों व्यक्त करता है—

सखि, कि पुछब अनुमति मोय
से हो पिरित अनुराग बखानिए।
तिल तिल नूतन होय ।। २ ।।
जनम अवधि हम रूप निहारल ,
नयन न तिरपित भेल ।
से हो मधु बोल स्रवनहि सूनल ,
श्रुतिपथ परस न भेल ।। ४ ।।
—पदावली पृ० २९४, पद २२७ ।

कवि के हृदय का प्रेम किस प्रकार अभिव्यक्त हो, वह तो अनुभवैकगम्य वस्तु है। तो भी कवि राधा के माध्यम से अपनी अनुभूति की अभिव्यंजना करने में कुशल है। इसी प्रकार अन्यत्र सभी शृङ्गारिक पदों का रूप अभि-व्यंजना शैली के अभ्यंतरित रूप में होने के कारण एक समान है।

भक्तिपरक पद

किन्तु भक्तिपरक पदों में, पदों ने दूसरा ही रूप ग्रहण किया है। ये पद विशेषकर 'प्रार्थना' और 'नचारी' के पद हैं इनमें शिव, कृष्ण, दुर्गा आदि की स्तुतियाँ हैं। यहाँ कवि का आत्मनिवेदन है, जिससे अभिव्यंजना शैली शुद्ध आत्माभिव्यंजक हो गई है। कवि का अपना भाव यहाँ उसी का बन कर अभिव्यक्त हुआ है। शिव के समक्ष कवि अपना दुःखी हृदय इसी प्रकार प्रकट कर रहा है :—

कखन हरब दुःख मोर हे भोलानाथ।
दुखहि जनम भेल दुखहि गमाएब।
सुख सपनेहु नहि भेल, हे भोलानाथ॥

× × ×

यहि भवसागर थाह कतहु नहि।
भैरव धरु कर आए, हे भोलानाथ॥
भन विद्यापति मोर भोलानाथ गति।
देहु अभय बर मोहि हे भोलानाथ॥ २४२ ॥[1]

—विद्यापति पदावली।

ऐसे ही पदों में कहीं पापबोध, कहीं दीनता, कहीं आत्मनिवेदन शुद्ध आत्माभिव्यंजक शैली में हुआ है। पापबोध के पद में कवि का पश्चाताप इस प्रकार प्रकट हुआ है:—

ए हरि, बंदौं तुअ पद नाय।
तुअ पद परिहरि पाप पयोनिधि॥
पारक कओन उपाय।
जावत जनम नहि तुअ पद सेविनु॥
जुबती मति मयँ मेलि।
अमृत तजि हलाहल किए पीअल॥
संपद अपदहि भेलि।

× × ×

साँझक बेरि सेवकाई मगइत।
हेरइत तुअ पद लाजे॥ २५४॥

—वि० पदावली।

विद्यापति के दोनों ही शैली के पदों में संगीत का सौन्दर्य अपूर्व है। उनके रागात्मक आवेश और कल्पनात्मक प्रतिमा ने उनके पदों का रूप अत्यधिक कोमल बना दिया है, जिसमें जयदेव की आंशिक वर्णनात्मकता का अभाव है और भावावेश की प्रधानता है।

---

१. विद्यापति पदावली, सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी—चतुर्थ संस्करण—संवत् १६६६।

सूरदास और उनका गीतिकाव्य

बल्लभ सम्प्रदाय में जिन आठों भक्तों को मिला कर अष्टछाप की स्थापना हुई उनमें सूरदास का स्थान सर्वोपरि था। इनकी अनन्य भक्ति एवं विद्वत्ता को देखकर बल्लभाचार्य ने उनसे बाललीलाविषयक पदों के रचने का आदेश दिया। अस्तु सूर ने 'भागवत' के 'दशम स्कन्ध' को विशेष रूप से लेकर अपने पदों की रचना की और 'सूरसागर' जैसा गीतों का बृहद् संग्रह प्रस्तुत कर दिया। भक्त की दृष्टि से तो सूर पहुँचे हुए थे ही साथ ही, उनमें श्रेष्ठ कवि की प्रतिभा भी जगमगाती थी। उनमें भक्त और कवि दोनों का स्वरूप इतना घुला-मिला था कि यह कहना वस्तुतः कठिन हो जाता है कि वे प्रथम भक्त थे अथवा कवि। उनकी कविता जहाँ भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है वहाँ काव्यकला से वह परिपूर्ण भी है। कहा जाता है कि 'अष्टछाप' में आने से पूर्व वे अच्छे भक्त और साथ ही कवि भी थे। बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उनकी प्रतिभा सहसा जगमगा उठी। अस्तु भक्ति का प्रभाव उन पर पड़ा और उनके काव्य की मूल प्रेरिका उनकी भक्ति ही थी। इसी भक्ति-भावना से प्रेरित होकर उन्होंने 'सूरसागर' की रचना की, जिसका मूलाधार 'भागवत' है, किन्तु सूर की निजी मौलिकता उसमें पूर्ण रूप में विद्यमान है।

'सूरसागर' के गीति तत्व

'सूरसागर' में 'श्रीमद्भागवत' के समान स्कन्धों की योजना है, जो सब मिला कर बारह हैं। प्रत्येक स्कन्ध मंगलाचरण के पद से आरम्भ होता है। 'सूरसागर' का आरम्भ विनय के पदों से होता है, जिनमें वैराग्य, पापबोध, दैन्यनिवेदन और आत्मनिवेदन के भावों का गुम्फन है। तदुपरांत भागवत प्रसंग आरंभ होता है और 'महाभारत' के प्रसंग को लेकर पदों की रचना होती है। द्वितीय स्कंध में राजा परीक्षित शुकदेव से भागवत की कथा कहने का आग्रह करते हैं। कथा का सार तीन पदों में कहकर सतसंग, वैराग्य, आत्मज्ञान, नारद, ब्रह्मा के बचन, ब्रह्मा की उत्पत्ति एवं 'चतुःश्लोक' 'श्रीमुखवाक्य' से स्कन्ध का अन्त होता है। तीसरे स्कन्ध से लेकर नवम स्कन्ध तक अन्यान्य अवतारों को लेकर अवतार-लीला विषयक पद हैं। 'दशम स्कन्ध' में ही जाकर कृष्णा-वतार एवं उनकी अन्यान्य लीलाओं को लेकर पदों की रचना हुई है। सच पूछा जाय तो यही स्कन्ध सूर के गीतिकाव्य का सुन्दरतम उदाहरण है। इसी स्कन्ध में आकर उनकी प्रतिभा अत्यन्त गीतात्मक रूप में अभिव्यक्त हुई है।

काव्य के समस्त गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद तो उसमें हैं ही; उसकी आत्मा, जिसे रस कहते हैं, अपने सुन्दर आवरण के भीतर झिलमिला रही है। शरीर के जिस हृदय के स्पन्दन से गति, चेतनता का भान होता है, वह हृदय भी उसमें वर्तमान है और उसका स्पन्दन संगीत के रूप में मुखरित हो उठा है। अन्तिम ग्यारह और बारहवें स्कन्धों में केवल छः और पाँच पद हैं।

'सूरसागर' में इसी स्कन्धों की योजना को देखकर तथा उसके अन्तर्गत आए हुए अनेक अवतार-लीला विषयक वर्णनात्मक पदों की योजना के कारण, उसे प्रबंधकाव्य कहकर पुकारने में बहुतों को संकोच नहीं होता। वस्तुतः इस काव्य में अगणित कथाएँ वर्णनात्मक शैली में अवश्य विरचित हैं, जिनका स्वरूप नाटकीय कथोपकथन के ढंग का भी है और स्कन्धों का विधान तो उसमें है ही। किन्तु इन्हीं दोनों तत्वों के आधार पर 'सूरसागर' एक प्रबन्धकाव्य कदापि नहीं कहा जा सकता। प्रबन्धकाव्य केवल इतिवृत्त की वर्णनात्मकता एवं स्कन्धों के बँधान की ही अपेक्षा नहीं रखता। प्रत्युत घटनाओं की धारावाहिक एकसूत्रता की आवश्यकता भी उसमें होती है, जिसमें अनेक घटनाएँ स्वतन्त्र रूप में होकर भी अपनी निजी सत्ता को कथा-वस्तु के प्रमुख प्रवाह में खो देती हैं—उनका भिन्न अस्तित्व नहीं रहता। इस दृष्टि से 'सूरसागर' की अन्यान्य लीला-कथाएँ समुचित रूपसे एक दूसरे से संबद्ध कदापि नहीं। उनकी सत्ता मुक्त है और भासित ऐसा होता है कि समय समय पर भगवद्कीर्तन के निमित्त लिखे गए पदों का संग्रह 'सूरसागर' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम स्कन्ध के आरंभ में ही भागवत वर्णन के समय सूर ने कहा है :—

श्रीमुख चारि स्लोक दये, ब्रह्मा कौं समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद व्यास सुनाइ॥
व्यास कहे सुकदेव सों, द्वादस स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहे, पद भाषा कर गाइ॥२२५॥[1]—सूरसागर।

प्रस्तुत पद की अन्तिम पंक्ति के 'पद भाषा कर गाइ' से यही ध्वनित होता है कि सूर ने 'भागवत' की ही कथा को गाकर पदों के रूप में कहा है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि 'सूरसागर' की रचना गाने के लक्ष्यसे ही हुई। भगवद्कीर्तन प्रत्येक भक्त का कार्य था, अतः सूर ने अपने प्रत्येक पद की

---

१. सूरसागर—संपादक—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रथम खंड—स०२००५।

रचना इस कौशल से की है जिसमें राग और ताल पर विशेष रूप से ध्यान रखा गया है। काव्य में छन्द-योजना उसके नादात्मक सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक है, किन्तु जहाँ संगीतशास्त्र के आधार पर काव्य रचना की जाती है, वहाँ छन्द का प्रयोग उतना आवश्यक नहीं रह जाता। सूर के पदों में यही बात दिखाई पड़ती है। उनके पदों में शब्दों का चुनाव एवं उनकी सजावट स्वर लय के साथ की गई है। इस प्रकार संगीत के योग से भावों की तीव्रता एवं भावों के सौन्दर्य से संगीत में सजीवता आ गई है। यहाँ छन्द रचना की ओर कवि का ध्यान उतना नहीं गया है जितना राग-रागिनियों एवं स्वर की ओर। साथ ही सूर के काव्य में संगीत तो वर्तमान है ही, पर उसमें संगीतात्मकता भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। इस संगीतात्मकता के लिये गीतिकाव्य में केवल राग-रागिनियाँ ही नहीं सहायक होतीं प्रत्युत शब्दों का चुनाव एवं उनका प्रयोग-कौशल भी अपेक्षित होता है। इसके अतिरिक्त बाह्य संगीत के लिये अनुभूति के गीतात्मक होने की भी आवश्यकता होती है। सूर में ये बातें मिलती हैं और उनके पदों में शब्दों की योजना पर कवि का ध्यान अधिक है—मधुर शब्दों का प्रयोग एवं उसका गठन इस प्रकार उन्होंने किया है कि कहीं भी अन्वय करके हम उसका वही माधुर्य सुरक्षित नहीं रख सकते।

कवि की अनुभूति ही अभिव्यंजना का बाह्य रूप निर्धारित करती है। यदि 'सूरसागर' के सम्पूर्ण पदों को लेकर सम्पूर्ण काव्य की आभ्यन्तर भावना अथवा अनुभूति की छानबीन की जाय, तो हम देखेंगे कि उसमें कवि का गीतात्मक उन्मेष ही प्रमुख है। इसका मूल कारण है, सूर के आराध्यदेव कृष्ण, जिनके जीवन-चित्रण की विस्तार-सीमा वैष्णव भक्ति में ऐसे प्रसङ्गों तक ही प्रसरित हो पाई है जो गीतिकाव्यात्मक उद्रेक के लिए ही अधिक उपयुक्त बन पाई। जीवन के विस्तार की सीमा के कारण बाह्य काव्यरूप में भेद आता है। यही कारण है जीवन की वह व्यापकता एवं जटिलता जो गम्भीर प्रबन्धकाव्य रूप में अभिव्यक्त होती है, यहाँ प्रमुख रूप में गृहीत न होने के कारण 'सूरसागर' को गीतिकाव्य के ही स्तर पर ही सुशोभित करती है।

अपनी भक्ति भावना के अनुरूप सूर ने कृष्ण के बालरूप को ही अपनाया और आगे बढ़ कर यदि कोई जीवनांश लिया भी, तो वह है उनकी कैशोरलीला। इन्हीं दोनों जीवनांशों की गीतात्मकता 'सूरसागर' में आद्यन्त वर्तमान है। अन्यान्य घटनाओं से पूर्ण होते हुए भी कृष्ण का जीवन गीतात्मकता को लिए हुए है। यही गीतात्मक अनुभूति 'सूरसागर' में आदि से लेकर

अन्त तक अभिव्यंजित होने के कारण, उसके अनेक वर्णनात्मक लीला-प्रसंगों को भी गीतात्मक बना रही है, और भासित यहाँ पर ऐसा ही होता है कि कवि की वृत्ति इन कथात्मक प्रसंगों में वस्तुतः रम नहीं रही है और वे चटपट कुछ कहकर आगे बढ़ते हुए लक्षित होते हैं। इतना तो अवश्य स्वीकार किया जायगा कि शुद्ध गीतिकाव्य की दृष्टि से इन कथात्मक पदों का महत्व अधिक नहीं और यदि महत्व है भी तो केवल उनके भीतर निहित गीतात्मक भावना का, किन्तु इन प्रसंगों को लेकर यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'सूरसागर' प्रबन्धकाव्य है अथवा भाव-प्रबन्धकाव्य या लीला-प्रबन्धकाव्य। सम्पूर्ण 'सूरसागर' गीतिकाव्य का संग्रहीत रूप है और गीतिकाव्य की दृष्टि से उसके प्रथम और दशम स्कन्ध अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। 'प्रथम स्कन्ध' गीतिकाव्य की शुद्ध आत्माभिव्यंजक शैली की दृष्टि से और 'दशम स्कन्ध' अध्यन्तरित शैली की दृष्टि से अनुपम है।

'सूरसागर' के पदों का वर्गीकरण

'सूरसागर' के पदों का वर्गीकरण अत्यन्त कठिन है; तो भी रूप के अध्ययन में वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है। अस्तु उनका वर्गीकरण उन दो बड़े भागों में सम्भव है जिनमें एक ओर तो विनय के पद और दूसरी ओर सम्पूर्ण लीला-विषयक पद परिगणित होते हैं। विनय के पदों के अन्तर्गत कुछ पद तो वैराग्य-विषयक हैं, कुछ ऐसे हैं जिनमें पापबोध की भावना प्रमुख है, कुछ पदों में कवि का दैन्य-निवेदन प्रमुख है और अन्य पदों में आत्मनिवेदनात्मक पद आते हैं। लीला विषयक पदों में एक ओर तो श्रीकृष्णावतार के पद हैं, और दूसरी ओर अन्य अवतारों को लेकर कवि ने पद रचे हैं। श्रीकृष्णावतार के पद बाललीला, मिलन, विरह, शौर्य और ऐश्वर्य, इन पाँच विषयों को लेकर निर्मित हुए हैं और जहाँ कहीं अन्य अवतारों की चर्चा है वहाँ चरितवर्णन, शौर्य और ऐश्वर्य, इन तीन प्रकार के पदों की रचना हुई है।

(१) विनय के पद

भगवान के समक्ष विनय करते हुए भक्त का अन्तःस्थल अपने सहज रूप को लेकर बाहर अभिव्यक्त हो पड़ता है, जिससे उसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान हमें हो जाता है। सूरदास प्रथम भक्त थे और बाद में कवि, अस्तु उन्होंने भगवत् लीला का गान करने से पूर्व अपने इष्टदेव के समक्ष अपना हृदय खोलकर रख दिया है। इस आत्मप्रकाशन में सूर की हार्दिकता प्रत्येक पद

से झलकती है और साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि कवि सुनी-सुनाई बातों को ही अपने ढङ्ग से नहीं कर रहा है, प्रत्युत उसका हृदय स्वतः इन पदों में होकर ढलने के लिए आतुर हो उठा है। 'सूरसागर' का प्रथम स्कन्ध विनय के पदों से ही आरम्भ होता है। उपास्यदेव से कुछ छिपा नहीं रहता, वे तो भक्तों के हृदय में ही वास करते हैं, अतः उनके समक्ष हृदय खोलकर रख देने में संकोच भी कोई नहीं। सूर ने अपने आपको भली भाँति देख लिया था, अतः अपने पापों को स्वीकार करने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं प्रतीत होता :—

हरि, हौं महापतित, अभिमानी।
परमारथ सौं बिरत, विषय-रत, भाव-भगति नहिं नैंकहुँ जानी॥
निस-दिन दुखित मनोरथ करि करि, पावतहूँ तृष्ना न बुझानी।
सिर पर मीच, नीच नहिं चितवत, आयु घटति ज्यौं अंजुलि पानी॥
बिमुखनि सौं रति जोरत दिन-प्रति, साधुनि सौं न कबहुँ पहिचानी।
तिहिं बिनु रहत नहीं निसि बासर, जिहिं सब दिन रस-विषय बखानी॥
माया-मोह-लोभ के लीन्हैं, जानी न बृन्दाबन रजधानी।
नवलकिसोर जलद-तनु सुन्दर, बिसरयो सूर सकल सुख दानी॥१४६॥

विनय के पदों में अधिकांश पद इसी पापबोध की भावना से पूर्ण हैं।[1] कभी तो कवि अपने को पतितों का शिरोमणि कहता है, कभी पतितेश, तो कभी पतितों का नायक कह कर अभिहित करता है। कवि के इस सम्बोधन में उसकी विनम्रता के ही भाव भरे हुए हैं, इसी कारण सम्पूर्ण पद भी अत्यधिक विनम्र भाव से पूर्ण है।

भक्त को जब अपने पापी स्वरूपका बोध हो जाता है, तब उसका अन्तःकरण अपनी दीनता और विवशता को आराध्यदेव के समक्ष रखने के लिए आतुर हो उठता है। कवि का दैन्य निवेदन भी कम हार्दिकता को लिए हुए नहीं है :—

पतित-पावन हरि, बिरद तुम्हारौ कौनैं नाम धरयौ ?
हौं तौ दीन, दुखित, अति दुरबल, द्वारैं रटत परयौ॥
चारि पदारथ दिए, सुदामा तन्दुल भेंट धरयौ।
द्रुपदसुता की तुम पति राखी, अम्बर दान करयौ॥

---

१. पद १३८, १३६, १४०, १४१, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८ आदि—सूरसागर।

संदीपन सुत तुम प्रभु दीनै, विद्या-पाठ करयौ।
बेर सूर की निठुर भए प्रभु, प्रथम मेरौ कछु न सरयौ।। १३३ ।।

— सूरसागर

सूरदास के ये पद बिल्कुल वैयक्तिक भावना के आधार पर बाह्य अभि-व्यंजना का स्वरूप ले सके हैं। उनका दैन्य भाव बिलकुल उन्हीं का अपना है; अतः संपूर्ण पद सूर के विशिष्ट व्यक्तित्व के निदर्शक बन गए हैं। विनय के पदों में दैन्य निवेदन के भाव भी अधिकांश पदों में बड़े मार्मिक ढङ्ग से व्यक्त हुए हैं।[1]

पापबोध और दैन्य-निवेदन के उपरान्त हम कवि के आत्मनिवेदनात्मक पदों पर आते हैं। भक्त चाहे पतित हो चाहे दीन परन्तु है भगवान का ही भक्त; अतः आत्मोद्धार के लिए उसके आराध्यदेव को उसे अपनाना ही पड़ेगा। सूर का आत्मनिवेदन इसी भावना से अत्यधिक प्रभावात्मक हो उठा है :—

जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हैं हमारी लाज-बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे।।
सब तजि तुम सरनागत आयौ, दृढ़ करि चरन गहे रे।
तुम प्रताप-बल बदत न काहूँ निडर भए घर चेरे।।
और देव सब रंक-भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।
सूरदास प्रभु तुम्हारी कृपा तैं, पाए सुख जु घनेरे।। १७० ।।

—सूरसागर

सूर की भावना इन पदों में वैराग्यपरक भी हो गई है, जहाँ कवि अपने चौथेपन को आया हुआ देख, जीवनचक्र की शाश्वत गतिविधि पर अपने भाव प्रकट करता हुआ पश्चात्ताप करता है :—

सबै दिन गए विषय के हेत।
तीनौं पन ऐसैं हीं खोए, केस भए सिर सेत।।
आँखिन अंध स्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गङ्गाजल तजि पियत कूप-जल, हरि तजि पूजत प्रेत।।
मन-बच-क्रम जौ भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत।
ऐसौ प्रभू छाँड़ि क्यौं भटकै, अजहूँ चेति अचेत।।

---

१. पद १५६, १७२, १६२, १६०, १६१, १६३, १६४, १६५ आदि, सूरसागर।

राम नाम बिनु क्यौं छूटौगे चंद गहैं ज्यौं केत।
सूरदास कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत ।। २६६ ।।

—सूरसागर

वैराग्यपरक पदों में कुछ पद ऐसे हैं जहाँ कवि का आत्मप्रकाशन प्रतीकों के सहारे बड़े ही आध्यात्मिक ढङ्ग से हुआ है। कवि इस भौतिक संसार से दूर 'कहीं ऐसे शान्त कोने' में पहुँच जाना चाहता है जहाँ निर्द्वन्द्व जीवन है। यहाँ कवि चित्त और बुद्धि के संवाद के रूप में भावाभिव्यंजना कर रहा है :—

चकई री, चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम बियोग।
जहँ भ्रम निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग।।
जहाँ सनक-सिव हंस, मीन मुनि नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुञ्जत निगम सुबास ।।
जिहिं सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै ।।
लछमी-सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय-रस छीलर वा समुद्र की आस ।। ३३७ ।।

—सूरसागर

रूप की दृष्टि से यहाँ पद में भिन्नता आ गई है। कवि यहाँ सीधे भावाभिव्यंजना न करते हुए ऐसे अनोखे ढंग से बात कहता है जिससे भावों में प्रभावात्मकता पूर्ण रूप में भर जाय। यहाँ 'चकई' शब्द का प्रयोग आत्मा के लिए और 'चरन-सरोवर' वैकुण्ठ धाम के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार अन्य पदों में 'सखि', 'भृङ्गी', 'सुवा' आदि शब्दों का प्रयोग भी साभिप्राय है।[1]

दूसरी ओर कवि ने सीधे अपने को प्रबोध कर भावाभिव्यंजना की है। कभी मन को 'शठ' कभी 'बावला' और कभी 'निर्लज्ज' कहकर वे सम्बोधित करते हैं।[2] इन सम्बोधनों में कोरा दिखावा नहीं है :—

बौरे मन, समुझि-समुझि कछु चेत।
इतनौ जन्म अकारथ खोयौ, स्याम चिकुर भए सेत ।।

---

१. पद ३३८, ३३९, ३४०।
२. पद ३२३, ३१६, ३२१ इत्यादि।

तब लगि सेवा करि निस्चय सौं जब लगि हरियर खेत।
सूरजदास भरम जनि भूलौ करि बिधना सौं हेत ॥३२२॥

—सूरसागर

विनय के पदों में काव्यरूप की दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इनमें शुद्ध आत्माभिव्यंजना मिलती है, साथ ही बाह्य रूप अपने बाह्याकार में बड़ा ही संगीतात्मक भी है। कवि की भावनाएँ उसी की होकर बाहर इस प्रकार अभिव्यंजित हुई हैं कि अनुभूति और अभिव्यक्ति में पूर्ण एकता स्थापित हो गई है। गीतिकाव्य की यही एकतानता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

(२) लीला-विषयक पद

संपूर्ण 'सूरसागर' में यदि कुछ है तो वह भगवत लीला का ही वर्णन है। इन लीला-विषयक पदों में काव्यरूप की दृष्टि से जो भिन्नता आ गई है वह है इनमें नियोजित वर्णनात्मक तत्व। जहाँ कहीं कवि को इन लीला-विषयक पदों में कथात्मकता का आग्रह अधिक है, वहाँ उसने वस्तु एवं परिस्थिति का वर्णनात्मक आधार लिया है; फलतः कवि की अभिव्यंजना पद्धति में स्पष्ट अवरोध आ खड़ा हुआ है। यहाँ अभिव्यंजना का रूप शुद्ध न होकर अभ्यंतरित हो उठा है, किन्तु भावात्मकता इन पदोंमें भी कूट-कूट कर भरी हुई है। संगीतात्मकता तो उनमें है ही, क्योंकि उनकी रचना एक तो संगीत के शास्त्रीय विधान के अनुरूप है, दूसरे कवि का भावात्मक स्वरूप ही उनमें अभिव्यक्त हुआ है। ध्यान देने की बात यह है कि कहीं तो कवि ने इन लीला-विषयक पदों में कथा को महत्व दिया है और कहीं भाव को। जहाँ उनकी दृष्टि कथात्मकता में अधिक रमी है, वहाँ पर पद बड़े ही वर्णनात्मक हो गए हैं। किन्तु जहाँ भावों की प्रधानता है वहाँ कवि ने छोटे-छोटे पदों में स्वतन्त्र रूप में भावात्मक पद लिखे हैं। 'सूरसागर' के लीला-विषयक पदों में एक ओर श्रीकृष्णावतार के पद आए हैं और दूसरी ओर अन्य अवतार को लेकर सूर ने लीला-विषयक पदों की रचना की है।

श्रीकृष्णावतार विषयक पदों में प्रथम उनके जन्म को लेकर सूर ने पद लिखे हैं। इन पदों में रूप की दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि ने लोकगीतों के आधार पर भावाभिव्यंजना का रूप खड़ा किया है। ये पद 'सूरसागर' के दशम स्कंध से आए हैं और लोकगीतों से प्रेरित होने के कारण इनका रूप बड़ा ही सहज एवं प्रभावात्मक है। लोकगीतों में जन्म-

विषयक गीत 'सोहर' कहलाते हैं। ऐसी ही शैली में सूर की भावाभिव्यंजना का रूप इस प्रकार का हो गया है :—

> गौरी गनेश्वर बीनऊँ (हो), देवी सारद तोहिं।
> गावों हरि कौ सोहिलौ (हो), मन-आखर दे मोहिं ॥
> हरषि बधावा मन भयौ (हो), रानी जायौ पूत।
> घर बाहर माँगैं सबै (हो), ठाढ़े मागध-सूत ॥
> आठ मास चन्दन पियौ (हो), नवएँ पियौ कपूर।
> दसएँ मास मोहन भए (हो), आँगन बाजे तूर ॥
> हरषीं पास-परोसिनैं (हो), हरष नगर के लोग।
> हरषीं सखी-सहेलरी (हो), आनन्द भयौ सुभ-जोग ॥४०॥
>
> —६५८ सूरसागर।

कृष्ण जन्म के समय अधिकांश बधाई के पद क्या भाव और क्या अभिव्यंजना, दोनों ही दृष्टि से लोकगीतों से प्रेरित हैं।[1]

श्रीकृष्ण जन्म के उपरान्त उनकी शैशवावस्था की क्रीड़ाओं का वर्णन सूर ने बड़े ही स्वाभाविक और साहित्यिक शैली में किया है। इन वात्सल्य रस के पदों में कवि की प्रतिभा अपूर्व है। बालस्वभाव के चित्रण में अन्यत्र इनकी जैसी स्वाभाविकता कम मिलती है :—

> सोभित कर नवनीत लिए।
> घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए ॥
> चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
> लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक मधुहिं पिए ॥
> कठुला-कंठ बज्र केहरि-नख, राजत रुचिर हिए।
> धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए ॥ ७१७ ॥
>
> —सूरसागर

प्रस्तुत पद में काव्यरूप बिल्कुल साहित्यिक शैली में हैं, जहाँ अनुप्रासमयी शैली तथा कोमलकांत-पदावली मिलकर अपूर्व संगीत की सृष्टि कर रही है। इसी प्रकार बालक्रीड़ा में बालकों का भोलापन, बालसुलभ स्पर्द्धा, खीझ, क्षोभ आदि अनेक भावों को बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से कवि ने अंकित किया है। दूसरी ओर बाललीला के अंतर्गत वे लीलाएँ भी आती हैं, जो कृष्ण के

---

१. पद ६४८, ६४९, ६५०, ६५८, ६६५, ६४६।

कुछ बड़े होने पर दिखाई गई हैं। ये लीलाएँ मुख्यतः हैं—गोदोहन, गोचारण, चीरहरण, गोवर्द्धन, पनघट, नागलीला और दानलीला। इन लीला-विषयक पदों में 'दानलीला' 'नागलीला' दूसरी 'चीरहरण-लीला' विशेष रूप से कथात्मक हैं। अतः इनमें वर्णन का आग्रह अधिक है। किन्तु अन्यत्र कवि के भाव बड़े ही स्वतन्त्र रूप में अभिव्यंजित हुए हैं, जैसे गोदोहन के समय कृष्ण की चेष्टा देखिए :—

धेनु दुहत हरि देखत ग्वालनि।
आपुन बैठि गए तिनकैं संग, सिखवहु मोहिं कहत गोपालनि ।।
काल्हि तुम्हें गो दुहन सिखावैं, दुहीं सबै अब गाइ।
भोर दुहौ जनि नन्द-दुहाई, उनसौं कहत सुनाई ।।
बड़ो भयौ अब दुहत रहौं गो, अपनी धेनु निबेरि।
सूरदास प्रभु कहत सौंह दै, मोहिं लीजौ तुम टेरि ।।४००।।

—सूरसागर

बाललीला के पश्चात् कैशोरलीला का प्रसंग आता है, जहाँ कवि ने मिलन के सुखद चित्र अंकित किए हैं। इस मिलन में जहाँ चंडीदास की राधा को विरह का भय हो आता है, वहाँ सूर की राधा को इस बात की कोई भी चिन्ता नहीं रहती। मिलन के समय उनका हृदय उस गाढ़ सुख में इतना निमग्न हो गया है कि उसे विरह जैसे कटु भाव को अवकाश देने का अवसर नहीं। उनका मिलन पूर्ण मिलन है, क्योंकि सूर की राधा का रूप न तो जयदेव की राधा के समान 'प्रगल्भा विलासिनी' का-सा है, न वे विद्यापति की राधा की भाँति 'विलासकलामयी किशोरी' हैं और न चंडीदास की राधा की भाँति 'उन्मादिनी' ही हैं। वे तो भोलीभाली बरसाने की नवल-किशोरी ग्वालिनी हैं जो कृष्ण को बचपन से ही जानती हैं। अतएव सूर ने उन्हें मानिनी के रूप में भी अंकित किया है और साथ ही मिलन के चित्रों में निश्चिन्त मिलन की बातें की हैं। यमुनापुलिन पर राधा की कृष्ण से भेंट होती है; किन्तु सखियों के बीच राधा उन्हें कैसे मिलन का संकेत दें ? अतएव भाव द्वारा वे श्याम को मिलने का आमन्त्रण देती हैं, और लौटने पर संपूर्ण साज शृङ्गार करती हैं—उन्हें जल्दी भी नहीं। अतः—

प्यारी अंग-सिंगार कियौ।
बेनी रची सुभग कर अपनैं, टीका भाल दियौ ।।
मोतिनि माँग सँवारि प्रथमहीं, केसरि-आड़ सँवारि।
लोचन आँजि स्रवन तरिवन-छबि, को कबि कहै निवारि।।

नासा नथ अतिहीं छवि राजति, अधरनि बीरा-रंग।
नव सत साजि चीर चोली बनि, सूर मिलन हरि संग॥

—२०२७, २६४५ सूरसागर।

इस मिलन में प्रथम मिलन की जैसी कल्पना जयदेव ने की, बिल्कुल वैसी ही सूर ने भी की है।[1] सूर ने इस भाव को लेकर भी बड़े मौलिक रूप में भावाभिव्यंजना की है :—

गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पवन-झकझोर, चपला-चमक चहुँ ओर, सुवन-तन चितै नंद डरत भारी॥
कह्यो वृषभानु की कुँवरि बोलि कै, राधिका कान्ह घर लिए जा री।
दोउ घर जाहु संग, गगन भयो स्याम रंग, कुँवर-कर गह्यो वृषभानु बारी॥
गए बन घन घोर, नवल नंद-किशोर, नवल राधा, नए कुंज भारी।
अंग पुलकित भए, मदन तिन तन जए, सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी॥

—६८४, १३०२ सूरसागर।

विरह के पद

यदि सूर का उन्मुक्त अभिव्यंजन आत्मनिवेदनात्मक पदों में प्रस्तुत हुआ, तो विरह के पदों में सूर का व्यथित एवं कराहता हुआ आकुल हृदय बह निकला है। अनुभूति जितनी वेदनात्मक होती है उसका स्वरूप उतना ही अधिक स्वतः प्रवृत्त होता है। यही कारण है कि जिस रूप में सूर ने अपने को गोपियों, माता यशोदा और कृष्ण में ढाल कर बाह्य अभिव्यंजना की है, वह अत्यधिक स्वतःप्रवृत्त है। यहीं पर आकर कवि के पदों में भाव और अनुभूति स्वरों में आ उतरी है और स्वर अनुभूति की भावात्मकता में कोमल स्पन्दन से आपूर्ण हो गया है। इसी अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को लेकर ये पद जिस रूप में अभिव्यक्त हुए हैं, उनके तीन भेद हो जाते हैं। एक तो सूर ने गोपियों का विरह लिया है, दूसरे कृष्ण का और तीसरे माता यशोदा का। गोपियों और कृष्ण के विरह में शृङ्गार की भावना प्रमुख है, तो माता यशोदा की वात्सल्य भावना अत्यन्त पवित्र है। इन तीनों का विरह-वर्णन कवि की शुद्ध आत्माभिव्यंजक पद्धति पर नहीं, प्रत्युत उसमें कवि की भावना पात्र विशेष में होकर बाहर अभिव्यंजित हुई है। परन्तु सच पूछा जाय तो अपने आराध्यदेव के वियोग में सूर जिस व्याकुलता का अनुभव कर रहे थे, उसे

---

१. गीतगोविन्द ''जयदेव (प्रथम श्लोक, मेघैर्मेदुरमंबरं वनभुवः श्यामास्त-मालद्रुमै'''पृष्ठ १)।

गोपियों, कृष्ण एवं यशोदा के हृदय में ढाल कर उनकी मर्मस्पर्शिणी उक्तियों द्वारा उन्होंने व्यक्त किया। इस प्रकार इन विभिन्न पात्रों का अभिव्यंजन कवि का अपना आत्माभिव्यंजन हो जाता है; भेद यदि किसी में आता है तो उस आत्मप्रकाशन की शैली में, जो यहाँ पर शुद्ध नहीं अप्रत्यक्ष है।

विरह के पदों में गोपियों का विरह 'सूरसागर' की अनुपम निधि है। इन विरहजन्य उक्तियों में विवशता, नैराश्य, झुंझलाहट एवं वेदना कूट-कूट कर भरी हुई है और साथ ही न जाने कितनी मानसिक अवस्थाओं का चित्रण भी हो गया है। मथुरा चले जाने के पश्चात् ही गोपियों का यह विरह बड़े ही व्यापक रूप में प्रकट होता है। प्रथम तो यह वियोग उनके अपने स्वात्मकथन के रूप में प्रकट होता है, जहाँ वे आपस में एक दूसरे से अपनी-अपनी दशा का वर्णन करती हुई, अपनी व्यथा को हलका करती हैं। फिर उनका यही वियोग उस 'भ्रमरगीत' में जाकर मुखरित होता है, जहाँ वे कथोपकथनात्मक शैली में उद्धव के समक्ष अपने अन्तरतम की व्यथा को अभिव्यक्त करती हैं। एक में उनकी वेदना बड़ी ही कारुणिक शैली में व्यक्त हुई है और दूसरी शैली में बड़े ही करुण और व्यंग्यात्मक ढंग से भी उनके उद्‌गार बाहर निकल पड़े हैं।

कृष्ण के चले जाने पर गोपियाँ कितनी व्याकुल हो उठीं यह निम्न पद के नैराश्य भरे वचनों में प्रकट है, जहाँ वे स्वयं अपने ही अंगों को कोसने लगती हैं, उन पर से उनका विश्वास ही उठ जाता है, कथन में कितनी विवशता है :—

> बिछुरत श्रीब्रजराज आज सखि नैनन की परतीति गई।
> उड़ि न मिले हरिसंग विहंगम, ह्वै न गए घनश्याम मई॥
> यातें क्रूर कुटिल सह मेचक, बृथा मीन छबि छीन लई।
> रूप रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौ न भई॥
> अब काहे जल मोचत, समय गए नित सूल नई।
> सूरदास याही तें जड़ भए जब तें पलकन दगा दई॥

—३३३, भ्रमरगीतसार।

वेदनामय भाव जिस रूप में अभिव्यक्त हुए हैं उसमें शब्दों का चयन एवं उनका गठन इतना सुन्दर है कि संगीत की सृष्टि स्वतः हो गई है। एक शब्द भी इधर से उधर नहीं रखा जा सकता। भाव और संगीत में अटूट सम्बन्ध इन्हीं शब्दों के श्रेष्ठतम क्रम द्वारा कवि ला सका है। भावों के अनुरूप पदावली संगीतात्मकता के साथ-साथ भाव में तीव्रता ला रही है। निराशा

में मनुष्य अपने ही ऊपर खीझ उठता है, यही खीझ गोपियोंमें भी है जिन्होंने अपने प्रत्येक अंग के प्रति विश्वास करना छोड़ दिया है। 'रूप-रस-लालची' नेत्रों ने उनके साथ विश्वासघात किया और समय के चले जाने पर अब वे सदा बरसते ही रहते हैं।

कवि ने गोपियों की व्यथा को प्रकृति के व्यापारों के साथ एकाकार होते देखा; फलतः उनका भावात्मक हृदय पावस ऋतु की न रुकती हुई झड़ी के समान गोपियों के अश्रुमय रूप को देखने लगा। इससे गीत में अत्यन्त भावात्मकता आ गई है। वर्षाऋतु में तो इन वियोगिनियों की व्यथा अत्यधिक तीव्र हो उठती है, अस्तु कवि ने अधिकांश पदों में उसी के रूपक बाँधे हैं। गोपियों को इसी ऋतु का आसरा भी है। किन्तु इस ऋतु में भी उन्हें निराशा ही होती है :—

> बरु ऐ बदरौं बरषन आए।
> अपनी अवधि जानि नन्दनन्दन, गरजि गगन घन छाए।।
> कहियत हैं सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
> चातक पिक की पीर जानि के तेउ तहाँ तैं धाए।।
> द्रुम किए हरित, हरषि बेली मिलीं दादुर मृतक जिवाए।
> साजे निबिड़ नीड़ तृन सँचि-सँचि, पंछिनहूँ मन भाए।।
> समुझति नहीं चूक सखि आपनी बहुतै दिन हरि लाए।
> सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि मधुबन बसि बिसराए।।

—३३०८, ३९२६ सूरसागर।

बिना गोपाल के गोपियों को अपने विहार-स्थल बड़े ही दग्धकारी लगते हैं, उन्हें यमुना व्यर्थ बहती-सी लगती हैं, व्यर्थ पशु-पक्षी बोलते हुए दिखाई पड़ते हैं, और सृष्टि का प्रत्येक कण उसी विरह में झुलसता हुआ उन्हें दिखाई पड़ता है। आँखों से पथ निहारते-निहारते वे गुंजा फल के समान हो गई हैं। अस्तु उनसे रहा नहीं जाता, वे अब 'विषम विष' बाँट कर पी लेना चाहती हैं। इतना सब सोचने पर भी आशा का सूत्र उनके पास अवश्य है। तभी तो वे उद्धव से अपना संदेशा भेजती हैं :—

> मधुकर! इतनी कहियो जाय।
> अति कृसगात भई ये तुम बिनु परम दुखारी गाई।।
> जल समूह बरसत दोउ आँखैं हूँकति लीन्हें नाउँ।
> जहाँ-जहाँ गोदोहन कीनो, सूँघत सोई ठाउँ।।

परति पछार खाइ छिनहीं छिन, अति आतुर ह्वै दीन।
मानहुँ काढ़ि डारी हैं, वारि मध्य तें मीन ॥
—भ्रमरगीतसार।

कितना मर्मस्पर्शी सन्देश है गोपियों का, जिन्हें इस बात का तो पूर्ण विश्वास है कि हमारे कहने से तो कृष्ण आवेंगे नहीं अस्तु संभव है प्यारी गायों की सुधि उन्हें यहाँ तक खींच लावे। वे अपना नाम तक इस सन्देश में नहीं भेजती हैं।

'भ्रमरगीत' में इन विरह-विदग्ध हृदयोद्गारों के अतिरिक्त दूसरी ओर वाग्वैदग्ध्य पूर्ण गीत भी हैं। इन पदों में व्यंग्य बड़ा ही प्रभावपूर्ण है। इन व्यंग्यपरक पदों की रचना में सूरदास की अपनी मौलिकता है। इन्हीं पदों से प्रेरित होकर अन्य अष्टछाप के कवियों ने भी व्यंग्यपरक पदों की रचना की।

गोपियों ने तो कृष्ण के मधुर रूप का पान कर लिया था! अस्तु जिस निर्गुण को लेकर उद्धव आए उसको ग्रहण कर सकना असंभव था, क्योंकि जो त्रिभंगी मुद्रा उनके हृदय में अड़ी हुई थी, उसे निकालने के उपरान्त ही अन्य वस्तु ग्राह्य हो सकती थीं। अस्तु गोपियाँ उद्धव के निर्गुण को लेकर बहुत व्यंग्य करती हैं:—

निर्गुन कौन देस को वासी?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, ना हासी ॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी?
कैसो बरन भेस है कैसो वह रस में अभिलासी ॥
पावेगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी ॥
—६४, भ्रमरगीतसार।

उद्धव के न मानने पर गोपियाँ खीझ उठती हैं और उद्धव से कहती हैं, हे मधुकर! तनिक प्रकृति की ओर तो देखो फिर ज्ञान छांटना :—

'ऊधो! कोकिल कूजत कानन।'

इस प्रकार भ्रमरगीत प्रसंग में कल्पना एवं भावना दोनों का सुन्दर समन्वय कर, सूर ने ऐसे भावात्मक पदों की योजना की है जिनमें विरहाकुल हृदय बड़े ही मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। इन पदों में गीतात्मकता कूट-कूट कर भरी हुई है।

शौर्य के पद

श्रीकृष्ण का जीवन ऐसी घटनाओं से आपूर्ण है जिनसे उनकी शूरता का भान होता है। उन्होंने अघासुर, बकासुर से लेकर जरासन्ध और कंस को मारकर जनहित कर दिखाया। अतएव 'सूरसागर' में जहाँ इन सभी घटनाओं का वर्णन है, वहाँ श्रीकृष्ण का शौर्य भी स्वतः प्रदर्शित है। इन पदों में कवि ने उनकी वीरता के साथ-साथ लोकमंगल की भावना को प्रकट किया है। यहाँ कवि का आत्मप्रकाशन बड़े आत्माभिव्यंजक रूप में हुआ है; किन्तु यहाँ वर्णनात्मकता आ गई है :—

नाथ और कसौं कहौं गरुड़गामी।
दीनबन्धु दयासिंधु असरन सरन, सत्य सुखधाम सर्वज्ञ स्वामी।
इहिं जरासंध मद अन्ध मम मान मथि, बाँधि बिनु काज बल इहाँ आने।
किए अवरोध अति क्रोध गहि गिरि गुहा, रहत भृङ्गि कीट ज्यों त्रास माने॥

× × ×

मधु कैटभ मथन सुर भौम केसी दलन, कंस कुलकाल अरु सालहारी।
जानि जग जूप भय भूप तद्रूपता, बहुरि करिहै कलुष भूमि भारी॥
बदत नृप दूत अनुभूत उर भीरुता, सुनत हरिसूर सारथि बुलायौ।
भये आरूढ़ तकि ताहि उत्तर दियौ, जाइ सुधि देहु हौं यहै आयौ॥

—४२१३, ४८२१ सूरसागर।

ऐश्वर्य के पद

ऐश्वर्य-विषयक पदों के अन्तर्गत सूर ने कृष्ण तथा अन्य अवतारों के ईश्वर रूप का वर्णन किया है। ऐसे पदों में अधिकांशतः कवि ने आराध्यदेव के उद्धारक स्वरूप का गुणगान किया है। कृष्ण के गोवर्द्धनधारण करने पर कवि इसी रूप में भावाभिव्यक्ति करता है :—

क्यौं राख्यौ गोवर्द्धन स्याम।
अति ऊँचौ, बिस्तार अतिहिं, वह लीन्हौं उचकि करज-भुज-बाम॥
वह आघात महा परलै-जल, डर आवत मुख लेतहिं नाम।
नीकैं राखि लियौ ब्रज सिगरौ, ताकौं तुमहिं पठायो धाम॥
ब्रज अवतार लियौ जब तैं तुम, यहै करत निसि-बासर-जाम।
सूर स्याम बन-बन हम कारन, बहुत करत स्रम नहिं बिस्राम ॥६६२॥

—सूरसागर १५८०।

अन्य अवतार-विषयक पद

श्रीकृष्णावतार विषयक पदों के अतिरिक्त 'सूरसागर' में अन्य अवतारों के

पद भी रचे गए हैं। इनमें बाराह-अवतार, कपिलदेव, दत्तात्रेय, यज्ञपुरुष, पृथु, नृसिंह, कूर्म, नारायण, हंस, मत्स्य अवतारों से लेकर परशुराम और रामावतार के अगणित पद तो रचे ही गए, साथ ही बुद्ध अवतार का भी वर्णन इसमें मिलता है। इन अवतारों में रामावतार का वर्णन कवि ने विस्तारपूर्वक किया है। श्रीकृष्णावतार के पदों से इन पदों में कथात्मकता का तत्व अधिक नियोजित हुआ है। यही कारण है ये पद कुछ बड़े हैं। यद्यपि अभिव्यंजना शैली यहाँ भी शुद्ध न होकर अध्यंतरित है, किन्तु श्रीकृष्णावतार के विविध पदों में जहाँ सर्वत्र भावात्मकता कूट-कूट कर भरी है, वहाँ इन पदों में चरित-वर्णन की ओर कवि का अधिक झुकाव होने के कारण वर्णनात्मकता का आग्रह अधिक है। रामावतार के पद उनकी सम्पूर्ण जीवन घटनाओं को लेकर रचे गए हैं, अतः उनमें अपेक्षाकृत भावात्मकता अधिक है। दशरथ विलाप का पद लोकगीतों की अभिव्यंजना पद्धति पर होने के कारण रूप की दृष्टि से महत्वपूर्ण है—

रघुनाथ पियारे, आजु रहौ (हो)।
चारि जाम बिश्राम हमारैं, छिन-छिन मीठे बचन कहौ (हो)॥
बृथा होहु बर बचन हमारौ, कैकेई जीव कलेस सहौ (हो)।
आतुर ह्वै अब छाँड़ि अवधपुर, प्रान-जिवन कित चलन कहौ (हो)॥
बिछुरत प्रान पयान करैंगे, रहौ आजु पुनि पंथ गहौ (हो)।
अब सूरज दिन दरसन दुरलभ, कलित कमल कर कंठ गहौ (हो) ॥३३॥

—'सूरसागर' १४७७।

इन अवतार-विषयक पदों में कुछ तो चरित-वर्णन को लेकर रचे गए हैं, कुछ में उनके शौर्य और कुछ में ऐश्वर्य का वर्णन है। गीतिकाव्य की दृष्टि से यद्यपि इन पदों में गेयता अवश्य है तथापि श्रीकृष्णावतार विषयक पद अधिक गीतात्मकता को अपनाए हुए हैं।

विद्यापति के पश्चात् गीतिकाव्य का चरमोत्कर्ष वस्तु एवं विधान दोनों ही दृष्टि से सूर के पदों में आकर दिखाई पड़ा। भक्त और कवि के सामंजस्य में सूर के पद, भाव और रस, दोनों का सुन्दर समन्वय कर सके। कबीर संत थे, किन्तु काव्य में जब उनकी दार्शनिकता उतरी तब पूर्ण रूप में उसमें घुल मिल न सकी। सूर में भावुकता की इतनी अधिक गहराई थी कि भावात्मकता के आगे दार्शनिकता और बौद्धिकता को दबना पड़ा। सूर में कला-प्रधानता, रचना-कौशल आदि का विशेष आग्रह नहीं। भावों की प्रधानता में उनके पद बड़े ही संगीतात्मक हुए हैं। इस संगीतात्मकता में लोकगीतों की प्रेरणा

से एक अनोखा माधुर्य भी आ गया है। स्थानीय लोकपरम्परा से प्रेरित होने के कारण उन्होंने गीतिकाव्य के रूप में पर्याप्त परिष्कार किया। इस प्रकार जहाँ इनके गीत अत्यधिक साहित्यिक हैं, वहाँ वे लोकगीतों के सहज स्वरूप को भी अपनाए हुए हैं। काव्यरूप के विकास में लोकगीतों से प्रेरित होने वाले इनके पदों का महत्व बहुत हो गया है।

तुलसीदास और उनका गीतिकाव्य

उपासना क्षेत्र में तुलसी सूर से भिन्न थे और यही कारण है जब उनकी भक्तिभावना गीतिकाव्य के रूप में अवतीर्ण हुई, तब उसी के अनुरूप काव्यरूप में भी परिवर्तन आ गए। सूर कृष्णोपासक थे और तुलसी रामोपासक। जहाँ कृष्ण की उपासना पुष्टि पर अवलंबित हुई, वहाँ राम की मर्यादा पर। अतएव जहाँ सूर ने बालरूप की उपासना को श्रेय दिया वहाँ तुलसी ने राम के चरणों की उपासना कर शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनों पक्षों को लेकर संपूर्ण जीवन का चित्रण अपने काव्य का विषय बनाया। दास्यभाव को प्रमुखता देने के कारण ही तुलसी में दैन्य का भाव सूर से अधिक मिलता है। और यही कारण है गीतिकाव्य में—विनय के पदों में—दैन्य के जितने अधिक पद तुलसी में मिलते हैं उतने सूर में नहीं। मधुरभाव को प्रधानता देने के कारण सूर में जितनी गीतात्मक प्रतिभा का विकास हुआ, वह भले ही उसी रूप में तुलसी में न मिला, किन्तु विनय के पदों में, जैसा दैन्य और जितना आत्म-निवेदन तुलसी में मिला वह सूर के पदों में नहीं। इसी भीतरी मनोवृत्ति के अनुरूप तुलसी के गीतों में उनकी विचारात्मकता बड़े ही सहज रूप में अवतरित हुई।

तुलसी के गीतों का संग्रहीत रूप 'गीतावली' 'कृष्णगीतावली' और 'विनयपत्रिका' हैं। इनमें क्रमशः उनकी गीतात्मक प्रतिभा का स्फुरण हुआ है और 'गीतावली' का वर्णनात्मक तत्व क्रमशः घटते-घटते 'विनयपत्रिका' में आकर बिलकुल ही शून्य हो गया है। 'गीतावली' में रामकथा से सम्बन्ध रखते हुए जिन गीतों की रचना हुई है, उनमें कथा का हल्का-सा सूत्र भी पिरोया हुआ सा प्रतीत होता है जिसे देख उसमें प्रबन्धत्व का आभास मिलने लगता है। किन्तु संपूर्ण 'गीतावली' की रचना में कवि की भावना (Spirit) की छानबीन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि कवि का झुकाव गीतों के निर्माण की ओर ही है और राम का गुणगान करते हुए भक्तिभाव के अनुरूप उन्होंने उनके प्रत्येक जीवनांश पर गीत रच दिये। इन्हीं समय-समय पर रचे

हुए पदों का संग्रहीत रूप 'गीतावली' के रूप में प्रस्तुत हो गया और राम के संपूर्ण जीवन पर कुछ कहने की उनकी उत्कट लालसा ने इसमें वर्णनात्मक तत्व भी ला दिया। इस वर्णनात्मकता ने गीतिमत्ता में अवश्य कुछ आघात पहुँचाया है, परन्तु अभिव्यंजना की शैली बिल्कुल उसी ढंग की है जैसी 'सूर-सागर' के लीला-विषयक पदों की।

सूर के लीला-विषयक पदों में आत्माभिव्यंजना का स्वरूप अध्यंतरित है उसी प्रकार 'गीतावली' में भी अन्यान्य पात्रों के माध्यम से तुलसी के हृदयस्थ भाव अभिव्यक्त हुए हैं। कवि ने अपनी अनुभूति को इन्हीं पात्रों के माध्यम द्वारा बाहर अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से बाललीला और करुण प्रसंगों में कवि का हृदय बड़े ही स्वाभाविक रूप में खुल पड़ा है। लोकगीतों के माधुर्य को पहिचानने में तुलसी सूर से पीछे न थे। बालक रामचन्द्र के जन्म पर घर में मंगल गीत गाये जाते हैं :—

सहेली सुनु सोहिलो रे!
सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो, सब जग आज।
पूत सपूत कौसिला जायो, अचल भयो कुलराज ॥ १ ॥
चैत चारु नौमी तिथि सितपख-मध्य-गगन गत भानु।
नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगल मोद निधानु ॥ २ ॥

—तुलसी ग्रन्थावली 'गीतावली'

प्रस्तुत पद का रूप बिल्कुल लोकगीतों के आधार पर है। राम बड़े होते हैं और उनकी बाल छवि को कवि चित्रित करता है :—

छोटी-छोटी गोड़ियाँ अँगुरियाँ छबीली छोटी,
नख-जोति मोती मानो कमल-दलनि पर।
ललित आँगन खेलैं, ठुमुक-ठुमुक चलैं,
झुंझुनु-झुंझुनु पाँय पैजनी मृदु मुखर ॥
किंकिनी कलित कटि हाटक-जटित मनि,
मंजु कर-कंजनि पहुँचियाँ रुचिरतर।
पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर खुली,
बालक दामिनी ओढ़ी मानो बारे बारिधर ॥ १ ॥

—तुलसी ग्रंथावली 'गीतावली'

बाल रूप के वर्णन में अनुप्रासमयी पदावली संगीत में सहायक है; साथ ही रूप-चित्रण में कवि का कौशल भी अपूर्व है। किन्तु रूप की दृष्टि में यहाँ सूर के पदों से कोई नवीनता नहीं।

करुण प्रसंगों में तुलसी की भावाभिव्यंजना बहुत ही मर्मस्पर्शिनी है। कौशल्या का हृदय माता का हृदय है, उनकी शंकाएँ बहुत ही स्वाभाविक हैं। प्रियजनों के पास न रहने पर हृदय में अनिष्टकारी भाव उमड़ पड़ते हैं और उनके मंगल का ध्यान सदा बना रहता है। कौशल्या चित्रकूट से लौट आती हैं। उन्हें अपने ऊपर बहुत ग्लानि होती है। पति सुरलोक सिधार गए, राम लक्ष्मण सीता बन को चल दिये, भरत ने मुनिव्रत ले लिया और वे माता होकर ज्यों की त्यों जीवित हैं :—

हौं तो समुझि रही अपनो सो।
राम लषन सिय को सुख भो कहँ भयो, सखी! सपनो सो॥
जिन्हके बिरह बिषाद बँटावन खग मृग जीव दुखारी।
मोहिं कहा सजनी समुझावति हौं तिन्हकी महतारी॥
भरत दसा सुनि, सुमिरि भूपगति, देखि दीन पुरबासी।
तुलसी 'राम' कहति हौं सकुचति ह्वै है जग उपहाँसी॥८५॥

—तुलसी ग्रंथावली 'गीतावली'

वेदना की तीव्र रूप में अभिव्यंजना जिस शैली में हुई है उसे बाधित या अध्यंतरित शैली कहते हैं। इसी शैली में संपूर्ण 'गीतावली' के गीतों की रचना हुई है।

'कृष्ण गीतावली' के पदों पर सूर का प्रभाव स्पष्ट है। अतः रूप की दृष्टि से इसके पद मौलिकता अधिक नहीं लिए हुए हैं।

वात्सल्य और शृङ्गार रस के पदों की रचना इसमें विशेष रूप से हुई है। वात्सल्य-रस के प्रसंग में माखन चोरी, ऊखलबन्धन आदि प्रसंग को लेकर कवि ने पद रचे हैं। आगे बढ़ कर 'गोवर्द्धन धारण', 'इन्द्र-कोप' आदि प्रसंगों को कवि ने लिया है। इन पदों में भाषा का माधुर्य अधिक है, भावों की व्यंजना भी सुन्दर है, किन्तु रूप का विकास इनमें नहीं हो पाया है। कहीं-कहीं तो सूर के पदों से इनके पदों का साम्य मिलता है। जैसे इस पद में :—

बिछुरत श्रीब्रजराज आज इन नयनन की परतीति गई॥२४॥

परन्तु इस प्रभाव के होते हुए भी 'गीतावली' के पदों की तुलना में इसके पद अधिक संगीतात्मक हैं। साथ ही भाषा और शैली का परिष्कृत रूप भी यहाँ मिलता है। अभिव्यंजना शैली सूर के ही पदों जैसी है :—

महरि तिहारे पाँय परौं अपनो ब्रज लीजै।
सहि देख्यो, तुम्हसों कह्यो, अब नाकहि आई, कौन दिनहु दिन छीजै!

ग्वालिन तौ गोरस सुखी ता बिनु क्यों जीजै।
सुत समेत पाउँ धारिये, आपुहि भवन मेरे देखिये जो न पतीजै ॥
अति अनीति नीकी नहीं अजहूँ सिख दीजै।
तुलसीदास प्रभु सों कहै उर लाइ जसोमति ऐसी बलि कबहूँ नहिं कीजै॥७॥

—तुलसीदास ग्रन्थावली कृष्ण गीतावली

ग्वालिनी का उलाहना कितना स्वाभाविक है, किन्तु रूप की दृष्टि से यहाँ पद उसी रूप को लिए हुए है जो सूर के पदों में हम देख चुके हैं।

'विनयपत्रिका' में पहुँच कर गोस्वामीजी के पदों में उनकी भक्तिभावना जिस प्रकार उमड़ कर आत्माभिव्यंजक रूप में वह निकली है वह अत्यधिक मौलिकता लिए हुए है। कलि के अत्याचारों से विक्षुब्ध होकर उनका हृदय इतना आकुल हो गया कि बिना अपनी आन्तरिक वेदना को अभिव्यक्त किए उन्हें कल न पड़ती दिखाई पड़ी। संसार में ऐसा कोई भी न था जो उनकी व्यथा को सुनता और उनके प्रति सहानुभूति करता। अतः राम को ही उन्होंने अपनी कथा सुनाना उचित समझा और विनय की एक पत्रिका लिख डाली। भक्ति भाव इसमें लबालब भरा हुआ है। यह भाव जिस आत्माभिव्यंजक पद्धति में अभिव्यक्त हुआ है, वह गीतिकाव्य का एक महत्वपूर्ण तत्व है। कवि ने अपने आराध्यदेव की तीनों विशेषताओं शक्ति, शील और सौन्दर्य को प्रदर्शित कर अपनी दीनता, लघुता एवं वैराग्यमय भावों को अभिव्यंजित करने का सुन्दर प्रयास किया है। इस प्रकार शुद्ध आत्माभिव्यंजना यहीं आकर पदों में दिखाई पड़ती है। ये पद दैन्य-निवेदन, पापबोध, और आत्मनिवेदनात्मक हैं। कवि का दैन्य-निवेदन यहाँ बहुत ही हार्दिक है :—

माधव ! मो समान जग माहीं।
सब बिधि हीन, मलीन, दीन अति लीन विषय कोउ नाहीं ॥
तुम सम हेतु-रहित, कृपालु, आरत-हित, ईसहि त्यागी।
मैं दुःख-सोक-बिकल कृपालु, केहि कारन दया न लागी ॥

× × × ×

सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ विचार जिय मोरे।
तुलसीदास प्रभु मोह-शृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे ॥११४॥

—तुलसी ग्रंथावली 'विनयपत्रिका'

इसी प्रकार पापबोध के पदों में उनका निश्छल हृदय अभिव्यक्त हो पड़ा है :—

माधव जू मो सम मंद न कोऊ ।
जद्यपि मीन पतंग हीनमति मोहिं नहिं पूजहिं ओऊ ।।
रुचिर रूप-आहार-बस्य उन पावक लोह न जान्यो ।
देखत बिपति विषय न तजत हौं, तातें अधिक अजान्यो ।।
महामोह-सरिता अपार महँ संतत फिरत बह्यो ।
× × ×
तुलसीदास पतितपावन प्रभु यह भरोस जिय आवैं ।।६२।।

—तुलसी ग्रंथावली, 'विनयपत्रिका'

परन्तु भक्त खरा हो अथवा खोटा, है बस एक उसी राम का। अतः भक्त तुलसी अपने उस आराध्यदेव को छोड़कर अन्यत्र जाएँ भी तो कहाँ ?

जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ?
काको नाम पतितपावन जग ? केहि अति दीन पियारे ?
कौने देव बराय बिरद-हित हठि-हठि अधम उधारे ?
खग,मृग,ब्याध,पषान,बिटप,जड़ जमन कवन सुर तारे ?
देव,दनुज, मुनि,नाग,मनुज सब माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दासतुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे ?।। १०१ ।।

—तुलसी ग्रन्थावली, 'विनयपत्रिका'

दार्शनिक भावों की गम्भीरता, औत्सुक्यपूर्ण हृदय के उद्‌गारों में कहीं-कहीं बड़े ही विचारात्मक ढंग से अभिव्यंजित हुई है :—

केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए ।।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोए मिटै न, मरै भीति-दुख पाइय यहि तनु हेरे ।।
× × ×
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ; जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ।। १११ ।।

—तुलसी ग्रंथावली, 'विनयपत्रिका'

उपास्यदेव से कुछ छिपा नहीं, तो भी कहे बिना मन नहीं मानता और भक्त एक के बाद दूसरे अवगुण को उनके सामने रखने लगता है। क्योंकि हठ करने पर भी उसका हृदय नहीं मानता और अन्त में उसे पूर्ण विश्वास यह हो जाता है कि जब तक राम की कृपादृष्टि उस पर नहीं पड़ेगी तब तक वह सत्पथ पर नहीं चल सकता। क्योंकि राम से अन्य कोई बड़ा नहीं और अपने

समान उसे दूसरा कोई लघु नहीं दीखता। 'राम खरे हैं तुलसी खोटे', अतएव उसे केवल एक उसी का भरोसा है और साथ ही जिन्हें राम प्रिय नहीं, वे उसके बैरी के समान हैं। इस प्रकार कवि ने सम्पूर्ण 'विनय-पत्रिका' में अपना हृदय बिलकुल खोलकर रख दिया है। उनकी नम्रता, दीनता, आशा, निराशा, आत्मग्लानि और आत्मसमर्पण के भाव प्रत्येक पद में बड़े ही सच्चे रूप में भरे हुए हैं। विचारों की गहनता इन पदों की विशेषता है। भावुकता सूर में अधिक है, किन्तु तुलसी की विचारात्मकता ने इस भावुकता को कुछ नीचे दबा दिया है। परन्तु तुलसी की गीतात्मक प्रतिभा का विकास 'विनय-पत्रिका' में आकर पूर्ण रूप में हो गया है। यहाँ आकर कवि के दार्शनिक भावों का हृदय के साथ सुन्दर सामंजस्य हो गया है और आत्माभिव्यंजना को प्रथम स्थान मिला है।

'गीतावली', 'कृष्णगीतावली' और 'विनयपत्रिका' सभी में पदों की रचना संगीत के शास्त्रीय विधान पर हुई है। भाषा और भावों के अनुकूल राग-रागिनियों में ये पद ढले हैं। अतएव संगीत तत्व के साथ पूर्ण लयात्मकता भी उनमें विद्यमान है। अनुप्रास के विशेष आग्रह ने और भी माधुर्य ला दिया है। संस्कृत की कोमलकांत-पदावली और अनुप्रास की इतनी सुंदर योजना सूर के पदों में भी नहीं मिली। साथ ही उपमा और रूपक का सुन्दर निर्वाह भी तुलसी के पदों में अनुपम है। भावों को इस आलंकारिक रूप में अभिव्यक्त करने से पदों का बाह्य स्वरूप बड़ा ही कलापूर्ण हो उठा है। किन्तु इस कलापूर्णता में भाव-पक्ष का कहीं भी परिहार हुआ हो ऐसी बात नहीं। हाँ, जहाँ कहीं तुलसी के भाव अत्यधिक आलंकारिक रूप में अभिव्यक्त हुए हैं, जहाँ संस्कृत की पदावली का अत्यधिक आग्रह उन्हें है, वहाँ पदों का सौन्दर्य नष्ट अवश्य हो गया है। यह बात 'विनयपत्रिका' के आरम्भिक स्तोत्रों में मिलती है और बीच-बीच में जो संस्कृतमय स्तोत्र आए हैं उन्हें हम गीतिकाव्य के अन्तर्गत नहीं रखते। उनको काव्यरूप की दृष्टि से 'मुक्तक' के पारलौकिक वर्ग में रखा जाता है।[१]

तुलसी के पदों में सब कुछ होते हुए भी वह गीतात्मक उन्मेष (Lyrical outburst) नहीं जो सूर में मिलता है। यही कारण है कि संगीत के शास्त्रीय विधान को दृष्टि में रखकर लिखे गए उनके पदों में वैसी गूँज नहीं जो सूर

---

१. पद नं० १०, ११, १२, १३, १४, १५, १७, १८, २४, २५, २६, २७ इत्यादि।

के पदों में मिलती है। इसका एक मात्र कारण है तुलसी की विचारात्मकता। यद्यपि 'विनयपत्रिका' में विचार और भावों का सुन्दर समन्वय हो गया है तथापि उनमें वह मसृणता एवं प्रवाह की स्निग्धता न आ पाई जो हमें अपने साथ बहा ले चलती। अनुभूति की गहनता के कारण तुलसी के पद संगीत की वैसी तरंगें न उठा सके जो भावों के आवेश के साथ सूर में उठ पाई हैं। मूल में जाकर देखा जाय तो इसका प्रधान कारण है मनोवृत्ति का वह भेद जो बाह्य अभिव्यंजना के स्वरूप को सँवारता है। शुक्ल जी के शब्दों में 'तुलसी की रुचि काव्य के अतिरंजित या प्रगीत रूप की ओर नहीं थी।'[1] वस्तुतः तुलसी की भक्ति में ओज है जो पदों में भी सर्वत्र विद्यमान है। यह ओज आराध्यदेव के शक्ति, शील और सौन्दर्यमय स्वरूप के अनुरूप ही पदों में ढला है। फलतः भावों की गम्भीरता इन पदों में अधिक है और यही कारण है कि हमें इनके पदों में रुकना पड़ता है।

तुलसी ने अपने पीछे आती हुई पदों को परम्परा को जो वस्तु प्रदान की, वह है अनुप्रासमयी कोमलकान्त पदावली और अलंकारों का वैभव और साथ ही ऐसी भावुकता भी प्रदान की जो पाण्डित्यपूर्ण है। विचारात्मकता और भावुकता का मेल भी इनके पदों में दिखाई पड़ा। विचारात्मकता का भार कहीं-कहीं वहन करने में इनके पद असमर्थ भी हो गए हैं, यह बात अवश्य है। दूसरी ओर लोकगीतों की सहज माधुरी में इनके पद बड़ी ही सरस अभिव्यञ्जना पद्धति को भी अपनाए हुए हैं। अतएव रूप के विकास में तुलसी के पदों का महत्व परिष्कृत भाषा, भाव और अभिव्यंजना की दृष्टि से तो बहुत है ही, पर विचारात्मकता किस कौशल के साथ पदों में ढल सकती है यह तुलसी ने ही प्रथम अपने पदों में कर दिखाया। पदों के विकास में यह तत्व बड़े महत्व का सिद्ध होता है।

मीरा के गीत

वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के जिस बाल स्वरूप की उपासना की गई उसमें वात्सल्य रस का परिपाक हुआ और यौवन काल की क्रीड़ाओं में अन्यान्य विषयों का प्राधान्य हो गया। जैसे रास, चीर-हरण, दान-लीला, मानलीला, पनघट-लीला आदि। सूर ने इन सभी प्रसंगों को लिया किन्तु मीरा तो कृष्ण के रूप पर दीवानी हो चुकी थीं, वे तो उनके सच्चे प्रियतम बन चुके थे; अस्तु उनकी त्रिभंगी मुद्रा और मन्द मुसकान पर उन्होंने अपना

१. गोस्वामी तुलसीदास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७७.

सर्वस्व समर्पण कर दिया। यही कारण है कि उनके काव्य में भी कृष्ण के सौन्दर्य पर अधिक पद मिलते हैं और प्रेमानुभूति में जिस संयोग और वियोग की अवस्थाएँ प्रस्तुत हुईं, उन्हीं का चित्रण अधिकांश पदों में उन्होंने किया। संयोग और वियोग के चित्रों में भी आधिक्य वियोग-चित्रों को ही मिलता है। साथ ही फुटकल रूप में एक आध पद चीरहरण के, दो-चार दान-लीला के और कुछ गोचारण, फागलीला आदि के मिलते हैं। किन्तु इन प्रसंगों का स्थान गौण है, केवल संकेत मात्र उनका मिलता है।

एक सच्ची प्रेमिका होने के कारण मीरा ने जितना प्रयत्न अपनी व्यथा को व्यक्त करने के लिये किया उतना अन्य किसी भी भक्त ने नहीं। जितनी वेदना, जितनी आकुलता, और जितनी तल्लीनता इनके विरह के पदों में मिलती है, उतनी अन्यत्र कहीं भी नहीं। दूसरी ओर संयोग में जितना उल्लास, जितना उन्माद और जितनी संयतावस्था देखने को मिलती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। विरह के पदों में तो आतुर हृदय की पुकार और दग्ध हृदय की ज्वाला धधक रही है। वास्तव में देखा जाय तो मीरा के अनुराग का अंकुर विरह की भूमि में ही पल्लवित होता दिखाई पड़ता है। वियोग में ही वह विकासोन्मुख होता है। आन्तरिक वेदना की तीव्रता ने मीरा के इन पदों में हृदय-पक्ष की प्रधानता ला दी है। बाह्य तापादि का वर्णन उसमें नहीं, किन्तु शारीरिक कष्टों की तीव्रता या असह्यता का प्रदर्शन बहुत कुछ परम्परानुगत है। कहीं-कहीं ऊहात्मक वर्णन भी आ गए हैं, किन्तु अतिशयोक्ति के होते हुए भी हृदय-पक्ष की प्रधानता के कारण तथा हृदय की सच्ची अनुभूति में सने हुए होने के कारण उनमें अस्वाभाविकता नहीं।

वस्तुतः मीरा ने अपने गिरधरगोपाल के प्रेम में विरह की जितनी पीड़ा का अनुभव किया उतना संयोग के आनन्द का नहीं। उनका हृदय रो उठता है और वे कह उठती हैं:—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोई।
घाइल की गति घाइण जाणै कि जिण लाई होई॥
जौहरी की गति जौहरी जाणै कि जिण जौहर होई।
सूली ऊपरि सेझ हमारी सोवणा किस बिध होई॥
गगन मंडल पै सेझ पिया की किस बिध मिलणा होई।
दरद की मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोई॥
मीरा के प्रभु पीर मिटैगी जब बैद साँवलिया होई। १६०।[1]

१. मीरा की प्रेम साधना, भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव', पृ० ३८२।

मीरा के हृदय की वेदना का सच्चा अनुभव वही कर सकता है जो स्वयं प्रेमाग्नि में झुलस चुका हो। उनकी पीर तभी मिट सकती है जब स्वयं उनके कृष्ण वैद्य बन कर आवें। उनकी बाट जोहते-जोहते उनकी आँखें दुखने लगती हैं—'रैन छमासी' सी प्रतीत होने लगती है, किसी विध चैन नहीं पड़ती अतः वे गाने लगती हैं :—

दरस बिन दूखन लागे नैणा।[1]

जिस प्रियतम के लिये उन्होंने सब कुछ त्याग दिया वही निर्मोही बना उन्हें तरसा रहा है। उनकी अवस्था वैसी ही हो गई है जैसे जल बिना कमल और पानी बिना मछली की हो जाती है। घायल-सी वे इधर उधर घूमती फिरती हैं पर कहीं भी प्रिय का संकेत नहीं मिलता। उन्हें अपने ही ऊपर दुःख होने लगता है और पश्चात्ताप में कह पड़ती हैं :—

जो मैं ऐसा जाणती रे प्रीत कियां दुःख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रे प्रीति करो मत कोय ॥ १८२ ॥

—मी० प्रे० सा०

एक-एक शब्द से वेदना मिश्रित निराशा टपक रही है। फिर भी सच्चा बिरही घोर निराशा में भी आशा रखता है। एक ओर जहाँ वे बादलों को देख 'झरने' लगती हैं, प्रियतम की प्रतीक्षा में बाहर खड़ी भींगती हैं तो दूसरी ओर रंगमहल में बैठी आँसुओं की माला पिरोती हुई सारी रात काट देती है। प्रियतम आते भी हैं तो स्वप्न में, किन्तु मिलने का उपक्रम करते ही करते नींद बैरन टूट जाती है और पुनः वही सूनी सेज दिखाई पड़ती है। मीरा मिलन का सुख जान ही न पाई और जीवन पर्यन्त प्रियतम के आने की प्रतीक्षा ही करती रह गई। हरि के आने की केवल पगध्वनि सुनती रही :—

सुनी हो मैं हरि आवन की अवाज।
म्हैल चढ़े चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी कब आवैं महराज ॥
दादर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज।
उमंग्यो इन्द्र चहुँ दिसि बरसै दामणि छोड़ी लाज ॥
धरती रूप नवा-नवा धरिया इन्द्र मिलण कै काज।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी बेग मिलो महराज ॥ १५० ॥

—मी० प्रे० सा०

सावन के महीने में जब समस्त प्रकृति अपना शृङ्गार कर प्रिय से मिल

---

१. मी० प्रे० सा०, पद १८३, पृ० ३६२

रही है ऐसे समय में भी वियोगिनी मीरा केवल पगध्वनि की आहट पाकर सन्तुष्ट है। प्रस्तुत गीत में संगीत का माधुर्य भावों के सौन्दर्य के साथ-साथ चल रहा है। भाषा बड़ी लयपूर्ण है। भाषा भावों की अनुगामिनी बनकर ताल और लय के साथ सुन्दर गीत की सृष्टि कर रही है। विरह के पदों में सर्वत्र यही तीव्रता एवं तल्लीनता देखने को मिलती है।

मीरा का संयोग उनकी भावना का सृष्टि मात्र है। जिस प्रियतम के लिये उन्होंने लोकलाज खोकर अपनी समस्त निधि त्याग दी, वह तो उनके हृदय में ही स्थित था। अपने इस आराध्यदेव को अपनी भावना द्वारा उन्होंने अन्यान्य रूप प्रदान किये। उनके लिये अनेक प्रतीकों की उद्‌भावना की। उस अविनाशी प्रियतम का संयोग भी अनोखा दिखाई पड़ा। हृदय में उस परम परमात्मा की ज्योति जगमगा रही है, किन्तु अज्ञान का आवरण उस पर विक्षेप डाल रहा है, जिसको दूर करने के उपरान्त ही प्रिय प्रेमी को पा सकता है। मीरा को तो सिद्ध-गुटिका सतगुरु से मिल चुकी थी। यह गुटिका अनन्य प्रेम है जिसको मीरा ने पा लिया। अस्तु उसके प्रियतम कभी तो मोरमुकुट, पीताम्बर पहने उसके समक्ष प्रस्तुत होते हैं, तो कभी बाँसुरी लिये जमुना के किनारे धेनु चराते हुए दिखाई पड़ते हैं। मोर मुकुट पहने उस नटवर का ध्यान आते ही मीरा आनन्दविभोर हो जाती हैं और तब :—

पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे।
मैं तो मेरे नारायण की आपही हो गई दासी रे।।
लोग कहैं मीरा भई बावरी न्यात कहैं कुलनासी रे।
विष का प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीरा हाँसी रे।।
मीरा के प्रभु गिरिधरनागर सहज मिले अबिनासी रे।।११३।।

—मी० प्रे० सा०

मीरा का हृदय अतृप्त है और इस अतृप्ति में ही उसे परमसुख का अनुभव भी होता है। प्रेम की पीर उनके हृदय में सदा बनी रहती है। क्षण में संयोग और क्षण ही में वियोग का भाव उनके हृदय में बना रहता है। जहाँ कहीं संयोग वर्णन आया है वहाँ मीरा ने प्रकृति को समाविष्ट कर लिया है, साथ ही त्योहारों का भी वर्णन उसी में किया है। संयोग में सावन की झड़ी और फागुन में होली के वर्णन आए हैं। कहने का तात्पर्य यह कि यहाँ हृदय और प्रकृति में पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया गया है। मिलन का उपक्रम तो मीरा करती है किन्तु समय आने पर :—

गली तो चारों बन्द हुई, मैं हरि सूँ मिलूँ कैसे जाई।
ऊँची नीची राह रपटीली पाँव नहीं पीहंराई ॥ ८८ ॥
—मी० प्रे० सा०

बड़ी विडम्बना है। राह तो सूझ रही है किन्तु वह सुगम नहीं, बड़ी रपटीली है जिसपर सम्हलकर चलनेवाला ही गन्तव्य स्थान तक पहुँच पाता है। प्रिय के विरह में, पथ की बीहड़ता में उनका हृदय करुण चीत्कार कर उठता है। अन्त में उन्हें आत्मपरितोष विनय में ही मिलता है और वे उसे पुकार कर कहने लगती हैं:—

'मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ'।

सच्चे हृदय की सच्ची विनय को सुनने स्वयं भगवान दौड़ पड़ते हैं और भक्त की विनय स्वीकृत हो जाती है। उसे इष्टदेव की लगन लग जाती है और एक ऐसे अनमोल रत्न की प्राप्ति होती है जिसे पाकर वह निहाल हो जाती है। मीरा भी कह उठती है—'मैंने राम रतन धन पायो'। भक्त अपना सर्वस्व समर्पण करता है तो उसे भगवान अपनी अमूल्य भक्ति प्रदान करते हैं और भक्त विह्वल हो जाता है। उसमें प्रेम का अंकुर जम जाता है।

यों तो मीरा की उपासना माधुर्य भाव की थी किन्तु साथ ही उसमें ज्ञान-मूलक संत-परम्परानुमोदित निर्गुणोपासना का प्रभाव भी स्पष्ट विद्यमान था। उन्होंने भी उस अविनाशी से मिलने के हेतु 'त्रिकुटी महल' के झरोखे से झाँका है तथा सूने महल में सेज बिछाई है और 'पंचरंग चोला' पहन कर प्रिय के समागम की आकांक्षा की है। गुरु द्वारा गुटिकी पाकर वे निश्चिन्त हो गईं और लोक-लाज खोकर प्रेम पन्थ पर निर्भीक हो चल पड़ीं। किन्तु ऐसे पद मीरा के पदों में अधिक नहीं—

नैनन बनज बसाऊं री जो मैं साहिब पाऊं।
इन नैनन मेरे साहिब बसता डरती पलक न लाऊँ री॥
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ री॥७१॥
—मी० प्रे० सा०

इन पदों में भी मीरा का प्रेम-विह्वल हृदय ही व्यक्त हो पड़ा है। यहाँ भी उनका अपना निजी स्वरूप बना हुआ है।

मीरा के पदों का सौन्दर्य परखने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते

हैं कि आत्माभिव्यंजना जिस रूप में इन पदों में ढली है उससे काव्यरूप ने एक निश्चित विकास किया है। इस आत्माभिव्यंजना में मीरा के व्यक्तित्व की छाप बहुत गहरी है। मीरा की अपनी वेदना उन्हीं की बनकर इन पदों में बड़े ही भावात्मक ढंग से अभिव्यक्त हुई है। सूर और तुलसी ने भी आत्माभिव्यंजक विनय के पद रचे किन्तु मीरा के पदों का स्वरूप अनुभूति के वेदनामय होने के कारण अत्यधिक कोमल हो उठा है। इन पदों में मानों कवियित्री अपनी आप बीती सुनाती जा रही है। सूर और तुलसी को आत्माभिव्यंजना में साधन भी ढूँढ़ना पड़ा जिससे अध्यन्तरित रूप में भी उनकी अभिव्यञ्जना का स्वरूप खड़ा हुआ, किन्तु मीरा के पदों में सर्वत्र उनका अपना विरहाकुल हृदय उन्हीं का होकर अभिव्यक्त हुआ है। इस दृष्टि से मीरा का गीतिकाव्य अभिव्यंजना के स्वरूप को लेकर तो नहीं, स्वानुभूति के निरूपण की दृष्टि से छायावादी गीतिकाव्य के निकट आ जाता है। इसी आत्माभिव्यंजक रूप में छायावादी कवि ने अपनी वेदना को ढालने का प्रयास किया। मीरा के पदों का स्वरूप इसी कारण अत्यधिक भावात्मक हो उठा है कि उनकी अनुभूति सत्य है। भावों की हार्दिकता में भाषा उनकी भावानुगामिनी बन कर प्रकट हुई है। संयोग और वियोग, आनन्द और विषाद बड़ी ही अनुकूल पदावली में होकर अभिव्यक्त हुआ है।

भक्ति काल के अन्य कवियों की भाँति मीरा भी प्रथम भक्त थी और बाद में कवि। अतएव उनकी भक्ति-भावना ही गीतों में होकर अभिव्यक्त हुई। उनका जीवन कतिपय निश्चित एवं तीव्रतम भावों से ओतप्रोत था। इन भावों की निश्छल अभिव्यक्ति गीतों की स्वर-लहरी में होकर प्रवाहित हुई। इस स्वर-लहरी में हृत्कम्पन है और तीव्रता तो उसमें सर्वत्र ही विद्यमान है। हम मीरा के पदों में उनके संगीत में डूब कर अपने को भावों की उच्च तरङ्गों के बीच पाते हैं, भावों की गहनता में हम भी विस्मृति हो जाते हैं। इसका एकमात्र कारण है पदों का अत्यधिक आत्माभिव्यञ्जक होना। हृदय की सहज भावना अपने सहज और प्रकृत रूप में जिस प्रकार व्यक्त होने के लिए व्यग्र हो उठी, उसे उसी रूप में मीरा ने व्यक्त होने दिया। इस व्यक्तीकरण में रूढ़ि का अनुगमन उन्होंने नहीं किया। सूर और तुलसी के पदों में आलंकारिक रूप में व्यंजना का स्वरूप भी मिला, किन्तु मीरा ने उस ओर ध्यान न रखा। फलतः उनके पद अपेक्षाकृत अधिक सहज रूप को लिए हुए हैं।

मीरा के पदों में जो कुछ भी है वह उन्मुक्त हृदय की मुक्त वाणी है जो

अनुभूति की सत्यता पर आधारित होने के कारण सीधे हृदय-प्रदेश में जाकर कोमल भावनाओं को उद्दीप्त कर देती है। मीरा की वेदना समस्त विश्व की वेदना हो जाती है। उनका विरह व्यापक हो उठता है। सच्चे गीत की कसौटी यही है।

कबीर, सूर, तुलसी और मीरा सभी ने आत्माभिव्यञ्जक पदों की रचना की, किन्तु भावों की तीव्रता के अनुरूप पदों में अभिव्यंजना का स्वरूप परिवर्तित होता गया। मीरा के पदों में भावों की यह तीव्रता अपने चरम पर पहुँच गई, अतः पद यहाँ आकर बहुत ही भावात्मक हो उठे हैं। कबीर ने अपने पदों में आध्यात्मिक भावना ढाली, विद्यापति ने जीवन की प्रेममयी अनुभूति की व्यञ्जना की, सूर ने भाव और सङ्गीत का सुन्दर समन्वय किया, तुलसी ने विचारात्मकता के साथ व्यक्तित्व की छाप दी, तो मीरा ने अपने पदों में सबका सुन्दर समन्वय किया। उनमें विचार हैं पर अनुभूति के साथ मिले हुए, उनमें प्रेमानुभूति है और उसकी तीव्र व्यंजना भी। यहाँ सङ्गीत भी है जो एक-एक शब्द से फूटा पड़ रहा है, तो साथ ही सङ्गीतात्मकता भी। व्यक्तित्व की छाप तो इनके पदों में सर्वत्र है—क्योंकि मीरा की अपनी ही व्यथा पदों में ढली है, और साथ ही भाषा और भावों का सुन्दर समन्वय भी है। काव्य और सङ्गीत इन पदों में अपने चरम पर पहुँच कर एक दूसरे में समाहित हो गए हैं।

इस प्रकार मीरा तक पहुँचते-पहुँचते गीतिकाव्य एक निश्चित परिष्कार कर लेता है, क्योंकि मीरा की अनुभूति ने जो बाह्य अभिव्यंजना का आवरण ढूँढा है उसमें कबीर की सी आध्यात्मिकता नहीं, विद्यापति सी ऐन्द्रियता नहीं, तुलसी सा पांडित्य नहीं, पर थी जिसमें सूर जैसी सहज स्वाभाविक हृदय की उन्मुक्त व्यंजना। इस उन्मुक्त अभिव्यंजना में जहाँ सूर में उनकी दार्शनिकता का हल्का सा आवरण पड़ा हुआ है, वहाँ मीरा के पदों में आत्माभिव्यंजना का स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट है। यही कारण है कि जितने स्पष्ट रूप से मीरा का व्यक्तित्व उनके पदों में झलकता हुआ दिखाई पड़ता है उतना अन्य कवियों में नहीं। यही मीरा के पदों की गीतिकाव्य को सबसे बड़ी देन है।

उपसंहार

भक्तिकाल पर विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैष्णव-भक्ति के स्रोत ने अपने साथ गीतिकाव्य के स्रोत को उत्तरोत्तर प्रबल वेग से प्रवाहित किया। साथ ही इसके पूर्व काल से आती हुई संतों के

पदों की धारा भी समानान्तर रूप से बहती हुई चली आई, किन्तु रूप का जितना अधिक परिष्कार भक्तों के पदों में दिखाई पड़ा उतना संतों के पदों में उपलब्ध न हो सका। संतों के पद कम मार्मिक नहीं तथापि जहाँ उच्च काव्यत्व का प्रश्न उठता है वहाँ भक्तों के पदों से उनके पद कुछ पीछे रह जाते हैं; किन्तु आत्माभिव्यंजना की दृष्टि से दोनों धाराओं के पद अधिक विषमता नहीं रखते। निर्गुण पदों में जहाँ कहीं दार्शनिकता का आग्रह नहीं, जहाँ मत प्रतिपादन की भावना नहीं, केवल हृदय का उन्मुक्त अभिव्यंजन है वहाँ उनके पदों में आत्माभिव्यंजना भरपूर है। यह बात अवश्य है कि वैष्णव भक्तों में आत्मनिवेदन करते समय पदों के गान के लक्ष्य ने उनकी अभिव्यक्ति में अत्यधिक हार्दिकता का पुट दे दिया, किन्तु जहाँ इनकी भक्ति ने आत्माभिव्यंजना को स्थान दिया है, वहाँ लीला एवं अवतार के पदों की रचना के लक्ष्य ने वर्णनात्मकता का आग्रह भी ला दिया है। गीतिकाव्य में यह प्रकरणबद्धता का तत्व कबीर, दादू आदि संतों के गीतिकाव्य में नहीं मिलता। उनके पद जब भी निर्मित हुए उनमें आत्माभिव्यंजना सर्वत्र मिली, भले ही इस आत्माभिव्यंजना में उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सिद्धान्त-विषयक नीरस बातों का समावेश हो गया है और उनके पदों की सरसता में व्याघात पहुँचा है। परन्तु इनकी सी आत्माभिव्यंजना भक्त कवियों में मीरा को छोड़ कर अन्यत्र सूर और तुलसी में केवल विनय के पदों में ही मिलता है, सर्वत्र नहीं।

वैष्णव-भक्ति में विशेष रूप से कृष्ण-विषयक पदों की धारा बहाने वाले अष्टछाप के पदों से कुछ ऐसे काव्यरूप भी प्रादुर्भूत हुए जिनकी परम्परा भक्तिकाल और परवर्तीकाल में भी बहती रही। ये हैं विशेष रूप से रास और विहार के पदों की स्वतन्त्र परम्परा। नंददास, ध्रुवदास आदि कवियों ने ऐसे रासलीला और विहार विषयक अनेक काव्य लिखे।[1] आगे चलकर 'रीतिकाल' में जो पदों की धारा अलग बहती हुई चली गई उसमें विशेष रूप से इन्हीं स्वतन्त्र काव्यों की शैली में पदों की रचना होती रही।[2]

संतों की धारा में जिस प्रकार कबीर के पश्चात् अधिकांश कवियों, सुन्दर-दास, धरनीदास, यारी साहब आदि के पदों में उन्हीं का अनुकरण हुआ और

---

१. नन्ददास—दानलीला, मानलीला, ध्रुवदास—रसविहार, रंग-विहार, बनविहार, रहस्यमंजरी, मानरसलीला इत्यादि।

२. नागरीदास—विहारचन्द्रिका। चाचा हित वृन्दाबनदास—मनिहारीलीला।

केवल दादू के पदों में मौलिकता दिखाई पड़ी, उसी भाँति भक्त कवियों में सूर तुलसी के पश्चात् अष्टछाप के कवियों में नन्ददास के पदों में ही मौलिकता दिखाई पड़ी। परमानन्ददास, कृष्णदास, कुम्भनदास आदि कवियों के पदों में रूप की दृष्टि से कोई परिष्कार नहीं हुआ। किन्तु मीरा का पदार्पण गीतिकाव्य के क्षेत्र में आत्माभिव्यंजना की दृष्टि से अवश्य महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। गिरिधरगोपाल की उपासिका मीरा की भावना जिस प्रकार माधुर्य भाव से ओतप्रोत थी, ठीक उसी भाँति था उनके पदों में उनका आत्माभिव्यंजन। इनकी अभिव्यक्ति में भावों को कोमलता अधिक थी। उनका आत्मनिवेदन, आत्मोल्लास एवं उनका अपना विरह उनके पदों में उन्हीं का बनकर व्यक्त हुआ। गीतिकाव्य की दृष्टि से यह तत्व बिल्कुल ही नवीन सिद्ध हुआ। और इसी व्यक्तिगत भावोन्मेष को बिल्कुल आत्माभिव्यंजक शैली में ढालने के कारण ही मीरा का महत्व गीतिकाव्य के विकास में ऊँचा ठहराता है। गीतिकाव्य का यह तत्व कबीर और अष्टछाप के कवियों में होता हुआ मीरा में अपने उत्कर्ष को पहुँच गया। मीरा को अपने इस भाव प्रकाशन में कोई प्रयास न करना पड़ा। गिरिधरगोपाल के साक्षात्कार द्वारा उपलब्ध आनन्द के अतिरेक से उनका हृदय इन गीतों में स्वतः बहता हुआ दिखाई पड़ता है। यही कारण है गीतिकाव्य के बाह्य स्वरूप शब्द-चयन, छन्द आदि पर मीरा का ध्यान न गया। हृदयस्थ भावनाएँ जिस रूप में अभिव्यक्त होने के लिए विह्वल हो उठीं उन्हें उसी रूप में उन्होंने बाहर प्रकट कर दिया। सहज प्रकाशन के साथ ही मीरा की वेदना उनके गीतों में अधिक ढली जिससे रागात्मक आवेश, भावात्मकता एवं तन्मयता को जितना स्थान मीरा के गीतिकाव्य में मिला उतना पूर्व काल में यदि मिल सका था तो विद्यापति में। मीरा के पदों में सूर के पदों की वर्णनात्मकता का अभाव ही हो गया। यही कारण है मीरा के पदों में आकर हमें गीतिकाव्य बाह्य रूप और आन्तरिक तीव्रता की दृष्टि से अत्यधिक परिष्कृत होता हुआ दिखाई पड़ा।

रामोपासना के क्षेत्र में तुलसी की वाणी भी पदों के रूप में अभिव्यक्त हुई। इनके गीतों में इनकी भक्ति के अनुरूप गाम्भीर्य का पुट भी दिखाई पड़ा। फलतः भक्ति के जिस प्रेम तत्व ने सूर के गीतों में जो सरलता ला दी, उतनी सरलता तुलसी के पदों में श्रद्धा के आधिक्य के कारण न आ सकी। भाषा और भावों का परिष्कार उनके पदों में अत्यधिक मात्रा में दिखाई पड़ा किन्तु गीतात्मकता उतनी न आ सकी। इसका एक मात्र कारण है उनका पांडित्य जो अयत्नसाधित होने पर भी उनके गीतों में रह-रह कर झलक उठता है। यही कारण है

उनके पद विचारात्मक कोटि में परिगणित होते हैं। किन्तु पदों में कवि की आत्माभिव्यंजना का अभाव नहीं। विनय के पदों में यह तत्व अपने चरम पर है और आत्मनिवेदन जैसा तुलसी में है वैसा सूर के पदों में नहीं मिलता। 'विनयपत्रिका' के पद इसी तत्व को लेकर गीतिकाव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। अन्य स्थानों में कवि के व्यक्तिगत भावों को शुद्ध आत्माभिव्यंजना पद्धति पर व्यक्त होने का अवसर नहीं मिला है। ऐसे गीतों में किसी पात्र विशेष में अपनी भावनाओं को आरोपित करके ही आत्माभिव्यंजना की है।

इस प्रकार भक्तिकालीन पदों में काव्यरूप की दृष्टि से गीतिकाव्य की दो भिन्न शैलियाँ मिलती हैं। इस भिन्नता के अनुरूप पदों के प्रधानतः दो रूप हो जाते हैं। एक तो शुद्ध आत्माभिव्यंजक शैली के पद और दूसरे अध्यंतरित शैली के पद। कबीर और मीरा के पदों में शुद्ध आत्माभिव्यंजना का रूप मिलता है और तुलसी और सूर के पदों में दोनों शैलियाँ मिलती हैं। इनके विनय के पदों में प्रथम शैली का रूप मिलता है और दूसरी शैली के पद उन प्रसंगों में मिलते हैं जहाँ दोनों कवियों ने अपने-अपने भावों को किसी पात्र विशेष के माध्यम से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। अपने भावों को अभीष्ट पात्रों में आरोपित कर जब बाहर अभिव्यंजना होती है, तब उसका रूप अध्यंतरित हो जाता है। तुलसी ने जैसे माता कौशल्या द्वारा और विनय के पदों को छोड़कर संपूर्ण 'सूरसागर' में अनेक पात्रों 'राधा', 'यशोदा', 'गोपियों' आदि के द्वारा जो भावाभिव्यंजना सूर ने की है, वहाँ पदों की शैली अध्यंतरित शैली है। शुद्ध आत्माभिव्यंजना पद्धति पर निर्मित पदों में जहाँ हम सीधे कवि के हृदय को छू लेते हैं, वहाँ अध्यंतरित शैली एक दूसरे पथ से होकर हमें कवि के अपने भावों तक पहुँचाती है। इस प्रकार दोनों ही परिस्थितियों में हमें कवि की व्यक्तिगत भावना ही प्रकाशित होती दिखाई पड़ने लगती है। अन्तर इतना अवश्य दोनों में आ जाता है कि जहाँ एक में शुद्ध प्रत्यक्ष स्वानुभूति का अभिव्यंजन होता है, वहाँ दूसरे में कवि की स्वानुभूति अप्रत्यक्ष या अध्यन्तरित रूप में बाहर व्यंजित होती है।

गीतिकाव्य में इस अध्यन्तरित रूप में भावाभिव्यंजना के कारण जो काव्यरूप में परिवर्तन आया है, उसके मूल कारण की छान-बीन की जाय तो हमें इन भक्त कवियों की मनोवृत्ति में ही उसका समाधान मिल जाता है। भक्ति-भाव का आवरण सूर और तुलसी पर गहरा था। एक ने सख्य-भाव से आराध्यदेव की उपासना की, तो दूसरे ने मर्यादा भाव से। अतएव

बाह्य अभिव्यंजना में कवि ने अपने को प्रथम कृष्णमय, राधामय, गोपीमय अथवा राममय बना लिया। इस प्रकार गोपी, कृष्ण, राधा, राम अथवा यशोदा, कौशल्या आदि विविध पात्रों में जब कवि ने अपना आरोपण किया, तब सहज ही उनकी भावाभिव्यक्ति का स्वरूप अध्यन्तरित हो उठा। फलतः इन पदों के रूप में और उन पदों के रूप में जहाँ कवि का आत्म-निवेदन सीधे व्यक्तिगत रूप में प्रकट हुआ है, अर्थात् विनय के पदों में, बहुत अन्तर आ गया। यहीं पर एक बात और जो उल्लेखनीय हो जाती है वह यह कि भक्ति-भाव के भेद से तुलसी और सूर के अध्यन्तरित पदों में भी रूपगत भेद आ गया है। विद्यापति के पदों में भी अध्यन्तरित रूप में भावाभिव्यंजना का रूप मिलता है। किन्तु जहाँ सूर और तुलसी में भक्ति-भाव का पट सर्वत्र पड़ा हुआ है वहाँ विद्यापति में ऐसी बात नहीं मिली। इनके पदों की विशेषता यह है कि कवि की अपनी सत्ता राधा और कृष्ण के प्रेम और सौन्दर्य के साथ इस प्रकार एकरूप हो गई है कि भावाभिव्यंजना में उनके अध्यन्तरित शैली के पदों का रूप भी बड़ा ही आत्माभिव्यंजक हो उठा है।

रीतिकाल और गीतिकाव्य की क्षीण धारा

संवत् १७०० के लगभग हमारे राजनीतिक क्षेत्र में परिवर्तन आरम्भ होने लगे। मुसलमानों का आधिपत्य धीरे-धीरे जमने लगा था और वे अपने को इसी देश का समझने लगे थे। इन्होंने कला और साहित्य की उन्नति में अपनी विशेष अभिरुचि का परिचय भी दिया और कवियों को अपने दरबार में आश्रय देकर उन्हें सम्मानित भी किया। क्रमशः कविता इन्हीं आश्रय-दाताओं के संरक्षण में पल्लवित भी होने लगी और कवियों का सम्बन्ध अधिकांशतः इन्हीं राजदरबारों से जुड़ने लगा। परिणामतः उनकी स्वतन्त्र आत्माभिव्यंजना पर अवरोध भी आते गए जिससे हृदय की स्वाभाविक, अकृत्रिम और सहज अभिव्यक्ति को उतना प्रसार न मिल सका जो पूर्वकाल में भक्त-कवियों के पदों में दिखाई पड़ा। इस काल में शृङ्गार-रस की जितनी अधिक कविता हुई उसका मूल कारण भी इन्हीं विलासप्रिय शृङ्गारिक बादशाहों के आश्रय में रहना एवं संरक्षण पाना था। इस प्रकार मनोरंजन एवं राजरंजन के लक्ष्य को लेकर रीतिकालीन कविता में अधिकतर कवि का स्वतंत्र व्यक्तित्व स्वच्छन्द रूप में अभिव्यक्त न हो सका।

एक ओर तो राज्याश्रय का प्रभाव और दूसरी ओर इस काल में संस्कृत

के रीतिकाव्य का पूरा प्रभाव पड़ा। कवियों ने रीति अर्थात् रस, अलंकार, नायिकाभेद, पिंगल आदि को अपनी भावाभिव्यंजना का आधार बनाया और जो रचनाएँ प्रस्तुत कीं उनका वही स्वरूप था जो हम संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों में देखते हैं। ये कवि लक्षण और उदाहरण के रूप में काव्यांगों को प्रस्तुत करना अपनी अभिव्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य बनाने लगे।

इसी काल में एक भिन्न धारा ऐसे भी कवियों की बही जिनमें आत्माभिव्यंजना पूर्णतः मिलने पर भी उनकी रचनाएँ गीतिकाव्य की श्रेणी में नहीं रखी जा सकतीं। इन कवियों ने कविता के उस कलात्मक आवरण को हटाने की चेष्टा पूर्णरूप में की। शास्त्र-पद्धति पर की गई अभिव्यंजना को इन्होंने हेय सिद्ध कर दिया, क्योंकि उससे बाह्य अलंकरण तो संभव है परन्तु आभ्यंतर सौन्दर्य का उसमें पूर्ण रूप से अभाव ही रह जाता है। अतः इन कवियों ने 'रीतिकाल' के भीतर पनप कर भी रीतिमुक्त कविता की ओर झुकाव दिखाया। साथ ही भाषा की लाक्षणिकता एवं व्यंग्यमूलक पद्धति का प्रयोग भी किया। अतः इनकी अभिव्यंजना-पद्धति रीतिबद्ध कवियों से भिन्न हो गई। जहाँ प्रथम प्रकार के मुक्तकों में कोरा चमत्कार अथवा कलापूर्ण रस मिला वहाँ इन कवियों के मुक्तकों में रस, पूर्णरूप में मिला। अस्तु रसाभिव्यंजना की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर आ गया। किन्तु काव्यरूप की दृष्टि से देखने पर दोनों ही प्रकार की रचनाएँ 'मुक्तक' की श्रेणी में ही रखी जायँगी।

उपर्युक्त कथन का समाधान इस दृष्टि से भी स्वतः हो जाता है कि इसी काल में गीतिकाव्य की धारा स्वतन्त्र रूप से बहती है और 'भक्तिकाल' के पदों की रचना का प्रवाह अपने प्रतिकूल वातावरण में भी अविरल प्रगतिशील होता रहता है। प्रतिकूल वातावरण इस लिए कहा जाता है क्योंकि 'रीतिकाल' में दरबार तक अपनी पहुँच रखने वाले कवि को ही एकमात्र सम्मान प्राप्त था और ये सम्मानित कवि जब तक आश्रयदाताओं के रंजन के निमित्त अपनी वाणी का प्रयोग न करते, इन्हें बढ़ने का अवसर ही न दिया जाता। अतएव उन्मुक्त अभिव्यंजना का अपहरण करने वाले, धार्मिक असहिष्णु बादशाहों के दरबार में भक्ति-भावना के पदों का निर्माण क्योंकर संभव था। अतएव 'रीतिकाल' में इन भक्त कवियों की काव्य-धारा दरबारी वातावरण से बिलकुल दूर ही रह कर प्रवाहित हुई। यही कारण है 'रीतिकाल' में वातावरण के अनुरूप जिस प्रकार के काव्यरूप को अधिक पल्लवित होने का अवसर हाथ लगा वह था कलाप्रधान 'मुक्तक' जिसके कारण गीतिकाव्य की धारा लुप्त तो नहीं हुई परन्तु क्षीण अवश्य पड़ गई।

गीतिकाव्य की रचना इस युग में दरबारी कवि के लिए एक प्रकार से असंभव थी। कारण यही है कि जिस उन्मुक्त आत्माभिव्यंजन की अपेक्षा गीतों के निर्माण से होती है, उसका अभाव रीतिबद्ध कवियों में था। हृदय के उन्मुक्त प्रकाशन के लिए व्यक्तित्व का स्वातन्त्र्य परमावश्यक है जो इन दरबारी कवियों में राज्याश्रय के कारण प्रायः दब चुका था। फलतः जब भी उन्होंने लिखा, ऐसे कलापूर्ण रूप में लिखा जिससे संपूर्ण दरबार पर उनका प्रभाव छा जाय। दूसरे, इस काल में यदि कुछ ऐसे व्यक्तित्व-प्रधान कवि हुए भी जिनकी रचना में 'रीति' की परम्परा पर चलने की प्रवृत्ति प्रायः शून्य ही थी और जिनमें आत्माभिव्यंजना भी पर्याप्त मात्रा में मिली, तो उनमें भी 'रीति' की हलकी सी छाया अवश्य मिली जिससे उनकी रचनाएँ भी पदों से भिन्न श्रेणी की हो गईं। 'रीतिकाल' के इस प्रकार के आत्माभिव्यंजक काव्य के रचयिता विशेष रूप से घनानन्द, रसखान, बोधा, आलम और ठाकुर हुए। उनकी कविताओं में कवि की प्रवृत्ति अन्तःप्रकृति की छानबीन में अधिक रमी और आत्माभिव्यंजना इनमें अन्य कवियों की अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पड़ी। इनमें स्वतन्त्र अभिव्यंजना की ओर भी झुकाव अवश्य मिलता है और हृदय के प्रसार में इनके काव्य का महत्व भी बहुत ऊँचा उठ गया है। शास्त्र की गिनी गिनाई सूची को जिस प्रकार केशव, मतिराम, बिहारी, मंडन आदि कवियों ने पूर्ण करने का प्रयास किया, उसे इन स्वच्छन्द कवियों ने हेय समझ कर, हृदय के ऐसे-ऐसे व्यापारों की व्यंजना की कि इनकी कृतियों को हमें 'मुक्तक' के भीतर रखने का साहस नहीं होता। किन्तु जब 'रीतिकाल' की एक अलग बहती हुई पदों की धारा से इनकी तुलना की जाती है, तब प्रथम तो इनके रचयिता भक्तों की श्रेणी में नहीं आते। किन्तु साथ ही इनमें जितना भी झुकाव भक्ति की ओर दिखाई पड़ता है, उसे लेकर ये अन्य रीतिकालीन कवियों से भिन्न भी ठहरते हैं। क्योंकि इन्होंने राधा-कृष्ण का नाम न तो 'राधा कन्हाई के सुमिरन के बहाने' ही लिया और न अन्य कलाप्रधान कवियों की ही भाँति पग-पग पर उन्हें नायक-नायिका के रूप में ही दिखाने की इनकी प्रवृत्ति थी। इनकी कविताओं से प्रतीत तो ऐसा होता है कि प्रथम तो ये भी 'रीति' की सीमा के भीतर ही चल रहे थे, किन्तु जब हृदय की उन्मुक्त प्रवृत्तियों को व्यक्त न कर सके तो 'रीति' के घेरे से दूर चले गए। इस प्रकार व्यक्तिगत प्रेम को त्यागने के पश्चात् इन्होंने कृष्ण और राधा की ओर अपना झुकाव दिखाया। इस दृष्टि से ये कवि पूरे भक्त नहीं बन पाते, केवल प्रेमोन्मत्त कवि ही ठहरते हैं। हाँ, बिहारी, देव आदि कवियों से इनमें अन्तर इस

दृष्टि से बहुत था कि इनकी प्रवृत्ति बाद में भक्ति में लीन होती हुई दिखाई पड़ती है जहाँ बिहारी, देव आदि कोरे शृङ्गारिक ही रह जाते हैं।

अतएव 'रीतिकाल' के इस स्वच्छन्द वर्ग के कवियों की रचनाएँ भी 'मुक्तक' के भीतर ही गिनी जायँगी। हाँ, इनकी काव्य-धारा आत्माभिव्यंजना के पुट से अपने में अनुभूति और कला का पूर्णतः समन्वय कर सकी है, जहाँ रीतिबद्ध मुक्तकों में यह समन्वय नहीं हो पाया है। अनुभूति और कला के सुन्दर समन्वय को लेकर यदि कहा जाय कि ये मुक्तक पद-शैली के निकट है अथवा दोनों में अभिन्नता है तो ऐसा भी नहीं। कारण एक यह भी है कि इन स्वच्छन्द कवियों ने अपनी अभिव्यंजना में मुक्तकों की कवित्त-सवैये की आती हुई परम्परा का ही अनुसरण किया। यदि ये कवि अपने इन भावात्मक उद्‌गारों को राग-रागिनियों से युक्त पदों की शैली में ढालते तो अवश्य इन्हें गीतिकाव्य की श्रेणी में हम ले सकते। परन्तु ऐसी बात नहीं मिलती।

हिन्दी में विद्यापति से जो गीतिकाव्य की धारा चली आ रही थी उसमें भक्त और सन्त कवियों ने अपनी एक विशेष परम्परा बना ली थी। यह परम्परा थी पदों को राग-रागिनियों के आधार पर निर्मित करने की शैली। इस परम्परा को निर्गुणिये सन्तों ने भी अपनाया और उन्होंने जब दोहे लिखे तो उनकी रचना में राग-रागिनियों का संकेत नहीं दिया किन्तु जब 'पद' लिखे तब राग-रागिनियों से समन्वित शैली में ही उन्होंने अभिव्यंजना को सजाया। भक्त कवियों ने तो संगीत और काव्य का योग करके ही दिखा दिया। ठीक यही बात तुलसी में भी हमें मिलती है। उन्होंने भी जब दोहे, कवित्त या सवैये लिखे तब उनमें राग-रागिनियों का संकेत नहीं किया, परन्तु पदों में सर्वत्र ऐसा संकेत दिया है।

अतएव 'रीतिकाल' में आत्माभिव्यंजना को प्रधानता देने वाले कवियों की रचनाएँ भी काव्यरूप की दृष्टि से 'मुक्तक' ही कहलाई जावेंगी। हाँ, मुक्तकों की अपनी एक विशिष्ट धारा इन कवियों ने अवश्य अलग बहाई है जो रीतिबद्ध मुक्तकों की धारा के साथ-साथ बहती है।

रीतिकाल के पद

किन्तु इस धारा से भी भिन्न उन भक्त कवियों की धारा है जिन्होंने इस रीति और कला-प्रधान काल में भी पदों की रचना कर गीतिकाव्य की अखंड परम्परा को सुरक्षित रखने का पूरा प्रयास किया। ये कवि हैं मुख्यरूप से नागरीदास, विश्वनाथ सिंह, अलबेलि अलि, चाचा हितवृन्दावनदास और भगवत रसिक। इन कवियों के साथ ही इस काल में पद रचना का अधिक

श्रेय स्त्रियों को भी दिया जाता है जिन्होंने बड़े मधुर पदों की रचना की। इनमें सहजोबाई, प्रतापबाला, दयाबाई, जुगलप्रिया आदि के नाम प्रसिद्ध हुए हैं। 'रीतिकाल' के इन कवियों एवं कवियित्रियों के पदों का आदर्श भक्तिकालीन पद ही हैं। इन्होंने अपनी पद-रचना में अपनी भावना के अनुरूप कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि पूर्ववर्त्तियों से ही प्रेरणा ली। अतएव गीतिकाव्य के विकास में इनके पदों का महत्व कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। यदि इनकी कुछ विशेषता है तो यही कि इनके द्वारा हमारी गीतिकाव्य-धारा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सुरक्षित बनी रही और इनके पद उस बीच की कड़ी के समान हैं जो 'भक्तिकाल' के पदों को आधुनिक काल से सम्बद्ध किए हुए हैं।

महाराज विश्वनाथ सिंह रामोपासक थे और पद-रचना की अपेक्षा इन्होंने अधिकतर वर्णनात्मक काव्य लिखे। इनके पदों का स्वरूप अधिक प्रभावात्मकता लिए हुए नहीं है—

उठो कुँवर दोउ प्रान पियारे।
हिमरितु प्रात पाय सब मिटिगे नभसर पसरे पुहकर तारे॥
जगबन महँ निकस्यो हरषित हिय बिचरन हेत दिवस मनियारो।
विश्वनाथ यह कौतुक निरखहु रविमनि दसहु दिसिनि उजियारो॥[1]

भक्तवर नागरीदास के पदों में उनकी भावुकता का आभास अवश्य मिलता है। इन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति अपने भक्तिपूर्ण पदों की रचना की जिनमें सरसता पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुई :—

जो मेरे तन होते दोय।
मैं काहू तें कुछ नहिं कहतो, मोते कछु कहतो नहिं कोय॥
एक जु तन हरि विमुखनि के संग रहतो देस बिदेस।
बिबिध भाँति के जग दुख सुख जहँ नहीं, भक्ति लवलेस॥
एक जु तन सतसंग, रँग-रँगि, रहतो अति सुख पूर।
जनम सफल कर लेतो ब्रज बसि, जहँ ब्रज जीवन मूर॥
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वै हैं, आयु सु छिन-छिन छीजै।
नागरिदास एक तन ते अब, कहौ कहा करि लीजै॥ २३॥[2]

अलबेलि अलि को संगीत शास्त्र का ज्ञान था, अतएव उनकी 'समय

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रा० च० शु० पृ० ४१३।
२. ब्रजमाधुरीसार, सम्पा० वियोगीहरि, सं० १९८०।

प्रबंध पदावली' में राग-रागिनियों के आधार पर पद-रचना बड़े संगीतात्मक ढंग से हुई है। किन्तु रूप की दृष्टि से इनके पदों का महत्त्व अधिक नहीं। इसी प्रकार चाचा हितवृन्दावनदास ने लीला-विषयक पदों की रचना अधिक की जिनमें 'मनिहारी लीला',--'योगिनीलीला', बीणाधारी लीला' प्रसिद्ध हैं। ये पद राग-रागिनियों के आधार पर रचे गए हैं किन्तु वर्णनात्मकता इनमें अधिक होने के कारण पदों की दृष्टि से इनमें भी कोई विकास नहीं दिखाई पड़ता।

'रीतिकाल' में कवियित्रियों में सहजोबाई के पद भाव की दृष्टि से सुन्दर हुए। इनके गुरु महात्मा चरनदास थे, अतएव संतों के योग की संपूर्ण बातें इनके पदों में नियोजित हुईं। साथ ही इनका प्रेमपूर्ण हृदय दूसरी ओर बड़े ही भावात्मक रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

भया हरि रस पी मतवारा।
आठ पहर झूमत ही बीतै, गर दिया सब भारा।।
इँगल पिंगला ऊपर पहुँचे, सुखमन पाट उधारा।
पीवन लागे सुधारस जबही, दुर्जन पड़ी बिडारा।।
गंग जमन बिच आसन मारयो, चमक-चमक चमकारा।
भँवर गुफा में ह्वै बैठे, देख्यो अधिक उजारा।।
चरनदास किरपा सूँ सहजो, भरम करम हुए छारा।[1]

किन्तु जहाँ कहीं भाव किसी योग-साधना का ओर नहीं झुके हैं, वहाँ पद भी बड़े सरस और संगीतात्मक रूप में अभिव्यंजित हो सके हैं :—

मुकुट लटक अटकी मन माहीं।
नृत तन नटवर मदन मोहन मनोहर, कुण्डल झलक पलक बिथुराई।।
नाक बुलाक हलत मुक्ताहल, होट मटक गति भौंह चलाई।
ठुमुक ठुमुक पग धरत धरनि पर, बाँह उठाय करत चतुराई।।
झुनक झुनक नूपुर झनकारत, तताथेई थेई रीझ रिझाई।
चरन दास सहजो हिए अन्तर, भवन करौ जिन रहौ सहाई।। १।
—'सहज प्रकाश' पृ० ५६।

उपर्युक्त चर्चा से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विकास की दृष्टि से 'रीतिकाल' के इन पद-रचयिताओं ने गीतिकाव्य को कोई ऐसा नवीन तत्व

---

१. सहजोबाई की बानी--सहजप्रकाश जीवन चरित्र सहित--बैल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद--सन् १६१३ पृष्ठ ५६.

नहीं दिया, जो परंपरागत आती हुई पद-रचना-शैली से भिन्न दिखाई पड़ता। इस काल में यदि संतों की परंपरा पर पद निर्मित हुए तो उनमें योग साधना पर अधिक दृष्टि रखी गई और यदि भक्तों की शैली पर पद रचना हुई तो आत्मनिवेदन और लीलाविषयक पदों में या तो सूर, मीरा आदि कवियों की भावाभिव्यंजना का रूप मिला, या बहुत ही साधारण रूप में भावाभिव्यंजना हुई, जिनका भाषा, भाव और अभिव्यंजना तीनों ही दृष्टि से कोई महत्व नहीं दिखाई पड़ा।

भारतेन्दु युग और गीतिकाव्य का पुनरुद्धार

'भारतेन्दु युग' में आकर पदों की क्षीण पड़ती हुई धारा पुनः सजीव ही नहीं हुई, प्रत्युत उसमें प्रेरणा के नवीन स्रोत से नवजीवन भी पड़ गया। इसका समस्त श्रेय स्वयं भारतेन्दु जी को ही है जिन्होंने ऐसे संक्रान्तिकाल में, जब देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थितियाँ असन्तोषजनक हो रही थीं—आकर जीवन और काव्य दोनों की सेवा की।

इस काल तक पहुँचते-पहुँचते भारत पर अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो चुका था। अंग्रेजों के सम्पर्क में आकर भारतवासी न केवल उनकी भाषा से आकर्षित हो रहे थे, अपितु उनकी विचारधारा एवं आचार में भी वहीं से प्रेरणा मिलती हुई दिखाई पड़ी। क्रमशः भारतीय संस्कृति पर विनाशकारी प्रभाव पड़ने लगे थे। ईसाई पादरियों के व्यवहार ने धार्मिक असन्तोष को जन्म दे दिया था। हिन्दू समाज दूसरी ओर कट्टरपन्थी भी बनता चला जा रहा था। तीसरी ओर हिन्दी के प्रति अरुचि भी बढ़ती जा रही थी। ऐसी शोचनीय परिस्थिति में भारतेन्दु का प्रादुर्भाव वस्तुतः सभी दृष्टियों से हितकारी सिद्ध हुआ। उन्होंने न केवल देश प्रत्युत साहित्य की उन्नति का भार भी अपने ऊपर लिया और जिन परिस्थितियों के बीच से होकर उनका काव्य निर्मित हुआ उसमें काल की सम्पूर्ण झलक विद्यमान मिली।

'भारतेन्दु' के युग से ही दूसरी ओर राजनीतिक चेतना का स्फुरण भी होता हुआ दिखाई पड़ता है। ज्यों ज्यों देशवासियों की आँखें खुलती गईं उन्होंने वास्तविकता का अनुभव भी किया। देश की अवस्था पर उन्हें क्षोभ हुआ और इसी समय से देश के महानुभावों ने सुधार का काम अपने हाथों ले लिया। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि ने भारतीय संस्कृति के लिये गुरुतर कार्य आरम्भ कर दिए। ऊँघता हुआ देश कुछ-कुछ सचेत भी होने लगा

और कांग्रेस की स्थापना के बाद तो देश की परतन्त्रता भारतवासी न देख सके। देश-भक्ति का स्वर भी यहीं से गूँज उठा।

ऐसी परिस्थिति में भारतेन्दु का प्रादुर्भाव हुआ, अतएव इन्हीं परिस्थितियों के अनुरूप गीतिकाव्य में परिवर्तन भी आते गए। राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप ही उनके विचारों एवं भावों में परिवर्तन हुए और इन्हीं परिवर्तनों के अनुरूप अभिव्यक्ति में भी नवीन तत्वों का समावेश हुआ। इन्हीं नवीन तत्वों के योग से गीतिकाव्य की क्षीण पड़ती हुई धारा एक बार फिर से तरङ्गायित हो उठी। अतएव गीतिकाव्य के पुनरुद्धार एवं विकास में भारतेन्दु बाबू का एक निश्चित स्थान हो जाता है।

भारतेन्दु ने सर्वप्रथम अपने नाटकों में गीतों की रचना की। ये गीत प्रमुखतया 'वद्यासुन्दर', 'वैदिकी हिंसा न भवति', 'मुद्राराक्षस', 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'कर्पूरमंजरी', 'चन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा', 'नीलदेवी', 'दुर्लभबन्धु', 'सतीप्रलाप' और 'भारतजननी' नामक नाटकों के अन्तर्गत आए हैं।

'विद्यासुन्दर' नाटक में जिन शृङ्गारिक पदों की रचना हुई है उनमें जिन पदों की रचना लोकगीतों के आधार पर हुई है, उन्हीं से हमें गीतिकाव्य के विकासोन्मुख होने की सूचना मिलने लगती है। साथ ही इन गीतों से उसके व्यापक क्षेत्र एवं स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के लक्षण भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं। लोकगीतों की 'ठुमरी' शैली का एक गीत देखिये :—

मेरे तन अति बाढ़ी बिरह पीर, अब नहिं सहि जाई हो।
अब कोऊ उपाय मोहि नहिं लखाय, दुख कासों कहौं कुछ कहि न जाय ॥
मनहीं मैं बिरह की आगिनि बरै धूँओं न दिखाई हो।
दईमारी लाज बैरिन सी आज, कहो आवत मेरे कौन काज ॥
पिय बिन मेरो जियरा तड़पै, कुछ नाहिं बसाई हो।[1]

प्रस्तुत गीत में 'भक्ति काल' की पद शैली से भिन्न गीतों की स्वतन्त्र शैली है; और इस शैली में भी लोकगीतों के ढङ्ग पर भावाभिव्यंजना भारतेन्दु की निजी मौलिकता है। इन्हीं गीतों से गीतिकाव्य क्षेत्र में काव्यरूप की दृष्टि से विकास का आरम्भ होता है। 'कर्पूरमञ्जरी' में भी उन्होंने इसी शैली के गीत रचे हैं।[2]

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, विद्यासुन्दर पृ० १८। संपा० ब्रजरत्नदास। सं० २००७.

२. भा० ग्रं० पृ० ३८३. (भाग १)।

'विद्यासुन्दर' के पश्चात् हास्यरस का नाटक 'वैदिकी हिंसा न भवति', आता है। इसके अन्तर्गत आए पदों का महत्व रूप की दृष्टि से तो नहीं, परन्तु नवीन भावों के गुम्फन में अवश्य है। मांस-भक्षण, मदिरापान आदि दुर्व्यसनों पर कवि ने कठोर व्यंग्य किये हैं।[1] परन्तु 'मुद्राराक्षस' में भक्ति-कालीन पदों के समान पद-रचना हुई है। 'चन्द्रावली नाटिका' तो शृङ्गार रस के पदों से आद्यन्त पूर्ण हैं। ये पद भावाभिव्यंजना की दृष्टि से बड़े ही सरस और भावात्मक हैं। किन्तु सूर के पदों की ही भाँति इनकी रचना हुई है। अतः काव्यरूप इनका भक्तिकालीन पदों जैसा ही है :—

मन की कासों पीर सुनाऊँ।
बकनो बृथा और पत खोनी सबै चवाई गाऊँ।।
कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहै धरिहै उलटो नाऊँ।
यह तो जो जानै सोइ जानै क्योंकरि प्रगट जनाऊँ।।
रोम रोम प्रति नैन श्रवन मन केहि धुनि रूप लखाऊँ।
बिना सुजान शिरोमनि री केहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ।।
मरमिन सखिन बियोग-दुखिन क्यों कहि निज दसा रोआऊँ।
हरीचन्द्र पिय मिलै तो पग परि गहि पटुका समझाऊँ।।

—पृ० ४६३।

अभी तक जिन नाटकों की चर्चा हुई उनमें भारतेन्दु ने अधिकतर शृंगाररस के गीतों का ही निर्माण किया। किन्तु सं० १९३३ में 'भारतदुर्दशा' की रचना द्वारा भारत के अतीत वैभव को याद कर जिन गीतों का उन्होंने निर्माण किया उनमें करुणा, विवशता, क्षोभ एवं पश्चाताप के भावों का गुम्फन हुआ। देश की समकालीन परिस्थितियों के अनुरूप उनकी भावधारा दूसरी ही ओर उन्मुख हुई और कवि का सच्चा क्रन्दन इन गीतों में हमें सुनाई पड़ा।

रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखि जाई।। ध्रुव।।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य बिधाता कीनो।।
सबके पहिले जो रूप-रंग रस-भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।।

---

१. भा० ग्रं० पृ० ७२ (भाग १)।

अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा देखी न जाई।।
—भारतदुर्दशा—पृ० ४६६।

प्रस्तुत गीत में विषय और भाव के परिवर्तन के साथ काव्यरूप में जो परिवर्तन दिखाई पड़ा, वह 'लावनी' के ढंग पर पुनरावृत्ति की शैली की उद्भावना में ही है, जो भारतेन्दु के अधिकांश गीतों में प्राप्त होता है। 'भारत-दुर्दशा' के पश्चात् हम 'नीलदेवी' के गीतों में करुण भावों की व्यंजना बड़े ही मार्मिक रूप में होती हुई पाते हैं। जहाँ कहीं कवि भगवान को याद कर आत्मनिवेदन करता है वहाँ उसकी भावना देश के कल्याण निमित्त बड़ी हार्दिकता लिए हुए प्रकट होती है :—

कहाँ करुणानिधि केशव सोए।
जागत नेक न जदपि बहुत विधि भारतवासी रोए।
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारत हित बिसराए।।
इतके पशु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए।
—'नीलदेवी' भारतेन्दु ग्रन्थावली पृ० ५३६।

प्रस्तुत पद से भाव की परिधि के विस्तृत होने का तो हमें पूरा आभास मिल जाता है, किन्तु काव्यरूप में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं मिलता जो भक्ति-कालीन पदों से विशिष्टता लिए हुए हो। अतएव इन गीतों का महत्व भाव-प्रसरण की दृष्टि से ही अधिक माना जाता है। प्रस्तुत नाटक के अन्तर्गत जहाँ शृङ्गार प्रधान गीत आए हैं, उनमें अवश्य रूप का विकास हुआ है। यहाँ भाषा में भी भावानुकूल परिवर्तन हुआ है और लोकगीतों से काव्यरूप प्रेरित है :—

हाँ, मोसे सेजिया चढ़लि नहिं जाई हो,
पिय बिनु साँपिन सी डसै बिरह रैन।
छिन छिन बढ़त बिथा तन सजनी,
कटत न कठिन वियोग की रजनी।।
बिनु हरि अति अकुलाई हो,
—भा० ग्रं० पृष्ठ ५४३।

नाटकों के अन्तर्गत रचे हुए गीतों के पश्चात् हम भारतेन्दु के उन पदों पर आते हैं, जिनकी रचना उन्होंने स्वतन्त्र रूप से की। इन पदों में कुछ तो भक्तिप्रधान हैं, कुछ शृङ्गारिक। भक्तिप्रधान पदों में आराध्यदेव का गुणगान, उनके प्रति आत्मनिवेदन और लीला-विषयक पदों की रचना की है। भगवान को स्मरण करते हुए इन्होंने

स्थान-स्थान पर भारत की अवस्था पर दया एव कृपादृष्टि की भिक्षा माँगी है। साथ ही इन पदों में कवि की भावना एक ओर तो वैष्णव भक्तों की सी है और दूसरी ओर कबीर, दादू आदि संत कवियों के समान वैराग्य-प्रधान भी हो गई है। 'रीतिकाल' के पदों में भावाभिव्यंजना उन्मुक्त रूप में होती हुई नहीं दिखाई पड़ी; किन्तु भारतेन्दु के पदों में पुनः भक्तिकालीन स्वच्छन्द भावाभिव्यंजना का रूप दिखाई पड़ा। अस्तु इन पदों में रूप की दृष्टि से विकास तो नहीं हुआ, किन्तु भावाभिव्यंजना स्वच्छन्द पथ से होकर अवश्य निकली। 'विनय प्रेम पचासा', में भारतेन्दु ने विनय के पद संकलित किये जिनपर सूर आदि भक्त कवियों की छाया स्पष्ट है। ऐसे पदों में कवि का आत्म-निवेदन शुद्ध आत्माभिव्यंजक शैली में है :—

प्रभु मैं सेवक निमक-हराम।
खाइ खाइ के महा मुटैहौं करिहौं कछू न काम।।
बात बनैहौं लम्बी-चौड़ा बैठ्यो बैठ्यो धाम।
तिनहु नाहिं इत उत सरकैहौं रहिहौं बन्यौ गुलाम।।
नाम बेचिहौं तुमरो करि करि उलटो अघ के काम।
'हरिचंद' ऐसन के पालक तुमहि एक घनश्याम ।।१३।।[1]

ऐसे पदों की रचना अन्यत्र संग्रहों में मिलती है जिनमें 'प्रेम मलिका', 'प्रेमप्रललाप', प्रेमफुलवारी', 'रामसंग्रह' के दैन्य भाव के पद उल्लेखनीय है। जहाँ भारतेन्दु ने संसार की क्षणभंगुरता की ओर लक्ष्य कर पदों की रचना की है, वहाँ काव्यरूप संत कवियों के पदों के समान है :—

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है।।

× × × ×

खिल-खिलकर सब फूल बाग में कुम्हला-कुम्हला जाते हैं।
तेरी भी गति यही है गाफिल यह तुझको दिखलाते हैं।।
इतनेपर भी देख और सुनकर क्या गाफिल हो फूला है।
'हरीचन्द' हरि सच्चा साहब उसको बिल्कुल भूला है।।

—प्रेम प्रलाप, पृष्ठ २९९, २०० ।

शृङ्गारिक पदों का अभाव इनकी रचना में हो ऐसी बात नहीं। भारतेन्दु ने बड़े ही सरस शृंगार रस के पदों का निर्माण किया जिनमें कभी-कभी

---

१. विनय प्रेमपचासा, 'भा० ग्रन्थावली', भाग २, पृष्ठ ५४२।

रीतिकालीन शृंगारिक भावना झलक उठती है, किन्तु अधिकांश पदों में सूर का प्रभाव स्पष्ट है। इन पदों में भक्तिकाल के पदों की ही भाँति अध्यंतरित भाव की स्थिति भी है। कवि गोपी अथवा राधा में अपना आरोपण कर अध्यंतरित रूप में भावाभिव्यंजना करता है।

शृङ्गारिक पदों में भारतेन्दु ने होली के प्रसंग को लेकर कुछ ऐसे पदों का निर्माण किया जिनमें वर्णन का आग्रह है, किन्तु उनकी रचना में सर्वथा मौलिकता इस दृष्टि से है कि कवि ने कभी तो 'लावनी' के ढंग पर भावाभिव्यंजना की है, तो कभी उर्दू की 'गजल' के ढंग पर। पदों में ऐसा पुट पहले यदि कहीं दिखाई पड़ा तो वह खुसरो के पदों में जिन्होंने उर्दू के ढंग पर कुछ गजलें लिखीं। किन्तु 'लावनी' के ढंग पर पहले पहल भारतेन्दु ने ही पदों का निर्माण किया। गीतिकाव्य में काव्यरूप की दृष्टि से यह नवीन पग कहा जायगा। 'मधु मुकुल' में 'होली की लावनी' 'होली की गजल', ऐसे पद हैं :—

इत मोहन प्यारे उत श्री राधा प्यारी।
वृन्दाबन खेलत फाग बड़ी छबि भारी ।।ध्रु०।।
सब ग्वाल बाल मिलि डफ कर लिए बजावें।
इत सखियाँ हरि को मीठी गारी गावें ।।
पचरंग अबीर गुलाल कपूर उड़ावें।
× × ×
बृन्दाबन खेलत फाग बड़ी छबि भारी ।।

—मधुमुकुल, होली की लावनी, पृष्ठ ४२१।

होली की ग़ज़ल में कवि की शैली बिलकुल उर्दूपन से पूर्ण है :—

गले मुझको लगा लो ए मेरे दिलदार होली में।
बुझे दिल की लगी मेरी भी तो ऐ यार होली में ।।
नहीं यह है गुलाले सुर्ख उड़ता हर जगह प्यारे।
ये आशिक की है उमड़ी आहे आतिशबार होली में ।।

—मधुमुकुल पृष्ठ ४२२।

भारतेन्दु के पश्चात् उनके कवि-समाज द्वारा निर्मित गीतों पर जब हम दृष्टि डालते हैं तब उनमें काव्यरूप की दृष्टि से प्रायः वही बातें हमें दिखाई पड़ती हैं, जिनका निर्देश हम भारतेन्दु के गीतिकाव्य की चर्चा करते हुए अभी तक देख रहे थे। इन कवियों में अम्बिकादत्तव्यास, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, राधाचरणगोस्वामी, बालमुकुन्दगुप्त प्रसिद्ध हुए। इन्होंने

भक्तिपूर्ण पदों की रचना भक्तिकालीन पदों के अनुरूप ही की और विशेष रूप से इनका झुकाव जिस ओर दिखाई पड़ा वह था सामाजिक कविता का निर्माण। अतएव समय की प्रचलित संकुचित भावनाओं, रूढ़ियों एवं जातिगत पाखंडों को लेकर इन्होंने कविता की। इस प्रकार समाज सुधार एवं अन्यान्य समस्याओं को लेकर चलने के कारण इनकी कविता का रूप अधिकांशतः मुक्तकों का हो गया। कारण यह कि अन्यान्य समस्याओं को लेकर भावाभिव्यंजना जब भी हुई उसमें इतिवृत्तात्मकता का पुट घन होता गया। इसी इतिवृत्तात्मकता के आग्रह के कारण एक तो इनकी अभिव्यंजना में वर्णनात्मकता के पुट का आधिक्य हो गया, दूसरे कला-पक्ष को आघात भी पहुँचा। कविता में यथार्थ का पुट इतना भर गया कि भावों में रूखापन आ गया और गीतात्मकता को धक्का पहुँचा।

'भारतेन्दु युग' संक्रान्ति का काल था। पुरानी परिपाटी एवं भावों की अवहेलना और नवीन विचारधारा की अभ्यर्थना हो रही थी। राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थियों में उलट फेर हो रहे थे। ऐसी स्थिति में गीतिकाव्य रूप की दृष्टि से उतना विकास न कर पाया जितना भाव एवं विचार की दृष्टि से। किन्तु बिलकुल यही कह देना भी संगत नहीं कि गीतिकाव्य इस काल में कोई विकास न कर पाया। भारतेन्दु के पदों में जो सबसे विशिष्ट गुण दिखाई पड़ा, वह है गीतात्मक उद्रेक (lyrical outburst)। यह तत्व करुण प्रसंगों में तो बड़े ही तीव्र रूप में विद्यमान है। 'कहाँ करुणानिधि केसव सोए' में हृदय का सच्चा उद्गार अभिव्यक्त हुआ। यही बात कुछ प्रेमपरक गीतों में भी दिखाई दी। भक्ति के पदों में तो आत्माभिव्यंजना का वही रूप मिलता है जो 'भक्तिकाल' में दिखाई पड़ा, किन्तु 'ऐसे कहैंगे सबै नीर भरी, प्यारे हरीचन्द की कथा रह जायगी'— यह भाव कविता में बिलकुल नवीन दिखाई पड़ा। कवि का इस प्रकार अपने विषय में बहुत कुछ सुना चलना, आत्माभिव्यंजना की दृष्टि से एक नवीन तत्व गीतिकाव्य में नियोजित हुआ।

'भारतेन्दु युग' में काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ, जिससे उनके पदों में रूप की दृष्टि से एक नया विकास हुआ। लोकगीतों के माधुर्य की परख कर, उनसे प्रेरणा भारतेन्दु को इसी कारण मिल सकी और पदों में 'बरवा', 'लावनी', 'ठुमरी' आदि की शैली का योग काव्यरूप की दृष्टि से बिलकुल नवीन प्रयास सिद्ध हुआ। इसी प्रकार दूसरी ओर बाह्यप्रभाव के अनुरूप गजलों की रचना भी काव्यक्षेत्र में नवीन बात दिखाई पड़ी।

अस्तु भारतेन्दु के गीतों का महत्व उनके युग में बहुत ऊँचा हो जाता है। उनके पदों ने गीतिकाव्य को एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख किया और भारतेन्दु तथा उनके कवि-समाज ने प्राचीन काल से आती हुई गीति-काव्य की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए उसमें व्यापक भावना का गुम्फन भी किया। इसीलिए हम इस युग को गीतिकाव्य के विकास की दृष्टि से पुनरुद्धार-काल भी कह सकते हैं।

द्विवेदी युग और गीतिकाव्य का स्वरूप परिवर्तन

'भारतेन्दु युग' के पश्चात् हम एक नवीन शताब्दी के निकट पहुँच जाते हैं जो बीसवीं शताब्दी कहलाती है। क्या पाश्चात्य और क्या पूर्व, सभी देशों में इस युग का महत्व साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टियों से बहुत कुछ है। देश की समग्र परिस्थितियों में जिस हलचल का सूत्रपात 'भारतेन्दु युग' में हो चुका था, उसका विकास भी इसी काल से होना आरम्भ हो गया। ऐसे समय में जब राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में असंगतियाँ प्रादुर्भूत होकर विकासोन्मुख हो रही थीं, महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने काव्यक्षेत्र में पदार्पण किया।

भारतेन्दु काल के अन्तिम दिनों से ही काव्य की भाषा के सम्बन्ध में वादविवाद छिड़ चुका था और स्वयं भारतेन्दु ने खड़ी बोली में गीतिकाव्य की रचना भी की थी, किन्तु वे उसे कविता के लिये अनिवार्य भाषा मानने को प्रस्तुत न थे। उनके पश्चात् एक ओर श्रीधर पाठक, 'एकान्तवासी योगी' को लेकर काव्यक्षेत्र में आये उसकी रचना उन्होंने खड़ी बोली में 'लावनी' के ढंग पर की, दूसरी ओर 'हरिऔधजी' उर्दू के ढंग पर और साथ ही संस्कृत गर्भित भाषा एवं छन्दों को लेकर नवीन ढंग पर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे। खड़ी बोली की इन रचनाओं द्वारा यह सिद्ध होता जा रहा था कि वह काव्याभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सकती है। केवल वादविवाद को शान्त करने की आवश्यकता थी जो महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा पूर्ण हुई।

भाषा के प्रश्न को हल करने के प्रयास में द्विवेदी जी सफल तो अवश्य हुए, किन्तु प्रयोग काल होने के कारण इस युग के प्रथम उत्थान में जिस प्रकार की कविताएँ हुईं उनमें काव्यरूप की दृष्टि से गीतिकाव्य के कोई भी तत्व न दिखाई पड़े। इसका सबसे प्रधान कारण था भाषा का सूक्ष्म भावा-भिव्यंजना के लिए सक्षम न होना। खड़ी बोली गद्य-रचना का माध्यम होने

के कारण जब पद्य-रचना में प्रयुक्त होने लगी, तब एक ओर तो कविता में गद्यात्मकता का प्राधान्य हो चला और दूसरी ओर जब द्विवेदीजी ने उसमें संस्कृत के वृत्तों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया, तब उसमें अभिव्यक्ति की सहज कोमलता का अभाव आ गया। कविता में विषय-निर्वाचन को यदि देखें तो ऐसा प्रतीत होता है मानो इस काल के कवियों ने पद्य में निबन्ध रचने के लिए विषयों का निर्वाचन किया। विषय ऐसे हैं जिनके द्वारा कवि ने केवल उपदेश ही दिये हैं, न कि उनके द्वारा कोमल भावाभिव्यंजना की। इनमें 'आशा', 'सन्तोष', 'ग्रन्थकार लक्षण', 'ग्रन्थ गुणगान', कुछ उल्लेखनीय विषय हैं। ग्रन्थकार के लक्षण, पर कवि की उक्ति बड़ी इतिवृत्तात्मक शैली में हैं :—

शब्द शास्त्र है किसका नाम।
इस झगड़े से जिन्हें न काम॥
नहीं विराम चिह्न तक रखना जिन लोगों को आता है।
इधर-उधर से जोर बटोर,
लिखते हैं वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं।[1]

खड़ी बोली में भाषागत परिमार्जन के ध्येय से संस्कृत पदावली एवं वृत्तों का प्रयोग भी द्विवेदी जी ने किया :—

कलित मोतिन मञ्जु प्रकाशिका।
ललित बेसर बेस सुनासिका॥
छबि सुहाति असीम प्रहंसिनी।
मिलाते कटि वधू संगहासिनी॥[2]

इन कविताओं के रूप को देखकर भासित यही होता है कि इस युग के उपकरण गीतिकाव्य के लिये अपर्याप्त थे, न तो इनमें छन्दों की संगीतात्मकता ही थी और न भाषा संस्कृत की समासयुक्त पदावली के सौन्दर्य को सुरक्षित रखने में सक्षम थी। दूसरे विषय-निर्वाचन भी गीतिकाव्यात्मक उद्रेक के अनुकूल न था।

यों तो इसी समय से बँगला का प्रभाव हिन्दी काव्यक्षेत्र पर भी पड़ रहा था और द्विवेदीजी ने काव्यक्षेत्र में छन्दों के बन्धन को अस्वीकार करने के कारण अमित्राक्षर छन्द को भी हिन्दी कविता में प्रयुक्त करना आरम्भ कर

---

१. सरस्वती, अगस्त १९०१।
२. कविता कलाप ८६, पृ० ८६, म० प्र० द्विवेदी।

दिया था, किन्तु इन रचनाओं में न तो बँगला की कोमलकान्त पदावली ही थी और न उसकी सरसता ही आ सकी। वस्तुतः यह प्रयोग काल था, जिसमें द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को सशक्त करने के लिए हर प्रकार के नवीन प्रयोग किये। इन प्रयोगों के लिये द्विवेदीजी ने देश की परिस्थितियों का चित्रण अपने काव्य में उतना न किया जितना अपेक्षित था। एक अच्छे निबन्धकार होने के नाते तथा काव्यक्षेत्र में अनेक प्रकार से संशोधन की कामना के फल-स्वरूप ऐसे ही विषयों को उन्होंने प्रमुखता दी जिसमें काव्य-निर्माण की ओर लोगों की प्रेरणा हो तथा अनेक उपदेशात्मक विषयों को उन्होंने अपनाया। 'भारतेन्दु युग' में शृंगार रस के पदों की रचना प्रचुरता के साथ हुई और मनोभावों के चित्रण में उस काल के कवियों को सफलता भी बहुत मिली। किन्तु द्विवेदीजी ने आते ही काव्यक्षेत्र से शृङ्गाररस को एक प्रकार से बहिष्कृत सा कर दिया। फलतः स्वच्छन्द भावाभिव्यंजना पर प्रतिबन्ध लगाने के कारण गीतिकाव्य का विकास 'द्विवेदी युग' के प्रथम उत्थान काल में न हो सका। कवि अधिकांशतः बाह्यार्थ-निरूपण ही करते रह गये—स्वानुभूति के उन्मुक्त अभिव्यंजन को अवसर ही न दिया जा सका।

द्विवेदीजी जहाँ कविता के संशोधन की चिन्ता में लगे रहे वहाँ उनके समकालीन कवियों ने देश की परिस्थितियों एवं भावनाओं का चित्रण कर अपनी व्यापक भावना का दिग्दर्शन भी अवश्य कराया। इन कवियों में श्रीधर पाठक, हरिऔध, गुप्तजी, नाथूरामशंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामचरित उपाध्याय और लोचनप्रसाद पांडेय, मुख्य थे। इन सभी कवियों की रचनाओं में देश की सामाजिक कुरीतियों, विधवाओं की दयनीय दशा, बालविवाह आदि का वर्णन एवं समाजगत अन्धविश्वास तथा धार्मिक द्वेष का चित्रण मिलता है। साथ ही इन कवियों की रचनाओं में देशभक्ति के भाव 'भारतेन्दु युग' से अधिक व्यापक रूप में दिखाई पड़े। कभी इन्होंने भारत की समकालीन परिस्थितियों पर आँसू बहाए:—

> जगत ने जिसके पद थे छुए, देश ऋणी जिसके हुए।
> ललित लाम कला सब थी जहाँ वह हरे! अब भारत है कहाँ! ॥[1]

कभी सामाजिक कुरीतियों पर इन्होंने क्षोभ प्रगट किया:—

---

१. प्राचीन भारत, मैथिलीशरण गुप्त, सरस्वती, खं० ११, सं० १, सन् १९१०।

बाल विवाह विशाल जाल रच पाप कमाया।
ब्रह्मचर्य व्रत काल वृथा विपरीत गँवाया॥
अबला ने चुपचाप उठाय पछाड़ा मुझको।
बेटा जनकर बाप बनाय बिगाड़ा मुझको॥[1]

इसी प्रकार अछूतों और किसानों की गिरी हुई अवस्था पर कवियों ने अपने भाव प्रकट किए। मातृभूमि के वर्णन में कवि के अभिमान भरे भावों का प्रदर्शन हुआ और स्वदेश के प्रति प्रेम के भाव तीव्र रूप में प्रकट हुए। साथ ही किसानों की दयनीय दशा को देख जमींदारों पर आक्रोश भी इन्होंने प्रकट किया। ऐसी कविताओं में आशा के भाव भी उसी प्रकार भरे गए हैं जिस प्रकार समाज में आशा के ही बल पर लोग देश के लिये आत्मबलिदान के लिये प्रस्तुत हो रहे थे। आशय यह कि समय को जिस संघटन एवं एकता की आवश्यकता थी उसी के अनुरूप भावों को कविता में भरने का प्रयास इन कवियों ने किया। सन् १९१४ से पूर्व जैसी हमारी सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति थी सभी का यथातथ्य चित्रण भी इन कवियों ने किया।

द्विवेदीजी के इन सहयोगी कवियों की कविता के रूप पर यदि विचार किया जाय तो हमें उस पर द्विवेदीजी की शैली का प्रभाव ही अधिक दिखाई पड़ता है। यह प्रभाव आरम्भ में अधिक पारिलक्षित हुआ, जब उन्हीं के समान कवियों ने संस्कृतगर्भित शैली में कविताएँ रचीं। देवीप्रसाद 'पूर्ण' की कविता का एक उदाहरण लीजिये :—

प्रतिनिधे खल काल कराल के, कुटिल क्रूर भयानक पातकी।
अतिविलक्षण है तव दुष्क्रिया, अशुच मृत्यु अरे अधमाधम॥[2]

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी भावाभिव्यंजना में संस्कृत की पदावली का प्रयोग किया जिसमें न तो संगीतात्मक मिलती है और न भावात्मकता जो इनको गीतिकाव्य का रूप दे पाती। खड़ी बोली के इस प्रयोग काल में संस्कृत की ऐसी समासयुक्त पदावली से कविता का रूप बहुत ही रूखा और नीरस हो गया। कभी-कभी तो संस्कृत के वृत्तों का प्रयोग हुआ जिससे भाषा दूसरी और छन्द दूसरे होने के कारण कविता में एक प्रकार का असन्तुलन उत्पन्न हो गया। फलतः काव्यरूप की दृष्टि से 'द्विवेदी युग' के इस प्रथम

---

१. नाथूराम शंकर शर्मा, सरस्वती, खं० ११, सं० ३, सन् १९१०।
२. सरस्वती खं० ५, सं० ४, सन् १९०४।

उत्थान काल की कविता मुक्तक के ही अन्तर्गत परिगणित की जाती है और 'भारतेन्दु युग' से चली आती हुई गीतिकाव्य की धारा आगे चल कर इसी काल के द्वितीय उत्थानकाल से नवीन स्वरूप को प्राप्त होकर सतत प्रगतिशील होती है।

गीतिकाव्य के प्रवाह में अवरोध आना इस युग की परिस्थितियों को देखते हुए सकारण ही है। व्रजभाषा से एकाएक खड़ी बोली में भावाभिव्यंजना तब तक गीतिकाव्य के अनुरूप न हो सकती थी, जब तक वह परिपक्व न हो जाती; और यह परिपक्वावस्था आरम्भकाल में क्योंकर सम्भव हो सकती ? अतएव आरम्भावस्था में कविताओं में इतिवृत्तात्मकता का तत्व अधिक समायोजित हुआ। बोलचाल की भाषा को पद्य में स्थान देने के कारण गद्यात्मकता का पुट अधिक आ गया और उसके परिणामस्वरूप कविता इतिवृत्तात्मक हो गई। क्रमशः रूखापन और नीरसता अभिव्यंजना के प्रधान लक्षण हो गए और साथ ही साथ वस्तु-तत्व एवं वर्णनात्मकता का भी सूत्रपात इस आरम्भकालीन कविता में हो चला। दूसरा सबसे अधिक सहायक तत्व इस इतिवृत्तात्मकता में यदि कोई था तो वह विषय-निर्वाचन। 'द्विवेदी युग' के आरम्भकाल में उपदेशात्मक प्रसङ्गों का निर्वाचन ही अधिकांशतः हुआ जिससे गद्य के अनुरूप पद्य में भी बौद्धिकता का तत्व अधिक आ गया। बुद्धि का प्राधान्य और कल्पना का अभाव, यह योग ऐसा सिद्ध हुआ जिसने कविता की सरसता पर पूर्णतः आघात पहुँचाया। कवि बाह्यार्थ के निरूपण में ही लगे रह गए। स्वानुभूति के स्वतन्त्र अभिव्यंजन को अभी कोई स्थान न दिया गया—क्योंकि यह प्रयोग काल था जब भाषा ने पैरों चलना ही सीख पाया था। अभी उसके ही स्वरूप को भावाभिव्यंजना के लिए अनुकूल बनाने की चेष्टा में लोग प्रयत्नशील रहे। फलतः उसमें अभी इतनी योग्यता न थी जिससे उसमें ढलकर हृदय की कोमल भावनाओं को सुन्दर रूप मिल पाता। दूसरे, गद्यात्मकता ने जिस बौद्धिकता की सृष्टि की थी उसके द्वारा बाह्यार्थ का निरूपण ही हो सकता था, स्वानुभूति का निरूपण नहीं। यही कारण है कविता का स्वरूप उपदेशात्मक हो गया। यह उपदेशात्मकता मुक्तक का एक गुण अवश्य है, गीतिकाव्य का नहीं। साथ ही कवियों की जैसी मनोवृत्ति इस आरम्भकाल में दिखाई पड़ती है उसके अनुरूप प्रबन्धकाव्य की रचना तो हो सकती थी, गीतिकाव्य की नहीं। फलतः स्फुट रूप में जो रचनाएँ प्रस्तुत भी हुई उनमें आख्यान-तत्व का आग्रह मिला और वे काव्यरूप की दृष्टि से मुक्तक वर्ग में ही रखी जा सकती हैं।

युग की परिस्थितियाँ काव्यरूप को प्रभावित करती हैं। 'द्विवेदी युग' के आरम्भकाल की परिस्थितियों ने समकालीन कवियों में वह प्रेरणा न उत्पन्न होने दी जो गीतिकाव्य के प्रवाह को आगे प्रगतिशील करने में सहायक होती। स्वयं द्विवेदी जी ने इस अभाव का अनुभव किया और अपनी कविताओं में गेय तत्व लाने का समुचित प्रयास भी किया :—

सुरम्यरूपे रस राशिरंजिते, विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई।[1]

इस प्रयास में स्वर-मैत्री द्वारा संगीत-तत्व लाने की ओर कवि की दृष्टि दिखाई पड़ती है। किन्तु गीतिकाव्य केवल बाह्य संगीतात्मकता ही नहीं चाहता; वह तो भाषा और छन्द के साथ-साथ आन्तरिक अनुभूति की संगीतात्मकता की अपेक्षा भी करता है। अनुप्रास और स्वर-सामंजस्य द्वारा भाषा के बाह्य रूप को सँजोना दूसरी बात है और भावना एवं अनुभूति की हार्दिक अभिव्यक्ति द्वारा उसकी आत्मा को सँजोना दूसरी। इस आरम्भकाल में इन कवियों को काव्यनिर्माण में अपने अन्तरतम से सीधी प्रेरणा न मिली। यह स्थिति सन् १६१० के लगभग की थी। धीरे-धीरे युरोपीय महायुद्ध से पहले कविता की शैली में परिवर्तन आते गए जिससे गीतिकाव्य के पुनरुद्धार एवं स्वरूप-परिवर्तन की आशा बँधी।

इतिवृत्तात्मकता के प्रति विरोध और गीतिकाव्य का विकास

सन् १६१० के लगभग काव्यक्षेत्र में असन्तोष के लक्षण प्रबल होते हुए दिखाई पड़ने लगे। यह असन्तोष द्विवेदी जी के प्रतिनिधित्व में उत्पन्न हुई कविता की इतिवृत्तात्मकता के प्रति प्रबल हुआ। यहीं से 'द्विवेदी युग' का द्वितीय उत्थान काल आरंभ होने लगता है और कवियों की मनोवृत्ति में यहीं से परिवर्तन के चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं। मनोवृत्ति के बदलने से बाह्य अभिव्यंजना का स्वरूप धीरे-धीरे एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख होता हुआ दिखाई पड़ने लगता है जिसमें कल्पना एवं भावुकता के साथ-साथ भाषा की सरस पदावली को श्रेय मिलने लगा। कवियों की इस भीतरी मनोवृत्ति पर इतिवृत्तात्मकता के प्रति प्रतिक्रिया के कारण प्रभाव तो पड़ ही रहे थे, पर उसपर बाह्य प्रभाव भी इसी काल से पड़ने लगे। बंग साहित्य से कवीन्द्र रवीन्द्र को 'नोबुल-पुरस्कार' मिल चुका था। उनकी 'गीतांजलि' ने हिन्दी साहित्य पर भी अपना प्रभाव डाला। यों तो स्वयं द्विवेदी जी बंगला के अमित्राक्षर को ग्रहण कर चुके थे किन्तु उनमें इतिवृत्तात्मकता का रंग

---

१. सरस्वती, खंड २, संख्या ६, १६०१.

इतना गाढ़ था कि स्वयं उनके सहयोगियों ने, जो उसी प्रकार की रचनाओं में अभी तक संलग्न थे, घोर विरोध किया। वस्तुतः प्रारंभिक उत्थान काल में कविता में भावाभिव्यक्ति के लिए काव्य की वर्णनात्मक, उपदेशात्मक एवं संस्कृत गर्भित शैली बिलकुल असफल सिद्ध हो चुकी थी। कविता मानों तत्थ्य-प्रतिपादन का साधन बना दी गई। अस्तु प्रतिक्रिया का स्वर उसी भाँति ऊँचा उठा जिस भाँति रीतिकालीन अलंकृत छन्दोबद्ध रूढ़ रचनाओं के विरुद्ध 'भारतेन्दुकाल' में प्रतिक्रिया का बीजारोपण हुआ। ऐसी विरोध भावना की स्थिति में 'द्विवेदी युग' के अन्तिम द्वितीयांश तक पहुँचते-पहुँचते रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' के प्रभाव ने उस विरोध के स्वर को और भी तीव्र कर दिया। कवि नूतन ढंग से भावाभिव्यंजना में संलग्न होने लगे।

यह विरोध की प्रवृत्ति पूर्व ही 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में दिखाई पड़ चुकी थी। यद्यपि यह रचना प्रबन्धकाव्य है तथापि इसके भीतर आए हुए मार्मिक स्थलों को देखते हुए यही भासित हुआ कि हो न हो कवि को संस्कृतगर्भित पदावली में भी सरसता ला दिखाने की इच्छा प्रबल हो उठी। प्रस्तुत काव्य के मार्मिक स्थलों द्वारा द्विवेदी जी की कोरी इतिवृत्तात्मक शैली में अवश्य परिवर्तन दिखाई पड़े और भाषा तथा भावों में उचित परिष्कार भी लक्षित हुआ।

किन्तु गीतिकाव्य की धारा जहाँ से पुनर्जीवित हो एक निश्चित दिशा की ओर मोड़ लेती है, वह समय है लगभग सन् १९१४ का, जब मैथिली-शरणगुप्त और उनके सहयोगी कवि विशेषकर मुकुटधर पाण्डेय और बद्रीनाथ भट्ट अभिव्यंजना के एक नवीन पथ का निर्माण स्वतन्त्र रूप से करते हैं। गीतिकाव्य का स्वरूप यहीं से बिलकुल परिवर्तित हो जाता है और स्वानुभूति का अभिव्यंजना ही उसका एकमात्र नवीन तत्व बन जाता है। आधुनिक काल के गीतिकाव्य का इतिहास वस्तुतः यहाँ से एक बिलकुल नवीन ढंग से आरंभ होता है। आशय यह कि परवर्ती 'छायावाद युग' में गीतिकाव्य ने जिस रूप को धारण किया उसके सभी उपकरण इस काल के इन तीनों कवियों द्वारा संग्रहीत कर दिये गए। गीतिकाव्य के उत्तरोत्तर विकास में मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बद्रीनाथ भट्ट का महत्व अधिक हो जाता है।

भावाभिव्यक्ति के लिए भाषा उत्तरोत्तर सरस होती जा रही थी, छन्दों में भी पर्याप्त स्वतन्त्रता मिल चुकी थी। किन्तु इतने परिवर्तन से भी कवियों को पूर्ण सन्तोष न हुआ। रसात्मकता का आग्रह अधिक प्रबल रूप धारण

करने लगा। अस्तु इन कवियों ने विषय-निर्वाचन और अभिव्यंजना शैली दोनों ही दृष्टि से नूतनता की आवश्यकता समझी। ऐसी प्रवृत्ति जब हमारे काव्यक्षेत्र में प्रबल हो रही थी तब पाश्चात्य प्रभाव का पड़ना भी बड़ा ही समयानुकूल हुआ। पाश्चात्य देशों में और विशेषकर अँग्रेजी साहित्य में यह काल गीतिकाव्य के अत्यधिक परिष्कार का युग था, जिससे अभिज्ञ होने वाले इन कवियों को भावाभिव्यंजना में अनेक प्रकार से प्रेरणा मिली। ग्रे, वर्डसवर्थ आदि कवियों की रचनाओं का अनुवाद प्रस्तुत हो चुका था और श्रीधर पाठक भी 'डेसर्टेड विलेज' का अनुवाद पहले ही कर चुके थे। साथ ही बँगला से भी अनेक कविताओं का अनुवाद श्री पारसनाथ 'सरस्वती पत्रिका' में निकाल रहे थे। इस प्रकार पाश्चात्य 'लिरिक' का प्रभाव प्रथम तो बँगला में दिखाई पड़ा और फिर वहाँ से हिन्दी कवियों ने भी प्रेरणा ली। 'गीतांजलि' की संगीतात्मकता और आध्यात्मिकता के पुट से विशेष रूप में ये कवि आकर्षित हुए और अँग्रेजी की लाक्षणिकता को इन्होंने अपनाने का पूर्ण प्रयास किया। क्रमशः प्रतीकों की उद्भावना भी कविता में होने लगी। फलतः इन नवीन उपकरणों से अभिव्यंजना का स्वरूप काव्यरूप की दृष्टि से बिलकुल नवीन हो गया और नवीन शैली के गीतिकाव्य का स्वरूप खड़ा हो गया। भावात्मकता को प्रधानता मिलने के कारण गीतों में कल्पना एवं कोमलता दोनों तत्व नियोजित हुए जिनका पूर्ण अभाव 'द्विवेदी युग' के प्रथम उत्थान में मिला था। इसी कल्पना के बल पर नवीन विषयों पर भावाभिव्यंजना की जाने लगी, जिससे गीतिकाव्य में रसात्मकता का पुट अधिक नियोजित हुआ। सब से भिन्न तत्व जो कविता में आया, वह था उसका अन्तर्भावाभिव्यञ्जक होना।

इस अन्तर्भावाभिव्यञ्जकता के पीछे केवल साहित्यिक प्रतिक्रिया ही कार्य नहीं कर रही थी, अपितु सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ भी कार्य कर रही थीं और इनके अनुरूप कवियों में आत्मविश्वास एवं आशावादिता का स्फुरण भी अब हो चुका था। इस समय तक पहुँच कर कवि अधिक मानवतावादी भावनाओं से आपूर्ण भी हो चुका था, जिससे व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की भावना का उदय भी धीरे-धीरे होने लगा। अतएव कवि की मनोवृत्ति अब व्यक्तित्व-प्रदर्शक या आत्माभिव्यंजक अधिक होने लगी। भीतरी मनोवृत्ति जब चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होती है तब स्वाभाविक रूप से बाह्य अभिव्यंजना एक नवीन रूप लेकर प्रकट होती है। यही कारण है इस काल के कतिपय कवियों की अन्तर्मुख प्रवृत्ति के अनुरूप बाह्य अभिव्यंजना बड़ी

ही अन्तर्वृत्तिप्रधान हो गई और गीतिकाव्य-धारा का प्रवाह नवीन रूप से आगे बढ़ा।

मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में उपर्युक्त सभी गुण मिले और गीतिकाव्य की दृष्टि से इनकी कविताओं में जितना परिष्कार हुआ वह केवल इसी कारण कि इन्होंने बँगला के गीतों का अध्ययन कर बड़े ही मौलिक ढंग से भावाभिव्यंजना की। इनके गीतों में भाषा की कोमलता, भावों की सूक्ष्मता और शैली का परिष्कार, तीनों ही बातें मिलीं। अन्तर्मुख भावना के साथ ही इनकी प्रवृत्ति रहस्योन्मुख भी हो गई :—

मैं निहत्था जा रहा हूँ इस अँधेरी रात में।
हिंस्र जीव लगे हुए हैं प्राणियों की घात में।।
गूँजती गिरि-गह्वरों में गर्जना है।
विषम पथ में गर्जना है तर्जना है।।

—झंकार, पृ० ४१।

काव्यरूप की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त के इन गीतों में 'द्विवेदी युग' के प्रथम उत्थान की कविताओं से तो बहुत अन्तर है ही, साथ ही भारतेन्दु युग के गीतों से भी इनमें पर्याप्त विकास दृष्टिगोचर होता है। गीतिकाव्य में अभिव्यंजना का यह रूप सर्वप्रथम गुप्तजी की कविताओं में ही दिखाई पड़ा। बद्रीनाथ भट्ट ने अन्योक्ति शैली में भावाभिव्यंजना नए ढंग से की :—

सागर में तिनका बहता है।
उछल रहा है लहरों के बल 'मैं हूँ' 'मैं हूँ' कहता।।
धोखे ही धोखे से मिली अपने को खोवेगा।
जिसकी गोदी में उछल रहा उसमें ही सो जावेगा।।[1]

मुकुटधर पाण्डेय की भावना में सूफियों के भावों की छाया मिलती है—

अन्धकार में दीप जलाकर किसकी खोज किया करते हो।
तुम खद्योत क्षुद्र हो तब फिर तुम क्यों ऐसा दम भरते हो।।
तम में ये नक्षत्र आज तक घूम रहे हैं उसके कारण।
उसका पता कहाँ है किसको होगा यह रहस्य उद्‌घाटन।।[2]

इन उदाहरणों में गीतिकाव्य का स्वरूप परिवर्तन भाषा, भाव और

---

१. सरस्वती खं० १७, सं० ४, सन् १९१६।
२. सरस्वती खं० २१, सं० ३।

अभिव्यंजना तीनों दृष्टि से हुआ और यहीं से उस प्रक्रिया का आरम्भ हो गया जो आगे चलकर 'छायावाद-युग' में और भी विरोधमयी भावनाओं को लेकर काव्यक्षेत्र में प्रस्तुत हुई। गीतिकाव्य जिस स्वतन्त्रता की अपेक्षा करता है वह इन्हीं गीतों में सर्वप्रथम दिखाई पड़ी। इस काल से पूर्व भावाभिव्यक्ति पर एक प्रकार से नियंत्रण लगा हुआ था। काव्य में शृंगारिक भावना द्विवेदी जी की आदर्शवादी प्रवृत्ति के कारण वर्जित कर दी गई थी। यह थी रीति-कालीन शृङ्गारिकता के प्रति प्रतिक्रिया की भावना। किन्तु जब इस भावना की भी अति हो गई तब इन्हीं कवियों से उसके विरोध में प्रतिक्रिया का बीजारोपण होने लगा। इस काल तक पहुँचते-पहुँचते राजनीतिक क्षेत्र में स्वातन्त्र्य की भावना तीव्रतम होती गई और उसी के प्रभाव स्वरूप काव्य-क्षेत्र में भी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। इस स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर छायावाद काल में पूर्ण विकास हुआ। साथ ही गीतिकाव्य जिसने अभी नव-शिशु की भाँति तुतलाना ही सीख पाया था, समय के साथ आगे चलकर विकास को प्राप्त हुआ।

सन् १६१६ के पश्चात् जिस स्वच्छन्दतावाद की धारा हमारे काव्यक्षेत्र में प्रवाहित हुई उस पर अंग्रेजी 'रोमान्टिसिज्म' (Romanticism) का भी प्रभाव पड़ा। कारण यह कि इस काल तक वहाँ की काव्यधारा में गीतिकाव्य अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच चुका था। अस्तु 'द्विवेदी युग' से आगे बढ़कर हमारे गीतिकाव्य पर अंग्रेजी 'लिरिक' (Lyric) का प्रभाव भाषा, भाव और अभिव्यंजना तीनों ही दृष्टि से पड़ा और काव्यरूप की दृष्टि से गीतिकाव्य बिलकुल नवीन रूप लेकर प्रकट हुआ।

छायावाद युग और गीतिकाव्य का नव्योत्थान

राजनीतिक पृष्ठभूमि

१६वीं शताब्दी के लगभग मध्यकाल से ही भारत के इतिहास में जो विचारगत, समाजगत एवं राजनीतिक संघर्ष आरंभ हो रहे थे, उनमें उक्त शताब्दी के अन्त होते होते अत्यधिक तीव्रता आती गई और बीसवीं शताब्दी से तो ये संघर्ष अपने चरम पर पहुँच गए। नयी शताब्दी हमारे लिये नव-जागर्ति को अपने साथ लेती आई, जिसके अनुरूप हमारा गीतिकाव्य बिलकुल नवीन बाना पहन कर काव्यक्षेत्र में अवतरित हुआ।

अंग्रेजों की विजय हमारे इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना थी। इसके

पश्चात् भारत का पश्चिम से संपर्क हुआ। ऐसा घनिष्ठ एवं प्रभावशाली संपर्क अभी तक पूर्वकाल में न दिखाई पड़ा था। क्योंकि यह एक ऐसा संपर्क था जिसने संपूर्ण भारतीय विचारधारा को एक नवीन दिशा की ओर मोड़ दिया। भारत स्वतन्त्र्य-भावना की पश्चिमी दृष्टि से परिपूर्ण हो गया और उसके इतिहास में उन्नीसवीं सदी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक नव्योत्थान को अपने साथ ले कर आई। किन्तु इस नवजागर्ति के सूत्रपात के युग में भी दो विचारधाराएँ एक साथ बहती हुई दिखाई पड़ीं। एक ओर प्राचीन संस्कृति के पोषक थे और दूसरी ओर पश्चिमी सभ्यता के अभिवादक। आदर्श और यथार्थ का अब एक द्वन्द्व छिड़ गया और दोनों के सामंजस्य का प्रश्न भविष्य का एकमात्र चिन्तनीय विषय बन गया था।

भारतीय विचारधारा में परिवर्तन का सबसे बड़ा कारण अंग्रेजों का संपर्क तो था ही, किन्तु मेकाले की नयी शिक्षा-प्रणाली ने उसमें सबसे अधिक योग दिया और भारतीय मनोवृत्ति को स्वातन्त्र्य-भावना की नवीन आँखें। इसी अंग्रेजी शिक्षा ने दीं। नवीन चेतना का स्फुरण इसी से आरंभ भी हुआ। इस शिक्षा से एक और लाभ हुआ। मेक्समुलर, शोपेनहार भारतीय साहित्य की अमूल्य निधियों को प्रकाश में लाये, जिससे भारतीयों में अभिमान के भाव भी उद्दीप्त हुए।

अंग्रेजों का यह संपर्क, उतना अधिक प्रभावशाली न होता यदि वह अपने साथ व्यावसायिक-क्रान्ति (Industrial Revolution) न लाता। विज्ञान की सबसे बड़ी देन इस समय यही थी जिसने उद्यम का एक नवीन ढंग खोज निकाला और इसका प्रभाव हमारी आर्थिक परिस्थतियों पर तो पड़ा ही, सामाजिक परिस्थितियों में भी महान परिवर्तन आ गए। कौटुम्बिक जीवन को इसी ने धक्का पहुँचाया, किन्तु इसके साथ ही राष्ट्रीयता, पूँजीवाद, साम्राज्य-वाद की नवीनतम भावनाओं को भी इसी समय से जन्म मिला। अब राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ आर्थिक स्वतन्त्रता से भी लिया जाने लगा। पूँजीवादी आर्थिक नीति का विरोध हुआ, जिसका तीव्र स्वर सुदूर देश से सुनाई पड़ा, जिसमें संपूर्ण संसार के शोषितों के प्रति कार्लमार्क्स के आवाहन का स्वर था और जिसमें समाजवाद की स्थापना का नया लक्ष्य भी निहित था।

इन सभी नवीन परिवर्तनों के अनुरूप पश्चिम में जिस नवमानवतावाद का स्वर तीव्र हुआ, उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा, जिससे अप्रकाशित व्यक्तित्व प्रकाश में लाए गए। अब किसी दोष या पाप का भागी केवल एक

व्यक्ति न समझा गया—उसके लिए संपूर्ण समाज उत्तरदायी हुआ।

विज्ञान ने अपना प्रभाव इतने ही तक न सीमित रखा, आगे बढ़कर उसने हमारी धार्मिक प्रवृत्ति पर प्रहार किया और अब मनुष्य ही स्वयं अपना भाग्यनिर्माता बन बैठा। बौद्धिकता का सूत्रपात यहीं से आरंभ हुआ और पुराने विश्वासों के प्रति अनास्था स्थिर हो गई। इस प्रकार नवीन शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते संघर्षों का जो रूप सामने दिखाई पड़ा उसमें पुराने संघर्षों से अन्तर आ गए। पुरातन संघर्षों का संबन्ध जितना उच्च वर्गों से था उतना श्रमजीवियों से नहीं। बीसवीं सदी के इस वैज्ञानिक युग ने संपूर्ण समाज पर प्रभाव डाला। वर्गगत-संघर्ष, युग का नवीन संघर्ष बन गया जिसका सूत्रपात मार्क्स ने किया। इस प्रकार पुराने संघर्षों से नवीन संघर्ष अत्यधिक बौद्धिक बन गया।

व्यक्तिवाद उत्थान

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में असंतोष की भावना जब प्रबल रूप धारण करने लगी तब उन्हीं परिस्थितियों में रहने वाले कवि उससे अछूते न बचे। प्रथम महायुद्ध की विभीषिका एवं विज्ञान की बौद्धिकता का प्रतिकूल प्रभाव उनपर पहले ही पड़ चुका था, किन्तु जब निरन्तर असंतोष का स्वर सभी ओर से सुनाई पड़ने लगा तब एक बार फिर से विद्रोह की भावना प्रबल रूप में जग पड़ी। अस्तु एक ओर जहाँ विद्रोह की भावना को बढ़ने का अवसर मिला वहाँ दूसरी ओर उनका वह विद्रोह निरुपाय हो, चरम व्यक्तिवाद में परिणत होने लगा। समुचित रूप से देखा जाय तो यह वह काल था जब वैयक्तिकता की भावना समाज में भी स्थान पाने लगी थी। जब मनुष्य की स्वच्छन्द भावना पर, उसकी अभिव्यक्ति पर अवरोध डालने का प्रयास समाज में होने लगता है तब स्वाभाविक रूप से मनुष्य का विश्वास समाज पर से उठ जाता है। वह एक ऐसे संसार की कल्पना करने लगता है जहाँ उसके स्वच्छन्द विकास को अवरुद्ध होने की संभावना ही न हो, जहाँ उसका व्यक्तित्व पूर्ण रूप में व्यंजित होने लगे। उसकी भावना स्वातन्त्र्य-प्रिय हो जाती है। वह प्रत्येक पग पर नूतनता का अभिलाषुक हो जाता है। उसकी यह नवीन-प्रियता एवं स्वातन्त्र्य की सृष्टि इसी वैयक्तिकता की भावना से ही उद्बुद्ध होती है। अस्तु समाज किसी भी प्रकार के नियंत्रण को पसन्द नहीं करता। महायुद्ध के पश्चात् जीवन में जिस असंतोष की घटाएँ घिर आई थीं उससे मनुष्य ऊब सा गया था। एक प्रकार से उन अस्तव्यस्त परिस्थितियों से वह छुटकार पाना चाहता था। मुक्ति तभी संभव थी जब वह उनसे लड़ता एवं विद्रोह की

भावना सजग कर, संपूर्ण समाज को नूतनता की ओर ले जाता। अथवा दुर्व्यवस्थाओं से घबड़ा कर एकान्तप्रिय हो जाता। इस समय समाज में विद्रोह की भावनाएँ सजग हो तो रही थीं, किंतु उन्होंने जीवन में क्रान्ति के अंकुर न जमा कर व्यक्तिवाद के बीज बो दिये। उनका असंतोष वैयक्तिकता में परिणत हो गया। प्रायः सभी देशों में ऐसी परिस्थितियों के जन्म लेने से जिस प्रकार के साहित्य की सर्जना हुई उनमें भी कवि के वैयक्तिक दुःख-सुख, हर्ष, उल्लास आदि का ही प्राबल्य दिखाई पड़ा। कहना न होगा कि इसी वैयक्तिकता के उत्थान से अंग्रेजी काव्य-धारा में 'स्वच्छन्दतावाद' का सूत्रपात हुआ, जिससे समस्त रूढ़ियों का उन्मूलन कवियों की स्वच्छन्दता-प्रिय प्रवृत्ति ने कर दिखाया। आभ्यंतर के उन्मुक्त प्रकाशन की स्वतन्त्रता ने काव्यक्षेत्र में गीतों की भरमार कर दी, जिसमें विषय, विधान सभी दृष्टि से स्वच्छन्दता के दर्शन हुए। ठीक इसी प्रकार हमारे यहाँ भी जब असंतोषमयी परिस्थितियों ने व्यक्तिवाद का सूत्रपात किया, तब हमारे कवि विद्रोह की भावना से प्रेरित हो काव्य के प्रत्येक अंग में स्वतंत्रता की कामना करने लगे और सामयिक जीवन के प्रति पूर्ण असंतोष की भावना उनके काव्य में स्थान पाने लगी। परंपरागत आते हुए छन्द, भाव और भाषा तीनों में ही उलटफेर कर इन स्वच्छन्दता प्रिय कवियों ने मुख्य रूप से गीतों की ही रचना की। वैयक्तिक भावना के प्राबल्य ने उन्हें आत्माभिव्यंजना के लिये ही अधिकतर प्रेरित किया। सच पूछा जाय तो राजनीतिक सामाजिक एवं धार्मिक स्थितियों में हलचल होने के कारण इस समय गीतात्मक-उद्रेक ही सम्भव था; क्योंकि संक्रान्ति-काल में अधिकतर गीत ही लिखे गए।

यों तो स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के लक्षण श्रीधर पाठक में उसी समय दिखाई पड़ चुके थे जब उनका 'एकान्तवासी योगी' काव्य-क्षेत्र में प्रस्तुत हुआ। किंतु उस प्रवृत्ति को आगे प्रवाहित करने वाला ऐसा कोई भी सहारा न मिल सका जिससे उसका खुलकर प्रकाशन होता। उन्होंने युग-धारा के विपरीत प्रकृति की ओर अपनी दृष्टि फेरी और प्रकृति-वर्णन का जो ढंग अपनाया उसमें स्वच्छन्दतावाद के पर्याप्त लक्षण दिखाई पड़े। व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के प्रथम चिह्न इन्हीं की रचनाओं में दिखाई पड़े जब काश्मीर, देहरादून आदि स्थानों के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन इन्होंने अपनी रचनाओं में किया। वैयक्तिक भावना कवि को पुनः उन्हीं रम्य प्रदेशों पर ले जाकर पहुँचा देती है जहाँ जाकर वह संसार के कोलाहल से दूर एकान्त में सौन्दर्यान्वेषण करता है और

कल्पना द्वारा गीतों के सृजन में लीन हो जाता है। यही व्यक्तिवाद आगे बढ़कर प्रतिक्रिया की भावना को ले स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का सृजन-कर्ता भी बन गया। अस्तु पाठक जी सच्चे स्वच्छन्दतावादी भी कहलाए। किन्तु काव्यक्षेत्र में द्विवेदी जी का आगमन उनकी स्वातन्त्र्य भावना के लिये एक प्रकार से बाधक ही सिद्ध हुआ। यद्यपि सुधारक के रूप में आए तो वे अवश्य तथापि उनका सुधार-क्षेत्र दूसरा ही था। संस्कृत के प्रति विशेष अभिरुचि होने के कारण उन्होंने संस्कृतमय पदावली एवं वृत्तों को हिन्दी में श्रेय देकर एक ओर जिस आदर्श का आग्रह किया, वहाँ दूसरी ओर बोलचाल की भाषा को पद्य में स्थान देकर कोरी गद्यात्मकता भी ला दी। ऊपर से उपदेशात्मक प्रसंगों की उद्भावना कर इतिवृत्तात्मकता को काव्य में स्थान दिया। सचपूछा जाय तो 'द्विवेदी युग' के साधन अपर्याप्त ही थे। युग के अन्तिम वर्षों में विरोध की भावना का सूत्रपात गुप्तजी एवं मुकुटधर पांडेय द्वारा हो गया था। अस्तु काव्यक्षेत्र में भी असंतोष का स्वर 'छायावाद युग' के आरम्भकालीन दिनों में दिन प्रतिदिन प्रबलता को प्राप्त होने लगा था। जीवन के प्रति असंतोष ने वैयक्तिकता का बीजारोपण कर ही दिया था। परिस्थितियाँ परिवर्तन शीघ्रातिशीघ्र चाहती भी थीं। राजनीतिक क्षेत्र में स्वाधीनता की भावना जो प्रबल रूप धारण कर रही थी उसी के अनुरूप काव्यक्षेत्र में भी स्वातंत्र्य की अभिलाषा कविगण भी कर रहे थे।

पाश्चात्य 'रोमांटिक' धारा का प्रभाव

परिस्थितियाँ अनुकूल थीं और ठीक समय पर पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद का भारत में आगमन भी हुआ। वास्तव में स्वच्छंदतावाद काव्य में सीधे विदेश से चला आया हो अथवा वह केवल अंधानुकरण ही ऐसी बात नहीं। किसी भी बाह्य प्रभाव से नवीन 'वाद' का आना सकारण होता है; जब उस देश को परिस्थितियाँ उस नवीन विचार-धारा के अनुरूप बन जाती हैं तभी वह बाह्य प्रभाव को अथवा किसी 'वाद' को अपनाता है। अन्यथा प्रतिकूल परिस्थितियों में यह बात कदापि सम्भव नहीं हो सकती। अतः हमारे काव्य-क्षेत्र में स्वच्छदतावाद का आगमन सकारण था, क्योंकि सभी दृष्टि से हमारे काव्यक्षेत्र के उपकरण प्राचीनता एवं रूढ़ि का अनुकरण कर रहे थे, उनमें स्वच्छन्द भावना के प्रसार को कोई भी स्थान न दिया गया था। एक प्रकार से द्विवेदी युग आधुनिक 'क्लासिकल' युग था जिसमें शास्त्र-सम्पन्न बातों का अनुगमन कवियों के लिये आवश्यक समझा गया। राजनीतिक, सामाजिक

एवं धार्मिक परिस्थितियों में असन्तोष की भावना के फलस्वरूप वैयक्तिकता की भावना इस समय जो प्रबल रूप धारण कर चुकी थी, उससे भी कवि एकान्तप्रिय हो अतीत की ओर अपनी दृष्टि फेर रहे थे तथा वर्तमान के प्रति उनमें घोर निराशा के भावों को बढ़ावा मिल रहा था। उनकी भावनाओं पर जब संसार की कटुता से आघात पहुँचा, तब उनकी काव्यमय भावना अपने ही दुःख-सुख से रंगी हुई बाहर प्रकट होने लगी थी। वह अपने 'अहं' की व्यंजना को ही सब कुछ समझ, उसी के माध्यम से जगत पर दृष्टि डालने लगे थे। आशय यह कि छायावादी काव्यधारा के मूल में जिस पाश्चात्य 'स्वच्छंदतावाद' की प्रेरणा को आलोचकों ने बताया है वह वास्तव में सत्य है।

सत्रहवीं शताब्दी के अवरोह काल के लगभग अंग्रेजी साहित्य में कविता उसी प्रकार नियमों से आबद्ध हो गई जिस प्रकार 'सैन्य संचालन' नियमाबद्ध होता है।[१] महाकाव्य के लिए केवल हिरोइक कपलेट (Heroic Couplet) ही निर्धारित छन्द माना गया। यदि कोई शोकगीति (Elegy) लिखना चाहता तो उसे 'टिब्यूलस' और 'ओविड' की रूढ़ रचनाओं का अनुकरण करना पड़ता था, और यदि व्यंग्यप्रधान काव्य लिखे गये तो कवियों को 'होरेस' को अपना आदर्श बनाना पड़ा। इसीप्रकार अन्य काव्यरूपों के लिए कठिन नियम निर्धारित कर दिए गए। काव्य का विकास इस 'क्लासिकल युग' में एक प्रकार से स्थिर हो गया। विधान के साथ-साथ वस्तु या भाव पर भी नियन्त्रण लगा दिए गए। कवि की स्वतन्त्र अभिव्यंजना पर इस प्रकार के नियन्त्रणों का परिणाम यह हुआ कि शताब्दी के अन्त होते-होते ऐसे कवि आए जिन्होंने इसका घोर विरोध किया। प्रथम तो सेम्यूएल क्रोक्साल (Samuel Croxall), थामस पार्नेल (Thomas Parnell) आदि कवियों ने इस विरोध के स्वर का सूत्रपात किया। इन्होंने परम्परागत आते हुए 'हिरोइक कपलेट' के स्थान पर 'ब्लैंक वर्स' (Blank-Verse), आटोसिलेबिक (Autosyllabic) और स्पेन्सर द्वारा प्रयुक्त छन्दों का प्रयोग आरम्भ कर दिया। तदुपरान्त इस क्षेत्र में 'विलियम काउपर' का व्यक्तित्व प्रभावशाली दिखाई पड़ा। इनकी मनोवृत्ति में अत्यधिक स्वच्छन्दता के भाव निहित थे। प्रकृति की ओर जिस रूप में ये आकर्षित हुए उसमें 'विस्मय मिश्रित कौतूहल' की प्रधानता ने इन्हें रहस्योन्मुख भी कर दिया। अब गीतिकाव्य बिलकुल नवीन रूप में अवतरित हुआ।

---

१. The Making of Literature—Scott James—Page 132.

ऐसे ही समय में जब कवियों की मनोवृत्ति विरोधमय भावों से परिपूर्ण हो रही थी, फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने अपना अमिट प्रभाव डाला। परिणाम-स्वरूप कवियों की स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति में और भी तीव्रता आ गई। 'ब्लेक' की रहस्योन्मुख रचनाओं में इसका आभास स्पष्ट रूपमें मिला।

'स्वच्छन्दतावाद' के इसी युग में जब सन् १७६८ में वर्ड्सवर्थ अपनी 'लिरिकल बैलेड' (Lyrical Ballad) लेकर आए तब कविता की परिभाषा बिलकुल नवीन रूप में की गई। यहाँ वह 'सशक्त भावनाओं के सहज प्रवाह' के रूप में गृहीत हुई। इसके पश्चात् तो कविता में आत्माभिव्यंजना का रूप इतना गाढ़ दिखाई पड़ा कि अन्तर्जगत ही कविता में व्यक्त किया जाने लगा। यह नवीन काव्यधारा 'शैली' 'कीट्स', 'बायरन','टेनिसन' और 'ब्राउनिंग' द्वारा इस रूप में प्रवाहित हुई की अठारहवीं शताब्दी अंग्रेजी काव्यधारा में 'चहकती चिड़ियाओं' का युग कहा गया। इस युग के कवि 'रोमांटिक' कवि कहे गए और इन्होंने गीतिकाव्य की ही अधिकांशतः रचना की जिसमें आत्माभिव्यंजना, सौन्दर्यभावना एवं विद्रोह की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से दिखाई पड़ी।

'छायावाद युग' हमारे काव्यक्षेत्र में पुनरुत्थान काल कहा जा सकता है। इसी काल में गीतिकाव्य-धारा नवीन भावों, नवीन विचारों एवं नवीन अभिव्यंजना-प्रणाली को पाकर नवजीवन को प्राप्त हुई। युग के प्रमुख कवियों में पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद की उक्त प्रमुख विशेषताएँ आत्माभि-व्यंजना, सौन्दर्य-भावना एवं विद्रोह की प्रवृत्ति अपने पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ीं। यह काल विशेष रूप में प्रसाद, पन्त, 'निराला' और महादेवी का ही काल कहा जा सकता है।

आत्माभिव्यंजना

इस युग में आकर कवियों की भावना बाह्यार्थ-निरूपण की अपेक्षा स्वानु-भूति के निरूपण में अधिक रमी। कवियों की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का यह परिणाम था जिसने काव्य का क्षेत्र अन्तर्जगत बना दिया। अपेक्षा इसके कि कवि संसार में रमण कर, उसमें निहित संघर्ष को उसी रूप में अभिव्यक्त करता, उसने कल्पना द्वारा संसार के दुःख-सुख को अपना बना कर इस प्रकार काव्य में अभिव्यक्त किया कि उसी का 'अहं' उसमें झलकने लगा। उसने प्रत्येक वस्तु को अपने व्यक्तित्व में रंग कर ही उनकी अभिव्यंजना को श्रेयस्कर माना। अभी तक कवि अपने मनोवेगों को स्वेच्छानुसार काव्य में

अभिव्यंजित करने के लिये प्रस्तुत न हो पाया था, किन्तु छायावादी कवियों ने अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के अनुरूप निजी भावनाओं को उनके नैसर्गिक रूप में अभिव्यक्त करने का ही अधिकतर प्रयास किया। अस्तु उनके गीति-काव्य का स्वरूप अत्यधिक आत्माभिव्यंजक हो उठा। महादेवी का यह गीत कितना आत्माभिव्यंजक है :—

तुम्हें बाँध पाती सपने में।
तो चिर जीवन प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में॥
पावस घन सा उमड़ बिखरती, शरद निशा सी नीरव घिरती।
धो लेती जग का विषाद ढुलते लघु आँसू कण अपने में॥

—नीरजा। पृ० ७।

कवियों ने गीतिकाव्य ही अधिक लिखे। यह आत्माभिव्यंजना मुख्यतः दो प्रकार से प्रकट की गई। कभी इन कवियों ने वस्तु की व्यंजना अपनी कल्पना के अनुरूप की। कभी व्यक्तिगत हर्ष, उल्लास, दुख, नैराश्य, क्षोभ आदि मनोभावों को ही काव्य में स्थान दिया :—

इस करुणा कलित हृदय में।
अब विकल रागिनी बजती॥
क्यों हाहाकार स्वरों में।
वेदना असीम गरजती? ॥

—प्रसाद, 'आँसू'। पृ० १।

इसी प्रकार अपना सुख-दुख, अपनी आशा-निराशा के जितने गीत इन कवियों ने रचे उसमें आत्माभिव्यंजना की भावना ही प्रबल रूप में दिखाई पड़ी। दूसरे, अपने 'अहं' की सन्तुष्टि के लिये इन कवियों ने अतीत और भविष्य की याद और सुखद स्वप्न देखने का प्रयास किया। इसी से प्रेरित हो वे आध्यात्मिक लोक की ओर भी बढ़े और अपने ही अनुभव को अपने गीतिकाव्य में उन्होंने अभिव्यक्त किया। इसी आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति ने 'मैं' को छायावादी गीतिकाव्य का केन्द्र-बिन्दु बना दिया। मानों समस्त बहिर्जगत कवियों के अन्तर्जगत में समा गया। 'निराला' ने तो परिमल के के 'अधिवास'[1] शीर्षक के गीत में तो स्पष्ट रूप से कहा है 'मैंने मैं शैली अपनाई'।

---

१. परिमल—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृष्ठ १२४।

सौन्दर्य भावना

'छायावाद' युग में कवियों की सौन्दर्य-भावना अपने परिष्कृत स्वरूप को प्राप्त हो गई और यही कारण है कि इस युग में गीतिकाव्य का नवीनतम स्वरूप देखने को मिला। अब सौन्दर्योपासना केवल बाह्यस्वरूप तक ही सीमित न थी, अपितु आन्तरिक सौन्दर्य को खोजने का प्रयत्न भी इन कवियों ने किया। कारण यह कि बाह्यसौन्दर्य की अस्थिरता, उसकी स्थूलता को छायावादी न अपना सका। वह तो एक ऐसे सौन्दर्य की लालसा कर रहा था जिसमें स्थिरता एवं सूक्ष्मता वर्तमान हो। अस्तु उसने संसार की प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य को देखते हुए भी आन्तरिक सौन्दर्य की चाह की। उसका सौन्दर्य भावात्मक हो गया, जिसका चाक्षुष-प्रत्यक्ष संभव नहीं। वह अनु-भवैकगम्य वस्तु समझा गया, जिसका अनुभव कलाकार की सौन्दर्य भावना की तीव्रता पर आश्रित रहा। जिसमें जितनी अधिक सौन्दर्यानुभूति की प्रवृत्ति थी, उसने वस्तु के साथ अपने को उतने ही अधिक सूक्ष्म रूप में संबद्ध कर, तदाकार होने के पश्चात्, अपने आन्तरिक अनुभव को प्रकट किया। वस्तु के साथ तदाकार होना सौन्दर्यान्वेषक की सबसे बड़ी विशेषता है। यही कारण है कि छायावादी कवियों के सौन्दर्य-चित्रण में स्पन्दन है, जड़ता नहीं। उन्होंने सौन्दर्य को न केवल वस्तुगत ही माना, वरन् द्रष्टा के अन्तः-प्रदेश से उसका सम्बन्ध जोड़ा। एक ही वस्तु में विभिन्न सौन्दर्य को भिन्न-भिन्न कवियों ने ढूँढ़ निकाला। साथ ही जिस वस्तु में सौन्दर्य का अभाव एक को दिखा, उसी में दूसरे ने सौन्दर्य की स्थिति बताई। इस प्रकार सौन्दर्य वस्तुगत गुण के रूप में छायावादी कवियों द्वारा न गृहीत हुआ, बल्कि उसका सम्बन्ध मस्तिष्क से जोड़ा गया। यही कारण है कि आकार में स्थित उस आत्म-तत्व को कवियों ने महत्ता दी, जिसमें स्पन्दन होता है। फलतः गीतिकाव्य अत्यधिक कोमल हो उठा। प्रातःकाल के सौन्दर्य से अभि-भूत कवि का गीत देखिये :—

> सौध शिखर पर प्रात मनोहर।
> कनक गात तुम अरुण चरण धर॥
> सरणि सरणि पर उतर रही भर।
> छन्द-भ्रमर गुंजित नीलोत्पल॥

—गीतिका, पृ० ८८, निराला।

पन्त में यह सौन्दर्य-भावना अत्यधिक मात्रा में मिलती है।

इस सौन्दर्य-भावना में प्रकृति का बहुत ही अधिक हाथ है। अस्तु जब छायावादी कवि जीवन के संघर्ष से निरन्तर असफलताओं के कारण प्रकृति की ओर लौट पड़े, तब उनकी यह भावना परिष्कृत और सूक्ष्म होती गई। यहाँ आकर उन्होंने प्रकृति के साथ मानव का सूक्ष्म संबंध स्थापित किया और मानव सौन्दर्य के चित्रण से आगे बढ़कर प्रकृति के नाना रूपों का भी चित्रण किया। वस्तुतः प्रकृति ने ही इन कवियों को सौन्दर्य-प्रेमी बनाकर सौन्दर्य-सृष्टि की प्रेरणा दी; जिससे उनकी कल्पना-शक्ति में समुचित योग भी मिला। वे कल्पनाजीवी एवं स्वप्न-लोक में विचरण करने वाले प्राणी के रूप में दिखाई पड़े। इसी प्रकृति की रम्य गोद में अतुल सौन्दर्य-राशि को देख, उनकी सौन्दर्य-भावना में विस्मय की भावना (Sense of wonder) को स्थान मिला। यह भावना स्वच्छन्दतावादी कवियों की निराली भावना थी, जिसका अभाव पूर्व 'द्विवेदी युग' के कवियों में मिलता है। इस भावना के उदय होने पर कवि प्रत्येक वस्तु में अपनी विस्मयकारी भावनाओं का आरोपण करता है, जिससे यथार्थ वस्तु नवीन रूप धारण करके ही द्रष्टा के समक्ष प्रस्तुत होती है। यही भावना आगे बढ़कर औत्सुक्य और जिज्ञासा की प्रवृत्ति को भी जन्म देती है। जब कवि की सौन्दर्य भावना में जिज्ञासा और औत्सुक्य की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है, तब वह रहस्योन्मुख हो जाता है। वह सुन्दर-असुन्दर के प्रश्न में न उलझ कर, सूक्ष्म जगत् में चला जाता है, जहाँ उसे आत्मा-परमात्मा की एकता दिखाई पड़ती है और प्रकृति के एक-एक कण में उसी का सौन्दर्य बिखरा हुआ झलकने लगता है।

पंत में यह जिज्ञासा अधिक मिली :—

> प्रथम रश्मि का आना रंगिणि,
> तूने कैसे पहिचाना?
> कहाँ-कहाँ है, बाल विहंगिनि,
> पाया तूने यह गाना!

—पृ० ३ 'आधुनिक कवि' (२) प्रथम रश्मि।

अस्तु हम देखते हैं कि छायावादी कवियों की आन्तरिक सौन्दर्य साधना ने उत्तरोत्तर उन्हें सीमित घेरे से निकाल कर, एक ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया जहाँ बाह्य आकार की स्थूलता उसे स्पर्श न कर पाई। वे रहस्यदर्शी बन गये और सौन्दर्यानुभूति ने जिस आह्लाद की सृष्टि उनके अन्तःप्रदेश में की और उसकी अभिव्यक्ति जिन गीतों में हुई, उन्हें रहस्यवादी गीतों की संज्ञा मिली।

गीतिकाव्य के रहस्योन्मुख होने का मूल कारण कवि की विस्मय मिश्रित कौतूहल की प्रवृत्ति तो थी ही, साथ ही जब प्रतीकों का आश्रयण इन कवियों ने किया तब उनकी यह रहस्योन्मुख प्रवृत्ति और भी तीव्र हो उठी। प्रतीक वस्तुतः रहस्यवादियों की कलात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें परम-सत्ता भौतिक-स्तर से आवरण ग्रहण करती हैं।[१] इन्हीं प्रतीकों के सहारे स्वच्छन्दतावादी गीतिकाव्य-रचयिताओं ने अपनी भावाभिव्यंजना की। इन्हीं प्रतीकों के आधार पर कवियों की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति मुख्यतः तीन प्रकार की हो गई।[२] जिन्होंने सुनहले संसार की खोज में अपनी भावना को रमाया, उन्होंने अभिव्यक्ति में जिन प्रतीकों का आश्रय लिया वे 'रहस्यात्मक खोज' के प्रतीक हैं, क्योंकि वे परमात्माको इस विश्व से परे देखते हैं जिससे उनकी उपासना बहिर्मुखी (Transcendental way) होती है। अतः गीतिकाव्य इस रूपमें रचा गया:—

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे - धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी-
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे॥

—'लहर', पृ० १०, प्रसाद।

जिन कवियों ने आत्मा और परमात्मा के प्रेम-भाव को अभिव्यक्त कर व्यक्तिगत अभिलाषा की तृप्ति की आकांक्षा की, उन्होंने ऐसे प्रतीकों का आश्रय लिया जिसे प्रेम के प्रतीक अथवा आत्मा के विवाह (Marriage of the soul) के नाम से अभिहित किया गया है। महादेवी की रहस्योन्मुख भावना ने ऐसे ही प्रतीकों का अधिकांशतः प्रयोग किया:—

हारूँ तो खोऊँ अपनापन,
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन।
जीतूँ बनूँ तेरा ही बंधन,
भर लाऊँ सीपी में सागर।
प्रिय! मेरी अब हार विजय क्या,

—'नीरजा', पृ० २४।

---

१. An Introduction to Mysticism—E. Underhill. page 95.
२. An Introduction to Mysticism—E. Underhill. page 153.

तृतीय विचारधारा का रहस्यदर्शी उस परम-सत्ता को हृदय में या संसार में देखता है, उसकी उपासना अन्तर्मुख होती है। वह आत्मशुद्धि में विश्वास रखता हुआ ऐसे प्रतीकों का आश्रय लेता है, जिसे 'पारस पत्थर' (Philosopher's Stone) कहा गया है। 'निराला' में ऐसे प्रतीकों का आश्रय अधिक है :—

पास ही रे, हीरे की खान।
खोजता कहाँ और नादान?

—'गीतिका', पृ० २५।

छायावाद युग में आकर जब गीतिकाव्य मुख्य रूप से स्वानुभूति के निरूपण का माध्यम बन गया, तब भावना के बदलते ही प्रतीकों में भी अन्तर आ गए। कवि ने व्यक्तिगत अनुभूतियों को लोक-सामान्य रूप देकर गीतों की प्रभावात्मकता में सहयोग दिया। उनकी सौन्दर्य-भावना ने उनको प्रकृति के बीच से नवीन प्रतीकों की खोज के लिए प्रेरित किया। पुराने प्रतीक बदल गए और नवीन प्रतीक को जन्म मिला। पंत ने 'बच्चों की साँस' भोलेपन का प्रतीक माना; प्रसाद ने 'तमचूर्ण' को नैराश्य का और 'प्रलय घटाओं' को हृदय की उथल-पुथल का प्रतीक माना।

इन सौन्दर्योपासक कवियों ने प्रथम तो वर्तमान से असंतुष्ट हो, समकालीन जीवन के बीच कोई भी सौन्दर्य न देखा, किन्तु जब प्रकृति के सौन्दर्य ने उनकी इस भावना में रहस्य की सृष्टि की, तब उनका दृष्टिकोण व्यापक हो गया। अस्तु केवल अतीत में सौन्दर्य को देखने की प्रवृत्ति अथवा काल्पनिक लोक में उसकी स्थिति की कल्पना को धीरे-धीरे कम महत्व मिलने लगा। कवि संसार के बीच सौन्दर्य को उसी भाँति देखने लगे जिस भाँति 'शेली' (Shelley) ने आलोकित सौन्दर्य का साधन मानव-सौन्दर्योपासना ही बताया। इसी जगत् के बीच 'सुन्दर' की अवस्थिति एवं उससे उद्दीप्त सौन्दर्यभावना ने छायावाद गीतिकाव्य-धारा में बड़ी व्यापकता ला दी।

विद्रोह की प्रवृत्ति

छायावाद का जन्म ही विद्रोह में हुआ, अस्तु विद्रोह की प्रवृत्तियाँ, भाव एवं शैली दोनों ही क्षेत्र में दिखाई पड़ीं। यही कारण है कि काव्य में जिस इतिवृत्तात्मकता की अति 'द्विवेदीकाल' में हो गई थी उसके प्रति घोर विद्रोह कर, भावात्मकता को ही अपने काव्य में इन छायावादी कवियों ने स्थान दिया।

तात्पर्य यह कि इस युग के कवियों ने गीतिकाव्य को स्वानुभूति की सुन्दर-

तम अभिव्यक्ति के रूप में ही ग्रहण किया, जिससे वह भावुकता जो द्विवेदी जी के काल में उपयोगितावाद के सिद्धान्त के कारण जकड़ सी गई थी—छायावादी गीतिकाव्य में खुलकर अभिव्यक्त हुई। नीति एवं धार्मिक बन्धनों के प्रति इन कवियों ने घोर विद्रोह किया और काव्य द्वारा ऐसे काल्पनिक संसार का निर्माण किया, जहाँ संसार के संकीर्ण बंधनों को कोई स्थान नहीं—जहाँ प्रेम अपने सहज स्वरूप में व्यक्त हो पाया, और जहाँ सौन्दर्य अपने नैसर्गिक रूप में व्यक्त हो पाया है। गीतिकाव्य में नवीन से नवीन प्रसंगों की उद्भावना को स्थान मिलने लगा और अन्तःप्रदेश के सूक्ष्म विश्लेषण को छायावादी कवियों ने अपना एकमात्र लक्ष्य बना लिया।

जब भावों एवं दृष्टिकोण में विद्रोह-स्वरूप परिवर्तन आने लगे तब स्वाभाविक रूप से शैली में भी परिवर्तन किये गए। कवियों ने पुरानी छन्दो-बद्ध अभिव्यंजना पद्धति के विरुद्ध अधिक विद्रोह किया। भाषा एवं छन्द दोनों ही में परिष्कार कर भाषा की लाक्षणिक शक्तियों को बढ़ाकर कभी 'मुक्त' और कभी लोकगीतों के छन्दों के प्रयोग किये। इनकी अभिव्यंजना-प्रणाली पर अंग्रेजी गीतिकाव्य का समुचित प्रभाव देखने को मिला। अस्तु कविता में लाक्षणिकता को अत्यधिक स्थान मिला और अलंकारों में अंग्रेजी के अलंकारों का भी प्रचुरता से प्रयोग इन कवियों ने किया। इनमें विशेषण विपर्यय, मानवीकरण, नाद—चित्रण आदि मुख्य रूप में प्रयुक्त हुए। अन्योक्ति और समासोक्ति को भी स्थान दिया गया। कविता में प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत, अमूर्त्त के लिये मूर्त्त-विधान किए गए और अप्रस्तुत योजना में न केवल सादृश्य और साधर्म्य का ध्यान रखा गया, अपितु आभ्यन्तर-प्रभाव-साम्य के आधार पर उनका प्रयोग हुआ।

छन्द के क्षेत्र में भी समुचित परिवर्तन किये गए और संस्कृत के वर्णिक छन्दों की अन्त्यानुप्रासहीन पद्धति के आधार पर हिन्दी में भी उसके अपने छन्दों में अन्त्यानुप्रासहीन मुक्त-छन्दों की शैली में गीतिकाव्य लिखे गए। 'गुप्त जी' 'मेघनाथ-वध' का अनुवाद कर अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति को प्रद-र्शित कर ही चुके थे, किन्तु इस युग में छन्द के बन्धन को ही तोड़ देने का प्रयास कवियों ने किया। छन्द की अनिवार्यता बिलकुल ही निरर्थक प्रमा-णित की जाने लगी। किन्तु गीतिकाव्य जिस संगीतात्मकता के आधार को कसकर पकड़े हुए है, उसका परित्याग आधुनिक युग के इस प्राथमिक समय में कवि न कर सके। उन्होंने सारूप्य, लय, और नाद द्वारा कविता में संगीत की सृष्टि की; यह संगीत बाह्य उपकरणों की अपेक्षा न कर, अन्तरतम में

स्वतः गूँजता रहता है। दूसरी ओर कवियों ने अन्त्यानुप्रासयुक्त ध्वान्यात्मकता तथा लोकगीतों के आधार पर 'टेक' की पुनरावृत्ति को अपना कर, भावानुकूल ह्रस्व और दीर्घ वर्णों की योजना के द्वारा इस संगीत को उत्पन्न किया। अतः कोमल-कान्त पदावली का अधिक से अधिक प्रयोग गीतिकाव्य में हुआ। प्रसाद जी ने अतुकान्त छन्दों में गीत रचना 'झरना' संग्रह से आरंभ कर दी :—

> मन्द पवन बह रहा अंधेरी रात है।
> आज अकेले निर्जन गृह में क्लान्त हो–
> स्थित हूँ, प्रत्याशा में मैं तो प्राणधन ॥
>
> —प्रत्याशा, पृष्ठ ३८, 'झरना'।

पंत में छन्दों की दृष्टि से नवीनता का आग्रह अधिक दिखाई पड़ा। उन्हें न तो ब्रजभाषा के छन्द ही रुचे, न संस्कृत और बंगला के छन्दों को ही उन्होंने हिन्दी में ढालना उचित समझा। अतुकान्त गीतों के लिये उन्होंने 'रोला', 'रूपमाला', 'सखी', 'प्लवंग' आदि को ही योग्य माना। उनके 'परिवर्तन' में रोला और पीयूषवर्षण का सुन्दर योग हुआ है। 'निराला' ने तो आकर छन्द क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी। वास्तविक मुक्त-छन्द के उपयोग द्वारा सुन्दर गीतिकाव्य-रचना इन्होंने ही की। इनकी 'गीतिका' में लय-ताल समन्वित मुक्त-छन्दों की प्रचुरता है। इसके संपूर्ण गीत एक नवीन रूप को लिए हुए हैं। स्वच्छन्द-छन्द में, मुक्त-छन्द की अपेक्षा संगीत का आधार तुक-साम्य होता है। 'जुही की कली' ऐसे ही छन्द में है :—

> सोती थी,
> जाने कैसे प्रिय आगमन वह।
> नायक ने चूमे कपोल,
> डोल उठी बल्लरी की लड़ी
> जैसे हिंडोल ॥
>
> —पृष्ठ १६२, परिमल-खण्ड ३।

'गीतिका' में स्पष्ट रूप में 'वीणावादिनी'[1] से कवि की याचना है कि वह 'अन्धे 'उर के बंधनों' को काटकर ऐसा प्रकाश दे जिसमें नव-गति, नव-लय, नव-ताल और नवीन छन्द का स्पन्दन हो।'

छायावाद युग में 'स्वच्छन्द-छन्द' की उद्‌भावना से गीतिकाव्य के रूप

---

१. गीतिका—'वीणावादिनी'—(निराला) पृष्ठ १ (सं० १९९३)

में जो परिवर्तन आया, वह वस्तुतः निराला ही था। गीतिकाव्य का अनिवार्य तत्व 'संगीत' अब शास्त्रीय विधान पर ही आधारित न होकर शब्दों की अपनी ध्वनि अथवा उनके अपने सहज लय पर आश्रित हो गया। क्योंकि 'स्वच्छन्द छन्द' ध्वनि या लय को लेकर चलता है, जिसमें आन्तरिक-स्वरैक्य और भाव-जगत का साम्य आवश्यक होता है। अस्तु उसका संगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक चरणों के लय पर ही अधिकतर आधारित होता है। कवि को उसके निर्माण में विशेष ध्यान रखना पड़ा है। इस प्रकार छायावाद युग का गीति-काव्य संगीत की अपेक्षा संगीतात्मकता की अधिक अपेक्षा करने लगा। कवियों ने प्रत्येक शब्द के सहज संगीत को इस प्रकार गीतों में नियोजित किया जिससे संगीत स्वतः उत्पन्न हो गया। निराला की 'गीतिका' में इसके उदाहरण मिले :—

गरजो हे भद्र, वज्र स्वर
थर्राये भूधर-भूधर
झरझर-झरझर धारा झर।
पल्लव पर-पर जीवन ॥

—पृष्ठ ५७, 'गीतिका'।

लाक्षणिकता

इसी विद्रोह की प्रवृत्ति के अनुरूप छायावादी कवियों की अभिव्यंजना-पद्धति में एक दूसरी नवीनता जो दिखाई पड़ी, वह थी लाक्षणिकता। इस लाक्षणिक प्रवृत्ति से काव्यरूप बिलकुल ही परिवर्तित हो गया। वास्तव में देखा जाय तो गीतिकाव्य में जब कवियों ने रहस्योन्मुखता के अनुरूप प्रतीकों का आश्रय लिया, तब गीतिकाव्य का लाक्षणिक सौन्दर्य स्वतः बढ़ गया। कवियों ने उपमा, रूपक आदि अलंकारों में न केवल सादृश्य और साधर्म्य, प्रत्युत प्रभाव-साम्य पर भी ध्यान रखा। अभिव्यंजना में इस प्रकार वाच्यार्थ पर आनेवाला कवि अपने गीतिकाव्य में अमूर्त के लिए मूर्त विधान करता है और ऐसे अलंकारों को प्रयोग में लाता है जिनमें मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और लक्षणा की प्रधानता होती है। प्रसाद के 'आँसू' में इनका सौन्दर्य गीतिकाव्य के रूप को अपूर्व बना रहा है :—

सुख आहत शान्त उमंगे, बेगार साँस ढोने में।
यह हृदय समाधि बना है, रोती करुणा कोने में ॥

—'आँसू' पृष्ठ १२।

....

जिसके आगे पुलकित हो, जीवन है सिसकी भरता।
हाँ मृत्यु नृत्य करती है, मुस्क्याती खड़ी अमरता॥

—'आँसू' पृष्ठ ६४।

× × ×

मेरे जीवन की उलझन, थी बिखरी उनकी अलकें।
पीली मधु मदिरा किसने, थीं बन्द हमारी पलकें?

—'आँसू' पृष्ठ २५।

मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और लाक्षणिकता में ये गीत पंत के प्रयोगों के समान दुरूह नहीं हैं। लक्षणा के मोह ने कहीं-कहीं पंत के गीतों का रूप विकृत भी कर दिया है, जहाँ 'मर्म पीड़ा के हास', 'नयनों के बाल' जैसे प्रयोग उन्होंने किए हैं। किन्तु अन्यत्र गीतिकाव्य में बड़ी मौलिकता मिली।

इस प्रकार गीतिकाव्य में यह भाव की नवीनता जो द्विवेदी युग के अन्तिम दिनों मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय द्वारा दिखाई पड़ी, वह छायावाद युग के मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते रूप के निखार के साथ और भी पूर्ण हो गई।

अंग्रेजी के विविध काव्यरूपों का अनुकरण

छायावादी कवि जब पाश्चात्य गीतिकाव्य-रचयिताओं शैली, कीट्स, बायरन आदि से प्रभावित हुए तब उन्होंने न केवल उनकी रचनाओं को हिन्दी में अनूदित किया, प्रत्युत अपनी अनुभूति को गीतिकाव्य के अंग्रेजी रूपों में ढालने का सफल प्रयास भी किया। ये अन्यान्य रूप हैं 'सम्बोधगीति' (Ode) 'शोकगीति' (Elelgy), 'पत्र-गीति' (Epistle), और 'चतुर्दशपदी' (Sonnet)[1]।

उपर्युक्त विविध काव्यरूपों में इन छायावादी कवियों ने इस कौशल के साथ अपनी अनुभूति ढाली कि अनुकृत होते हुए भी उनमें अपनी निजी मौलिकता दिखाई पड़ी। प्रसाद के 'झरना' संग्रह में 'वसंत', 'रूप', 'किरण' आदि सुन्दर संबोध-गीतियाँ रची गईं। पंत ने अंग्रेजी के संबोधगीति के दोनों प्रकारों का अनुकरण किया। एक तो ऐसी संबोधगीतियाँ रचीं जिनमें

---

१. इन विविध प्रकारों का विस्तृत विवेचन आगे गीतिकाव्य के वर्गीकरण के तृतीय परिच्छेद में हुआ है।

वस्तुविशेष को संबोधित कर कवि स्वयं भावाभिव्यंजना करता गया है जैसे 'छाया', 'परिवर्तन', 'शिशु', 'प्रथम-रश्मि' आदि संबोधगीतियों में और दूसरे प्रकार की संबोधगीतियों में सम्बोधित वस्तु स्वयं आत्माभिव्यंजना करती हैं, जैसे बादल में।[१]

निराला ने भी संबोधगीतियाँ अधिक रचीं। उनका 'परिमल' इनसे भरा हुआ है जिनमें 'यमुना के प्रति', 'तरंगों के प्रति', 'जुही की कली' आदि सुन्दर उदाहरण हैं। मुक्त-छन्द की दृष्टि से 'जुही की कली' की शैली मौलिक है।

शोकगीत की शैली में प्रसाद का 'आँसू' अत्यधिक वेदनामय शैली में रचा गया। इसी प्रकार पन्त ने 'ग्रन्थि' तथा निराला ने 'सरोजस्मृति' की रचना की।

पत्र-गीतियों की रचना का श्रेय मैथिलीशरण गुप्त को मिला जब उन्होंने अपनी 'पत्रावली' की रचना की। इनके पश्चात् 'निराला' ने 'महाराज शिवजी का 'पत्र' नामक पत्रगीति लिखी। चतुर्दशपदियों का आरम्भ 'द्विवेदी युग' के अन्तिम दिनों से ही हो गया था। इसका आरम्भ सच्चे रूप में जयशंकर प्रसाद ने सन् १९१२ से ही कर दिया था। उनकी 'सरोज' नामक चतुर्दशपदी इसी काल की रचना है[२]। फिर तो सन् १९१४ से '१६ तक 'वसन्त', 'स्वभाव', 'दर्शन' आदि अनेक ऐसी कविताएँ उन्होंने लिखीं। इनसे प्रभावित होकर गुप्तजी भी 'नक्षत्रनिपात' जैसी चतुर्दशपदी रच चुके थे[३]। किन्तु छायावाद युग में आकर पन्त की चतुर्दशपदियाँ रूप की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दिखाई पड़ीं। उनका 'ताज', 'अहिंसा', 'विनय', 'बापू' आदि चतुर्दशपदी के सुन्दर उदाहरण हैं। 'हरिऔध जी' के 'कल्प लता' संग्रह में 'अवलोकन', 'विबोधन', 'वितर्क' आदि चतुर्दशपदियाँ मिलीं तो अवश्य किन्तु उनका रूप इतिवृत्तात्मक है।[४]

इन नवीन रूपों में 'गीत' भी छायावाद युग में आकर एक नवीन रूप में रचे गए। वे पश्चिम के सॉंग (Song) के समान छोटे कर दिये गए। भक्ति काल में गीतों की शैली 'पद' शैली ही थी जिसका अनुकरण 'हरिश्चन्द्र' युग

---

१. 'बादल'—पल्लव, पृ० ६२।
२. 'इन्दु' कला ३, किरण ४, मार्च सन् १९१२।
३. सरस्वती जून १९१४।
४. 'कल्प लता' सन् १९३७, अयोध्यासिंह उपाध्याय।

में भी हुआ। किन्तु इस युग में गीत-शैली लोकगीतों की पुनरावृत्ति-पद्धति से तो प्रभावित हुई, किन्तु उस पर पश्चिमी प्रभाव भी पड़ा। यह प्रभाव विशेषरूप से निराला में दिखाई पड़ा, जिन्होंने अँग्रेजी के गीतों के ध्वन्यात्मक सौन्दर्य को परख कर कहीं तो संगीत के छन्दशास्त्र के आधार पर गीत रचे तो कहीं स्वतन्त्र रूप में। 'गीतिका' में प्रथम शैली के गीत अधिकतर मिले :—

> सखि वसंत आया।
> भरा हर्ष बन के मन,
> नवोत्कर्ष छाया॥
>
> —गीतिका, पृ० ५।

पश्चिमी शैली पर स्वरापात का ध्यान रखते हुए कवि ने गीतों का निर्माण इस प्रकार किया :—

> झूम - झूम मृदु गरज घनघोर,
> राग अमर! अंबर से भर निज रोर।
> झर झर झर निर्झर-गिरि-सर-में
> ....अरे वर्ष के हर्ष
> बरस तू बरस - बरस रस धार॥
>
> —परिमल, पृ० १७६।

प्रसाद और पंत के गीतों में भी अनुभूति और कला का सुन्दर योग मिला। महादेवी ने तो मीरा के समान गीतों में ही अपनी अनुभूति बाहर अभिव्यञ्जित की। किन्तु बच्चन के गीतों में उर्दू, फारसी के प्रभावानुरूप अत्यधिक भावाकुलता और कोमलता दिखाई पड़ी।

छायावाद का अवरोह और देशभक्ति के गीत

सन् १६२० के उपरान्त भारतीय स्वातन्त्र्य भावना तीव्र रूप धारण करने लगी और देश की परिस्थितियाँ ऐसे साहित्य की अपेक्षा कर रही थीं जिसमें देशप्रेम और स्वातन्त्र्य भावना का स्वर भरा हुआ हो। छायावादी कवि अभी तक कल्पना-लोक में बैठ अपने गीतिकाव्य को सब भाँति परिष्कृत कर चुका था। परन्तु राजनीतिक परिस्थितियाँ युग के अवरोह काल तक ऐसी आन पड़ीं, जिससे काव्य में युगभावना का सच्चा प्रतिबिम्ब पड़ना अवश्यंभावी हो गया। जीवन, जो विषमताओं से पूर्ण था अब पलायन की भावना से समतल नहीं हो सकता था। कविता जीवन से निकली है, अस्तु उसमें जीवन का यथार्थ प्रतिबिम्ब देखने के

लिये कवि आतुर हो उठे। अतः जब राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गान्धी के अहिंसात्मक सत्याग्रह-आन्दोलन छिड़ पड़े और जब देश के प्रति कर्तव्य का भाव जनता में स्फुरित हुआ तब स्वयं कवियों को अपनी रङ्गीन कल्पना में फीकापन का आभास मिलने लगा। देशभक्ति के गीतों की धारा जो 'छायावाद युग' के रहस्योन्मुक्त गीतों के मुखपृष्ठ पर आ जाने से पृष्ठ-भूमि में दबी चली आ रही थी, पुनः काल के अनुरूप वेग के साथ प्रवाहित हो पड़ी। 'भारतेन्दु युग' से आते हुए देशभक्ति के गीतों की धारा को इस काल में प्रमुखतया माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सोहनलाल द्विवेदी, रामधारीसिंह 'दिनकर' और सुभद्राकुमारी चौहान ने आगे प्रवाहित किया।

काव्यरूप की दृष्टि से देखने पर हमें भारतेन्दु युग के देशभक्ति के गीतों से छायावादी देशभक्ति के गीतों में समुचित विकास दिखाई पड़ा। इस परिष्कार का श्रेय छायावाद युग की उस स्वातन्त्र्य-भावना को ही दिया जाता है जिसने अभिव्यक्ति में सर्वाङ्गीण परिष्कार के लिये कवियों को आतुर बना दिया। रहस्योन्मुख प्रवृत्ति, अभिव्यक्ति की कुंठा और लाक्षणिकता में गीति-काव्य को जो कोमल रूप मिल चुका था, उसी से प्रेरित होनेवाले इन गीतों के रचयिताओं ने अपने गीतों में भी वही कोमलता ला दी। इतिवृत्तात्मकता अब इन गीतों से बिलकुल दूर चली गई और अनुभूति का सौन्दर्य इनमें दिखाई पड़ा। सच्ची गीतिमत्ता में ये गीत रूप की दृष्टि से बिलकुल नवीन शैली को भी अपने साथ लेकर आए। माखनलाल चतुर्वेदी का स्वर इस प्रकार गूँजा :—

> मुझे तोड़ लेना बनमाली,
> उस पथ पर तुम देना फेंक।
> मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
> जिस पथ जावें वीर अनेक।

—'एक फूल की चाह', ।[1]

भारतेन्दु के गीतों के समान केवल भारत की दुःख दारिद्र्यपूर्ण शोचनीय अवस्था पर क्रन्दन इन गीतों में नहीं भरा गया, प्रत्युत आत्मबलिदान

---

१. 'परिचय'—सम्पादक, शान्तिप्रिय द्विवेदी, साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी—पृ. ३२।

का स्वर भी ऊँचा उठा। सोहनलाल द्विवेदी ने 'प्रयाणगीत' इसी भावना से प्रेरित होकर रचे :—

न हाथ एक शस्त्र हो।
न साथ एक अस्त्र हो॥
न अन्न नीर वस्त्र हो।
हटो नहीं
डटो कहीं
बढ़े चलो
बढ़े चलो॥

—'भैरवी', पृष्ठ १२५।

देशभक्ति के भावों में व्यापकता तो आती गई किन्तु साथ ही काव्यरूप भी बदलता गया। 'प्रयाण गीत' छायावाद के इसी अवरोह काल में दिखाई पड़े, जिसमें रूप का निश्चित विकास है।

देशभक्ति के स्वर में धीरे-धीरे समाजवाद के पुट से क्रान्ति की भावना का बीजारोपण भी उसी समय से होने लगा। यद्यपि यह क्रान्ति की भावना द्वितीय महायुद्धोपरान्त आगे चल कर प्रगतिवादी गीतों में स्पष्ट रूप से विकसित हुई, तथापि उसका बीजारोपण इसी काल में हो गया :—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।[1]

यह स्वर बिल्कुल नवीन था जो 'दिनकर' और 'अञ्चल' के गीतों में प्रबल रूप से दिखाई पड़ा और उत्तरोत्तर यह स्वर अत्यधिक प्रबल होता गया। एक प्रकार से राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप 'छायावादयुग' के देशभक्ति के गीतों की अन्तिम परिणति क्रान्ति के गीतों में होने लगी। मार्क्स का प्रभाव और समाजवादी भावना का स्फुरण इसके मूल में निहित था। इसी क्रान्तिवादी भावना ने विकसित होकर प्रकारान्तर से ऐसे गीतों को जन्म दिया जिनकी प्रगतिशील भावना को देख आलोचकों ने उन्हें 'प्रगतिवादी' कह कर पुकारा।

'प्रगतिवाद युग' और गीतिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

'छायावाद युग' के अवरोह काल में जीवन की वास्तविकताओं ने जो उग्र रूप धारण कर लिया, उसके परिणामस्वरूप मानव की चिन्तनधारा बिलकुल ही बदल गई। राजनीतिक क्षेत्र के जिन उलट-फेरों ने समाज में

---

१. विप्लव गायन, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'।

जिस क्रान्तिमयी भावना को जन्म दे दिया था उसकी परमावश्यकता का अनुभव करते हुए इस काल के कवियों ने भी अपनी अकर्मण्य प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति को किसी भी रूप में कल्याणप्रद न समझा। जीवन के प्रश्न को छोड़ कर वैयक्तिक सुख-दुख एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना मात्र से कवि न तो स्वयं अपने आपको तुष्ट कर सका और न समाज को ही उसकी कला में सार्वभौम तथ्य की उपलब्धि हो पाई। जीवन-संघर्ष में लगे हुए समाज ने अपने चारों ओर उसी संघर्ष को देखने की अभिलाषा की। क्योंकि उसमें अब तक क्रान्ति के स्फुलिङ्ग उद्दीप्त हो चुके थे और उसी में जीवन संघर्ष के सुलझाव का हल भी उन्हें दिखाई पड़ चुका था। परिस्थितियों के अनुरूप कवि सदा से प्रभावित होता आया। इसी प्रभावानुरूप देशभक्ति का स्वर छायावादी राष्ट्रीय-गीतों में भरा गया, जो उस युग के अन्त होते-होते राजनीतिक परिवर्तनों के अनुरूप महानाश की भावना के रूप में कविता में अवतरित हुआ।

किन्तु लगभग सन् '३७—'३८ के आसपास हमारी राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ इतनी बदलने लगीं कि छायावादी कवि कल्पना-लोक को छोड़ कर ऊसर भूमि पर उतर आया। गीतिकाव्य भी इन्हीं परिवर्तनों के अनुरूप अपने पुराने आवरण को छोड़, नवीन रूप में प्रकट हुआ। उसके इस नव्योत्थान में राजनीति ने समुचित प्रभाव डाला। कहना न होगा कि 'छायावाद युग' के उपरान्त एक प्रकार से काव्यक्षेत्र में यही राजनीति का प्रवेश 'प्रगतिवाद' नाम से अभिहित हुआ।

गीतिकाव्य-क्षेत्र में सन् '३७ के उपरान्त अर्थात् पंत जी के 'युगान्त' के पश्चात् युग का जितना स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ा वह अभूतपूर्व था। अभी तक राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप व्यक्तिवाद का स्वर प्रबल हो रहा था। किन्तु सन् '३७ के उपरान्त वही व्यक्तिवादी मनोवृत्ति समाज-मानव की भावना की प्रबलता से समाजवादी मनोवृत्ति में परिणत होने लगी। साथ ही मार्क्स का प्रभाव भी राजनीतिक क्षेत्र में अमिट रूप से पड़ने लगा। हमारे कवियों ने उन्हीं आदर्शों के अनुरूप कविता में विविध भावों को स्थान देने का प्रयत्न किया। मार्क्स ने कविता के सामाजिक महत्व को भलीभाँति समझाते हुए, उसे समस्त यथार्थ के प्रति विद्रोह का एक सुन्दर साधन माना। प्रगतिवादी गीतिकाव्य की पृष्ठभूमि इसी मार्क्सवादी समाजवाद की क्रियात्मक भावना से तैयार हुई जिसमें समस्त समस्याओं एवं असमताओं को सुलझाने का एकमात्र साधन 'क्रान्ति' ही सिद्ध हुई, जिसकी अनिवार्यता उनके

दार्शनिक सिद्धान्त 'विरोधजन्य गतिशील भौतिकवाद' (Dialectical Materialism) अथवा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में प्रतिपादित हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् नित्य परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन के मूल में दो विरोधी तत्वों का द्वन्द्व है, किसी आध्यात्मिक शक्ति का हाथ नहीं। संसार का मूलाधार पंचभौतिक या पदार्थ है। इसी में जब स्वतः विरोध उत्पन्न होने लगता है तब अपनी चरमावस्था को पहुँच उसे अपनी प्रथमावस्था से भिन्न रूप मिल जाता है। परन्तु इसमें भी पुनः उसी प्रकार आन्तरिक असंगतियाँ प्रादुर्भूत होने लगती हैं, जिसके प्रबलतम होने पर पुनः एक नवीन अवस्था को जन्म मिलता है, जो प्रथम दोनों अवस्थाओं की अपेक्षा अधिक नवीन होती है। इन्हीं को क्रमशः 'थीसिस' (Thesis) 'एन्टीथीसिस' (Antithesis) और 'सिन्थिसिस' (Synthesis) कहा गया है। इस अन्तिम अवस्था को पहुँच, विरोधी तत्वों में सन्तुलन (Equilibrium) स्थापित हो जाता है। किन्तु समय के अनन्तर पुनः जब द्वन्द्व उत्पन्न होता है तब इस अवस्था में 'पदार्थ' या 'वस्तु' में केवल 'मात्रा' (Quantity) का ही नहीं अपितु गुण (Quality) का भी परिवर्तन होने लगता है। यह परिवर्तन की अन्तिम और सबसे अधिक वेगपूर्ण अवस्था है। इसी प्रकार मार्क्स ने समाज का मूलाधार 'अर्थ' को ही बताया। इसी में वैषम्य के कारण शोषक और शोषितों का वर्ग स्थापित हो जाता है। 'अर्थ' के पूँजीपतियों के हाथ में चले जाने के कारण शोषितों की संख्या बढ़ जाती है। सामाजिक सन्तुलन में वैषम्य आने लगता है। यह वैषम्य बढ़ते-बढ़ते एक ऐसी अवस्था को पहुँच जाता है जब क्रान्ति की भावना सजग हो उठती है। यही क्रान्ति समाज की आर्थिक विषमता को नष्ट कर वर्गहीन श्रमिक राज्य की स्थापना करती है और समाजवाद पूर्ण रूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है।

राजनीतिक क्षेत्र में जिस प्रकार मार्क्स ने समाजवाद की स्थापना द्वारा विश्व का कल्याण देखा, उसी प्रकार काव्यक्षेत्र में भी उसने समाजवादी सिद्धान्तों को अपनाने वाले कवि को ही विशेष महत्व दिया। क्योंकि उनके मतानुसार काव्य अथवा कोई भी कला समकालीन युग का प्रतिबिम्ब होती है, जिसमें भौतिक जीवन ही प्रतिबिम्बित होता है। अस्तु कलाकार का उद्देश्य यही हो जाता है कि वह युग की उन सभी प्रगतिशील शक्तियों की जाँच करने के उपरान्त अपने काव्य के लिए अनुकूल सामग्री ढूँढ़ निकाले। गतिशीलता में विश्वास रखने के कारण भी ये कवि प्रगतिशील कहलाए।

हिन्दी में छायावाद युग के अन्तिम दिनों से ही ऐसी प्रवृत्तियाँ झलकने

लगी थीं जिनमें समकालीन राजनीतिक परिवर्तनों के अनुरूप पनपती हुई समाजवादी भावना का स्फुरण हो रहा था और पन्त अपनी 'युगवाणी' लेकर काव्यक्षेत्र में उतर भी पड़े थे। 'रूपाभ' में स्पष्ट रूप से उन्होंने अपनी परिवर्तित प्रवृत्ति का संकेत भी दे दिया था[1]। किन्तु इससे पूर्व सन् १९३६ में 'प्रगतिशील संघ' की स्थापना हो चुकी थी और कवियों का झुकाव भी दूसरी ओर मुड़ता हुआ लक्षित हो गया था। इसी समय से गीतिकाव्य के बाह्य स्वरूप पर घोर प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी।

'द्विवेदी युग' की इतिवृत्तात्मकता जब अति पर पहुँच गई तब उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप 'छायावाद' आया और कवि-समाज समस्त रूढ़ियों को उखाड़ फेंकने के लिये आतुर हो उठा। पश्चिमी सम्पर्क ने इसमें और अधिक योग दिया। भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ तो इसके मूल में कार्य कर ही रही थीं। फलतः बाह्य अभिव्यंजना में गीतिकाव्य ने जो रूप धारण किया वह अत्यधिक मौलिक दिखाई पड़ा। कवि की सौन्दर्य भावना के अनुरूप नवीन छन्द, नवीन उपमान, नवीन प्रतीक एवं भाषा की नवीन लाक्षणिक शैली को जन्म मिला। किन्तु धीरे-धीरे यह प्रवृत्तियाँ अपनी अति को पहुँचने लगीं और गीतिकाव्य का स्वरूप दुरूह होता चला। फलतः पुनः उसकी भी प्रतिक्रिया हुई—

> क्या होगा गाकर अनन्त का नीरव औ मधुमय संगीत,
> मलयानिल की उच्छ्वासों का अस्फुट अनुपम राग पुनीत।
> कनक रश्मियों के गौरव से होगा क्या दुःखियों का त्राण,
> रूखी ही रोटी में जिनको है यथार्थ जीवन का प्राण॥[2]

गीतिकाव्य के आन्तरिक एवं बाह्य स्वरूप पर इस प्रकार के आक्षेप का प्रधान कारण युग की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियाँ थीं। अभी तक गांधीवाद की भावना से देशभक्ति के गीतों की प्रचुरता हो रही थी, किन्तु समाजवाद और मार्क्स के प्रभाव ने कवियों की मनोवृत्ति में जो परिवर्तन ला उपस्थित किया उससे अभिव्यक्ति का स्वरूप अत्यन्त परिवर्तित हो गया। गीतिकाव्य के रूप में एक बार पुनः विद्रोह के भाव परिलक्षित हुए। यह

---

१. अतएव इस युग की कविता स्वप्न में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। रूपाभ, वर्ष १, सं० १, जुलाई १९३८।

२. सरस्वती सं० ३७, सं० ३, १९३६।

विद्रोह प्रथम तो विषयगत था और फिर उसी के अनुरूप विधान में भी अन्तर आते गए। कवि ने जब धरती को अपनाना आरम्भ कर दिया तब भाषा और शैली में नवीनता आ गई। छायावादी उपमान, प्रतीक एवं लाक्षणिकता की पद्धति प्रगतिवादी कवियों के लिये व्यर्थ सिद्ध हुई। युग की कठोर वास्तविकताओं ने जब उन्हें आकाश से कठोर भूमि पर ला उतारा तब उन्होंने धूल और चिथड़ों को भी सहर्ष अपनाया। धरती के प्रति कवि की आस्था गीतिकाव्य में यों प्रकट हुई—

ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु नीलिमा गहन ?
अनिमेष अचितवन काल नयन ?
देखो भू को।
जीव प्रसू को ॥

—युगवाणी, पन्त पृ० १६।

इसी प्रकार :—

पीले पत्ते टूटी टहनी
छिलके कंकड़ पत्थर
कूँड़ा करकट सब कुछ
लगता सार्थक सुंदर।

—'युगवाणी' पृ० १७।

भाव के बदलते ही काव्यरूप बिलकुल बदल गया। यहाँ कवि उन्मुक्त पक्षी के सदृश छन्द के बन्धन को तोड़ कर स्वच्छन्द अभिव्यंजना-क्षेत्र में विचरण करता हुआ दिखाई पड़ रहा है। सम्पूर्ण भाव छन्दोबद्ध रूप में अभिव्यक्त किए जा सकते थे, किन्तु कवि ने बिलकुल नवीन रूप में अपने को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। उसे छन्दों का तनिक सा बन्धन भी मान्य नहीं। सरल शैली में बिलकुल सीधे ढंग से भावाभिव्यंजना ही उसका लक्ष्य है। उसके गीतिकाव्य का अपना एक विशिष्ट लय भी है, जिसमें आरोहावरोह भावानुकूल है। मुक्त छन्द के इस लय के साथ गीतिकाव्य का रूप वस्तुतः एक नवीन विकास का द्योतक है। इस छन्द-विधान पर पश्चिम के मुक्त छन्द (Free-Verse) का प्रभाव पूर्ण रूप में मिला, जिसका सूत्रपात अमेरिका के कवि 'वाल्टह्विट्मैन' ने किया।

छायावादी कवि पन्त का इस नवीन क्षेत्र में उतरना ही था कि अनेक कवि जिनमें इन्हीं प्रगतिशील भावनाओं का स्फुरण क्रमशः हो ही रहा था,

इसी क्षेत्र में तीव्रता के साथ प्रवेश करने लगे। इनमें 'दिनकर', 'अञ्चल', नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, गोपालसिंह 'नेपाली', केदार-नाथ अग्रवाल आदि उल्लेखनीय हैं। यों तो इन सभी कवियों को गीतिकाव्य रचना में प्रोत्साहन पन्तजी की रचनाओं से मिला, किन्तु इनकी प्रगतिशीलता का रूप भिन्न दिखाई पड़ा। पन्तजी में क्रान्ति एवं ध्वंस की भावना अपने प्रचण्ड रूप में न होकर अपनी एक शालीनता लिए हुए है। यद्यपि उसके मूल में हम उन्हीं तत्वों को पाते हैं जो मार्क्सवादी सिद्धान्त में प्रतिपादित हुए हैं, तथापि जहाँ वे मार्क्सवादी भावना से प्रभावित हुए दीख पड़ते हैं, वहाँ गांधीवाद को भी अपनाए हुए हैं। किन्तु इन प्रगतिशील कवियों में मार्क्सवाद के सिद्धान्त को अधिक अपनाने के कारण विद्रोह की भावना अधिक है। रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल' में यह क्रान्ति की भावना उग्र है—

आज तो संघर्ष को मैं प्यार करता।
आज मैं विद्रोह की हुंकार भरता॥
हो रहा प्रतिपल सजग, पीड़ित न यह अब वक्ष होता।
अब न मैं चीत्कार सुन कर, शून्य गृह में बैठ रोता॥

—किरण बेला, विद्रोही।

यहाँ कवि ने भावाभिव्यक्ति में गीत (Song) शैली का अनुगमन किया है। अतएव काव्यरूप में गीत की शैली (Technique) वही है जो छाया-वादी युग में 'बच्चन' के गीतों में मिलती है। किन्तु नरेन्द्र ने भावाभिव्यं-जना को नवीन रूप दिया है :—

मुझे आश्चर्य महान्, झुके जर्जर निष्प्राण।
न जाने कैसे हैं ये, स्तंभ, लदा है जिन पर जग भार।
विश्व वैभव का भार
सम्हाले हैं जिसको कंकाल सिहरते हिलते कंकाल।
देखता हूँ विस्तृत साम्राज्य और ये कृष कंकाल॥

—प्रभातफेरी।

कवि ने यहाँ सम्पूर्ण दृश्य के प्रभावात्मक स्थलों को चुन कर बड़ी ही सरल एवं सुबोध शैली में इस प्रकार रखा है जिसमें चमत्कार की प्रवृत्ति नहीं। भावानुरूप तीव्रता के साथ कवि के गीतिकाव्य की पंक्ति कहीं छोटी, कहीं बड़ी होती गई है। गीतिकाव्य का बाहरी रूप भी बड़ा ही साधारण किन्तु प्रभावपूर्ण है। इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा के गीत में भी सरलता की ओर प्रवृत्ति अधिक है :—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे,
कुछ पाँच कोस की दूरी पर।
भू की छाती पर फोड़ों से,
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खँडहर उसको,
पर वे कहते हैं उसे ग्राम।

—'भैंसागाड़ी', भग० वर्मा[1]।

इस प्रकार के गीतिकाव्य अपने में वर्णन-प्रधान हो उठे हैं। किन्तु गीतिकाव्य में वर्णन का आग्रह निषिद्ध है। प्रगतिवादी गीतों में यह तत्व अधिकता के साथ समायोजित हुआ है। इससे गीतिकाव्य के प्रवाह पर कुछ आघात अवश्य पहुँचा है। 'दिनकर' ने अधिकांशतः लय का ध्यान अपने गीतों में रखा है:—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपके ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती के लज्जा वसन बेंच जब व्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं॥
पापी महलों का अहंकार देता तब मुझको आमन्त्रण।

—हुंकार, 'दिनकर'[2]।

प्रगतिवादी कवि ने सामूहिक भावों की व्यंजना के लिये छन्दों का बन्धन तो क्रमशः अमान्य करना आरम्भ कर दिया, किन्तु उसने लय या लयात्मकता का आधार कदापि नहीं छोड़ा। क्योंकि उनकी धारणा में लय सामूहिक ऐक्य को जन्म देनेवाला अवयव है और उसमें वह शक्ति है जो समूह को प्रभावित करने की क्षमता रखती है। इस लय को अपने गीतिकाव्य में इन प्रगतिवादी कवियों ने या तो छन्द के सहारे उत्पन्न किया अथवा शब्दों के नपे-तुले प्रयोगों द्वारा। अधिकांशतः 'प्रगतिवादी युग' में दूसरी पद्धति का अनुगमन गीतिकाव्य में हुआ।

दूसरी बात जो इन गीतों में दिखाई पड़ी वह है उनकी सुबोधता। यही

---

१. 'विवेचनात्मक काव्य विहार'—संकलन कर्त्ता—सत्यनारायण पाण्डे, सन् १९५४, प्रयाग, पृ० १३८।

२. 'हुंकार'—रामधारी सिंह 'दिनकर' पृ० ७३ 'त्रिपथगा'—सप्तम संस्करण, पटना।

कारण है प्रगतिवादी गीतिकाव्य अभिव्यंजना शैली की दुरूहता को लिए हुए नहीं है। वस्तुतः इस युग का गीतिकाव्य शैली की दृष्टि से अलंकृत प्रवृत्ति का भी नहीं; क्योंकि उसमें वस्तु या भाव को पहले महत्व दिया गया है, फिर अभिव्यंजना को। फलतः इन कवियों ने प्रायः सभी वादों (अभिव्यंजना, कलावाद आदि) का विरोध किया। अभिव्यंजना में सरलता, भाषा की सुबोधता की अपेक्षा करती है। सर्वसाधारण तक वही वाणी पहुँच सकती है जो दुरूह एवं संस्कृतमय न हो। इसीलिये युग की वाणी को गीतिकाव्य की वाणी बनाने का प्रयास इन कवियों ने किया। पंतजी ने तो शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग किया किन्तु परवर्ती प्रगतिवादियों ने भाषा की सहजता को ही अपनाया।

युग की परिस्थितियों के अनुरूप प्रगतिवादी कवि की विचारधारा बौद्धिक हो गई। इन कवियों के गीतिकाव्य में बौद्धिकता का पुट अधिक मिला। इस युग में गीतिकाव्य के गद्य की ओर झुकने का एक कारण यह बौद्धिकता की प्रवृत्ति भी है। इससे संगीतात्मकता को धक्का भी पहुँचा है। परन्तु इस बौद्धिकता के तत्व ने हमारे गीतिकाव्य के विकास में एक नवीन तत्व भी प्रदान किया। यह है व्यंग्य का सूत्रपात। गीतिकाव्य क्षेत्र में 'व्यंग्यगीति' के जन्म का श्रेय इसी बौद्धिक-प्राधान्य युग को ही है। व्यंग्य बुद्धिजनित है, किन्तु जब यही व्यंग्य हृदय के साथ समन्वित होकर गीतिकाव्य रूप में आता है तब वह एक सुन्दर काव्यरूप को जन्म देता है। व्यंग्यगीतियों की रचना में पन्त, 'अंचल', और 'निराला' विशेष उल्लेखनीय हैं। ये व्यंग्य अधिकांशतः वहीं कसे गए हैं जहाँ शोषकों के अत्याचार का वर्णन है। निराला का 'कुकुरमुत्ता' इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें गुलाब शोषक वर्ग का एवं 'कुकुरमुत्ता' शोषित वर्ग का प्रतीक है :—

देख मुझको मैं बढ़ा
और अपने से उगा मैं।

× ×

कलम मेरा लगता नहीं।

× ×

जैसे 'प्रोग्रेसीव' का कलम लेते ही
रोका नहीं रुकता जोश का पारा।

× ×

कहीं का रोड़ा कहीं का पत्थर,
'टी.एस.एलीयट' ने जैसे दे मारा,
पढ़नेवालों ने भी जिगर पर रखकर
हाय, कहा लिख दिया जहाँ सारा,

—'कुकुरमुत्ता', 'निराला' पृ० १६–१७।

प्रस्तुत 'व्यंग्यगीति' में अप्रत्यक्ष रूप से कवि ने समाज के दो वर्गों के ऊपर व्यंग्य कसा है। व्यंग्यगीतियों में शैली की दृष्टि से 'कुकुरमुत्ता' अपने ढंग का अकेला काव्यरूप है।

पन्त की 'ग्राम्या' भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' और 'अंचल' के गीतों में भी व्यंग्य के छींटे मिलते हैं। पन्त ने 'ग्राम्या' में ऐसे गीतों की रचना की है :—

राम राम
हे ग्राम्य देवता, यथा नाम
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य, तुम्हें सविनय प्रणाम
विजया, महुआ, ताड़ी, गाँजा पी सुबह शाम
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम।

—'ग्राम्या'-ग्रामदेवता, पृ० ६०।

अंचल के व्यंग्य भी तीक्ष्ण हैं :—

तुम समझोगे इनका रोष, तुम समझोगे इनकी ज्वाला।
कहाँ समझ पाओगे मालिक, इनकी अन्तर्शिखा कराला?

गीतिकाव्य के विकास में इन व्यंग्यगीतियों का महत्व बहुत है। परन्तु सन् '३७ से लगभग सन् '४७ के आस-पास गीतिकाव्य ने रूप की दृष्टि से यही विकास किया है। क्रमशः प्रगतिवाद युग में कवियों की अनुभूति का विकास अति बौद्धिक होता चला गया, जिसके फलस्वरूप गीतिकाव्य का बाह्य आवरण भी अत्यधिक परिवर्तित होता गया।

अष्टम अध्याय

गीतिकाव्य का स्वरूप

पश्चिम में काव्य का विभाजन करते हुए जिस अन्तर्वृत्ति-निरूपक अथवा स्वानुभूति-निरूपक काव्य का एक ओर संकेत किया गया उसी के अन्तर्गत अंग्रेजी का "लिरिक" जिसे हम "गीतिकाव्य" का पर्याय देते हैं, परिगणित हुआ।[1] पश्चिमी विचारकों ने बताया है कि गीतिकाव्य ही कवि के अन्तर्जगत के नाना व्यापारों को बाहर प्रगट करने का सफल माध्यम है। उसके निर्माण की मूल प्रेरणा कवि को अपने अन्तरतम से मिलती है जहाँ हृदय और मस्तिष्क, भाव और विचार का निरन्तर संघर्ष व्याप्त रहता है। कभी इन भावों पर विचारों की विजय होती है तो कभी विचारों पर भावों की, और कभी दोनों का संतुलन बना रहता है। किन्तु इससे यह आशय भी कदापि नहीं कि गीतिकार का बहिर्जगत और उसके नाना दृश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं अथवा गीतिकाव्य पद्य-रूप में मनोवेगों का संकलन है। अन्तर्वृत्ति-निरूपक वर्ग में गीतिकाव्य को इसीलिये रखा जाता है कि उसमें कवि की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होने के कारण अधिक भाव-प्रधान होती है और भावावेश में उसका अपना ही आत्मप्रकाशन उसमें होता है। बहिर्जगत के नाना क्रियाकलापों से वह अविच्छिन्न नहीं हो सकता बल्कि उन्हीं का उसके हृदय पर निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है और उसके जीवन में कोई क्षण ऐसा आ जाता है जब बहिर्जगत की वस्तु उसकी भावनाओं को तीव्रतम रूप में उद्वेलित कर देती है जिससे बाह्य अभिव्यंजना में वस्तु गौण हो जाती है, कवि की भावना प्रमुख। हम यहाँ कवि की अनुभूति को ही अधिक महत्व देते

---

१. "An Introduction to the study of Litterature"—W. H. Hudson, page—126.

लगते हैं, वस्तु को नहीं। यही कारण है कि गीतिकाव्य भाव-प्रधान कविता के वर्ग में रखा जाता है। हृदय भावाधार है और मस्तिष्क विचार-प्रधान। अतः गीतिकाव्य भावप्रधान होने के कारण जितना हृदय से अटूट रूप में सम्बद्ध होता है उतना मस्तिष्क से कदापि नहीं। किन्तु कवि की हृदयस्थ भावनाएँ उसी के हृदय तक सीमित हों ऐसा भी कदापि नहीं। गीतिकाव्य का अन्तर्वृत्तिनिरूपक होना जिस आत्माभिव्यंजना को उसमें स्थान देता है, उसमें ऐसे ही भावों का अभिव्यंजन होता है जो सार्वजनीन महत्व को अपनाए हुए रहते हैं और उसमें कवि की अन्तरात्मा इतने स्पष्ट रूप में अभिव्यंजित होती है कि पढ़ते ही कवि का व्यक्तित्व आँखों के समक्ष नाच उठता है। इसी अर्थ में गीतिकाव्य, काव्य के अन्तर्वृत्तिनिरूपक वर्ग में रखा जाता है। इस अर्थ में कदापि नहीं कि बाह्य जगत से कवि का कोई सम्बन्ध नहीं।

इसी प्रकार जब महाकाव्य को बाह्यार्थनिरूपिणी कविता के अन्तर्गत रखते हैं तो उसका आशय यह कदापि नहीं होता कि कवि उसमें अन्तर्वृत्ति का निरूपण ही नहीं करता अथवा वह उसके स्वानुभूति का निरूपण नहीं। दोनों प्रकारों में स्पष्ट विभेद की रेखा खींचना प्रायः सभी आलोचकों को कठिन प्रतीत हुआ है[1]। वस्तुतः स्वानुभूति-निरूपिणी कविता में हम यह देखते हैं कि कवि ने अपनी अनुभूति की व्यञ्जना किस शैली में की है। गीतिकाव्य में कवि जब अपना अंतःस्थल खोल कर रखता है तब भावनाएँ केवल उसी की होकर व्यक्त होती हैं, यहाँ उसका 'अहं' प्रमुख होता है। अन्तर्जगत ही प्रेरणा का केन्द्र बनाया जाता है। किन्तु बाह्यार्थनिरूपक काव्य में कवि का अनुभव अपना न होकर कथान्तर्गत आये पात्रों के अनुभव के रूप में अभिव्यञ्जित होता है। यहाँ उसके निजी व्यक्तित्व की छाप स्वतन्त्र रूप में नहीं झलकती। बाह्य जगत उसका प्रेरणा-केन्द्र होता है। गीतिकाव्य का 'अहं' यहाँ 'वयं' बन जाता है। अस्तु जहाँ महाकाव्य बहिर्जगत के संघर्ष को अपनाने के कारण काव्य के बाह्यार्थनिरूपक वर्ग में रखा जाता है, वहाँ अन्तर्जगत के संघर्षों से टकरा कर फूट निकलने वाले गीतिकाव्य को हम काव्य के अन्तर्वृत्ति-निरूपक वर्ग में रखते हैं।

---

१. 'The boundary lines between these two divisions cannot of course be drawn with absolute precision and in such poetry especially impersonal elements continually combine.'—An Introduction to the study of literature,—Hudson—page 126.

दूसरा कारण गीतिकाव्य को इस वर्ग में वर्गीकृत करने का यह है कि उसमें मनोवेगों (Emotions) की अभिव्यक्ति है जिनका सम्बन्ध हृदय से है, बुद्धि से नहीं और जहाँ मनोवेगों की अभिव्यंजना है वहाँ अभिव्यंजित स्वरूप सदा गीतात्मक और स्वानुभूतिनिरूपक होता है तथा उस स्वरूप में कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है। कवि चुपचाप संसार के नित्य प्रति होते हुए क्रियाकलापों का निरीक्षण करता है। सहसा कोई प्रभावशालिनी घटना उसके मर्मस्थल को स्पर्श कर गहरा प्रभाव डालती है जिससे अनुकूल मनोविकार उद्दीप्त होकर घनीभूत रूप धारण कर लेते हैं। वह भावाभिव्यक्ति के लिये व्याकुल हो उठता है और गीतों के रूप में उसके आकुल प्राण स्वतः निकल पड़ते हैं। कवि का आत्मप्रकाशन तो उसमें होता ही है किन्तु उसकी शैली भी बड़ी व्यक्तित्व-प्रधान (Individualistic) होती है। अस्तु निर्विवाद रूप से उसका परिगणन अन्तर्वृत्तिनिरूपक वर्ग में होता है।

कवि के अन्तःप्रदेश से निकटतम सम्बन्ध रखने वाले काव्य के इस रूप की छानबीन कर परिभाषा बनाने से पूर्व, उसकी व्युत्पत्ति बताना इसलिये परमावश्यक हो जाता है कि हमारे यहाँ का यह काव्यरूप जिसे गीतिकाव्य की संज्ञा दी गई है अंग्रेजी के 'लिरिक' (Lyric) शब्द का उपजीवी है। 'लिरिक' शब्द की व्युत्पत्ति 'लायर' (Lyre) नामक वाद्य-यन्त्र से हुई और इसी वाद्य-यन्त्र के सहारे जिन गीतों का गान हुआ उन्हें 'लिरिक' की संज्ञा दी गई। यदि हम इस शब्द के भी मूल की छानबीन करें तो हम देखेंगे कि जिसे अंग्रेजी में 'लायर' कहते हैं वह ग्रीक शब्द 'लूरा' (Lura) से बनाया गया है।[१] यह एक प्रकार का अति प्राचीन ग्रीक तन्त्रीवाद्य था जिसके सहारे गीत गाए जाते थे। इन गीतों को वहाँ 'लुरिकोस' (Lurikos) कहते थे और अंग्रेजी में आकर वही 'लिरिक' हो गया।

ग्रीक विद्वानों ने जब काव्य का विभाजन किया, तब एक ओर ऐसे गीतों को रखा जिनका गान समूह द्वारा होता था। इसे वे 'कोरिक' (Choric) कहते थे। और दूसरी ओर इसी 'लायर' नामक वाद्य यन्त्र पर अकेले गायी जाने वाली कविता रखी गयीं जिसे 'मेलिक' या 'लूरा'

---

१. Encyclopedia Brittanica—vol.XVII—Page 177.

के नाम पर 'लुरिकोस' कहा गया।[1] 'कोरिक' या सामूहिक काव्य का गान समूह को उत्तेजित करने के निमित्त होता था किन्तु 'मेलिक' या 'लिरिक' का गान केवल एक ही कवि द्वारा होता था। क्रमशः वैयक्तिकता के उत्थान के साथ काव्य का यह स्वरूप अत्यधिक आत्माभिव्यंजक होता गया और इसी आत्मनिष्ठता में उसकी विशेषता समझी जाने लगी। अंग्रेजी में भी आदिकालीन गीतों में 'लायर' की आवश्यकता समझी गई जिनका गान विवाहोत्सव, ईश्वर की स्तुति अथवा वीरों की प्रशंसा के लिये होता था। किन्तु 'रोमान्टिक रिवाइवल' तक पहुँचते-पहुँचते यहाँ तक कहा जाने लगा कि गीतिकाव्य में संगीत की अनिवार्यता नहीं। वह 'लायर' जिसके नाम पर 'लिरिक' का उद्भव हुआ एवं उसकी परिभाषा बनी, एक ओर रख दिया गया और 'लिरिक' की नए सिरे से परिभाषा बनाई गई। आशय यह कि 'लिरिक' आज अपने मूल अर्थ में नहीं प्रयुक्त होता। अस्तु, उसकी परिभाषा में परिवर्तन आना भी स्वाभाविक ही है। आज कवि की मनोवृत्ति (Mood) का अध्ययन करने के उपरान्त गीतिकाव्य का विश्लेषण किया जाता है और तभी उसकी परिभाषा की जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों के विभिन्न मत

कहा तो यह जाता है कि 'जाफ्राय' (Jouffroy) सबसे पहला सौन्दर्य-तत्वज्ञ (Aesthetician) था, जिसने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि गीतिकाव्य और काव्य पर्यायवाची शब्द हैं और उसमें उन सभी तत्वों का अन्तर्भाव है जो वैयक्तिक और आह्लादजनक है तथा जिनमें प्राणों का स्पन्दन विद्यमान है। अतः बाह्य आकार के कठोर नियमों को लेकर उनकी आलोचना करना व्यर्थ है।[2]

---

१. To return again to Greece, here was an early distiiction soon accentuated, between poetry chanted by a choir of singers and rhe song which expressed the sentiments of a single poet. The latter, the (Melic) a song proper had reached a height of technical perfection in the "Isles of Greece", Jbid—page—177–180.

२. Jouffroy was perhaps the first aesthetician to see quite clearly that lyrical poetry is really nothing more than another name of poetry itself; that it includes all personal and enthusiastic part of

'हेगल' ने अपने 'सौन्दर्यशास्त्र' (Aesthetics) में गीतिकाव्य को काव्य के स्वानुभूतिनिरूपक वर्ग में वर्गीकृत कर उसकी परिभाषा करते हुए कहा कि गीतिकाव्य की आधारभूमि ऐसे कार्य का विस्तार कदापि नहीं जिसमें बाह्य संसार अपने समस्त ऐश्वर्य के साथ झलकता हो, प्रत्युत उसमें एक ही अवस्था में पड़ी हुई कवि की आत्मा व्यक्तिगत रूप में ही प्रतिबिम्बित होती है। उसका एकमात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक ढंग द्वारा आन्तरिक जीवन के रहस्यों, उसकी आशाओं, उसके तरंगायित-आह्लाद, उसकी वेदना एवं उसके प्रलाप या उन्माद को उद्घाटित करना होता है।[१]

'सौन्दर्य शास्त्र' के रचयिता 'जाफ्राय' और 'हेगेल' दोनों ही ने गीतिकाव्य की जो परिभाषाएँ बनाई उनमें अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। एक ने गीतिकाव्य और काव्य को पर्यायवाची कह कर यह संकेत किया कि काव्य यदि सचमुच काव्य है, तो उसका संगीतमय होना अभिन्न अंग है और आत्मनिष्ठता उसका विशिष्ट गुण। दूसरे ने इसी धारणा को और भी स्पष्ट करते हुए, मानवात्मा को ही गीतिकाव्य का प्रेरणा क्षेत्र बताते हुए, अन्तरतम के नाना मनोवेगों की बाह्य अभिव्यंजना को गीतिकाव्य का पर्याय दिया। वस्तुतः 'हेगल' की परिभाषा बड़ी गम्भीर एवं पूर्ण है। इससे हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उससे गीतिकाव्य वह स्वानुभूतिनिरूपिणी कविता कही जाती है जिसमें मानवात्मा प्रकाशित होती है और मानव स्वयं कला का विषय बन जाता है। इस आत्मप्रकाशन में एक ओर परिस्थितिजन्य भावों का ऐक्य

---

what lives and breathes in the verse so that the divisions pedantic criticism are of no real avail to us in its consideration."

—Encyclopedia Brittanica, vol. XVII – Page 181.

१. Hegel, who has gone minutely into this question in his "aesthetics" contends that when poetry is objective it is epical and when it is subjective it is lyrical....it is as he insists the personal thought or passion or inspiration which gives its character to lyrical poetry. The lyric has the function of revealing, in terms of pure art the secrets of inner life, its hopes, its fantastic joys, its sorrows, its delirium.

—Encyclopedia Brittanica, vol. XVII—page 181.

और दूसरी ओर उन भावों के प्रति कवि की हार्दिकता (Sincerity) एवं तत्वरूपी होना परमावश्यक हो जाता है। अस्तु हेगल की धारणानुसार गीतिकाव्य, काव्यात्मक एवं व्यक्तिगत शैली में जीवन के अन्तरिक संघर्ष-उसकी आशा, निराशा, हर्ष, शोक, तथा सुख-दुःखमयी अनुभूतियों की बाह्य अभिव्यंजना है।

अब हम इन सौन्दर्य तत्ववेत्ताओं को छोड़ अंग्रेजी के अर्वाचीन आलोचकों के विचारों पर प्रकाश डालते हैं। यों तो आधुनिक काल तक पहुँचते-पहुँचते अनेक विद्वानों ने काव्य विवेचना की किन्तु उनमें से हम कुछ ही विद्वानों के मतों को लेंगे। इनमें अर्नेस्ट रिस (Ernest Rhys), जॉन-ड्रिंकवाटर (John Drinkwater) प्रो०गमर (Prof. Gummere) और हड्सन (Hudson) जैसे प्रमुख आलोचकों ने गीतिकाव्य की पर्याप्त विवेचना की है। आगे चलकर पुनः जिन आलोचकों ने गीतिकाव्य की परिभाषाएँ बनाईं, वे उक्त विद्वानों के ही विचारों पर आधारित हुईं। हिन्दी में भी गीतिकाव्य की परिभाषा करने वाले अनेक आलोचकों ने अपनी विवेचना का आधार पश्चिम के इन्हीं विद्वानों को बनाया। हम भी उन्हीं का आधार ले, गीतिकाव्य की परिभाषा करेंगे।

'अर्नेस्ट रिस' के अनुसार गीतिकाव्य उन शब्दों में एक संगीतमय अभिव्यक्ति है जिन पर प्रभविष्णु भाव का अनुशासन रहता है और जो शक्तिशाली संवादी लय के द्वारा सर्व उन्मुक्त रहते हैं।[१]

प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार गीतिकाव्य वह संगीतात्मक अभिव्यंजना है जिसकी मूल प्रेरणा कवि को अन्तस्तल से मिलती है जो मनोवेगों का उद्गम स्थल है। गीतिकाव्य के निर्माण में ये आवेग, सामान्य होकर गीतरूप में अभिव्यंजित होने में असफल ही रहते हैं। इसलिये उनका तीव्र होना परमाश्यक है। अतः आलोचक ने "प्रभविष्णु" (Overmastering) शब्द के प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि गीतिकाव्य के सृजन के लिये ऐसे आवेगों (Emotions) की आवश्यकता है जो क्षणिक हों, किन्तु उदात्त एवं प्रभावशाली भी अवश्य हों। अन्तःस्थल में इन मनोवेगों का संचरण

---

१. Lyrical, it may be said, implies a from of musical utterence in words governed by overmastering emotion and set free by a powerfully concordant rhythm.

—Lyric Poetry—by Ernest Rhys, Foreword, Page 6.

तभी होता है जब कवि वस्तु विशेष से गहरे रूप में प्रभावित होता है। जब ये ही मनोवेग उदार रूप धारण कर लेते हैं। तब अनायास वे ऐसी संगीतात्मक शब्दावली में बाहर निकल पड़ते हैं जो अपने में लयपूर्ण संगीतात्मकता को अपनाए रहते हैं। अस्तु गीतिकाव्य में लय का भी अपूर्व स्थान निर्धारित किया जाता है। प्रत्येक शब्द का अपना स्वतन्त्र लय होता है। इसका पूर्ण ज्ञान कर कवि अपनी अभिव्यंजना को संगीतात्मक स्वरूप प्रदान करता है। इस प्रकार अर्नेस्ट रिस के अनुसार गीतिकाव्य उत्तेजनापूर्ण मनोविकारों की सङ्गीतात्मक रूप में बाह्य अभिव्यंजना है। अस्तु सङ्गीत और मनोवेगों की अभिव्यंजना उसके प्रमुख तत्व निर्धारित किये जाते हैं।

'जॉन ड्रिंकवाटर' के मतानुसार गीतिकाव्य शुद्ध काव्यात्मक शक्ति द्वारा उद्भूत ऐसी अभिव्यंजना है जिसमें अन्य कोई भी शक्ति सहकारी नहीं होती, एवं गीतिकाव्य और काव्य पर्यायवाची शब्द हैं।[1]

ड्रिंकवाटर ने गीतिकाव्य को कविता का पर्यायवाची शब्द कह कर उसकी समस्त विशेषताओं को एक ही पंक्ति में यों निहित कर दिया कि गीतिकाव्य ही सच्ची कविता है, अथवा कविता का स्वरूप ही गीतिकाव्यात्मक होता है। उन्होंने कविता की जो परिभाषा अपनाई वह कवि कोलेरिज (Coleridge) की बनाई हुई परिभाषा है जहाँ उसने कहा है "कविता श्रेष्ठतम शब्दों का श्रेष्ठतम क्रम है[2]।" इसी परिभाषा को ड्रिंकवाटर ने गीतिकाव्य के लिये भी सर्वोपरि कहा। यही कारण है कि उन्होंने गीतिकाव्य का अपना एक विशिष्ट एवं स्वतन्त्र लक्षण निर्धारित किया, जिसमें अन्य किसी भी शक्ति का अन्तर्भाव वर्ज्य माना। शक्ति से उनका आशय है नीति अथवा आचार से जिसका समावेश एक महाकाव्य में आवश्यक समझा जाता है। गीतिकाव्य में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं। क्योंकि इनका (नीति) सम्बन्ध बुद्धि से अधिक है भावना से नहीं। इसीलिये गीतिकाव्य में उन्हें कोई स्थान इन्होंने नहीं

---

१. But since it is most commonly found by itself in short poems which we call lyric, we may say that the characteristic of the lyric is that it is the product of pure poetic energy unassociated with other energises and that lyric and poetry are synonymous terms. —The Lyric–Johh Drink water, Page 64.

२. "Poetry–the best words in the best order"
—S. T. Coleridge "Table Talk", July 12, 1927

दिया। उसमें तो कवि के जीवन के तीव्रतम भावपूर्ण क्षणों की अभिव्यंजना होती है जिसमें उसकी उच्चतम अनुभूति सर्वोतम माध्यम से सर्वोत्तम रूप में अभिव्यंजित होती है। केवल माध्यम की उत्कृष्टता ही उसमें अपेक्षित नहीं, प्रत्युत जब वे सर्वोत्तम शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका यह भी आशय होता है कि गीतिकाव्य में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग होता है जो उसकी श्रेष्ठतम अनुभूति के सच्चे प्रतिपादक होते हैं।[१] और श्रेष्ठतम क्रम से उनका यही आशय है कि गीतिकाव्य में वह अनुभूति ऐसे छन्दोबद्ध रूप में सँजोयी जाय जिसका अन्वय करने पर समस्त सौन्दर्य बिखर जाय। अर्थात् गीतिकाव्य में कवि की भावना जिस शैली में होकर अभिव्यंजित होती है उसको किसी अन्य रूप में कदापि ढाला नहीं जा सकता। छन्दों की सहकारिता को उन्होंने गीतिकाव्य में इसीलिये आवश्यक माना कि भावों की तीव्रता एवं अनुभूति की पूर्णता उसके संक्षिप्त घेरे में छन्दोबद्ध रूप में होकर ही अपना स्थायित्व बना पाती है।

उक्त विवेचनोपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ड्रिंकवाटर की धारणा में गीतिकाव्य, कवि के अन्तर्जगत् में उद्वेलित होते हुए ऐसे प्रभावात्मक, क्षणिक किन्तु पूर्ण भावों की, श्रेष्ठतम शब्दों के माध्यम द्वारा, श्रेष्ठतम क्रम में सँजोयी हुई, एक ऐसी अभिव्यंजना है जिसमें छन्दों अथवा शब्दों के हल्के से परिवर्तन से सौन्दर्य में कमी आ जाती है।

'प्रो० गमर' ने गीतिकाव्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि वह अन्तर्वृत्तिनिरूपिणी कविता है जो वैयक्तिक अनुभूति से आगे बढ़ती है, घटनाओं से जिसका सम्बन्ध नहीं, प्रत्युत भावनाओं से ही जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वह परिष्कृत अवस्था को प्राप्त हुए समाज का काव्यरूप है। विकासशील मानव की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है, जहाँ इच्छा, आकांक्षा, भय आदि मनोभाव उत्पन्न होते रहते हैं। इन्हीं भावनाओं को अभिव्यक्त करना गीतिकाव्य का एकमात्र उद्देश्य होता है।[२]

उपर्युक्त परिभाषा वैयक्तिक भावनाओं को ही गीतिकाव्य की एक मात्र कसौटी मानती है। यही कारण है कि गमर साहब के मतानुसार ज्यों-ज्यों समाज व्यक्तिवादी होता जाता है कविता गीतात्मक होती जाती है। आधुनिक युग में आकर वैयक्तिकता के इस उत्थान ने गीतिकाव्य की जो बहुलता

---

१. The lyric—John Drink water, Page 13.
२. "Hand Book of Poetics"—by F.B. Gummere, chapt. II page 40.

ला दी उससे महाकाव्य की रचना को आघात पहुँचा। आशय यह कि उनकी दृष्टि में गीतिकाव्य वही है जो वैयक्तिकता को कसकर पकड़े हुए है। उसमें कवि का अपना व्यक्तित्व झलकता है, उसका अपना हर्ष, शोक, प्रेम, उल्लास अभिव्यंजित होता है।

'हडसन' ने गीतिकाव्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि वैयक्तिकता की छाप गीतिकाव्य की अन्यतम कसौटी है, किन्तु वह व्यक्तिवैचित्र्य में सीमित न होकर व्यापक मानव भावनाओं तक विस्तृत है, जिससे प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यंजित अनुभूतियों एवं भावनाओं के साथ हाथ बटाने लगता है।[१]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार गीतिकाव्य मनोवेगों की अभिव्यक्ति है, किन्तु 'हडसन' ने आगे चल कर यह स्पष्ट कर दिया है कि उसमें ऐसे ही मनोवेगों को स्थान मिलता है जो अपने में पूर्ण एवं विशिष्ट होते हैं। दूसरे, उनके अभिव्यंजन की शैली इतनी स्वतःप्रवृत्त होती हैं कि उससे कवि की अपनी भावनाओं के प्रति हार्दिकता का अनुमान सहज ही लग जाता है। साथ ही भावनाओं एवं उसकी अभिव्यंजना में वह सुरस्वरता होती है जो प्रत्येक कला के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करती है। यह सुस्वरता भावों की एकता द्वारा ही अपने में तीव्रता ला पाती है। अस्तु गीतिकाव्य में भावों का ऐक्य, हार्दिकता, एवं अभिव्यंजना का वैशिष्ट्य ये तीन तत्व अत्यधिक आवश्यक हो जाते हैं।

इन विद्वानों के अतिरिक्त 'गोल्डन ट्रेजेरी' के संकलनकर्ता 'एफ० टी० पाल्ग्रेव' ने गीतिकाव्य की जो परिभाषा की है वह भी उल्लेखनीय है। इन्होंने उसी कविता को गीतिकाव्य माना जिसमें एक ही विचार, एक ही भाव या एक ही अवस्था का चित्रण किया गया।[२] कहने का तात्पर्य यह है कि गीतिकाव्य मानव हृदय की एक ऐसी अभियव्क्ति है जो मनोवेगों से रंजित होती है और भाव, विचार तथा अवस्था की अखण्ड एकता उसकी सबसे बड़ी विशेषता होती है। यही अन्विति उसे अन्य काव्यस्वरूपों से भिन्न करती है।

---

१. An Introduction to the study of Literature.
—by W. H. Hudson. Page 127 chapt. 3.

२. "Lyrical has been here held essentially to imply that each poem shall turn on some single thought feeling and situation."
—Golden Treasury. by F. T. Palgrave Preface. Page. IX.

वस्तुतः गीतिकाव्य का यह तत्व अनोखा है; इसके बिना उसमें प्रभावात्मकता आना असंभव है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि गीतिकाव्य कवि के अन्तर्जगत की वह स्वतःप्रेरित, तीव्रतम, भावात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें विशिष्ट पदावली का सौन्दर्य, अनुभूति के ऐक्य, एवं संगीतात्मकता के योग से द्विगुणित होता है।

मानव की अन्तर्वृत्ति हृदय और बुद्धि जैसे भाव एवं विचार-प्रधान अवयवों द्वारा निर्मित हुई है। हृदय अनुभूतिमूलक है और बुद्धि विचार प्रधान। बाह्य दृश्यमान जगत में होने वाले अन्यान्य संघर्षों से प्रभावित हो जब उसके हृदय में अनेकानेक मनोवेगों का आन्दोलन होता है तब उस द्वन्द्व को शान्त कर, किसी एक निश्चित परिणाम पर पहुँचाने का कार्य मस्तिष्क करता है। उसकी संवेदनशीलता में सदसद विवेक द्वारा औचित्य आ जाता है। आशय यह कि हृदय की भाव-प्रधानता और बुद्धि की तर्कशीतला से मानव अन्तर्जगत निर्मित हुआ है। किन्तु जब कवि अन्त-र्मुख होने पर भावप्रधान होता है, जब कोई एक विशेष मनोवेग तीव्रतम हो उसे आवेशपूर्ण बना देते हैं, तब उसकी अन्तर्प्रेरणा का बाह्य अभिव्यंजित स्वरूप गीतात्मक हो जाता है। उसका हृदयावेग गीतों के रूप में फूट पड़ता है, जहाँ बुद्धि की विचारात्मकता भावों के साथ एकरूप हो जाती है। अस्तु हम उसकी परिभाषा यों कर सकते हैं कि वह अन्तर्जगत की सर्वोत्तम शब्दों में ऐसी स्वतःप्रवृत्त भावात्मक अभिव्यंजना है जिसमें अनुभूति का ऐक्य संगीत की सहकारिता में प्रभावान्विति को सुरक्षित बनाए रखता है। उसकी विशेष-ताएँ क्रमशः हो जाती हैं—आत्माभिव्यंजना, संगीतात्मकता, अनुभूति की पूर्णता, और भावों का ऐक्य।

(१) आत्माभिव्यंजना

काव्य यदि सम्पूर्ण जीवन के अन्तर्बाह्य का प्रतिबिम्ब कहा जाय तो गीति-काव्य केवल अन्तरतम का ही प्रतिबिम्ब कहा जायगा। क्योंकि जहाँ अन्य काव्यरूपों में जीवन के बाह्य क्रियाकलापों को ज्यों का त्यों रूप दिया जाता है और अन्य पात्रों के माध्यम से कवि अपनी भीतरी भावनाओं को परोक्ष रूप में प्रतिबिम्बित करता है, वहाँ पर गीतिकाव्य केवल कवि के आन्तरिक संसार का अपरोक्ष रूप में बाह्य अभिव्यंजन है। उसमें केवल कवि के अन्त-रतम की भावना साकार रूप ग्रहण करती है। उसी का व्यक्तित्व उसमें

झलकता है। यह व्यक्तित्व अपनी विशेषता इसी भाव में लिये हुए रहता है कि कवि की अपनी निजी भावनाएँ उसमें स्थान पाती हैं—इसलिये नहीं कि उसमें किया गया आत्मप्रकाशन अनोखा होता है। अथवा उसका स्वरूप आत्मकहानी जैसा होता है। कवि की आत्माभिव्यंजना गीतिकाव्य में जिस वैयक्तिकता के तत्व का निधान करती है उससे केवल यही तात्पर्य नहीं कि वह स्वानुभूति को शाब्दिक रूप भर प्रदान कर देता है और वह अनुभूति केवल उसी तक सीमित होती है। प्रस्तुत आत्माभिव्यंजना सच्चे अर्थों में उसी को कहते हैं जहाँ कवि की आत्मा अखिल विश्व की आत्मा के साथ तदाकार हो अपना प्रकाशन करे। ऐसी आत्माभिव्यंजना का स्वरूप व्यक्तिगत होते हुए भी सार्वजनीनता को अपनाए हुए रहता है। आशय यह कि गीतिकाव्य में गीतिकार की निजी अनुभूति की व्यक्तिगत रूप में अभिव्यंजना तो होती है, किन्तु उसके स्वरूप की सार्वभौमिकता पाठक में तदनुरूप अनुभूति जाग्रत कर देती है। इसी तदाकार-परिणति की शक्ति में गीतिकार की विशिष्टता स्वीकृत हुई है।

(क) सामूहिक भावना में आत्माभिव्यंजना का अभाव

जब गीतिकाव्य आत्माभिव्यंजक कहा जाता है तब उसका स्फुरण स्रोत कवि का ही हृदयस्थल होता है। उसकी प्रेरणा का स्वरूप सदा वैयक्तिक ही होता है। इस वैयक्तिकता की अवहेलना कर सामूहिक भावनाओं को महत्व देकर वह गीतिकाव्य का सृजन नहीं कर सकता। क्योंकि आत्माभिव्यंजना सदा व्यक्तिगत होती है। किन्तु आदिकाल में गीतिकाव्यात्मक उद्रेक सामूहिक भावनाओं को लेकर ही हुआ, चाहे वह पूर्व हो अथवा पश्चिम। आदिकालीन कवियों ने अपने को सामूहिक रूप में ही अभिव्यंजित करने का प्रयास किया। वहाँ आत्माभिव्यंजना को स्थान न मिला, क्योंकि मानव के सभी मनोविकार आदिकाल में सामूहिक रूप में ही व्यंजित किये जाते थे। किन्तु ज्यों-ज्यों मानव सभ्य होता गया त्यों-त्यों उसकी सभ्यता में परिवर्तन आते गए और समूह से विच्छिन्न हो वह एकान्तिक बनता गया। उसकी इस एकान्तिक प्रवृत्ति ने काव्य में उसी के व्यक्तित्व को अधिक झलकने का अवसर दिया। उसकी प्रेरणा का मूल स्रोत उसी का अन्तःप्रदेश बन गया और अपने ही हर्ष, शोक की अभिव्यक्ति उसका एक मात्र ध्येय।

(ख) आत्माभिव्यंजना के भिन्न स्वरूप

प्रत्येक मनुष्य में मनोवेगों की स्थिति स्वाभाविक होती है, किन्तु व्यक्ति

विशेष में अपनी भिन्न-भिन्न तीव्रता होती है और यही तीव्रता की मात्रा एक के व्यक्तित्व को दूसरे से भिन्न करती है। यही कारण है कि गीतिकाव्य में आत्माभिव्यंजना के कारण भिन्न-भिन्न कवियों के व्यक्तित्व की छाप इतनी भिन्न-भिन्न होती है कि पढ़ते ही हम कवि को पहिचान लेते हैं। यही स्वानुभूति अथवा आत्माभिव्यंजना के वैशिष्ठ्य ने गीतिकाव्य को काव्यरूपों में एक स्वतन्त्र स्थान दे दिया है। महाकाव्य और नाटक में इस आत्माभिव्यंजना को स्थान इसलिये नहीं मिलता कि वे अनुकृत होते हैं। किसी पात्र-विशेष में भले ही कवि का व्यक्तित्व परोक्ष रूप में झलकता हो, किन्तु इस रूप में सच्ची आत्मनिष्ठता कदापि नहीं आ पाती। क्योंकि आत्माभिव्यंजना का अर्थ यही होता है कि काव्य में कवि की आत्मानुभूति उसी प्रकार अपरोक्ष रूप में झलके जिस प्रकार शान्त जल में प्रतिबिम्बित होता हुआ नक्षत्रों से पूर्ण आकाश, अथवा मणियों की निर्मल आभा के बीचोबीच झलकता हुआ उन्हें परस्पर मिलनेवाला सूत्र। गीतों की लड़ियों के बीच कवि की आत्मानुभूति का सूत्र आद्यान्त पिरोया हुआ रहता है। यहाँ अपरोक्ष रूप में कवि के मनोवेग अभिव्यंजित होकर उसके व्यक्तित्व का प्रक्षेप करते हैं। बाह्यार्थ-निरूपक काव्य में जैसा कि शुक्ल जी कहते हैं 'कवि अपने से बाहर की जिन वस्तुओं का वर्णन करता है उन्हें भी वह जिस रूप में आप अनुभव करता है उसी में रखता है। अतः वे भी उसकी स्वानुभूति हुई।'[१] किन्तु गीतिकाव्य में एक बात जो विचारणीय हो जाती है वह है आत्माभिव्यंजना की शैली। यहाँ कवि अपनी भावनाओं को अपनी कह कर प्रत्यक्ष रूप में रखता है। उन पर आवरण डालने का प्रयास वह कदापि नहीं करता। वह तो निःसंकोच अपने हृदय को खोलकर पाठक के समक्ष रख देता है। उदाहरणार्थ महादेवी जी का यह गीत उनके प्रेम पूर्ण हृदय का कितना स्पष्ट परिचायक है :—

पंथ होने दो अपरिचित,
प्राण रहने दो अकेला।
और होंगे चरण हारे,
अन्य हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे।

---

१ तुलसी की काव्य-पद्धति, पृ० ८९. 'गोस्वामी तुलसीदास।'—रामचन्द्र-शुक्ल।

दुखव्रती निर्माण उन्मद,
यह अमरता नापते पद।
बाँध देंगे अंक संसृति से तिमिर में स्वर्णवेला।

—'दीपशिखा' २।

अथवा प्रसाद जी की इन पंक्तियों में :—

इस करुणा कलित हृदय में,
अब विकल रागिनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में,
वेदना असीम गरजती?

— आँसू पृ० ७।

कितने स्पष्ट स्वरों में उनका व्यथित हृदय खुल पड़ा है। दोनों ही ने अपने हृदय को खोलकर रखने में अपनी अन्तर्व्यथा को बाहर प्रकट करने के लिये अन्य किसी भी माध्यम को नहीं अपनाया है। अर्थात् गीतिकाव्य में अपनी वस्तु अथवा अपनी भावना अपनी ही कह कर प्रस्तुत की जाती है, जिससे हमारी भावना कवि की भावनाओं का सीधे स्पर्श कर लेती है। किन्तु जब वही कवि 'कामायनी' में गा उठता है :—

तुमुल कोलाहल कलह में,
मैं हृदय की बात रे मन।
विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल।
चेतना थक सी रही तब,
मैं मलय मधुवात रे मन।[1]

तब हमें यहाँ कवि का व्यक्तित्व परोक्ष रूप में झलकता दिखाई पड़ता है। हम श्रद्धा—महाकाव्य की नायिका—के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। गीतिकाव्य पूर्व कथित 'आँसू' की पंक्तियाँ हैं और इसमें भी गीतिकाव्यात्मकता का अभाव नहीं, किन्तु यहाँ आत्माभिव्यंजना पात्रों के माध्यम से की गई है। आत्माभिव्यक्ति यहाँ भी है, किन्तु परोक्ष रूप में कवि के व्यक्तित्व का प्रक्षेप यहाँ पाया जाता है।

(ग) आत्माभिव्यंजना में विलक्षणता का निषेध

आत्माभिव्यंजना में दूसरी बात जो विचारणीय हो जाती है वह आत्मा-

---

१. 'निर्वेद' पृ० २०४ 'कामायनी' जयशंकर प्रसाद।

नुभूति का वैशिष्ट्य न कि वैलक्षण्य। गीतिकाव्य में आत्माभिव्यंजना केवल उसके ही निजी व्यक्तित्व को बाहर प्रकट करती है; इसका यह अर्थ नहीं कि वह अनुभूति केवल उसी तक सीमित होती है अथवा वह किसी भी प्रकार निराली होती है, अन्य व्यक्ति उसका अनुभव नहीं कर सकता। क्योंकि ऐसा होने पर तो गीतिकाव्य, काव्य न रह कर कुछ साधारण सी वस्तु हो जायगा। इसी ओर लक्ष्य करते हुए शुक्लजी ने कहा है—"दूसरी ओर जिसे वह स्वानुभूति कह कर प्रकट करता है और वह यदि संसार में किसी की अनुभूति से मेल नहीं खायगी तो एक कौतुक मात्र होगी काव्य नहीं। ऐसा काव्य और उसका कवि दोनों तमाशा देखने की चीज़ ठहरेंगे"।[1]

अस्तु गीतिकाव्य में अनुभूतियों के व्यक्तिगत होने का आशय यही है कि परिस्थिति विशेष में किसी विशेष मानसिक द्वन्द्व के फलस्वरूप मनोवेगों का तीव्रतम अनुभव उसे हुआ। ये मनोवेग सर्वसाधारण में वर्तमान होते हैं किन्तु परिस्थिति के भिन्न होने पर उनके स्वरूप में भेद पड़ जाता है। कवि की आत्मा बिना उन्हें अभिव्यंजित किये नहीं रह पाती। उसकी संवेदनशीलता उसे व्यष्टि से समष्टि के स्तर पर ले जाती है, जिससे उसकी अनुभूति व्यक्तिगत होते हुए भी समष्टिगत महत्व को बनाए रखती है। यही कारण है कि कवि की आत्माभिव्यंजना मर्मस्पर्शिणी होती है, जिससे उसमें लोक-सामान्यता आ जाती है।

गीतिकाव्यकार महादेवी जी ने भी आत्माभिव्यंजना के तत्व को परमावश्यक समझ कर ही कहा है 'गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं।'[2]

(घ) मनोवेगों की हार्दिकता

किन्तु इस आत्माभिव्यंजना में दुःखात्मक अथवा सुखात्मक मनोवेगों का आत्मानुभूत होना भी परमावश्यक हो जाता है। तभी उसमें दूसरे के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता आती है। अर्थात् कवि की संवेदनशीलता सच्ची आत्माभिव्यंजना में सहकारी बनती है। कवि बाह्य जगत् की किसी वस्तु से उद्वेगपूर्ण तो होता है, किन्तु जब उसके उद्विग्न हृदय में जाग्रत हुए मनोवेग अपनी घनीभूत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब केवल कवि

१. तुलसी की काव्य-पद्धति, पृ० ८६, गोस्वामी तुलसीदास, रामचन्द्रशुक्ल।
२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० १४१, गंगाप्रसाद पाण्डेय।

और उसके मनोवेग शेष रह जाते हैं और उसके गान में केवल उसी की आत्माभिव्यंजना प्रधान हो जाती है। उसकी आशा, उसकी निराशा, उसका हर्ष, उसका शोक, उसी का उल्लास और उसी की वेदना मुखरित हो उठती है और सच्ची आत्मनिष्ठता एवं कवि की संवेदनशीलता से पाठक उसी के मनोभावों में अवगाहन करने लगता है।

आत्माभिव्यंजना ही गीतिकाव्य में मनोवेगों को खुल कर प्रकट होने का अवसर प्रदान करती है और कवि का व्यक्तित्व सतह पर आ जाता है। इस प्रकार गीतिकाव्य में कवि का 'अहं' वह माध्यम बन जाता है जिससे वह संसार को देखता है। फलस्वरूप गीतिकाव्य को अपनी रचना का केन्द्र-बिन्दु स्वयं अपने आपको—'मैं' को ही बनना पड़ता है। तभी उसकी अभिव्यंजना उसकी अपनी कही जाती है और तभी वह खुलकर अपने रागात्मक मनोवेगों को प्रकट भी कर पाता है।

गीतिकाव्य में आत्माभिव्यंजना का स्वरूप प्रायः दो प्रकार का होता है, एक तो जहाँ कवि वस्तु में अपनी भावना का आरोपण करता है और उन्हीं भावनाओं के सुखात्मक अथवा दुखात्मक स्वरूप के अनुरूप वस्तु को रँगने के पश्चात् काव्य में उसकी व्यंजना करता है। दूसरे प्रकार की आत्माभिव्यंजना में कवि सीधे अपनी भावनाओं—हर्ष, शोक, दुःख, सुख, आशा, निराशा, वेदना, क्षोभ आदि की व्यंजना करता है। एक में हम दृश्य-वस्तु के माध्यम से कवि के भावों को ग्रहण करते हैं और दूसरे में बिना किसी माध्यम से सीधे कवि के अन्तरतम में प्रवेश करते हैं।

''लहर'' के प्रकृति दृश्य कवि की हृदयस्थ भावनाओं से अनुरंजित हैं:—

जहाँ साँझ सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया।
नील नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँति घना रे।

—'लहर' पृ० १०।

प्रकृति को लेकर अपनी भावनाओं का आरोप कवि ने किया है। इसी प्रकार पंत की 'छाया' और 'चाँदनी' में प्रकृति के द्वारा ही कवि ने आत्माभिव्यंजना की है:—

जग के दुख दैन्य शयन पर
यह रुग्णा जीवन बाला,

रे कब से जाग रही वह
आँसू की नीरव माला।
—'चाँदनी', 'गुञ्जन' पृ० ३४।

चाँदनी को रुग्णा बताना, 'आँसू की नीरव माला' से उसकी तुलना करना अपनी भावनानुरूप प्रकृति को देखने का परिणाम है। वस्तुतः गीतिकाव्य में इस प्रकार की आत्माभिव्यंजना छायवाद युग के आरम्भ में अधिकांश रूप में हुई। उत्तरोत्तर आत्मप्रकाशन में संकोच की प्रवृत्ति का बिलकुल ही अभाव होता गया। आज गीतिकाव्य में कवि अपनी अन्तर्व्यथा या उल्लास के भाव व्यक्त करते हुए संकोच नहीं करता।

अस्तु आज गीतिकाव्य में आत्माभिव्यंजना की शैली दूसरी है और महादेवी वर्मा के गीतिकाव्य में आत्माभिव्यंजना इसी शैली में हुई है। 'नीरजा', 'रश्मि', 'सान्ध्यगीत' आदि किसी भी संग्रह को ले लीजिये उसमें आत्माभिव्यंजना उत्तरोत्तर स्पष्ट और निर्मल होती गई है।

मैं नीरभरी दुःख की बदली,
विस्तृत नभ का कोना कोना।
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही।
उमड़ी कल थी मिट आज चली ॥
—'सान्ध्यगीत' पृ० ३३।

आत्माभिव्यंजना जितनी महादेवी जी के गीतों में मिलती है उतनी अन्य कवियों में नहीं। इस गीत में अपना परिचय कितने सुन्दर ढंग से उन्होंने दिया है। उसमें रागात्मक आवेश, मनोवेगों की तीव्रता, अत्यधिक मात्रा में मिलती है। काव्य में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता हुआ दिखाई पड़ता है। इसी में उसकी विशेषता भी निहित है।

(२) संगीतात्मकता

वस्तुतः यह कथन "कविता शब्दमय संगीत है और संगीत ध्वनिमय कविता"[१], काव्य के अन्यान्य स्वरूपों में गीतिकाव्य के लिये सबसे अधिक उपयुक्त है। क्योंकि गीतिकाव्य में बाह्य अभिव्यंजना संगीत का आधार लेकर

---

१. 'Poetry is music in words and music is poetry in sound.'—The New Dictionary of Thoughts—Compiled by T. Edwards and Enlarged and rivised by C. N. Catrevas and J. Edwards. Page 470.

ही प्रकट होती है। गीतिकाव्य जिस प्रकार मानव हृदय की रागात्मिका वृत्ति से जितना अटूट रूप में सम्बन्धित होता है, उसी प्रकार संगीत का उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध मानव भावनाओं से होता है। दोनों ही के मूल में हृदय के मनोवेगों की तीव्रता वर्तमान रहती है। भाव के अभाव में गीतिकाव्य की रचना संभव नहीं और यदि हो भी जाय तो उसमें प्रभावात्मकता कदापि नहीं आ सकती; उसी प्रकार भाव-रहित संगीत में प्राणों का स्पन्दन नहीं आ पाता। अस्तु भाव, क्या संगीत और क्या काव्य दोनों का प्राण है। जब हृदय की रागात्मिका वृत्ति से अनुप्राणित होने वाले काव्य और संगीत परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं, अर्थात् जब भाव अति संगीतात्मक रूप से शब्दों के माध्यम द्वारा फूट पड़ते हैं, तब गीतिकाव्य का जन्म हो जाता है। जिस भाँति अंग्रेजी के 'लिरिक' में 'लायर' नामक वाद्य-यन्त्र की अवस्थिति है उसी भाँति गीतिकाव्य में 'गीति' शब्द गेयता का द्योतन करता है। जैसे पश्चिम में गीतिकाव्य का आदि स्वरूप संगीत के आधार पर निर्मित किया गया, उसी भाँति हमारे यहाँ भी गीतिकाव्य का आदिम स्वरूप संगीतमय ही था।

पाश्चात्य विद्वानों ने तो काव्योत्पत्ति के मूल में 'लय' (Rhythm) को ही बताया है और इसी लय से अन्यान्य स्वरूपों के उद्भव की क्रमशः कल्पना भी की है। अतः पाश्चात्य संगीत की विशिष्टता इसी लय या नाद में मानी जाती है। संगीत और काव्य का समन्वय क्या पश्चिम और क्या पूर्व दोनों में ही हुआ है। संगीत का आधार लय अथवा नाद-समता है। भारतीय दर्शन सृष्टि के मूल में नाद की अवस्थिति बताते हुए उसे 'ब्रह्म' कहता है। शिव के तांडव नृत्य की कल्पना द्वारा इसी ओर संकेत किया गया है कि सृष्टि के मूल में जो नाद वर्तमान है वह शिव के डमरू से उत्पन्न हुआ है और वे ही संगीत के आदि ज्ञाता एवं स्रष्टा हैं। "प्रथम नाद तब वेद" जैसी उक्ति संगीत के वैशिष्ट्य एवं आदि स्वरूप की ओर ही संकेत करती है। कहने का तात्पर्य यह कि संगीत हमारे यहाँ सर्वोत्तम कला के रूप में गृहीत हुआ और आगे चल कर तो उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना भी की गई। धीरे-धीरे यही संगीत काव्यात्मक उद्रेक में प्रमुख बनने लगा और एक समय ऐसा आ गया जब काव्य और संगीत का पूर्णतम समन्वय हो गया। आदिकालीन गीतों में संगीत का आग्रह इसलिये अधिक था कि मानव अपनी समस्त भावनाएँ संगीत में ही व्यक्त करते थे। संगीत उनकी बाह्य अभिव्यक्ति का अभिन्न तत्व था। यह संगीत शास्त्रीय बन्धनों से मुक्त

था, किन्तु जब संगीत-शास्त्र बनाए गए और अन्यान्य राग-रागिनियों की कल्पना की गई और जब कवियों ने उन्हीं राग-रागिनियों के आधार पर अपने भावों की व्यंजना की तब उनका काव्य संगीतमयता में परिष्कृत तो हो गया, किन्तु उसमें वह सहजप्रवृत्ति न आ पाई जो आदिकालीन अनगढ़ गीतों में वर्तमान थी। 'भक्ति-काल' के पदों में संगीत की शास्त्रीय राग-रागिनियों को लेकर गीतिकाव्य का निर्माण हुआ। पदों के पश्चात् गीतिकाव्य में संगीत के तत्व को लेकर 'छायावाद युग' में परिवर्तन आ गया। इस युग में संगीत को लेकर गीतिकाव्य न चला, प्रत्युत संगीतात्मकता को लेकर वह चला जो शब्दों के स्वतः माधुर्य एवं नाद पर आधारित थी।

अस्तु गीतिकाव्य संगीत और संगीतात्मकता दोनों को लेकर चला। आज भी गीतों (Songs) में, जो गीतिकाव्य का एक प्रकार है, केवल संगीतात्मकता की आवश्यकता नहीं समझी जाती प्रत्युत उनका संगीतमय होना आवश्यक होता है। अर्थात् वाद्य यन्त्रों या बिना उनके उसका भाव समझने के लिये उनका गेय होना आवश्यक होता है। कारण यह कि उनकी रचना गाने के लिये ही होती है। गीतिकाव्य के उस रूप को छोड़ कर सामान्यतः गीतिकाव्य में संगीतात्मकता का ही अधिक आग्रह अपेक्षित होता है। अपेक्षित ही नहीं बल्कि गीतिकाव्य में भावों के उद्रेक का गीतात्मक होना अनिवार्य होता है। उत्कट भावों अथवा मनोवेगों की तीव्रता अपनी चरमावस्था को पहुँच गीतात्मक हो जाती है। यही कारण है कि जिस कवि में मनोवेगों की जितनी अधिक तीव्रता होगी उसका गीतिकाव्य उतना ही संगीतात्मक होगा। भावों की तीव्रता के अतिरिक्त इस संगीतात्मकता के लिये कवि में रागात्मक आवेश होना भी परमावश्यक हो जाता है। वस्तुतः गीतिकाव्य के सृजन में ये दोनों ही तत्व सहायक होते हैं। इनके अभाव में गीतिकाव्य का निर्माण असंभव है।

(क) छन्द

संगीत अथवा संगीतात्मकता का आधार छन्द होते हैं। यद्यपि शब्दों का अपना स्वतः नाद होता है किन्तु छन्दों में ढलकर शब्दों का स्वर अथवा नाद एक निश्चित रूप में बँट जाता है, जिससे कविता में संगीत का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। छन्दों में समता और एकता होती है जिससे कवि अपनी विभिन्न भावनाओं को इसी एकत्व लाने वाले छन्दों में ढालता है। उनका संकलित प्रभाव संगीतात्मक रूप में पाठक पर पड़ता है। गीतिकाव्य में कवि के अन्तरतम की उत्तेजित भावनाओं का समावेश स्वरात्मक

भाषा में ही होता है। छन्द में संगीत होता है जो हमारी सूक्ष्म भावनाओं का स्पर्श कर शब्दों में भावानुरूप उत्तेजना भरता है।

छन्द भावनाओं के उन्मुक्त प्रवाह में भले ही बाधक बताए जाते हों, किन्तु गीतिकाव्य में उनकी स्थिति उसी शिलाखण्ड के समान हो सकती है जो प्रपात के आगे पड़कर उसके प्रवाह को क्षण भर के लिये अवश्य अवरुद्ध कर देता है। किन्तु उन क्षणों के बीतते ही उसके प्रवाह में इतना वेग आ जाता है कि वह अनेक धाराओं में विभक्त हो जाता है। ठीक इसी भाँति गीतिकाव्य में छन्द भावों में तीव्रता ला देते हैं और भावों की तीव्रता के साथ संगीत फूटकर क्षिप्र गति से प्रवाहित होने लगता है। तात्पर्य यह कि छन्द शब्दों के विभिन्न नाद को कलात्मक रूप में संयुक्त कर सुन्दर संगीत की सृष्टि करते हैं, जिससे उसके नाद-सौन्दर्य में संचारकारिता अधिक आ जाती है।

पंत जी ने कविता और छन्द में घनिष्ठ संबंध बताते हुए कहा है कि 'कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द, हृदयकम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखने—जिसके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठते हैं—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर, उन्हें सजीव बना देती है'।[1]

अस्तु निर्विवाद रूप से संगीत की सृष्टि के लिये छन्द की सहकारिता गीतिकाव्य में आवश्यक हो जाती है। साथ ही लय और अंत्यानुप्रास के योग से उसका माधुर्य और भी बढ़ जाता है।

(ख) छन्दोबन्धनहीनता का प्रभाव

किन्तु जब गीतिकाव्य में क्रमशः छन्दों के बन्धन को कवि त्याज्य समझने लगे तब गीतिकाव्य में संगीतात्मकता लाना भी कठिन होता गया। छन्दों के बन्धन को कवि ने तोड़ा अवश्य, किन्तु उनका सर्वथा बहिष्कार कर दिया हो ऐसी बात नहीं। वस्तुतः गीतिकाव्य के छन्दों के कठोर नियन्त्रण को भले ही गीतिकारों ने तोड़ा, पर उनको बिलकुल ही वर्ज्य सिद्ध किया हो ऐसी बात नहीं।

'निराला' जी ने सर्व-प्रथम छन्दों का बन्धन तोड़ा, किन्तु बाद के

---

१. 'पल्लव'—'पंत'—भूमिका पृ० ३०–३१।

गीतों में उनकी सहकारिता न ली हो ऐसी बात भी नहीं। हाँ ये छन्द स्वच्छन्द अथवा मुक्त अवश्य कहलाये। इस स्वच्छन्द छन्द की विशेषता यह है कि वह लय पर ही आश्रित होता है जिसमें भाषा, भावों का समन्वय रहता है। भावों के अनुकूल छन्द की रचना इसमें होती है और संगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं पर आश्रित होता है। इनके अतिरिक्त अंत्यानुप्रासनहीन काव्य (Blank Verse) में जिन गीतों का प्रणयन 'निराला' जी ने किया उसको भी 'कवित्त' छन्द की आधार-भूमि पर ही खड़ा किया। आशय यह कि गीतिकाव्य, चाहे वे मुक्त हों अथवा स्वच्छन्द, वे जब भी लिखे जायेंगे छन्दों में ही, भले ही उनमें कवि अपनी अनोखी विशेषता क्यों न भरे।

(ग) आधुनिक काव्य में संगीतात्मकता का स्थान

आज के गीतिकाव्य संगीत के नियमानुसार निर्मित होकर संगीत की सृष्टि कम करते हैं, संगीतात्मकता का आग्रह उनमें अधिक होता है जो शब्दों के स्वतः नाद एवं संगीत के परिज्ञान द्वारा उत्पन्न होती है। अतः गीति-कार स्वरों का उसमें अधिक प्रयोग करता है। स्वरों में व्यंजनों की अपेक्षा अधिक संगीतात्मकता होती है। दूसरे, कवि शब्दों का भावानुकूल प्रयोग करता है। कौन सा शब्द कहाँ पर किस अर्थ का द्योतन करेगा एवं उसमें किस प्रकार के भाव झलकेंगे इसके सूक्ष्म परिज्ञान की उसे आवश्यकता होती है। यही ज्ञान कवि को शब्द-शक्तियों के प्रयोग में सतर्कता प्रदान करता है। वस्तुतः गीतिकाव्य की संगीतात्मकता को अभिवृद्ध करने वाले होते हैं अलं-कार और उनमें भी शब्दालंकार, जिनमें पदावली पर अधिक ध्यान दिया जाता है। अतः अनुप्रास शब्दावली में कोमलता लाने के सहायक होते हैं। अंग्रेजी में शब्द-ध्वनि योजना द्वारा जो ध्वनि के चित्रण का प्रयास गीति-काव्य में किया जाता है उसमें भाषा और भाव का सुन्दर समन्वय कर कवि श्रव्य मूर्त विधान करता है। ध्वनि योजना द्वारा गीतिकाव्य की संगीतात्म-कता अनोखी हो जाती है और हृदय गीत के साथ झंकृत हो उठता है। पंत जी के 'परिवर्त्तन', 'ज्योत्सना' के गीतों तथा अन्यत्र अनेक स्थानों में इसी का सौन्दर्य दर्शनीय है। कवि ने कोमलकान्त-पदावली को चुन इस प्रकार सँजोया है कि उसकी अनुप्रासमयी शैली में संगीत एक-एक शब्द से फूटा पड़ता है।

पपीहों की वह पीन पुकार
निर्झरों की भारी झरझर

झींगुरों की झींनी झंकार।

—'पल्लव'—आँसू—पृष्ठ १५-१६।

अथवा 'ज्योत्सना' में—

जगमग जगमग हम जग का मन
ज्योतित प्रतिपग करते जग मग।

—ज्योत्स्ना—पृष्ठ ४४।

शब्दों की ध्वनि द्वारा अर्थ की व्यंजना की है। यही शब्दों के नाद को परख कर उन्हें अभिप्रेत अर्थ के अनुकूल मधुर रूप में संजोना गीतिकाव्य के संगीत का उत्पादक है। छन्दों के लय अथवा पदों के तुक पर तो कवि ध्यान रखता है किन्तु यह अर्थानुकूल नाद सन्निवेश या ध्वनियोजना ही आधुनिक गीतिकाव्य की संगीतात्मकता की मुख्य विशेषता रह गई है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि गीतिकाव्य में संगीत की कोई भी आवश्यकता नहीं। किन्तु इससे यह आशय भी कदापि नहीं कि गेयता उसका आवश्यक तत्व नहीं, प्रत्युत यह कि गीतिकाव्य जहाँ संगीत के शास्त्रीय विधान ताल, स्वर पर चलता था, आज उसे केवल संगीतात्मकता की आवश्यकता रह गई है। कवि श्रुति मधुर, सुर-संगत शब्दों का प्रयोग इतने कौशल से करता है कि बाह्य संगीत की सहकारिता उसके लिये अनिवार्य नहीं रह गई है।

(घ) लय

ड्रिंकवाटर का कथन है कि गीतिकाव्य के गेय होने का अर्थ इतना ही होता है कि वह लयपूर्ण होता है। यह लय कविता का सहज गुण है। क्योंकि उसमें मनोवेगों की अभिव्यक्ति है जो संगीतमय भाषा में ही बाहर निकलते हैं और मनोवेगों की अभिव्यंजना तो कविता का स्वाभाविक गुण होता ही है। अस्तु संगीतात्मक होना भी उसका सहज गुण हो जाता है। कोई बाहरी प्रयास कवि के लिये अपेक्षित नहीं। कहने का तात्पर्य उनका यही है कि गीतिकाव्य सहज संगीतमय है, उसका संगीत के शास्त्रीय आधार पर निर्माण नहीं होता। ऐसे निर्माण का आग्रह करना उनके सौन्दर्य को घटाना है।[१] उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि संगीत और कविता करने वाले

---

१. It then from the argument about the lyrtc that it Should 'sing' we dismiss the particular meaning of its adaptability to music, what we have left. It cannot be that its peculiarity shall be rhythmic,

संगीतज्ञ और कवि के कार्य भिन्न होते हैं। अस्तु कविता संगीतज्ञ के हाथों पड़कर अपने सौन्दर्य को खो देती है[१]। आशय इसका यही है कि संगीतज्ञ अपनी कला के अनुसार शब्दों को तोड़ता है और इस प्रकार उन्हें सँजोता है जिससे गान में सरलता आ सके। किन्तु कवि का यह कार्य कदापि नहीं। शब्द अपने पूर्ण सौन्दर्य को लिये हुए ज्यों के त्यों उसकी कविता में रखे जाते हैं। यही कारण है कि गीतिकाव्य अब कवि के हृदय की संगीतमय अभिव्यक्ति न होकर संगीतात्मक अभिव्यंजना कहा जाता है। संगीतात्मक होना उसका अविच्छिन्न अंग है।

(३) अनुभूति का वैशिष्ट्य एवं उसकी पूर्णता

'कोलेरिज' ने काव्य को "श्रेष्ठतम शब्दों का श्रेष्ठतम क्रम" कहा और ड्रिंकवाटर ने उसी कथन को अपने गीतिकाव्य की परिभाषा बनाया, जिसकी उपयुक्तता में किसी को सन्देह नहीं। किन्तु इससे ऐसा भ्रम हो सकता है कि वास्तव में क्या कवि की कोई भी अनुभूति जिसका अभिव्यंजन काव्य में प्रमुख होता है, गीतिकाव्य में सुन्दरतम शब्दों के माध्यम द्वारा सुन्दरतम क्रम में रख भर दी जाय तो वह गीतिकाव्य कहलावेगी ? अर्थात् जीवन की किसी सामान्य सी अनुभूति को भी क्या गीतिकाव्य में स्थान मिल सकता है ? किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं। उपर्युक्त कथन से उनका तात्पर्य केवल अभिव्यक्ति की पूर्णता ही से नहीं है, प्रत्युत अनुभूति की विशिष्टता से भी है। कारण यह कि जब तक कवि की अनुभूति पूर्ण नहीं हो जाती तब तक उसकी अभिव्यंजना भी अपूर्ण रहती है और सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्त होने की उनमें क्षमता नहीं आ पाती। अनुभूति और अभिव्यक्ति में जो अन्योन्याश्रय संबंध है वह न केवल गीतिकाव्य में झलकता है अपितु सम्पूर्ण काव्य में उसकी अवस्थिति होती है। चूँकि गीतिकाव्य जीवन के तीव्रतम मनोवेगों की घनीभूत अनुभूति की अभिव्यक्ति है, उसमें दोनों मिलकर एक हो जाती हैं; अनुभूति ही मानों अभिव्यक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है। अभिव्यक्ति की यह पूर्णता अनुभूति की पूर्णता पर निर्भर रहती है।

---

since we have seen that to be this is of the essential nature of all poetry that rhythm is indeed necessary to the expression of the poetic emotion itself—The Lyric, by Drinkwater, page 61.

१. The Lyric—Drink water—Page 60

(क) अनुभूति की तीव्रता

अन्यान्य अनुभूतियों का समूह ही जीवन है। कभी अवसादभरी, तो कभी आह्लाद भरी, कभी उत्तान, तो कभी गम्भीरतम अनुभूतियाँ जीवन को दुःखमय अथवा सुखमय बनाती रहती हैं। मनुष्य अपने को जीवन की अनेकानेक परिस्थितियों से विच्छिन्न कर जीवित नहीं रह सकता। घोर एकान्त में जाकर भी वह अपनी पारिपार्श्विक परिस्थितियों से विलग नहीं हो सकता। उस पर उनका नित्यप्रति प्रभाव पड़ता रहता है जिससे उसके अन्तःप्रदेश में मनोवेगों को जन्म मिलता है। प्रभाव की सुखदता अथवा दुःखदता के अनुरूप ये मनोवेग या तो सुखद होते हैं अथवा दुःखद। इनकी सम अवस्था में मनुष्य उनका अभिव्यंजन तो करता है किन्तु उसमें तीव्रता का अभाव रहता है, जिससे बाह्य अभिव्यंजना में विशिष्टता नहीं आ पाती। जब ये ही मनोवेग परिस्थिति के कारण अत्यन्त तीव्र हो उठते हैं, अर्थात् जब उनका स्वरूप सामान्य से उदात्त हो जाता है तब उसकी बाह्य अभिव्यक्ति का स्वरूप भी प्रभावशाली हो उठता है। कवि की कल्पना जो अमूर्त्त को मूर्त्त, अपरिचित को परिचित बनाने की शक्ति रखती है, साधारण व्यक्ति से कहीं अधिक उत्कृष्ट होती है। कहीं अधिक सृजनशीलता उसमें निहित होती है। अस्तु कभी वह इसी कल्पना के सहारे मनुष्यमात्र के अनुभव को अपना बना कर अर्थात् अपने को तज्जनित परिस्थितियों में डाल कर अनुकूल भावों की अनुभूति करता है, तो कभी अपने जीवन को किसी विशेष क्षण की अनुभूति को कविता में भरता है। उसकी इस अभिव्यंजना का एकमात्र उद्देश्य पाठक में उन्हीं मनोवेगों को तरंगित करना होता है जिनका घनीभूत रूप में अनुभव वह स्वयं कर चुकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गीतिकाव्य कवि के भावलोक अथवा अन्तःप्रदेश में उद्वेलित होते हुए मनोवेगों के तीव्रतम होने के उपरान्त, उनकी घनीभूत अनुभूति के फलस्वरूप बाहर निकली हुई अभिव्यंजना है। इस अनुभूति की सामान्यता गीतिकाव्य के लिये अपेक्षित नहीं, उसका विशिष्ट होना परमावश्यक है। अनुभूति की विशिष्टता मनोवेगों की उत्कृष्टता में होती है। उसी भाँति उनकी पूर्णता मनोवेगों की पूर्णता पर निर्भर रहती है। सामान्य अनुभूति प्रभावशून्य होती है। जैसे किसी ऐन्द्रजालिक की कलाबाजी, जिससे हम आश्चर्यान्वित होते हैं, प्रसन्न होते हैं किन्तु हमारे मनोवेगों पर स्थायी रूप से उसका प्रभाव नहीं पड़ता। मनोवेग उद्वेलित तो होते हैं किन्तु उनमें वह सबलता नहीं आ पाती जो रात्रि के

समय आकाश में चमकते हुए नक्षत्रों और ग्रहों को देखकर उत्पन्न हुए कौतूहल एवं आन्तरिक आह्लाद में होती है। यहाँ पर कवि के मनोवेग अपनी तीव्रता को पहुँच, जो घनीभूत अनुभूति कवि को प्रदान करते हैं, उसकी बाह्य अभिव्यंजना बड़ी सजीव एवं प्रभावोत्पादक होती है। पाठक या श्रोता पर उसका मर्मस्पर्शी प्रभाव पड़ता है। अतः गीतिकाव्य में मानव जीवन की विशिष्टतम अनुभूति, जो उत्कृष्ट मनोवेगों की पूर्णता के साथ ही स्वयं पूर्ण होती है, अभिव्यंजित होती हैं और गीतिकाव्य की परख करने के लिये हम पहले यही देखते हैं कि उसकी आधारभूमि उत्कृष्ट मनोवेगों के रस से सिंचित है अथवा नहीं।

(ख) अनुभूति और बुद्धि-तत्व

दूसरी बात जो इसी अनुभूति के संबंध में विचारणीय हो जाती है वह है उसका बुद्धि-तत्व से संबंध। क्योंकि गीतिकाव्य में हम देखते हैं कि कोई भी विषय किस मानसिक स्तर पर ले जाकर ग्रहण किया गया है। गीतिकाव्य का सम्बन्ध जितना हृदय से है उतना बुद्धि से नहीं। वह कवि की गम्भीर भावात्मक अभिव्यंजना है, किन्तु वह केवल मनोवेगों की ज्यों की त्यों अभिव्यंजना भी नहीं। केवल मनोवेग किसी भी काव्य के लिये उपयुक्त नहीं हो सकते। बुद्धिजनित विचार अथवा तर्क का जब तक नियोजन नहीं तब तक उनमें संवेदनीयता नहीं आ पाती, और न तो मनोवेगों की क्रमबद्धता ही उसमें आ पाती है। वे श्रेष्ठतम क्रम में न तो सँजोए ही जा सकते हैं। मनोवेगों की क्षणिकता बुद्धि द्वारा ही स्थायी होकर प्रभाव डालने में सक्षम हो पाती है। किन्तु गीतिकाव्य अनुभूति-प्रधान होने के कारण विचारात्मकता का भार अपने ऊपर वहन नहीं कर पाता। नीति एवं आचार, दार्शनिकता, उपदेशात्मकता बुद्धिव्यापार के ही परिणाम हैं। हृदय द्वारा कवि अनुभूति-शील तो होता है किन्तु बुद्धि सद्सद् विवेक देती है। मनोवेगों का नियंत्रण इसी के द्वारा होता है और वही हमारी संवेदनशीलता का कारण भी है। किन्तु उसकी आवश्यकता गीतिकाव्य को इतनी अधिक नहीं होती कि वह आधिकारिक रूप से उसमें वर्तमान रहे। ऐसा होने पर तो उसकी कोमलता नष्ट हो जाती है। अतः गीतिकाव्य को बुद्धि प्रधान होने से बचाने के लिये कवि को सदा इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि भावों पर विचारों का प्राधान्य न हो जाय। गीतिकाव्य में बुद्धि की अपेक्षा वहीं तक होती है जहाँ तक उसमें विचारों की सहकारिता स्थान पावे। किन्तु जब मनोवेगों पर बुद्धि का पूरा नियंत्रण होता है और जब मनोवेग सहकारी रूप में चल पड़ते हैं तब

गद्य को जन्म मिलता है और यदि मनोवेगों की अप्रधानता में उसके विचार पद्य रूप में व्यक्त भी होते हैं तो उसमें गद्यात्मकता आ जाती है। साथ ही वह उपदेशात्मक हो जाता है। जैसे कबीर में जहाँ अत्यधिक बौद्धिक आग्रह है, जहाँ दार्शनिकता की बातों का प्रतिपादन अधिक है, वहाँ उनके काव्य में गीतिकाव्य का सौन्दर्य न आ पाया है, वे कोरे मुक्तक ही हो गए हैं, जहाँ रागात्मक आवेश न्यून होता है और बौद्धिकता अधिक। अतः 'बौद्धिकता का गीतिकाव्य में केवल इतना ही स्थान हो सकता है कि वह अनुभूति को भावना के रूप में उपस्थित करे[1]।' अर्थात् अनुभूति का वैशिष्ट्य गीतिकाव्य में तभी समझा जाता है जब वह भावात्मक या रागात्मक हो, तार्किक या बौद्धिक न हो। उसमें बुद्धि, भावना पर अधिकार न जमा ले प्रत्युत हृदय के साथ मिलकर एक हो जाय। बुद्धि का प्राधान्य विज्ञान के क्षेत्र की वस्तु है, कला अथवा काव्य-क्षेत्र की कदापि नहीं। यदि अति बौद्धिकता काव्य को जन्म दे भी दे तो वह उसके कोमलतम, भावात्मक एवं स्वतःप्रवृत्त गीतिकाव्य रूप को जन्म कदापि नहीं दे सकती। उसे यहाँ अप्रधान रूप में ही अपना अस्तित्व बनाए रखना होगा। मुक्तक पर, नीति और उपदेशात्मक दोहों पर उसका राज्य हो सकता है, गीतिकाव्य पर कदापि नहीं। गीतिकाव्य विचारात्मक होते हैं किन्तु यहाँ उनके विचारात्मक होने का आशय यह नहीं होता कि उसमें तार्किक सत्य का प्राधान्य होता है, बल्कि उसमें प्रेरणा का केन्द्र हृदय की रागात्मक अनुभूति ही होती है जिस पर चिन्तन का गाम्भीर्य झलकता है। इनमें प्रेरणा का केन्द्र बुद्धि नहीं होती प्रत्युत कवि की दार्शनिकता बुद्धि-तत्व को हृदय की भावना के रंग में रंग कर गीतों के रूप में अभिव्यक्त करती है। यही कारण है कि उनका संकलित प्रभाव बड़ा गहरा और व्यापक होता है। जहाँ भावात्मक अनुभूति बुद्धि की सहकारिता में अभिव्यंजित होती है वहीं पर गीतिकाव्य सुन्दर होता है। आज के बौद्धिक युग से प्रभावित होकर जिन प्रगतिवादी गीतिकाव्य की रचना हो रही है उसमें कहीं कहीं तो कोरा बौद्धिक प्रयास मिलता है। वे अपना सौन्दर्य खो चुके हैं। गीतिकाव्य बुद्धिजनित नहीं हृदयजनित है अतः उसमें बौद्धिकता को भावना के आगे नतमस्तक होना पड़ेगा। बुद्धि के ऊहापोह के अतिरिक्त उसमें बुद्धि का हृदय-तत्व के साथ संतुलित होना परमावश्यक है। अनुभूति को पूर्ण बनाने के लिये ही उसका आधार लिया जाय, कोई मस्तिष्क के चमत्कार-प्रदर्शन के लिये नहीं।

---

१. गीतिकाव्य—रामखेलावन पाण्डेय, पृ० १६७।

(ग) कल्पना का स्थान

इस प्रकार जब गीतिकार की रागात्मक अनुभूति तीव्रतम होकर उस मानसिक स्तर पर पहुँच जाती है जहाँ से उसे अभिव्यक्ति का रास्ता मिलता है, तब कल्पनाशक्ति द्वारा ही उसे अभिव्यंजना का रूप मिलता है। अनुभूति की पूर्णता अभिव्यंजना में तभी पूर्णता ला पाती है जब कवि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा अनुभूति को मूर्त्तरूप प्रदान करता है। काव्य द्वारा जो मनोवेगों का श्राव्य मूर्त्त-विधान होता है, उसके साथ ही उनका चाक्षुक प्रत्यक्ष भी आवश्यक है जिसे कल्पना के बिना वह कदापि नहीं कर पाता। मनोवेगों को मूर्त्तरूप यही कल्पना देती है। वस्तु को सामने प्रत्यक्ष कर पाठक में अनुरूप भावों को उद्दीप्त करना कल्पना ही का कार्य है। जिस गीतिकार में जितनी कल्पनाशक्ति होगी वह उतने ही सौन्दर्य के साथ अपनी अनुभूति का प्रेषण पाठक में कर पायेगा। इसी आत्मानुभूति की प्रेषणीयता में गीतिकाव्य का महत्व है।

(घ) अनुभूति का वैशिष्ट्य—गीतिकाव्य का प्रधान तत्व

अनुभूति का वैशिष्ट्य काव्यरूप में ही अभिव्यंजित होकर गीतिकाव्य में पूर्णता को प्राप्त होता है अर्थात् जब मनुष्य की विशिष्टतम अनुभूति पद्य के माध्यम से अभिव्यंजित होती है तभी हम उसे गीतिकाव्य कहते हैं। विशिष्ट अनुभूति गद्य के माध्यम से भी बाहर होकर अभिव्यक्त होती है, किन्तु गद्य और गीतिकाव्य के रचने में चित्तवृत्ति का भेद होता है जिससे एक ही वस्तु कभी गद्य और कभी पद्य में आकर ग्रहण करती है। गद्य में गीतात्मक उद्रेक अवश्य होता है किन्तु वह गीतिकाव्य से भिन्न होता है। गीतिकाव्य में लेखक की मानसिक प्रतिक्रिया अति उच्च होने के कारण पद्य रूप में अभिव्यक्त होती है। विषय और वस्तु का यहाँ अन्तर नहीं। कविता और गद्य के विषय एक हो सकते हैं। उदाहरणार्थ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'रामायण' में उर्मिला की उपेक्षिता को देख जो उद्गार प्रकट किये उन्हीं से 'गुप्त' जी भी प्रेरित हुए। एक ही विषय और एक समान प्रेरणा दोनों कवियों को हुई। किन्तु जहाँ रवि बाबू ने उसे गद्य में व्यक्त किया वहाँ गुप्त जी ने 'साकेत' ही रच दिया। रवि बाबू का निबंध गीतात्मकता से रहित नहीं किन्तु उस विशेष प्रेरणा से उनके भाव रचना के समय तीव्रतम हो अपनी उच्चतम अवस्था को न प्राप्त हो सके। लेखक की मानसिक प्रतिक्रिया उच्चतम अवस्था को न प्राप्त हो सकी। अस्तु उनकी यह रचना भावात्मक गद्य कोटि में रखी जाती है, जहाँ 'गुप्तजी' में उपेक्षित व्यक्ति के प्रति जो संवेदना हुई वह इतनी

तीव्र हो उठी कि उसका माध्यम पद्य हो गया। आशय कहने का यही है कि कविता के निर्माण में कवि की चित्तवृत्ति (Mood) गद्य लेखक की मनोवृत्ति से भिन्न होती है। ठीक इसी प्रकार गीतिकाव्य और काव्य के अन्य वर्गों में इसी चित्तवृत्ति का अन्तर एक को दूसरे से भिन्न करता है। इसी ओर 'ड्रिंकवाटर' ने संकेत करते हुए कहा है कि यह मानव मनोवृत्ति का भेद है न कि प्रतिपादित विषय की भिन्नता जो गद्य को पद्य से और काव्य के एक रूप को दूसरे रूप से अलग करता है।[1] वस्तुतः गीतिकाव्यकार की मनोवृत्ति इतनी प्रबल हो उठती है कि स्वतः उसकी उच्च कल्पनात्मक शक्ति द्वारा अनुभूति की व्यंजना पद्य रूप में हो जाती है। इसीलिये आगे चल कर पुनः उन्होंने कहा है कि गीतिकाव्य के विषय थोड़े ही होते हैं और गद्य-पद्य का अन्तर कोई विषयगत अन्तर नहीं, प्रत्युत भाव या मनोवृत्ति का ही है जो असंख्य होती है[2]। यही कारण है कि गीतिकाव्य में अभिव्यंजित अनुभूति किसी अन्य माध्यम या शैली में होकर अपने प्रभाव को खो देती है। तभी हम अनुभूति के वैशिष्ट्य के साथ माध्यम के वशिष्ट्य की भी आवश्यकता बताते हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति का अन्योन्याश्रय संबंध यहीं पर आकर देखने को मिलता है।

(४) भावों का ऐक्य

अनुभूति की पूर्णता भावों की पूर्णता पर आश्रित होती है और भावों की पूर्णता उनकी अन्विति पर। भाव अपनी इकाई में ही तीव्र और प्रबलतम हो पाते हैं जिनका संकलित प्रभाव पाठक पर बड़े ही गहरे रूप में पड़ता है। भावों का ऐक्य गीतिकाव्य में इसलिये अपेक्षित होता है कि वह मनोवेगों की आधार-भूमि पर खड़ा किया जाता है, जो कोमल और क्षणिक होते हैं। इस क्षणिकता के परिणाम-स्वरूप उसका आकार स्वयं इतना छोटा होता है कि उस छोटे से शरीर में प्राणों का स्पन्दन लाने का प्रयास बहुत कठिन हो जाता है। दूसरे, मनोवेगों को स्थायित्व प्रदान करना भी कवि के लिये आवश्यक होता है। यह स्थायित्व प्रभाव की तीव्रता की मात्रा पर आश्रित होता है और जो गीत जितना ही प्रभावोत्पादक होता है उसका उतना ही

---

१. 'It is the controlling mood that differs not the material controlled.'—The Lyric, by Drinkwater, Page 14.

२. The Lyric, by Drinkwater, Page 16.

स्थायी प्रभाव मानव हृदय पर पड़ता है। अस्तु, भावों की प्रभावशालिता तथा ऐक्य ये दो बातें गीतिकाव्य के लिये परमावश्यक हो जाती हैं।

(क) गीतिकाव्य में रस

हमारे यहाँ काव्य द्वारा जिन रसों की उत्पत्ति को आचार्यों ने प्रधान माना उनकी संख्या मानव हृदय में स्थित नौ स्थायी भावों के अनुसार नौ कही गई जो क्रमशः शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त हैं।[1] गीतिकाव्य में मानव हृदय के कोमलतम और सुकुमार भावों की अभिव्यंजना होती है अतः रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि परुष रसों की तो वहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं होती। हास्य भी उसमें कम प्रयुक्त होता है, क्योंकि उसमें गम्भीर और मर्मस्पर्शी अनुभूतियाँ, जिनका मानव हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है, उपयुक्त समझी जाती हैं। व्यंग्य-गीतियों में उतना हास नहीं होता जितना व्यंग्य। वीर-रस वीर-भावात्मक काव्यों (Ballad) के लिये ही अधिक उपयुक्त होता है। राष्ट्रीयता और देश-प्रेम के गीतों में वीरता को पुष्ट करने के लिये प्रेम-भाव का भी चित्रण होता है, किन्तु प्रधानता वीर-भाव की ही होती है। अस्तु, गीतिकाव्य के लिये सबसे प्रभावशाली भावों की व्यंजना शृङ्गार और करुण रसों में ही मानी जाती है। शृङ्गार को 'रसराज' की पदवी मिली है तो भवभूति[2] ने करुण रस को ही सर्वश्रेष्ठ कह कर उसमें सब रसों का मूल बताया। उसकी मर्मस्पर्शिता एवं प्रभावशालिता अद्वितीय है। शृङ्गार-रस में अवगाहन कर स्वयं पाठक एक ओर प्रेम की आह्लादमयी अनुभूति से पूर्ण हो जाता है तो दूसरी ओर वेदना से उसके हृदय में भी एक टीस उठने लगती है। वह कवि के हृदय के भाव के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही कारण है कि गीतिकार स्वयं प्रेमी होकर, प्रेम की वेदना में अपने को तपाने के उपरान्त ही सच्चा कवि कहलाता है। प्रेम की मधुर पीड़ा का अनुभव कर ही विद्यापति की वाणी रस से अपूर्ण हुई और मीरा का हृदय गीतों के रूप में उमड़ पड़ा।

---

१. शृङ्गार हास्य करुण रौद्र वीर भयानकाः।
वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्थतथामतः॥ (३।१८२)
रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताःशमोऽपि च॥
—साहित्य दर्पण, (३।१७५)।

२. उत्तर रामचरित-भवभूति ३।४७।

इसी प्रेम की पीड़ा ने महादेवी जी के अन्तःप्रदेश में जो घनीभूत रूप धारण किया वह गीतों के रूप में ही बाहर प्रवाहित होकर निकल पड़ी। उनके एक-एक शब्द हृदय की वेदना से लिपटे हुए हैं। तभी तो वे इतने भावपूर्ण हैं।

(ख) करुण-रस की श्रेष्ठता

करुण रस की श्रेष्ठता इसीलिये है कि उसमें जितनी अधिक व्यापकता है वह अन्य रसों में नहीं। करुणा में मनुष्य जितना अधिक संवेदनशील होता है उतना सुख में नहीं। दुःख की प्रतिकूलवेदनीयता इतनी मर्मस्पर्शिणी होती है कि मानव परस्पर संवेदना के सूत्र में आबद्ध हो जाता है। प्राणों का स्पन्दन करुणा का स्पर्श करते ही तीव्र हो उठता है और वेदना अति प्रबलरूप धारण कर अपनी अभिव्यक्ति के लिये आकुल हो उठती है। वेदना में मनुष्य आवेशमय हो जाता है और भावावेश के साथ गीतिकाव्य का जन्म होता है। आदि कवि का शोक ही तो 'श्लोक' रूप में बाहर निकल पड़ा जो इस बात का द्योतन करता है कि वेदमामयी भावनाएँ कितनी स्वतःप्रवृत्त होती हैं। यही स्वतःप्रवृत्ति गीतिकाव्य की एकमात्र विशेषता है। इसीलिये हम करुणापूर्ण भावों को उनकी व्यापकता, संवेदनशीलता एवं मर्मस्पर्शिता के कारण ही गीतिकाव्य के लिये उपयुक्त कहते हैं। कभी-कभी तो यह व्यक्तिगत वेदना व्यष्टि के संकुचित घेरे से उठ कर समष्टि के व्यापक स्तर पर जा पहुँचती है। वहाँ पहुँच कर कवि देखता है कि सृष्टि के कण-कण में वेदना लिपटी हुई है। उसकी प्रतिकूलवेदनीयता समष्टि के दुःख का भान कर असह्य से सह्य हो जाती है और उसे ध्यान आता है दुःख सुख की सापेक्षता का, उनके अन्योन्याश्रय संबंध का। फिर उसकी वेदनामय अनुभूति का अन्त जिस प्रभावशाली ढंग से होता है उसमें शान्त-रस का पुट रहता है। अंग्रेजी की प्रसिद्ध शोक-गीतियाँ इसी प्रभावात्मक शैली में लिखी गईं और उनके अन्त बड़े ही सुन्दर ढंग से शान्त-रस में किये गए हैं। 'मिल्टन' का 'लिसिडास' (Lycidas) 'टेनिसन' की 'इन मेमोरियम' (In Memorium) शैली का 'एडोनेस' (Adonais और 'ग्रे' की एलिजी (Elegy Written in a Country Churchyard इसी शान्त रस से ही अन्त किये गए हैं। प्रसादजी का 'आँसू' भी इसी प्रभावशाली ढंग से समाप्त हुआ है। इस शान्त-रस को आलोचकों ने गीतिकाव्य के लिये वर्ज्य कहा है। किन्तु उपर्युक्त रचनाओं से यह अवगत होता है कि जहाँ गीतिकाव्य में करुण-रस की अभिव्यक्ति हुई है वहाँ अन्त में सदा आशावादिता से उनका अन्त शान्त-रस में ही हुआ है। अर्थात् शोकगीतियों (Elegy) का अन्त इसी रस से हुआ है और किसी विद्वान

आलोचक ने विफलताओं में ही गीतिकाव्य का उद्भव मानते हुए कहा है 'किन्तु मनोवेगों की असफलता के इस दुःखद प्रभाव को दूर करने के लिये प्रत्येक भाव-प्रधान रचना का परिपाक शान्त रस में किया जाता है।'[1]

(ग) गीतिकाव्य में भावगत ऐक्य

कहना न होगा कि गीतिकाव्य में जीवन की निराशा, असफलता, वेदना, आदि अवसाद भरी अनुभूतियाँ जितनी अधिक प्रभविष्णुता ला सकी हैं उतनी आशा, हर्ष, उल्लास जैसी सुखमय अनुभूतियाँ नहीं। वेदनामय भावों में मर्म को स्पर्श कर उसे हिला देने की शक्ति होती है, तभी तो उसमें स्थायित्व अधिक आ जाता है। तभी तो वे इतनी व्यापक कही गई हैं। यह स्थायित्व एवं प्रभविष्णुता केवल अनुभूति के वेदनामय होने पर ही आता है, किन्तु साथ ही उसमें ऐक्य का होना परमावश्यक है। इसी ऐक्य को महत्त्व देते हुए कहा है कि गीतिकाव्य में एक ही विचार, एक ही भाव और एक ही अवस्था का चित्रण होता है। उसमें जीवन के सम्पूर्ण दृश्य को न लेकर केवल एक खण्ड को लिया जाता है जो विशिष्ट एवं पूर्ण होता है। जिस प्रकार कहानी और उपन्यास में भेद होता है उसी भाँति गीतिकाव्य और महाकाव्य का अन्तर होता है। महाकाव्य में जीवन की अन्यान्य अनुभूतियाँ समायोजित होती हैं, वहाँ किसी एक अनुभूति की प्रधानता होते हुए भी, अप्रधान रूप से अन्य सभी प्रकार की घटनाओं से उत्पन्न मनोवेगों की व्यंजना होती है। उनके ऐक्य की ओर कवि का ध्यान नहीं जाता, किन्तु गीतिकाव्य में चूँकि कहानी के समान जीवन के एक पक्ष (क्षण) की अनुभूति की व्यंजना होती है—भावों की अन्विति पर अधिक ध्यान रखा जाता है। यही अन्विति गीतिकाव्य के संक्षिप्त आकार में भी सजीवता ला देती है, क्योंकि अनुभूति की व्यंजना में उसे कथा का आधार नहीं मिलता केवल भावाभिव्यंजना उसका एकमात्र लक्ष्य होता है। यह भावाभिव्यंजना गीतिकाव्य के छोटे से आकार में भी सजीवता ला देती है जिससे समाहित प्रभाव एक ही प्रकार का पड़ता है। अन्यान्य पद्यों (Stanzas) में एक ही भावना का सूत्र गुथा हुआ अन्त तक चला जाता है। कवि जिस अवस्था का चित्र उसमें अङ्कित करता है उसमें उसके मनोवेगों की तीव्रता को ही हम देखते हैं। उनका प्रवेश हमारे अन्तःप्रदेश में भावनाओं के सहारे ही होता है। इस प्रकार गीतिकाव्य भावों के ऐक्य में बँधा हुआ होता है, पर साथ ही

---

१. साहित्यमीमांसा, पृ० १३८, डा० सूर्यकान्त शास्त्री।

ये अपनी अल्पजीविता के अनुरूप उसके आकार में संक्षिप्तता भी ला देते हैं। भावों की अखण्ड एकता में ही गीत सुन्दर लगते हैं। यहाँ मनोवेगों की तीव्रता प्रलम्बित रूप में नहीं व्यक्त हो पाती। कारण यह कि पर्याप्त समय तक भावों की एक सी तीव्रता बनाए रखना अत्यन्त कठिन हो जाता है। "पो" ने तो यहाँ तक कहा है कि कविता लम्बी होती ही नहीं। उनका आशय कविता से गीतिकाव्य का ही है। क्योंकि महाकाव्य का आकार घटनाओं एवं मनोवेगों की विभिन्नता के कारण बड़ा होता है। जीवन की सम्पूर्णता को उसमें स्थान मिलने के कारण उसके प्रत्येक पक्ष पर कवि की दृष्टि रहती है। छोटी से छोटी घटना नवीन से नवीन भावों की व्यंजना करने वाले महाकवि की भावना द्वारा जीवन की सम्पूर्णता में एक विस्तृत आकार ग्रहण कर लेती है। उसमें एक मनोवेग की प्रलम्बता सहकारी मनोवेगों के साथ अपना अस्तित्व आद्यन्त बनाए रहती है। प्रमुख रस उसमें इसी कारण एक ही होता है और सहकारी रूप में अन्य सभी रसों का समावेश आवश्यक समझा जाता है। वहाँ एक भावना के सूत्र में अन्य रंग बिरंगे भावों के मोती पिरोये हुए रहते हैं। किन्तु गीतिकाव्य में जीवन के केवल एक ऐसे ही क्षण की अनुभूति का अभिव्यञ्जन होता है जो एक ही श्रेष्ठतम मनोवेग की तीव्रता का परिणाम होती है और कवि द्वारा अपने पूर्णतम रूप में अनुभूत होती है। यही कारण है है कि जहाँ महाकाव्य में जीवन की विविधता श्रेयस को अश्रेयस के साथ लेकर चलती है, वहाँ गीतिकाव्य में केवल उन्हीं क्षणिक मनोवेगों की अभिव्यंजना होती है जो सर्वोच्च होते हैं, जिनकी सार्वजनीनता, मर्मस्पर्शिता एवं प्रभावशालिता प्रत्येक पाठक के अन्तरतम को छूकर कुछ क्षणों के लिये उन्हें संज्ञाहीन सा बना देती है। और तब न तो कवि रहता है, न उसकी कविता, रह जाते हैं केवल भाव। तभी तो गीतिकाव्य आत्मानुभूति की भावात्मक अभिव्यंजना कहलाता है। उसकी गणना भाव-प्रधान काव्यों में ही होती है। कवि के अन्तर्मुख होने के पश्चात् ही भावानुभूति तीव्ररूप धारण करती है और यही भावानुभूति की सच्चाई, उसकी पूर्णता ला पाती है। और यह पूर्णता उसके ऐक्य में निहित होती है।

(घ) गीतिकाव्य में भावों की तीन स्थितियाँ

अभी तक हमने देखा कि भावों की पूर्णता उसकी अखण्ड एकता में रहती है जिससे संकलित प्रभाव बड़ी ही तीव्रता से पड़ता है। किन्तु यह ऐक्य कवि की कविता में उसके विधान पर भी बहुत कुछ आश्रित होता है। आशय यह कि गीतिकाव्य में केवल एक ही भाव अथवा अवस्था के चित्रण मात्र से

ही एकता आती हो ऐसा भी नहीं; उसके लिये उसके विधान का कौशल भी अपेक्षित होता है। भाव और विधान में, अनुभूति और अभिव्यंजना में परस्पर अटूट संबंध होता है। किन्तु भाव या अनुभूति की इकाई उस अभिव्यंजना में तभी आ पाती है जब कवि उसका क्रमिक उत्कर्षापकर्ष बतावे। 'नार्मेन हेपिल' ने इस दृष्टि से 'लिरिक' के बाह्य आकार को तीन भागों में विभाजित किया है।[१]

(क) प्रथम विभागान्तर्गत गीतिकाव्य का वह अंश आता है जहाँ कवि की काव्य प्रेरणा का बीजारोपण और उसके मनोवेगों का प्रकाशन होता है। कवि चेतन या अचेतन रूप से उस मूल कारण को लक्ष्य करता है जिससे उसके अन्तःप्रदेश में विशेष प्रकार के भाव जाग्रत हुए। उसका मूल अभिप्राय अनुभूति के रूप में अभिव्यंजित होकर आगे प्रवाहित होता है। इसको उन्होंने 'मोटिव' (Motive) या प्रवर्त्तक कहा है[२]। यह गीतिकाव्य का प्रारम्भिक अंश होता है।

(ख) एक अवस्था ऐसी आती है जब मनोवेग उच्च मानसिक स्तर पर पहुँच कर अपनी चरमावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ मनोवेगों को बुद्धिजनित विचारात्मकता संतुलित कर अत्यन्त गम्भीर बना देती है। इसी अवस्था को गीतिकाव्य का दूसरा अंश कहते हैं जिसे हम भावों की चरमावस्था कह कर अभिहित कर सकते हैं[३]। इस द्वितीयांश में भावों की चरमावस्था के साथ ही उनके क्रमशः ह्रास के चिह्न भी दिखाई पड़ने लगते हैं। ह्रास क्या, भाव जहाँ तीव्रतम हो अति उच्च हो जाते हैं वहाँ क्रमशः उनके प्रभाव में न्यूनता भी आने लगती है।

(ग) अब हम गीतिकाव्य के तृतीयांश में पहुँच जाते हैं। जहाँ कवि की अन्तिम मनस्थिति (Final attitude) की अभिव्यंजना होती है[४]। अब भावों का अन्त हो चुकता है और एक प्रकार से विचार ही भावमय होकर प्रकट होते हैं। भावों और विचारों का संतुलन पूर्ण रूप में होकर गीत की

१. 'Lyrical forms in English,' by-Norman Hepple M. A., M. Litt. Page 11.

२. 'This reproduction of the motive as a rule constitutes the first part of a well constructed lyric'—Page 12.

३. The development and decline of the emotion, Page 12.

४. Lyrical forms in English Page 13.

समाप्ति करता है। जिस गीतिकाव्य में इन तीनों तत्वों—प्रेरक-भावों का चरम और अन्तिम मनस्थिति—की नियोजना क्रम से होगी उसमें ही भावों की पूर्णता और समाहित प्रभाव का ऐक्य आ सकेगा। कारण यह कि इनका विभाजनाधार भाव ही है। भावों की उत्पत्ति, उनका चरम और अन्तिम संतुलन की यह प्रक्रिया अनुभूति के मूल में विद्यमान है। कभी उसका स्वरूप सामान्य होता है तो कभी उदात्त। गीतिकाव्य में जब कवि की तीव्रतम अनुभूति इस रूप में अभिव्यंजित होती है तभी वह श्रेष्ठ गीतिकाव्य कहा जाता है। क्योंकि इन्हीं तीनों अवस्थाओं में होकर कोई एक अनुभूति पूर्ण हो पाती है। जब गीतिकार इन्हीं अवस्थाओं के बीच से एक ही भावना की तरंग प्रवाहित करता है तब उसकी अभिव्यंजना में भावान्विति या भावों की अखण्ड एकता आ जाती है। गीतिकाव्य उस अखण्ड ऐक्य में झंकृत हो उठता है।

किन्तु गीतिकाव्य के इन तीन प्रमुख अंगों का यह तात्पर्य नहीं कि उसमें केवल तीन ही पद्य हों या होते हैं। वस्तुतः उदित भावों के उत्कर्षापकर्ष एवं संतुलन की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर ही ये प्रमुख अंग निर्धारित किये जाते हैं।

इस दृष्टि से प्रसाद जी का 'आँसू' बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। कवि प्रथम ही 'हृदय में बजती हुई विकल रागिनी' की ओर संकेत दे देता है। धीरे-धीरे उसका वेदनामय हृदय खुलने लगता है और जब वेदना घनीभूत रूप धारण कर लेती है, जब वह देखता है कि उसकी वेदना समग्र सृष्टि में व्याप्त हो गई है तब उसके दुःखमय मनोवेग अपने उच्चतम मानसिक स्तर पर पहुँच, विचारों के साथ मिलकर अत्यन्त तीव्र हो उठते हैं। परस्पर संघर्ष होता है और भावों का विचारों के संयोग से संतुलन हो जाता है। वेदनापूर्ण मनोवेग जो अपने चरम पर पहुँच कर दार्शनिकता में परिणत हो इस रूप में निकल पड़ते हैं :—

प्रत्यावर्तन के पथ में,
अवशेष न चिह्न रहा है,
डूबा है हृदय मरुस्थल,
आँसू नद उमड़ रहा है।

—आँसू पृष्ठ ४१।

वही अनुभूति के गंभीरतम होने पर मानव जीवन-वेदी पर दुःख का सुख के साथ परिणय देखना चाहता है। यहाँ से कवि की 'उद्वेगजनित भावनाओं की

तीव्रता कम होती जाती है और क्रमशः कवि का अन्तिम निचोड़ या उसके अन्तिम संस्थित भाव की अभिव्यंजना हो जाती है। वह कह उठता है :—

'बरसो प्रभात हिम कन सा,
आँसू इस विश्व सदन में'

—'आँसू' पृ० ७६।

गीतिकाव्य का उपर्युक्त विश्लेषण हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि उसकी परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई। किसी ने किसी एक तत्व को प्रमुख मान और किसी ने किसी दूसरे तत्व को उपयुक्त समझ अपनी-अपनी भिन्न रुचि के अनुसार उसकी परिभाषाएँ बनाईं। किन्तु इन सभी परिभाषाओं में, भले ही किसी विशेष तत्व की प्रमुखता किसी विशेष आलोचक के व्यक्तित्व को झलकाती रहे, उसमें अन्य तत्वों को भी पर्याप्त श्रेय मिला है। गीतिकाव्य यदि सच्चा है तो उर्युक्त सभी विशेषताएँ उसमें मिलेंगी। हाँ, कवि का भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व भले ही उनमें भिन्न-भिन्न तत्वों की प्रधानता ला देता है। क्योंकि एक ही विषय पर किन्हीं दो कवियों की कविताएँ एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होती हैं। यह भेद प्रत्येक की अपनी भिन्न चित्तवृत्ति की विशेषता के कारण आ जाता है जो किसी वस्तु को अपनी भिन्न तीव्रता के कारण भिन्न रूप में ग्रहण करती है। हम वस्तु के वैभिन्य से गीतकार का अध्ययन नहीं करते, प्रत्युत यह निष्कर्ष हम उसकी रचना में यह देखकर निकालते हैं कि किस मानसिक स्तर पर ले जाकर उसने वस्तु को ग्रहण किया है। इसीलिये गीतिकाव्य की रचना साधारण कवि नहीं कर पाता और न चित्तवृत्ति की साधारण अवस्था में कोई गीतिकाव्य रच ही सकता है। यही कारण है कि वह सबसे अधिक आवेशमय काव्यरूप है जो हृदय क्या आत्मा को बेधता हुआ निकल जाता है। अस्तु हम कह सकते हैं कि गीतिकाव्य कवि के जीवन की उन तीव्रतम क्षणों की बाह्य अभिव्यंजना है जिसमें अनुभूति का वैशिष्ट्य, भावों की पूर्णता एवं प्रभाव की इकाई, संगीतात्मक रूप में अभिव्यंजित होती है।

नवम अध्याय

गीतिकाव्य का वर्गीकरण

गीतिकाव्य के अन्यान्य स्वरूप और उनकी उपजीव्यता

भावात्मक अभिव्यक्ति का वर्गीकरण वस्तुतः कठिन है। जिस अभिव्यंजना का मानव हृदय से संबंध हो, जो अन्तर्जगत के संघर्षों से टकरा कर फूट पड़ी हो एवं जो हृदय की पुकार हो, ऐसी अभिव्यंजना को विभाजित करना उसे एक प्रकार से सीमित करना है। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है कि काव्यरूपों के अध्ययन में विभाजन अथवा वर्गीकरण की पद्धति अत्यन्त आवश्यक हो जाती है, हमें विभाजन प्रणाली एवं अन्यान्य स्वरूपों की विवेचना भी अत्यन्त आवश्यक दिखाई पड़ती है। पूर्व प्रसंग में हम यह देख चुके हैं कि गीतिकाव्य मानव हृदय में उठते हुए तीव्र मनोवेगों की स्वतः प्रेरित कोमलतम बाह्य अभिव्यक्ति है। अतः उसका संबंध सीधा मस्तिष्क की ठोस भूमि से न होकर हृदय की तरल भूमि से है। वह कवि के मनोभावों की भाषा है। यही कारण है कि उसका वर्गीकरण सदा अपूर्ण ही होता है और रहेगा। हृदय के व्यापारों का अन्त नहीं, उसी के अनुरूप ही उनकी बाह्य अभिव्यक्ति के भिन्न स्वरूपों की सीमा नहीं। इन्हीं हृदयस्थ व्यापारों एवं अभिव्यंजना के वैभिन्य ने क्या पश्चिम और क्या पूर्व दोनों ही स्थानों के आलोचकों को विभाजन की कठिनाई का अनुभव कराया है। तथापि गीतिकाव्य विभाजित हुआ है और उसके अनेक स्वरूप काव्य-क्षेत्र में प्रस्तुत हुए हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने गीतिकाव्य की परिभाषाएँ बनाई, उनकी विशेषताएँ निर्धारित की एवं गीतिकार के गुणों की विवेचना भी पर्याप्त मात्रा में की। किन्तु जहाँ उसके विभाजन का प्रश्न उपस्थित हुआ प्रायः सभी ने इस प्रश्न

की दुरूहता का अनुभव किया। 'प्रोफेसर गमर' ने गीतिकाव्य को मानव भावनाओं को स्पर्श करने वाली एक अनुपम अभिव्यक्ति कहा है और उसके कार्य को वही बताया है जिसकी विवेचना अरस्तु ने 'प्रक्षालन' या 'रेचन' (Katharsis) शब्द द्वारा की है। अर्थात् गीतिकाव्य उनकी धारणा में मानव भावनाओं को उद्दीप्त कर उन्हें पवित्र बनाता है। अतः उसके विभाजन की प्रणाली, उनके मतानुसार एक ही है और वह है उसके द्वारा पाठक में उद्दीप्त होने वाली विशेष प्रकार की भावना[1]। इसी भावना को विभाजन का आधार मानकर गीतिकाव्य के अनेक प्रकार उन्होंने निर्धारित किये हैं। तत्पश्चात् आवेग या भाव (Emotion) को उन्होंने तीन प्रकार का कहा है। सरल, उत्साहवर्द्धक और अति भावात्मक। इन्हीं भावों की दृष्टि से उन्होंने गीतिकाव्य का विभाजन सात प्रकार के गीतों में किया है। ये हैं क्रमशः धार्मिक गीत, देशभक्ति के गीत, प्रेम-गीत, प्रकृति के गीत, दुःखद गीत, विचारात्मक (Reflective) और उत्सव (Convivial) गीत।

गीतिकाव्य के प्रथम प्रकार 'धार्मिक गीतों' में ही 'गमर साहब' स्तुतिपरक गीतों (Hymn), संबोधगीतियों (Odes) और भावात्मक धार्मिक गीतों (Reflective sacred lyric) को रखते हैं। उसके द्वितीय प्रकार देशभक्ति के गीतों में एक ओर राष्ट्रीय भावना से पूर्ण गीतों को और दूसरी ओर युद्ध के गीतों को वे नियोजित करते हैं। प्रेम के गीत उनकी धारणा में गीतिकाव्य के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप हैं। उन्होंने प्रकृति के गीतों को भावात्मक भी माना है और 'ओड' (Ode) को पवित्र भावना से पूर्ण भी कहा है। दुःखदगीतों के अन्तर्गत ही शोकगीत (Elegy) को उन्होंने स्थान दिया है और विचारात्मक गीतों में बौद्धिक प्राधान्य स्वीकार करते हुए उन्होंने उपदेशात्मक (Didactic) गीत को उसी के अन्तर्गत रखा है।

इन सातों प्रकार के गीतिकाव्यों के अतिरिक्त उन्होंने गीतिकाव्य के 'अन्य

---

१. The Lyric comes from and appeals to the feelings. It stirs our emotions and purifies them–a process to which in the case of the drama Aristotle applied the term Katharsis–a purifying or purging. Lyric poetry must therefore be divided according to the nature of feelings aroused. Hand book of Poetics. By F. B. Gummere Chapt. 11 page 42.

प्रकार' के अन्तर्गत लिरिकल-बैलेड (Lyrical ballad) सोनेट (Sonnet) और एपीग्राम (Epigram) को भी लिया है।

किन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो उपर्युक्त विभाजन-प्रणाली इस दृष्टि से अपूर्ण है कि उसमें गीतिकाव्य के बाह्यस्वरूप का अध्ययन नहीं हो पाता। अर्थात् केवल विशेष भावना को उद्दीप्त करने वाले गीतों का ही स्वरूप हमारे सामने खड़ा हो पाता है जिससे अन्य स्वरूप पीछे छूट जाते हैं। अतएव गीतिकाव्य का वही विभाजनाधार उपयुक्त हो सकता है जिसके द्वारा उसके समस्त प्रकारों की विवेचना भलीभाँति हो सके। इसी बात को ध्यान में रखकर जो विभाजन का आधार 'डाक्टर आर०एम० एल्डन' ने स्वीकृत किया है वह उपयुक्त प्रतीत होता है[1]। यह आधार है विषय एवं आकारगत सौन्दर्य की परख कर गीतिकाव्य का विभाजन करना। इसी विभाजन-प्रणाली को अन्य विद्वानों ने भी व्यापक समझ कर अपनाया है और समस्त गीतिकाव्य को दो बड़े समूहों में रख कर उसका विभाजन किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि गीतिकाव्य एक तो विषय या भाव की दृष्टि से और दूसरे आकार या बाह्य शरीर के गठन की दृष्टि से विभाजित किये जा सकते हैं। इस प्रकार प्रथम वर्ग में विषय एवं भावों की विविधता के अनुरूप प्रेम के गीत, धार्मिक गीत, विचारात्मक गीत, बौद्धिक गीत, सामाजिक गीत और प्रकृति के गीत रखे जा सकते हैं और आकारगत विभाजन के अनुसार उसके बाह्य छन्दमय स्वरूप, उसकी वृहदता एवं संक्षिप्तता, अभिव्यंजना प्रणाली की विशिष्टता आदि को दृष्टि में रखकर अनेक प्रकारों की कल्पना की जा सकती है। इनमें जिन प्रधान स्वरूपों की कल्पना पाश्चात्य विद्वानों ने की है वे हैं क्रमशः–सोनेट (Sonnet), ओड (Ode), एलिजी (Elegy), सांग (Song), इपिसिल (Epistle), ईडिल (Idyll), और "वर्स डी सोसायटी" (Verse-de-Societe)। प्रस्तुत वर्गीकरण में "शोकगीति" (Elegy) अपवाद कहा जा सकता है। क्योंकि यद्यपि उसका छन्द की दृष्टि से ही विभाजन हुआ है तथापि उसमें ऐसी भावों की अभिव्यक्ति को स्थान दिया

---

१. An obvious method, which does not take us very far is to group them according to their themes–Lyrics of love of grief of patriotism, of nature and like. Another mothod is to group them according to metrical froms,–An Introduction to Poetry, by R.M. Alden, Ph. D. page 61.

जाता है जो दुःखद एवं करुण हों। अन्य भावों की व्यंजना उसमें वर्ज्य है। अस्तु यह कहा जा सकता है कि "एलिजी" प्रथम वर्ग में ही क्यों न रखी जाय। वस्तुतः आकारगत इस विभाजनान्तर्गत "सोनेट", "ओड" आदि के विषय अथवा भावों में एकनिष्ठता हो ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध नहीं। प्रत्युत उनकी रचना-प्रणाली की विशिष्टता उन्हें एक दूसरे से भिन्न करती है। इसीलिये हम उन्हें आकारगत वर्गीकरण में रखते हैं। विचार कर देखा जाय तो "एलिजी" में वस्तुगत अथवा भावगत सीमा तो बाँध दी गई है तथापि उसका नामकरण छन्द विशेष के प्रयोग को दृष्टि में रख कर किया गया है। उस छन्द को "एलिजिइक" छन्द कहते हैं। यदि ऐसा न होता तो उसको "एलिजी" के स्थान पर केवल करुणगीति (Lyric of grief) कहकर अभिहित किया जाता। अस्तु इससे यह स्पष्ट है कि "एलिजी" का विभाजन कोई अपवाद नहीं।

१. गीतिकाव्य का वस्तुगत अथवा अन्तरंग विभाजन

गीतिकाव्य के बहिरंग अर्थात् बाह्य आकार की प्रमुख विशेषताओं को ढूँढकर उनका आकारगत विभाजन तो किया गया और उनके प्रमुख प्रकार भी निर्धारित किये गये; किन्तु विषयगत विभाजन जिसे हम अन्तरंग विभाजन भी कहते हैं, एक ऐसा विभाजन है जो गीतिकाव्य का वर्गीकरण भावों की दृष्टि से तो अवश्य कर देता है किन्तु उन्हें सीमा में पूरी तरह बाँध नहीं सकता। तो भी हम भावों की विविधता, एवं नित्य नूतन विषयों के बढ़ने पर भी उनके आधार पर कुछ प्रमुख प्रकार निर्धारित कर सकते हैं। ये विविध प्रकार प्रधानतः छः हैं—प्रेम के गीत, भक्ति-प्रधान गीत, विचारात्मक गीत, बुद्धि-प्रधान गीत, प्रकृति के गीत और सामाजिक गीत।

मानव भाव सर्वत्र एक समान होते हैं—चाहे पश्चिम हो या पूर्व। दुःख में जिस भाँति एक को कष्ट होता है उसी भाँति दूसरे को। इसी प्रकार अन्य मनोविकार भी एकदेशीय नहीं, व्यापक होते हैं, जिनका अनुकरण नहीं होता, प्रत्युत वे स्वतःप्रेरित या अन्तःप्रेरित होते हैं। प्रेम को ही यदि हम लें तो हम देखेंगे कि जिस भाँति पश्चिम में प्रेमपरक गीतों का सृजन हुआ वैसे ही पूर्व में भी। भिन्नता यदि कहीं दिखाई पड़ती है तो केवल आदर्शों में। उनके आदर्श हमारे आदर्श नहीं। अस्तु आदर्श भले ही भिन्न हों पर भाव और मनोविकार सतत एक ही रहेंगे।

(क) प्रेमप्रधान गीतिकाव्य

प्रेमप्रधान गीतिकाव्य सुन्दरतम (Par Excellence) कहे जाते हैं।

क्योंकि प्रेम जीवन की सबसे सुन्दर, सबसे सबल और सबसे अनोखी अनुभूति है। इसी प्रेम की भावना से प्रभावित होकर ही मानव कवित्वमय बना और उसे गीतिकाव्य-निर्माण की प्रेरणा भी मिली। इस प्रकार काव्य और विशेषकर गीतिकाव्य की रचना में प्रेम जैसी कोमलतम भावना का एक अनुपम स्थान माना जाता है। यही कारण है कि हिन्दी एवं अंग्रेजी गीतिकाव्य में प्रेमपरक गीतिकाव्य का आधिक्य है। वास्तव में देखा जाय तो गीतिकाव्य प्रेमपूर्ण हृदय की सच्ची वाणी है। जिस कवि ने प्रेम की ज्वाला में अपने को तपाया नहीं, जिसने अपने हृदय को प्रेम के रस से अभिसिंचित नहीं किया, उसमें सच्चे गीतिकाव्य के लक्षण भी नहीं प्राप्त हुए। सच्चे गीतिकाव्य का सम्बन्ध हृदय की तरलता एवं स्निग्धता से है और हृदय के अन्यान्य व्यापारों में प्रेमानुभूति एवं तज्जनित अन्तर्द्वन्द्व ही सबसे प्रमुख होता है। तभी तो इस काव्यरूप के लिये शृङ्गार-रस की उपयुक्तता स्वीकृत हुई है और संयोग, वियोग के नाना व्यापारों का उद्घाटन भी उसमें हुआ है। साथ ही जितना गीतिकाव्य प्रेम भावना को लेकर निर्मित हुआ उतना अन्य किसी भाव को लेकर नहीं। क्या 'प्रसाद', क्या 'पन्त', क्या 'निराला', और क्या 'महादेवी' सभी ने प्रेममय गीतिकाव्य का सृजन किया। ये प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य एक ओर तो शृङ्गारिक और दूसरी ओर देश-भक्ति की भावना से आपूर्ण हैं।

बहिरंग विभाजन में जिसे 'गीत' (Song) का पर्याय मिला है, वैसे गीत प्रेम-भाव को ही प्रधानतः लेकर लिखे गए। इन गीतों की मूल भावना प्रेम-प्रधान ही होती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेम की प्रधानता को लेकर चलने वाले गीतिकाव्य 'गीत' के ही रूप में अधिक मिलते हैं।

प्रेम के दो पक्ष होते हैं—एक तो संयोग दूसरा वियोग। इन्हीं के अनुरूप किसी ने प्रेम की मादकता का वर्णन किया तो किसी ने विरह-व्यथा का। प्रेमी की व्याकुलता, प्रिय की निष्ठुरता, एक की आशा, दूसरे का तिरस्कार जिसके फलस्वरूप वेदना की तीव्रता, निराशा की घनीभूतता आदि नाना परिस्थितियों का विश्लेषण इन प्रणय-गीतों में हुआ है। कहना न होगा कि प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी भावावेशपूर्णता। प्रेममयी भावना के तीव्रतम होने पर ही यह स्थिति कवि के अन्तःप्रदेश में उपजती है, जिसके फलस्वरूप उसके उद्गार अति संगीतमय रूप में निकल पड़ते हैं। यह संगीत-प्रधान होना प्रेमपरक गीतिकाव्य की दूसरी विशेषता है। यही कारण है कि ऐसे गीतिकाव्य अपने सुन्दरतम रूप में गीत

(Songs) में ही दिखाई पड़ते हैं। क्योंकि गीत में संगीत और काव्य का गठबन्धन होता है। संगीत उसका अविच्छिन्न तत्व है।

अंग्रेजी साहित्य में "एलिजाबेथ युग" में ऐसे गीतों की रचना सुन्दर रूप में हुई, जब स्पेन्सर, शेक्सपियर आदि कवियों का समय था। इसके पश्चात् 'रोमान्टिक रिवाइवल' (Romantic Revival) के समय तो इन प्रणय गीतों का ही प्राधान्य हो गया। वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स आदि प्रसिद्ध कवियों के प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य उत्कृष्टतम कहे जाते हैं।

हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य की परम्परा विद्यापति से आरम्भ होती है। उनके पद केवल प्रेम की भावना से ही आपूर्ण हैं। अन्य कोई भाव उन्हें मानों रुचा ही नहीं। संयोग और वियोग के भावपूर्ण गीत लिखने के लिये ही मानों उन्होंने जन्म लिया हो। भक्तिकाल में आकर मीरा और सूर के पदों में पुनः वही प्रेम-तत्व प्रमुख दिखाई पड़ा और नवीन से नवीन मानसिक दशाओं का विश्लेषण किया गया। उनमें रागात्मक आवेश, भावावेश की पूर्णता, आवेग की तीव्रता, सभी उपलब्ध हैं। मीरा की "हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाने काय" और सूर का "निस-दिन बरसत नयन हमारे" पद प्रेमपूर्ण विरह-विदग्ध हृदय के स्वाभाविक उद्गार हैं। सूर के प्रेमपरक गीतिकाव्य में 'उपालम्भ' के रूप में जिन पदों का निर्माण हुआ है वे वस्तुतः मौलिकता का लिये हुए हैं। अतः "उपालम्भ गीति" को भी एक स्थान इन प्रेम-प्रधान गीतों में मिलता है।

'छायावाद युग' में तो आकर ऐसे गीतिकाव्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। प्रसाद की 'लहर', पन्त का 'पल्लव' निराला का 'परिमल', महादेवी का "सान्ध्यगीत", रामकुमार वर्मा की 'चित्ररेखा', बच्चन का "निशा-निमन्त्रण" और भगवतीचरण वर्मा का "प्रेमसंगीत" प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य के सुन्दर संग्रह हैं।

(ख) प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य में दूसरी ओर देशप्रेम के गीत आते हैं। जब कवि देश-भक्ति एवं राष्ट्र-प्रेम की भावना से आपूर्ण होकर गीतिकाव्यनिर्माण करता है तब उसी भावना के अनुरूप हम उसे देश-प्रेम के गीत या राष्ट्रीय गीत कहकर पुकारने लगते हैं। इस भावना के जगते ही स्वदेश के लिये आत्मबलिदान की भावना जाग्रत हो जाती है और निश्चेष्ट पाठक उत्साहित हो उठता है। मातृभूमि के प्रति अपने ऋण का ध्यान आते ही वह उस पुण्य पथ पर चल पड़ता है जिस पर अगणित वीर शहीद हुए। अस्तु ऐसे गीतिकाव्य में एक ओर तो राष्ट्रीयता की भावना से युक्त गीतों की रचना हुई

और दूसरी ओर युद्ध के गीतों का निर्माण हुआ। राष्ट्रीय गीतों में वर्णनात्मकता के आने से उनका स्वरूप अपेक्षाकृत लम्बा हो जाता है। उनमें प्रशंसा, अतीत वैभव की स्मृति, और भविष्य का उज्ज्वल चित्र वर्तमान रहता है। युद्ध के गीतों में उन वीरों की स्मृति को प्रधानता दी जाती है, जिन्होंने देश की रक्षा निमित्त युद्धस्थली में अपने प्राणों की आहुति दी। यहाँ कवि शोक नहीं प्रकट करता, प्रत्युत श्रद्धांजलि के रूप में उनकी सराहना करता है जिससे आगामी वीरों को प्रोत्साहन मिले और वे भी सहर्ष कर्म-पथ पर जाने के लिये कटिबद्ध हो सकें। इन्हीं युद्धगीतों के अन्तर्गत 'अभियान गीत' (Marching song) की भी रचना होती है। इनका निर्माण विशेषकर उन वीरों के लिये होता है जो युद्धस्थली के लिये प्रयाण करते हैं। साधारण जुलूसों में भी उनका गान होता है। वीररस-प्रधान पदावली का प्रयोग इसमें होता है।

अंग्रेजी में देशभक्ति के गीतिकाव्य टेनिसन, बायरन, कैम्पेबिल आदि कवियों ने रचे और अभियान गीतों की रचना विशेष रूप में की।

हिन्दी के 'वीरयुग' में देश-प्रेम का स्वर बहुत ऊँचा था, किन्तु इनकी भावना उतनी व्यापक नहीं दिखाई पड़ती जितनी परवर्ती काल में दिखाई पड़ी। किन्तु ये आदि "वीरगीत" गीतिकाव्य के क्षेत्र में नहीं रखे जाते। वे गीतात्मक अवश्य हैं परन्तु उन्हें वही स्वरूप प्राप्त है जिन्हें अंग्रेजी में "बैलेड" की संज्ञा दी जाती है और हिन्दी में जिन्हें वीरभावात्मक खण्डकाव्य की श्रेणी में रखा जाता है। दूसरे इनमें भाटों या चारणों ने उन्हीं राजाओं की प्रशंसा एवं उन्हीं राज्यों के प्रति अपने प्रेम-भावना को दर्शाया है जिन राजाओं के वे आश्रित थे एवं जहाँ वे रहते थे। सच्चे देशभक्ति के गीतिकाव्य का प्रादुर्भाव आगे चल 'भारतेन्दु काल' में ही जाकर हुआ। तत्पश्चात् उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप उनमें भावनाओं की नवीनता आती गई। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी, 'प्रसाद' और सुभद्रा कुमारी चौहान आदि सभी ऐसे गीतों की रचना में सफल हैं। इनके गीतों में देश-प्रेम का स्वर ऊँचा है और इनके अभियान गीत (Marching Songs) बड़े ही ओजपूर्ण हैं। 'प्रसाद' का यह गीत ऐसा ही है :—

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती

स्वयंप्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
आर्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो;
प्रशस्त पुण्य पन्थ है, बढ़े चलो बढ़े चलो।

—'चन्द्रगुप्त'-चतुर्थ अङ्क, पृ० १७७।

सोहनलाल द्विवेदी के गीतों में भी गति का पूर्ण आभास मिलता है:—

अशेष रक्त तोल दो
स्वतन्त्रता का मोल दो
कड़ी युगों की खोल दो
डरो नहीं
मरो वहीं
बढ़े चलो
बढ़े चलो

—'भैरवी', पृ० १२७।

"प्रगतिवाद युग" में आकर इस देश-प्रेम की भावना को और भी व्यापक रूप मिल गया और कवि "क्रान्तिमूलक" भावनाओं को ही लेकर चलने लगे। प्रकारान्तर से राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता में परिणत होती चली गई। आज का प्रगतिवादी कवि राष्ट्रीयता के संकुचित घेरे से निकलने के लिये व्याकुल है। अस्तु देशभक्ति के गीतों से राजनीतिक भावनाओं भरे गीतों की रचना हुई है। इनमें प्रगतिवादी सिद्धान्तों के अनुरूप 'समाजवाद' को प्रमुख स्थान मिला है। 'दिनकर', 'नरेन्द्र', 'अंचल' इसी धारा के प्रवाहक हैं।

(ग) भक्तिप्रधान गीतिकाव्य

भक्ति में रागात्मक आवेश होता है। इसी रागात्मिका-वृत्ति के अनुरूप बाह्य-अभिव्यंजना में काव्य का स्वरूप गीतिकाव्यमय हो जाता है। ऐसे गीतिकाव्य पवित्र भावनाओं से प्रेरित होने के कारण स्तुतिपरक या भक्तिपरक गीतिकाव्य कहलाते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसी में है कि इसमें हृदय की सच्ची, श्रद्धामय भावना को ही कवि प्रथम स्थान दे। कवि का आत्मनिवेदन स्वतःप्रेरित हो और उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता का स्पर्श न होने पावे। अन्यथा भावनाओं के प्रति हार्दिकता की न्यूनता, भक्ति-प्रधान गीतियों की सरलता एवं उनकी सादगी में आघात पहुँचा देगी और उनकी गणना अति साधारण कोटि में होने लगेगी। अंग्रेजी की 'हेम्' (Hymn)

यही भक्ति-प्रधान गीतिकाव्य है जिसमें पवित्र भावनाओं को ही स्थान मिला है।

धार्मिक स्तोत्रों और भक्तिपरक गीतिकाव्य में पर्याप्त अन्तर है। भक्ति में आत्मनिष्ठता एवं रागात्मक उन्मेष अधिक है, किन्तु धार्मिक भावना में इनका अभाव होता है, अतः धार्मिक स्तोत्र 'मुक्तक' श्रेणी में रखे जाते हैं और भक्तिपरक गीत गीतिकाव्य के क्षेत्र में परिगणित होते हैं।

बहिरंग विभाजन में जिसे हमने 'सम्बोधगीति' का पर्याय दिया उसके विषय अधिकतर भक्तिभाव और पवित्र भावनाओं से पूर्ण होते हैं। संबोध-गीतियों में भक्तिमय भाव इस कारण अधिकतर मिलते हैं कि उनमें सम्बोधन का तत्व होता है जो भक्तिमय उद्रेक के लिये अत्यधिक प्रभावपूर्ण होता है। आत्मनिवेदन में परमात्मा को सम्बोधित करने की प्रवृत्ति बिलकुल स्वाभाविक और सहज होती है।

हिन्दी के भक्तिकालीन पद भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हैं। तुलसी की 'विनयपत्रिका' के पद तथा सूर के 'विनय के पद' इसी श्रेणी में आते हैं। आधुनिक काल के आदि में भारतेन्दु के कुछ पदों में यही भावना प्रमुख मिलती है। इसके पश्चात् वैज्ञानिक सभ्यता की ओर आकर्षित होकर जब हमने उस ओर पग उठाया तो धीरे-धीरे भावों के परिवर्तन के साथ कवियों ने ऐसी गीतिकाव्य की रचना अत्यल्प की। भक्ति-प्रधान गीतिकाव्य का स्वरूप एक प्रकार से एक दूसरी ही दिशा में प्रवाहित हुआ। आधुनिक काल में आकर रहस्यवादी गीतिकाव्य में दार्शनिकता भरपूर मिली। ये गीत बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी के दार्शनिक गीत इसी भक्तिपरक गीतिकाव्य की श्रेणी में रखे जाते हैं।

(घ) विचारात्मक गीतिकाव्य

विचारात्मक गीतिकाव्य का सम्बन्ध सीधा हृदय से न होकर मस्तिष्क से होता है। कारण यह कि इनमें बुद्धि-तत्व की प्रधानता होती है। मानव मस्तिष्क से विचारपूर्ण होता है। अस्तु कुछ गीतिकाव्य अपने में इसी बुद्धि तत्व को कस कर पकड़ने के कारण विचारात्मक कहे जाते हैं। किन्तु ऐसे गीतिकाव्य में कोरी बौद्धिकता को कोई भी स्थान नहीं दिया जाता। अतएव विचार-प्रधान और बौद्धिक गीतिकाव्य के भेद को जान लेना परमावश्यक है। विचारात्मक गीतिकाव्य में कवि के ऊँचे विचार, बौद्धिकता का आग्रह अवश्य रखते हैं—किंतु यहाँ उसके विचार कोरे तर्क या तार्किक सत्य के

रूप में न प्रकट होकर अनुभूति के साथ मिल कर भावना का रूप धारण कर लेते हैं और तब अभिव्यंजित होकर पाठक के सम्मुख इस प्रकार आते हैं जिनमें बुद्धि का हृदय के साथ सुन्दर समन्वय होता है। तात्पर्य यह कि यहाँ विचार भावना के साथ मिलकर एक हो जाते हैं। ये गीतिकाव्य विचारों की गहनता में अनोखे होते हैं। साथ ही उसमें रसमग्नता की भी अपूर्व शक्ति होती है। किन्तु बौद्धिक गीतिकाव्य में कोरी बुद्धितत्व की प्रधानता होती है, जिसका भावना के साथ कम सम्बन्ध होता है।

वस्तुतः गीतिकाव्य भावात्मक होता है। किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि उसमें बुद्धि-तत्व वर्जित है। बुद्धि की अवहेलना तो कोई भी काव्य नहीं कर सकता। आशय यह कि इस विचारात्मक गीतिकाव्य में बुद्धि-तत्व की प्रधानता अधिक होती है, किन्तु उसका स्वरूप उपदेशात्मक भी नहीं होता। गीतिकाव्य के अन्यान्य प्रकार जिनका वर्गीकरण बहिरंग दृष्टि से होता है, उनमें सम्बोधगीति, शोकगीति, 'सानेट' बहुत ही विचारप्रधान गीतिकाव्य की कोटि में रखे जाते हैं। अंग्रेजी में कीट्स, वर्डस्वर्थ के 'गीत' और 'चतुर्दशपदियाँ' ऐसे ही विचारात्मक गीतिकाव्य की कोटि में आती हैं।

हिन्दी में भक्ति काल के गीतिकाव्य का उद्भव भक्ति-भावना से हुआ है। अस्तु वह आद्यन्त विचारपूर्ण ही कहा जायगा। क्योंकि भक्ति की चरमावस्था को पहुँच इन भक्त कवियों ने जिस ज्ञान को प्राप्त किया उसी को शब्द रूप में अभिव्यक्त कर दिया। तुलसी के पद इस दृष्टि से इसी विचारात्मक कोटि में ही रखे जाते हैं। उनका यह पद अत्यधिक विचार प्रधान है:—

केसव ! कहि न जाय का कहिये
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये।
—'विनय पत्रिका'।

आधुनिक काल में विचारात्मक गीतिकाव्य की रचना का सम्पूर्ण श्रेय महादेवी जी को मिलता है। उनके गीत अधिकांशतः चिन्तनाप्रधान हैं। 'सान्ध्यगीत' में ऐसे विचारात्मक गीतों का संचय है जिनमें कल्पना, चिन्तना एवं उनकी अनुभूति मिलकर एक हो गए हैं :—

"मेरे जीवन का आज मूक,
तेरी छाया से हो मिलाप।
तन तेरी साधकता छू ले,
मन ले करुणा की थाह नाप॥
उर में पावस दृग में विहान।"
पृ० ६५ 'आधुनिक कवि'।

प्रस्तुत गीतिकाव्य में कवियित्री साधना की सफलता में आनन्द विभोर हो उठी हैं। वे अब बहुत महान् स्तर पर पहुँच चुकी हैं अतः उनकी महानता यहाँ हिमालय से भी होड़ ले रही है।

"दीपशिखा" के गीतों में भी यही विचारात्मकता मिलती है। इसी प्रकार 'प्रसाद' के गीत भी अत्यधिक विचारात्मक कहलाते हैं। उनके "आँसू" में यह विचार प्रधानता कूट-कूट कर भरी हुई है। विचार और अनुभूति का सन्तुलन यहाँ अपूर्व है।

(च) बुद्धिप्रधान या बौद्धिक गीतिकाव्य

बुद्धि तत्व की अत्यधिक प्रधानता जिस प्रकार के गीतिकाव्य को जन्म देती है उसे बौद्धिक कहकर पुकारा जाता है। यहाँ कवि के विचार भावना का रूप धारण नहीं कर पाते। अर्थात् विचार भावों के साथ समन्वित नहीं हो पाते। अतः विचार की प्रधानता में ये गीत बौद्धिक हो जाते हैं। वस्तुतः बुद्धि की अति गीतिकाव्य के लिए बिल्कुल ही वर्ज्य है। तथापि इन गीतों में इसका विशेष महत्व स्वीकृत हुआ है। यही कारण है कि कभी-कभी ऐसे गीत उपदेशात्मक हो जाते हैं। बुद्धि व्यंग्य की उत्पादिका है। अतः ऐसे गीतिकाव्य व्यंग्यमूलक (Satirical) कहे जाते हैं। व्यंग्य के लिये वैदग्ध्य और परिहास की आवश्यकता होती है अस्तु बुद्धि का सहारा यहाँ अपेक्षित होता है। यही कारण है कि हम व्यंग्य-गीति जिसे अंग्रेजी में 'सेटायरिकल लिरिक' (Satirical lyric) कहते हैं, उसी बौद्धिक गीतिकाव्य का एक प्रकार मानते हैं। सच्चे 'व्यंग्यगीति' का रचयिता न तो कोरा उपदेशक होता है और न कोरे हास्य का रचयिता। वह दोनों के मध्य का होता है और लक्ष्य उसका अवश्य किसी न किसी भाँति उपदेश देना ही होता है। ऐसे गीतिकाव्य का रचयिता असत्य एवं कृत्रिमता से जितनी घृणा नहीं करता उतना सत्य और नैसर्गिकता से प्रेम करता है। व्यंग्य-गीतियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जितना ही उसमें बुद्धिपरक वैदग्ध्य होगा उतना ही उसका हास गम्भीर होगा। यही कारण है कि साधारण हास में जहाँ बुद्धि की कमी होती है वहाँ व्यंग्य में बिना वैदग्ध्य के पुट के काम नहीं चल पाता। व्यंग्यगीतियों की रचना शिष्ट समाज के लिये होती है। जो समाज जितना ही सभ्य होगा उसके "व्यंग्यगीति" उतने ही ऊँचे होंगे। यही कारण है कि उनमें अश्लीलता को क्रमशः बहिष्कृत किया गया है। वस्तुतः देखा जाय तो उनकी रचना का उद्देश्य सामाजिक बुराइयों को जड़ से उखाड़ फेंकना ही होता है। अस्तु 'व्यंग्यगीतियाँ' जहाँ सुधारक हैं वहाँ नाशक भी।

प्राचीन काल के यूरोप में 'एरिस्टोफेनीस' (Aristophanes) और

'जुवेनेल' (Juvenel) प्रसिद्ध व्यंग्य-काव्य के रचयिता हुए। अँग्रेजी में 'चोसर' (Chaucer) से इसकी धारा प्रवाहित हुई। इस व्यंग्य-काव्य के अनेक प्रकार भी अँग्रेजी में पाए जाते हैं—'लैम्पून' (Lampoon) 'बार्लेस्क' (Burlesque), एपिग्राम (Epigram), एलिगरी (Allegory) और पैरोडी (Parody)।

'व्यंग्यगीति' के उपर्युक्त पाँच भेदों में से हिन्दी में केवल 'पेरोडी' (Parody) ही लिया गया है। यह एक ऐसा व्यंग्यगीति है जो किसी भी काव्य के अनुकरण पर इस ढंग से लिखा जाता है कि उसके कवि की विशेषताओं पर व्यंग्य किया जा सके। विषय उसका कवि का अपना ही होता है किन्तु उसकी शैली उसी मौलिक कविता रचने वाले कवि की ही होती है जिसका वह अनुकरण करता है। ऐसे गीतिकाव्य की विशेषता यह होती है कि इनमें किसी विचार पद्धति के उन्मूलन की ही भावना नहीं रहती। अर्थात् 'पेरोडी' विध्वंसक हो यह आवश्यक नहीं। उनकी रचना, कभी तो केवल हास्य-रस के लिए ही होती है। इसीमें उसकी विशेषता भी है।

''पेरोडी'' को हिन्दी में 'विडम्बना काव्य' की संज्ञा दी जा सकती है। लोक भाषा में 'बिरौनी' शब्द भी हमें मिलता है जिसका अर्थ है नकल। अतः 'पेरोडी' को 'बिरौनी' भी कह सकते हैं।

पश्चिम में 'व्यंग्यगीति' का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ, किन्तु पूर्व में 'अलंकार शास्त्र' में तो व्यंग्य, वक्रोक्ति आदि की चर्चा बहुत हुई और उनके भेदोपभेद भी निर्धारित किये गए हैं, परन्तु व्यंग्य गीतिकाव्य के रूप में लिखा गया हो ऐसा हमें पिछले काव्य-क्षेत्र में नहीं मिलता। संस्कृत में हास्य-रस के नाटकों में विदूषक का समावेश इसी व्यंग्य और हास्य के लिए ही हुआ। भास के 'चारुदत्त' और शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में उदाहरण भी मिलते हैं। किन्तु जिसे हम 'व्यंग्यगीति' कहते हैं उसका संस्कृत में अभाव ही रहा है।

उर्दू साहित्य में 'अकबर' के व्यंग्य ऊँचे हुए हैं। उन्होंने विज्ञान, स्त्रियों आदि पर व्यंग्य किये हैं। ठीक इसी प्रकार हिन्दी में भी व्यंग्यगीतियों का अभाव रहा हो ऐसी बात नहीं; सूर के उपालम्भ भरे पदों में व्यंग्य का पुट मिलता है और इन पदों में भी कुब्जा को लेकर चलने वाले प्रसंग बड़े ही व्यंग्यपरक हैं। 'भ्रमरगीत' का सम्पूर्ण प्रसंग वाग्वैदग्ध्य के लिए प्रसिद्ध है। गोपियों का सम्पूर्ण वार्तालाप जिसमें ऊधो को गोपियाँ उत्तर देती हैं इसी व्यंग्य से भरा हुआ है, किन्तु इन गीतों में हृदय की सरसता भरपूर है—

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन तुम हमको उपदेश करत हौ ।
भस्म लगावन आनन । औरों सब तजि सिंगी लै लै टेरन ।
चढ़त परवानन । पै नित आनि पपीहा के मिस मदन हन ।
निज बानन । हम तौ निपट अहीर बावरी जोग दीजिये ज्ञाननि ।
कहा कहत मामी के आगे जानत नानी नानन ।
सुन्दर-श्याम मनोहर मूरति भावति नीके गानन ।
सूर मुकुति कैसे पूजति है वा मुरली की तानन ।। ११५ ।।

—'भ्रमरगीत सार', रामचन्द्र शुक्ल ।

आधुनिक काल में आकर हमें 'द्विवेदी युग' की 'व्यंग्यगीतियों' में व्यंग्य दिखाई पड़ा । नाथूराम शंकर शर्मा ने अपने 'कृष्णोत्सर्ग' में कृष्णावतार पर व्यंग्य किया और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने 'कविराज संबोधन' में व्रजभाषा के कवियों पर, किन्तु यह व्यंग्य काव्य के मुक्तक रूप में ही मिला। गीतिकाव्य में सच्ची व्यंग्यगीतियाँ 'प्रगतिवाद युग' में दिखाई पड़ीं । मैथिली-शरण गुप्त ने भी समय-समय पर 'फुलझड़ियाँ' लिखीं जिनमें पर्याप्त व्यंग्य मिलता है ।

'प्रगतिवाद युग' में बौद्धिकता का आग्रह बढ़ गया । छायावादी कवि 'पन्त' और 'निराला' ने इस युग के प्रथम चरण में ही 'ग्राम्या' और 'कुकुर-मुत्ता' में व्यंग्य का परिचय दे दिया । 'ग्राम्या' में 'ग्रामदेवता' व्यंग्यगीति उन अकर्मण्य ग्रामवासियों और उनके अन्धविश्वास भरे 'ग्राम देवता' पर रची गई है जिनके कारण ग्रामीण की प्रस्तुत दयनीय अवस्था हो गई है । 'कुकुर-मुत्ता' आज के पूँजीवादियों पर व्यंग्य के छींटे मार रहा है । कुकुरमुत्ता सर्वहारा वर्ग का और गुलाब पूँजीवादियों का प्रतीक है । सच पूछा जाय तो यह व्यंग्यगीति का सुन्दरतम उदाहरण भी है—

'अबे सुन बे, गुलाब ,
भूल मत गर पाई खुशबू , रँगो आब ,
खून चूसा खाद का तू ने अशिष्ट ।
डार पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट ।

—पृ० १, 'कुकुरमुत्ता' ।

आगे चल कर कवि ने साम्यवाद के सिद्धान्तों पर भी कठोर व्यंग्य किया है ।

बुद्धिप्रधान गीतिकाव्य में एक ओर जहाँ व्यंग्यगीतियों की रचना हुई दूसरी ओर 'पेरोडी' या 'विडम्बना गीति' भी लिखे गए । ऐसे गीतिकाव्य

के रचयिता कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब' बनारसी, 'बेधड़क बनारसी' और कवि 'चोंच' हैं। इनकी विशेषता ऐसे काव्यरूप के निर्माण में यह है कि इन्होंने अपने 'विडम्बना गीतों' में हास्यास्पद अनुकरण को ही अपना लक्ष्य बनाया है। अर्थात् 'हास' के लिये ही इन्होंने ऐसे व्यंग्यमय गीत लिखे।

विडम्बना-गीतों में कहीं तो सम्पूर्ण रचना को कवि परिहासात्मक रूप में परिणत करता है और कहीं मूल कविता की प्रथम पंक्ति को ज्यों का त्यों रख देता है। उदाहरणार्थः—

वीरासन हिल उठे एक कुञ्जड़िन ने भृकुटी तानी थी।
खूसट बुढ़िया में भी आई फिर से नई जवानी थी।
गर्मी हुई नरक की यों कीमत सबने पहिचानी थी।
अपना जौहर दिखलाने को उसने मन में ठानी थी।
गूँज उठी सब्जी मण्डी में वह ललकार पुरानी थी।
साग खरीदारों के मुँह यह हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह अल्लारक्खी की नानी थी।

—'प्रभात'।[1]

प्रस्तुत 'विडम्बना गीत' का सुभद्रा कुमारी चौहान की प्रख्यात कविता 'झाँसी की रानी' का परिहासात्मक आवर्तन है। किन्तु निम्न कविता में कवि ने प्रसाद के गीत की प्रथम पंक्ति ज्यों की त्यों रख दी है—

बीती विभावरी जाग री।
छप्पर पर बैठे काँव-काँव करते हैं कितने काग री।
तू लम्बी ताने सोती है बिटिया माँ-माँ कह रोती है।
रो-रो कर गिरा दिए उसने आँसू अब तक दो गागरी ॥ बीती०॥
उठ जल्दी दे जलपान मुझे दो बीड़े दे दे पान मुझे।
तू अब तक सोई है आली जाना है मुझे प्रयाग री ॥ बीती०॥[2]

हिन्दी में कवि 'बच्चन' के गीतों की परिहासात्मक आवृत्ति इस 'विडम्बना गीतों' के रूप में सबसे अधिक हुई। 'टी शाला', 'चप्पल शाला' की भाँति अनेक 'शालाएँ' रची गईं। बड़ी रचनाओं में श्यामनारायण पांडे की 'हल्दीघाटी' पर 'चूनाघाटी' और निराला के 'बादल राग' पर 'ओ विप्लव के बादल, ओ विप्लव के बादल' बड़ी ही हास्यास्पद रचनाएं हैं।

---

१. संगम, अक्तूबर १९५० ई०।
२. संगम, अक्तूबर १९५०।

समय के प्रवाह के साथ इन हास्य-रस के कवियों ने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों के परिवर्तनों के अनुरूप 'विडम्बना गीत' लिखे हैं और इस क्षेत्र को पर्याप्त समृद्ध भी कर रहे हैं।

(छ) प्रकृति के गीतिकाव्य

प्रकृति के साहचर्य ने मानव को सौन्दर्यप्रेमी एवं कल्पनाजीवी बनाया। दूसरी ओर उसमें विस्मय की भावना को जगा कर उसे कुतूहलमय भी बनाया। इसी प्रवृत्ति ने क्रमशः उसमें ऐसे भाव उद्दीप्त किये कि वह प्रकृति में भी उसी स्पन्दन का अनुभव करने लगा जो प्राणिमात्र में विद्यमान है। फलतः मानव-हृदय और प्रकृति के बीच एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो गया। किन्तु इस रागात्मक संबंध को जोड़ने वाला साधारण व्यक्ति न होकर भावुक कवि हुआ जिसने संघर्षपूर्ण जगत से दूर होकर प्रकृति के सौन्दर्य में अपने को रमाने की चेष्टा की और उसमें उन्हीं भावों को प्रतिबिम्बित होते देखा जो निरन्तर उसके हृदय में उद्दीप्त होते रहे।

चित्रकार रंगों के माध्यम से तूलिका के सहारे प्रकृति का चित्र आँकता है, किन्तु गीतिकाव्यकार शब्दों के माध्यम से लेखनी के सहारे प्रकृति-चित्रण करता है। आशय यह कि दोनों में केवल माध्यम ही का अन्तर होता है जिससे उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। दोनों ही प्रकार के दृश्य एक ही समान भावों का उद्दीपन करते हैं। कवि कभी तो तटस्थ दर्शक की भांति गीतों में प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन करता है और कभी उसमें अपनी भावनाओं का प्रतिबिम्ब देख, तदनुरूप भावाभिव्यंजना करता है। एक को हम प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण कहते हैं और दूसरे को प्रकृति का उद्दीपन रूप में अंकन। एक में प्रकृति का यथातथ्य चित्र वर्तमान रहता है तो दूसरे में भावानुरूप रंगा हुआ चित्र। किन्तु गीतिकाव्य में आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण न होकर उद्दीपन के रूप में ही चित्रण होता है। कहने का आशय यह कि प्रकृति के गीतिकाव्य अधिकतर कवि की भावनाओं को ही व्यंजित करते हैं, कोरा दृश्य उपस्थित करना उनका लक्ष्य कदापि नहीं। ऐसे गीतिकाव्य वस्तु-प्रधान न होकर भाव-प्रधान ही होते हैं। कवि के सुखद भाव प्रकृति को सुखद रूप में और उसके दुःखद भाव उसमें भी दुःखद भाव को प्रतिबिम्बित होते देखते हैं। वस्तुतः मानव-जीवन और प्रकृति परस्पर इतने अधिक सांकेतिक हैं कि कवि एक की व्याख्या दूसरे से करने लगता है और दूसरे में भी उसी हर्ष शोक को देखने लगता है जो मानव-जीवन में व्याप्त हैं। कवि के मुख से निकल पड़ता है 'नैराश्य

छितिज', 'यौवन वसंत' 'आशाओं का कुम्हलाना'। तो कभी कह उठता है 'यमुने! तेरी इन लहरों में, किन लहरों की आकुल तान'। कहने का तात्पर्य यह कि मानव-जीवन के व्यापार प्रकृति के व्यापारों से इतने अधिक मिलते-जुलते हैं कि कवि और विशेषकर गीतिकाव्य-रचयिता एक की व्यंजना दूसरे से करने लगता है। दोनों की सांकेतिकता अपूर्व है। यही कारण है कि प्रकृति-सम्बन्धी गीतिकाव्य एक ओर भावात्मक हुए हैं तो दूसरी ओर बड़े ही विचारात्मक। यही विचारात्मकता उनकी विशेषता है, न कि उनकी वर्णनात्मकता।

अंग्रेजी में 'वर्डसूवर्थ' प्रकृति के प्रेमी कहे गए हैं। प्रकृति में उन्हें वही स्पन्दन सुनाई पड़ा जो मानव में विद्यमान है। अस्तु उसमें उन्होंने उन्हीं मनोविकारों को वर्तमान देखा जो मानव में समय-समय पर जाग्रत हुआ करते हैं। साथ ही उन्होंने प्रकृति को उस सर्वशक्तिमान के रूप में भी देखा। अस्तु उनके गीतिकाव्य में प्रकृति के प्रति आध्यात्मिक भाव भी व्यक्त हुए। सौन्दर्य प्रेमी के रूप में प्रकृति का चित्रण करते-करते उनकी लेखनी अति विचारपूर्ण हो गई। उनका 'ओड आन दी इमिटेशन आफ इम्मार्टेलिटी (Ode on the imitation of immortality) सुन्दर उदाहरण है।

हमारे यहाँ गीतिकाव्य के आदिस्रोत 'वेदों' में प्रातःकाल का वर्णन उषादेवी के रूप में, रात्रि का वर्णन रात्रिदेवी के रूप में किया हुआ मिलता है। इसी प्रकार इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की स्तुतियों में प्रकृति-सम्बन्धी सूक्त मिलते हैं जिनकी विशेषता उनकी वर्णन शैली में तो है ही, साथ ही उनकी विचारात्मकता भी दर्शनीय है।

'भक्तिकाल' में सूर के पदों में जहाँ कहीं विरह-वर्णन आया है वहाँ हृदयस्थ भावनाएँ प्रकृति के व्यापारों के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में वर्तमान है। वर्षा-ऋतु के प्रसंगों में गोपियों के हृदय की वेदना भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुई हैं। तुलसी ने भी अपने पदों में प्रकृति को उद्दीपन के रूप में अंकित किया। मीरा के पदों में प्रकृति सोलहों शृंगार कर प्रियतम से मिलने के लिये जाती हुई प्रतीत होती है, तो कभी उनका विरहविदग्ध हृदय प्राकृतिक वस्तुओं में उसी विरह को व्याप्त देखता है, जो उनमें व्याप्त हैं।

छायावादी कवि प्रकृति की ओर पुनः लौटे। इसका तात्पर्य यही था कि उन्होंने प्रकृति के स्थूल सौन्दर्य की ओर से पुनः उसके सूक्ष्म सौन्दर्य की ओर दृष्टि फेरी। उनका सौन्दर्य-बोध उनकी आत्मा का विषय बना, अतः उनकी अभिव्यंजना उनकी अन्तर्दृष्टि का परिणाम प्रतीत हुई। यही कारण है कि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी जी के प्रकृति के गीतिकाव्य वस्तु-प्रधान

न होकर भाव-प्रधान हुए, जिनमें जिज्ञासा और कौतूहल की प्रवृत्ति ने उनमें दार्शनिकता का पुट भी ला दिया। अस्तु विचारात्मकता भी दूसरी ओर उनमें आ गई। 'लहर', 'पल्लव', 'परिमल' आदि संग्रहों के अधिकांश गीतों में प्रकृति के साथ कवि की भावना बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में वर्तमान है। मानों कवि की आत्मा ने प्रकृति के साथ ऐक्य स्थापित कर लिया है। पंत में प्रकृति के प्रति सौन्दर्यात्मक आकर्षण अधिक है, महादेवी जी में यह सौन्दर्य के प्रति आकर्षण रहस्यात्मक वृत्ति के कारण कम है। निराला ने प्रकृति-चित्रों में अपनी भावनाओं का ही आरोपण किया है और साथ ही आध्यात्मिकता का पट भी उस पर पड़ा है। 'सन्ध्या सुन्दरी' का चित्र 'निराला' ने सुन्दर खींचा है—

> दिवसावसान का समय
> मेघमय आसमान से उतर रही है
> वह सन्ध्या-सुन्दरी परी सी
> धीरे धीरे धीरे,
> तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास
> मधुर-मधुर है दोनों उसके अधर-
> किन्तु गम्भीर नहीं है उनमें हास विलास।'
>
> —परिमल पृ० १३५।

(ज) सामाजिक गीतिकाव्य या मधुगीत

हिन्दी में ऐसे गीतों का, सच पूछा जाय तो अभाव ही रहा है। ऐसे गीत सामाजिक उत्सवों के लिये निर्मित होते हैं जो कि विशेष रूप से मद्यपान के समय पाश्चात्य देशों में गाए जाते हैं। हमारी सभ्यता के भिन्न होने के कारण ऐसे गीतिकाव्य यहाँ नहीं रचे गए। किसी सीमा तक बच्चन के गीतों में ऐसे गीतों की झलक मिलती है।

२. गीतिकाव्य का अकारगत अथवा बहिरंग विभाजन

'सोनेट' [१] 'चतुर्दशपदी'

अंग्रेजी में सोनेट की रचना सर्वप्रथम इटली में तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई। इटली में गीतिकाव्य की इस विधा को सोनेटो (Sonetto) कहते हैं। इसी शब्द से अंग्रेजी के 'सोनेट' शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। 'सोनेटो' का शब्द का मूल अर्थ है शब्दों की ऐसी रचना जो किसी विशेष प्रकार के वाद्ययन्त्र के सहारे गायी जा सके।

१. Sonnet—ital. Sonetto (Encyclopedia Brittannica, Vol. XXV Page 394.)

विशेष कर 'पियानो' पर ऐसे गीत गाए जाते थे। अंग्रेजी में इटली के इसी काव्यरूप की समस्त विशेषताएँ पन्द्रहवीं शताब्दी में आकर मिली। एक तो 'सोनेट' नाम ही उसे इसीलिये दिया गया कि मूल में वह 'सोनेटों' शब्द की अपनी गेयता को अपनाए हुए हैं। अस्तु उसकी संगीतात्मकता में किसी को सन्देह भी नहीं रह जाता। दूसरे, गीतिकाव्य के अन्य रूपों की तुलना में इसकी संक्षिप्तता अनोखी है। केवल चौदह पंक्तियों में कवि अपने विचारों को प्रकट करता है। अस्तु वह कठिन प्रतिबन्धों से भी युक्त है। उसकी जटिलता यहीं तक सीमित नहीं। उसमें कवि को आद्यन्त अपने एक ही भाव एक ही विचार भिन्न-लय (Contrasted rhythm) में इस भाँति रखने पड़ते हैं कि सम्पूर्ण गीत के बीच भावों की अन्विति (Unity) बनी रहे अथवा कवि के विचारों की कड़ी टूटने न पावे। सम्पूर्ण 'सोनेट' के बीच में से पाठक कवि की केवल एक विचारधारा अथवा एक भावना का स्पर्श कर ले। वस्तुतः 'सानेट' में कवि की विचारप्रधान धारणा हृदय की किसी एक प्रमुख भावना के साथ लिपट कर ही व्यक्त होती है।

'सोनेट' की चौदह पंक्तियों का गठन कवि इस कौशल से करता है कि उसका बाह्य शरीर दो भिन्न भागों में बँटा हुआ सा दिखाई पड़ता है। उसकी आठवीं पंक्ति के उपरान्त कवि के विचारों का मोड़ भी दिखाई पड़ने लगता है और यहीं से कवि के विचारों की गति में सहसा एक परिवर्तन आ जाता है और वह मानों बाह्य संसार से ऊपर उठकर अन्तर्जगत में प्रवेश करने लगता है। इस प्रकार जहाँ 'सोनेट' एक ओर अपने साथ कठिन प्रतिबन्ध को लेकर चलता है वहाँ दूसरी ओर उसमें भावों की तीव्रता एवं प्रभावात्मकता होती है जो अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि पाश्चात्य कवि एवं आलोचक 'जी. बी. रोसेटी' ने उसकी प्रशंसा में अपने उद्‌गार यों प्रकट किए हैं—'एक सानेट एक क्षण का स्मारक है'।[1]

अंग्रेजी में 'सोनेट' के मुख्य तीन प्रकार हैं। ये तीनों ही प्रकार तीन प्रमुख कवियों के नाम पर प्रसिद्ध हुए हैं। जिन्हें वे 'पैट्रार्कियन' (Petrarchan Sonnet) 'स्पेन्सेरियन' (Spenserian Sonnet) और 'शेक्सपिरियन' (Shakesperian Sonnet) कह कर पुकारते हैं। इन तीनों कवियों के हाथों

---

१. 'A sonnet is a moment's monument,
memorial from the Soul's eternity,
To one dead and deathless hour.'
—"The Collected works of G. B. Rossetti"
Vol. 1, P. 176, London 1890.

में पड़कर 'सोनेट' को भिन्न-भिन्न विशेषताएँ मिलती गईं। यही कारण है कि उन्हें अन्य नामों से अभिहित न कर उनके रचयिताओं के नाम पर ही प्रसिद्ध किया गया।

प्रथम प्रकार के 'सोनेट', इटेलियन कवि 'पेट्रार्क' के नाम से प्रसिद्ध हुए जिन्हें 'इटेलियन सोनेट' कहकर भी पुकारा जाता है। इस प्रकार के 'सोनेट' की विशेषता यह है कि इसका बाह्य शरीर अथवा आकार दो भागों में विभक्त होता है। एक तो आठ पंक्तियों में दूसरा छः पंक्तियों में। इन अष्ट (Octave) और षष्ट (Sestet) पंक्तियों में कवि का मुख्य भाव प्रथम चार पंक्तियों (Quatrains) में व्यंजित हो, द्वितीय चार पंक्तियों में स्पष्ट होने के पश्चात् सहसा मोड़ पर आ जाता है। पुनः वही भाव प्रथम तीन पंक्तियों (Tercet) में नवीन रूप में व्यंजित हो, अन्तिम तीन पंक्तियों में उसी भव्यता से अन्तिम अवस्था को पहुँचता है जिस भव्यता को प्रथम चार पंक्तियाँ अपने में समेटे रहती हैं। ऐसे 'सोनेट' का आरम्भ और अन्त ओजपूर्ण होता है। इसका तुक क्रमशः अ, ब, ब, अ, अ, ब, ब, अ तथा स, ड, ई, स, ड, ई होता है। Octave=a.b.b.a.–a.b.b.a. Sestet=c.d.e–c.d.e.)।

'सोनेट' का दूसरा प्रकार 'स्पेन्सर' के नाम से प्रसिद्ध है। 'स्पेन्सर' ने अपने 'सोनेट' को चार-चार पंक्तियों (Quatrains) के तीन पदों में विभाजित कर उसका अन्त एक द्विपदी (Couplet) से किया। विशेषता इसकी यह है कि तीन पदों और अन्तिम दोहे के अपने भिन्न-भिन्न तुकों (Rhyme) से पूर्ण होते हुए भी सम्पूर्ण 'सोनेट' विच्छिन्न-सा नहीं प्रतीत होता। एक पद दूसरे से अभिन्न रूप में जुड़ा होता है। उसके पदों का तुक क्रमशः अ.ब.अ.ब.,-ब.स.ब.स., स.ड.स.ड., इ.इ. होता है।

तीसरे प्रकार के 'सोनेट' शेक्सपियर के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। ये 'सोनेट' 'इटेलियन सोनेट' से बिल्कुल भिन्न हैं और निर्माण शैली में 'स्पेन्सर' के 'सोनेट' से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। किन्तु विशेषता उनकी यह होती है कि 'स्पेन्सेरियन सोनेट' की भाँति उनमें तुक की श्रृङ्खलाबद्धता नहीं मिलती। तो भी अँग्रेजी साहित्य में उनका माधुर्य सबसे निराला है, क्योंकि उनमें शेक्सपियर ने मानव-भावों एवं अनुभवों की सच्ची अभिव्यक्ति को स्थान दिया है। शेक्सपियर के इस प्रकार के गीतों की विशेषता एकमात्र यही है कि उनमें उनके हृदय की सुखात्मक एवं दुःखात्मक अनुभूति विविध अन्तर्द्वन्द्वों सहित अभिव्यंजित हुई है। इस प्रकार के 'सोनेट' का तुक क्रमशः अ. ब. अ. ब. स. ड. स. ड. ई. फ. ई. फ. ज. ज. होता है।

'सोनेट' की विषयगत विशेषता प्रथम तो प्रेम के प्रसंगों को लेकर चलने की थी। रानी एलिजाबेथ के युग में सिडनी, स्पेन्सर और शेक्सपियर के 'सोनेट' अधिकतर प्रेम को ही लेकर निर्मित हुए। किन्तु आगे चल कर मिल्टन और वर्ड्सवर्थ ने 'सोनेट' में विषयगत भिन्नता लाकर अपनी एक भिन्न मौलिकता दर्शायी। मिल्टन ने उसकी रचना में पुनः पैट्रार्क की शैली अपनायी और वर्ड्सवर्थ ने तो प्रेम को लौकिक स्तर से अलौकिक स्तर पर उठा कर आध्यात्मिक 'सोनेट' का विधान किया। उत्तरोत्तर 'सोनेट' का विषय-क्षेत्र और भी विस्तृत होता गया और मृत्यु, मिलन, धर्म, ग्राम्य-जीवन, युद्ध आदि विषयों पर 'सोनेट' निर्मित हुए।

हिन्दी में अँग्रेजी के इस गीतिकाव्य स्वरूप को चतुर्दशपदी कहते हैं। इसका निर्माण 'आधुनिक काल' में ही आकर हुआ किन्तु उसकी रचना अत्यल्प है। खड़ी बोली के आरम्भकाल में सर्वप्रथम प्रसादजी ने 'चतुर्दश-पदियाँ' लिखीं किन्तु आगे चल कर 'प्रगतिवाद युग' में इसका विशेषरूप से निर्माण हुआ। प्रभाकर माचवे और नरेन्द्र शर्मा की चतुर्दशपदियाँ उल्लेख-नीय हैं। नरेन्द्र जी का एक उदाहरण देखिये :—

'अग्नि का कर आचमन संकल्प कर मानव,
तम अनल के सिन्धु भी बढ़ता चलेगा तू।
तू नहीं वह चीज़ जो जल खाख हो जाये,
नित्य निखरेगा मनुज जितना जलेगा।
मिश्र चीन सुमेरु बाबुल बुलबुले तेरे,
सभ्यता के स्रोत मनु। कैसे रुकेगा तू?
विघ्न बाधा देख अब कैसे झुकेगा तू?
बहुत-सी मंजिल हुई है पार, देखे...
बहुत-से बटमार, फिर उनसे लड़ेगा तू?
चेतना हो मूर्त तुझ में सँवरने आई....
क्या न मिट्टी से कनक-प्रतिमा घड़ेगा तू?
यहाँ कौन अयुद्ध है कटिबद्ध हो मानव।
अब मनुज ही देव मेरा, मनुज ही दानव।

—नरेन्द्र शर्मा, हंस, १९४२ मई, पृष्ठ ८३४।

प्रस्तुत चतुर्दशपदी में एक ही भाव, एक ही विचार है जो अपने में पूर्ण है। मानव का मानवत्व इसी में है कि वह पार्थिव संघर्ष में सहर्ष कूद कर उससे इस प्रकार बाहर निकले कि मुँह से एक आह भी न निकल पाये क्योंकि

वह है भी तो सभ्यता के आदिस्रोत-प्रवाहक मनु का वंशज। आज उसी के वर्ग का मानव, दानव भी बन गया है अस्तु कवि की संघर्षमयी भावनाएँ प्रबल हो गई हैं। आदि पंक्तियों में कवि के भाव व्यंजित हो, आगे बढ़ कर अन्तिम पंक्ति में अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच जाते हैं। नरेन्द्र जी की चतुर्दश-पदियाँ बड़ी भावपूर्ण और विचारात्मक होती हैं।

इस गीतिकाव्य के रूप का अभी यह प्रथम पग है किन्तु उसकी दृढ़ता और गतिशीलता में हमें सन्देह नहीं। उनमें पश्चिम का अन्धानुसरण नहीं, अपनी भिन्न विशिष्टता भी वर्तमान हैं। चतुर्दशपदियों का भविष्य उज्ज्वल है क्योंकि उनके निर्माण से कवियों को पर्याप्त सफलता मिली है।

ओड (Ode) सम्बोधगीति

अँग्रेजी का यह गीतिकाव्य-रूप ग्रीक शब्द 'ओडे' से लिया गया है जिसका मूल अर्थ ग्रीक भाषा में गीत होता है। ऐसे गीतों की रचना वहाँ पर संगीत के शास्त्रीय विधान के आधार पर ही होती थी जिनको 'ग्रीस' के निवासी गिर्जाघर की वेदी (Altar) पर गाया करते थे। किन्तु आज अँग्रेजी में 'ओड' को कवियों ने जो स्वरूप प्रदान किया है, उसमें जिस शैली में भावों की अभिव्यंजना की गई है, उसे देख हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसका संगीत के शास्त्रीय विधान पर निर्माण नहीं हुआ है। गेय होना उसका कोई आवश्यक गुण भी कदापि नहीं माना जाता। वह वैविध्य से पूर्ण है। संभवतः यही कारण है कि उसकी परिभाषा करते हुए कठिनाई होती है, किन्तु जब वह गीतिकाव्य का ही एक भेद है तो असन्दिग्ध रूप में यह कहा जा सकता है कि संगीतमयता, एकता, आत्मनिष्ठा और कल्पना की भावात्मकता तो उसमें अवश्य होती है। इसकी परिभाषा करते हुए 'एडमण्ड गौस' ने कहा है कि वह उत्साहवर्द्धक, स्तुतिपरक, संगीतमय गीत है जिसका एक निर्धारित उद्देश्य होता है और जो केवल एक ही भव्य वस्तु को लेकर निर्मित की जाती है।[१] आक्सफोर्ड कोष में उसकी परिभाषा करते हुए इस प्रकार कहा गया है कि 'ओड' वह तुकान्त (यदा-कदा अतुकान्त) गीतिकाव्य है जो संबोधन के रूप में होता है और साधारण तौर पर उसकी

---

१. "Any strain of enthusiastic and exalted lyrical verse, directed to a fixed purpose and dealing progressively with one dignified theme."—English odes—Edmond Gosse.

वस्तु, भावना एवं शैली भव्य अथवा भावातिरेक पूर्ण होती है।[१]

उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं से हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि 'ओड' गीतिकाव्य का एक ऐसा प्रकार जिसकी शैली भव्य, गम्भीर एवं उत्साहवर्द्धक होती है। उसमें कवि की आत्मनिष्ठा वहीं तक होती है जहाँ तक उसमें तीव्रतम भावनाओं की अभिव्यंजना हो सके। कवि की ये तीव्र भावनाएँ यों ही प्रथम पुरुष में नहीं रख दी जातीं, बल्कि किसी वस्तुविशेष का सम्बोधन कर कवि अपनी भावनाओं को प्रकट करता है। कभी तो वह स्वयं अपने को और कभी अन्य वस्तु को सम्बोधित करता हुआ दिखाई पड़ता है। 'ओड' के इसी सम्बोधन के तत्व में विशेष आकर्षण रहता है।

आकार में 'ओड' अन्य गीतिकाव्य स्वरूपों की अपेक्षा बृहद् होता है। क्योंकि उसमें वर्णनात्मकता का कुछ अंश अवश्य विद्यमान रहता है, किन्तु इस तत्व के रहते हुए भी उसकी शैली बड़ी भव्य गौरवपूर्ण एवं गरिमापूर्ण (Stately) और उसकी गति बड़ी धीर एवं गम्भीर होती है। यही कारण है कि 'कीट्स' ने उसकी उपमा एटलस पहाड़ से दी है।

दूसरी विशेषता उसकी यह है कि उसमें किसी विचार अथवा भाव का तार्किक विकास होता है। उसकी शैली कभी-कभी अत्यन्त गूढ़ होती है। अस्तु वह गीतिकाव्य के अन्य रूपों में सबसे अधिक विचारपूर्ण, सबसे अधिक आवेगपूर्ण (Emotional) और सबसे अधिक कल्पनात्मक प्रमाणित होता है। यही कारण है कि उसे विद्वानों ने 'ऐलिजी' (Elegy) के अधिक निकट माना है। उसमें कवि की निजी आवाज़ गम्भीर स्वर में गूँजती हुई एक बृहद् आकार बना लेती है। उसकी गति में जहाँ भव्यता होती है वहाँ वह क्षिप्रता से भी रहित नहीं। उसे 'एलिजी' के निकट मानने का एक कारण यह भी है कि उसमें करुणा की एक क्षीण रेखा विद्यमान रहती है। तथापि कवि की आशावादिता ही उसमें प्रमुख होती है। कवि विषय की दृष्टि से सीमित नहीं होता। 'ओड' में कवि किसी अवसर विशेष की प्रमुख घटना को लेकर भी उसका निर्माण कर सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि उसमें भावों की अन्विति अवश्य रहे। कवि वस्तु विशेष का सम्बोधन तो करता ही है परन्तु साथ ही साथ वह प्रश्न भी करता रहता है। बाह्य स्वरूप

---

१. "A rhymed (rarely unrhymed) lyric, often in the form of an address generally dignified or exalted in subject, feeling and style." —Oxford English. Dictionary–page 563.

की वर्णनात्मकता उसे गीतिकाव्य का महाकाव्य बना देती है। कहने का तात्पर्य यह कि जो स्थान प्रबन्धकाव्य में महाकाव्य का है वही 'ओड' का गीतिकाव्य में है।

बाह्य छन्दोविधान की दृष्टि से 'ओड' का विभाजन दो मुख्य प्रकारों में किया गया है—एक तो व्यवस्थित (Regular) और दूसरा अव्यवस्थित (Irregular) ओड होता है। प्रथम प्रकार के 'ओड' में कवि सम्पूर्ण गीति को व्यवस्थित छन्द में सँजोता है और उनमें नियमित पद्यबद्ध विभाजन करता है, किन्तु द्वितीय प्रकार के 'ओड' में ऐसा कोई नियमित विधान नहीं होता। उसमें कवि अपनी इच्छा के अनुसार स्वतन्त्र रूप में भावाभिव्यंजना करता है। इसका रचयिता कोई प्रतिबन्ध अथवा नियम स्वीकार करता है तो वह केवल कल्पना, गीतिमय-मनोवृत्ति एवं काव्यमय प्रेरणा हैं जिनकी अनिवार्यता अव्यवस्थित अथवा 'अनियमित ओड' का लेखक 'ओड' की रचना में स्वीकार करता है।

'व्यवस्थित ओड' के पुनः तीन उपविभाग किये गए हैं। पहला 'पिंडारिक ओड' (Pindaric Ode) जो ग्रीस के प्रसिद्ध गीतिकाव्यकार 'पिण्डार' (Pindar) के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा 'होरेशियन ओड' जो रोम के कवि 'होरेस' (Horace) की निजी शैली पर प्रसिद्ध है और तीसरा आधुनिक व्यवस्थित ओड (Modern regular Ode) जिनका निर्माण न तो 'पिंडारिक' और न 'होरेशियन ओड' के आधार पर हुआ है। उनकी अपनी निजी विशेषताएँ हैं। 'वर्ड्सवर्थ' 'शैली' और 'कीट्स' इसके निर्माता हैं।

'पिंडारिक ओड'

इस प्रकार के 'ओड' का निर्माण 'ग्रीस' में केवल गिर्जाघरों की वेदी (Altar) पर गाने के लिये हुआ। पहली विशेषता इसकी यह थी कि इसमें संगीत के शास्त्रीय विधान पर नियमित छन्द-प्रणाली में गीतों की रचना की गई। ये गीत केवल गेय हों ऐसी बात न थी, प्रत्युत उनके साथ लोग नृत्य भी करते थे। यही कारण है कि ऐसे 'ओड' तीन पद्यों में विभक्त कर दिये गए। प्रथम अंश को 'स्ट्रोफी' (Strophe) द्वितीय को 'एन्टी स्ट्रोफी' (Anti-Strophe) और तृतीय को 'इपोड' (Epode) कह कर पुकारा गया। प्रथम पद्य को गाने के उपरान्त नृत्य करते हुए लोग दाहिने से बाएँ घूमते थे और तब द्वितीय पद्य गाते थे, तत्पश्चात् पुनः वेदी के बीच आकर वे सब मिलकर तृतीय पद को गाते थे। किन्तु ऐसे 'ओड' (Ode) में पंक्तियों की निश्चित सीमा नहीं होती थी। उसमें संगीत के वैशिष्ट्य के

कारण लय, तुक, आदि पर अधिक ध्यान रखा जाता था। उसमें अलंकार, कल्पना और शैली का वैभव पूर्ण होता था। अंग्रेजी में 'ग्रे' की 'प्रोग्रेस आफ पोइजी' (Gray's–The Progress of Poesy) इस प्रकार के 'ओड' का सुंदर उदाहरण है।

'होरिशियन ओड' उसकी तुलना में साधारण होता है। इसमें नियमित पद होते हैं जो प्रायः छोटे होते हैं तथा उनकी पंक्तियाँ तुलना में अधिक संक्षिप्त होती हैं। किन्तु ऐसा 'ओड' व्यवस्थित अधिक होता है और इसमें लालित्य की मात्रा 'पिण्डारिक ओड' से अधिक होती है। कोलिन्स की 'ओड टु इवनिंग' (Ode to Evening) ऐसे 'ओड' का सुन्दर उदाहरण है।

'आधुनिक अंग्रेजी ओड' के प्रथम रचयिता स्पेन्सर थे जिन्होंने अपने वैवाहिक जीवन को लेकर 'एपीथैलैमियन' (Epithalamion) नामक 'ओड' लिखी। इनके पश्चात् ड्रेटन, जान्सन, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, शैली, और कीट्स आदि कवियों ने अंग्रेजी में 'ओड' का परिष्कार किया। वर्ड्सवर्थ की 'ओड टु ड्यूटी' (Ode to duty), शैली की 'ओड टु वेस्टविन्ड' (Ode to Westwind) और कीट्स की 'ओड आन ए ग्रीशियन अर्न' (Ode on a Grician Urn) आधुनिक अंग्रेजी 'ओड' के सुन्दर उदाहरण हैं।

हिन्दी के सम्बोधगीति

हिन्दी में 'ओड' को सम्बोधगीति का पर्याय मिला है। वास्तव में देखा जाय तो संस्कृत के सन्देशकाव्य में हम गीतिकाव्य के इस स्वरूप की एक झलक पाते हैं। 'मेघदूत' में कालिदास मेघ को सम्बोधित कर अपनी हृदयस्थ भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। उसकी शैली वर्णनात्मकता की ओर झुकी हुई भी है। इसी प्रकार परवर्ती 'दूतकाव्यों' में भी यही सम्बोधन की प्रवृत्ति हमें देखने को मिलती है और साथ ही उनमें आत्माभिव्यंजना भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इस दृष्टि से संस्कृत के ये काव्य सम्बोधगीति के सुन्दर उदाहरण तो नहीं कहे जा सकते। हाँ, हम इतना कह सकते हैं कि उनमें उसकी एक झलक अवश्य दिखाई पड़ती है।

हिन्दी काव्य-क्षेत्र के 'आधुनिक युग' और उसमें भी विशेष रूप से 'छायावाद युग' में ही आकर अंग्रेजी के ढंग पर संबोधगीतियों का निर्माण प्रसाद, पंत और निराला ने किया। किन्तु इनकी रचनाओं में अपनी निजी विशेषताएँ वर्तमान हैं। प्रसाद जी की संबोधगीतियों में विचारों की गहनता, कल्पना की उत्कृष्टता एवं शैली की भव्यता सभी विशेषताएँ मिलती हैं।

उनमें भावों का तार्किक विकास भी पाया जाता है। कल्पना एवं भावावेश की तो प्रधानता सर्वत्र ही मिलती है। उनकी 'किरण', 'विषाद', 'बसन्त', 'मेघों के प्रति' एवं 'दीप' आदि भिन्न भिन्न विषयों पर लिखी गई संबोधगीतियाँ उल्लेखनीय हैं। 'किरण' में कवि किरण को संबोधित कर हृदय की भावनाओं को व्यक्त करता है। प्रश्नवाचक पंक्ति से उसका आरम्भ बड़ा ही प्रभावोत्पादक है :—

'किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज, रंगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी तुम कौन ?'

—'झरना' पृष्ठ १४।

'मेघों के प्रति' में भी इसी प्रकार का प्रश्नवाचक आरम्भ है :—

'अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलंब
सुखी सो रहे थे इतने दिन कैसे, हे नीरद निकुरंब ?

—'अजात शत्रु'–प्रसाद, तृतीय अंक, पृ० ११८।

पंत जी ने संबोधगीतियाँ अधिक लिखी हैं। उनके 'पल्लव' काल की कविताओं में 'छाया', 'बादल', 'परिवर्तन', 'शिशु', 'विचिविलास', 'स्वप्न', आदि अनेक गीतिकाव्य इसी स्वरूप के अन्तर्गत आते हैं। यों तो सभी में अपनी भिन्न-भिन्न विशेषताएँ वर्तमान हैं तथापि कवि का 'परिवर्त्तन' नामक संबोधगीति वस्तुतः सुन्दर बन पड़ा है। उसकी शैली बड़ी ही ओजपूर्ण एवं गौरवशालिनी है। भाषा की संस्कृत बहुलता ने उसे सशक्त बना दिया है एवं उसका स्वरूप वर्णन के आग्रह को भी न छोड़ सका। अस्तु उसमें महाकाव्य का सा ओज एवं गाम्भीर्य आ गया है। उसकी आवेगपूर्णता तीव्र है। साथ ही उसमें वेदना परिवर्तनमय विश्व की निष्ठुरता में झलक पड़ती है। कवि परिवर्तन को मूर्त रूप देकर बीच-बीच में प्रश्न भी करता जाता है। जहाँ कवि नश्वरता के भीतर साधनामय जीवन का चित्र उपस्थित करता है वहाँ उसकी दार्शनिकता भी मुखरित हो पड़ती है।

गुंजन काल की कविताओं में 'भावी पत्नी के प्रति', 'विहग के प्रति' तथा 'युगान्त' में 'बापू के प्रति' एवं 'मानव' गीतिकाव्य के इस स्वरूप के सुन्दर उदाहरण हैं। भावुकता एवं विचारात्मकता इनमें कूट-कूट कर भरी

हुई है। 'बापू के प्रति' संबोधगीति में विषय की गौरवपूर्णता गीतिकाव्य के इस स्वरूप के अनुकूल है।

'निराला' जी ने अपने 'परिमल' संग्रह में संबोधगीतियों को विशेषरूप से संग्रहीत किया है। 'यमुना के प्रति', 'प्रयास के प्रति', 'नयन', 'तरंगों के प्रति', 'जलद के प्रति', 'शेफालिका', 'कवि', 'प्रिय के प्रति', 'जुही की कली', 'वासंती', 'वसन्त समीर', 'वहू' आदि कविताएँ जिनके सुन्दर उदाहरण हैं। इनमें कल्पना और भावावेश की तीव्रता अधिक होने के कारण इनके स्वरूप में संक्षिप्तता आ गई है। इनकी विशेषता भावों की मौलिकता एवं शैली की ओजमयता में तो है ही, किन्तु करुणा और कोमलता ऐसे तत्व हैं जिन्होंने इनके सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया है। अधिकांश गीतों में यही वेदना की एक क्षीण रेखा उनके वैशिष्ट्य को सम्हाले हुए हैं। 'यमुना के प्रति' गीति में जहाँ कवि यमुना को संकेत कर प्रश्न करता है वहाँ करुणा झलक पड़ती है :—

'बता कहाँ वह वंशी वट ?
कहाँ गए नटनागर श्याम ?
चल चरणोंका व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दा धाम ?
× × ×
कहाँ यहाँ अस्थिर तृष्णा का
बहता वह स्रोत अजान ?
कहाँ हाय निरुपाय तृणों से
बहते अब वे अगणित प्राण !

—परिमल, पृष्ठ ४६।

वस्तुतः हिन्दी में सम्बोधगीतियाँ अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक निर्मित हुई और संभवतः यही कारण है कि उनका परिष्कार भी बहुत हुआ। उनमें अपनी मौलिकता तो है ही, साथ ही स्वाभाविकता भी उनमें कम नहीं। उपर्युक्त सभी उदाहरण हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचा देते हैं कि यद्यपि इन कवियों को उनके निर्माण में पश्चिम से प्रेरणा मिली, तथापि उनमें अपनी एक भिन्न विशेषता भी सुरक्षित है। विचारात्मकता, भावात्मकता और आवेग का कम्पन तो उनमें मिलता है, साथ ही गम्भीर भावों का क्रमिक विकास भी देखने योग्य है। जिस भव्य एवं गौरवपूर्ण शैली की आवश्यकता उनमें होती है वह भी सर्वत्र विद्यमान है।

अंग्रेजी 'ओड' की शैली की दृष्टि से एक विशेषता यह भी है कि कवि वस्तु-विशेष का सम्बोधन कर, उसके द्वारा अपने हृदय में उत्पन्न भावों को व्यंजित करता है और कभी वह उन्हीं सम्बोधित वस्तुओं से स्वयं उनकी ही बातें कहला कर, अपने को उन्हीं में आरोपित कर, भावों की व्यंजना करता है। प्रथम प्रकार की 'ओड' शेली की 'स्काईलाक' (Sky-lark) और द्वितीय प्रकार की 'ओड' उन्हीं का 'क्लाउड' (Cloud) है। हिन्दी में भी इन दोनों शैलियों में संबोधगीतियाँ लिखी गई हैं। उपर्युक्त परिगणित अधिकांश कविताएँ प्रथम शैली में ही लिखी गई हैं जैसे निराला की 'यमुना के प्रति', पंत की 'छाया', प्रसाद की 'किरण'। द्वितीय शैली में पंतजी की 'बादल' कविता लिखी गई है। कहना न होगा कि हिन्दी में गीतिकाव्य के इस स्वरूप का भविष्य उज्ज्वल है और वह अपनी विकासोन्मुख अवस्था में है।

एलिजी (Elegy) शोकगीति

'ओड' की ही भाँति 'एलिजी' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'इलीजिया' से हुई है, जिसका अर्थ है दुःखद, करुण या मृत्यु पर लिखा हुआ गीत। किन्तु जिस ग्रीक भाषा में यह स्वरूप सर्वप्रथम प्रचलित हुआ, उसी भाषा में रचित इस प्रकार के गीतों को देखने से यह पता चलता है कि वे मृत्यु के अतिरिक्त युद्ध और प्रेम के प्रसंगों को लेकर भी रचे गए। इस प्रकार ग्रीक साहित्य में 'एलिजी' विषय की दृष्टि से सीमित कदापि नहीं थी। उसके अन्तर्गत विषय की विविधता को भी स्थान मिला, जिससे भावों के वैविध्य को भी हम उसमें देखते हैं। वस्तुतः उसका कारण यह था कि उस समय 'एलिजी' की रचना में वस्तु का उतना ध्यान न रखा गया जितना उसके बाह्य आकार का। यही कारण था कि इसका नामकरण उसके अर्थ को लेकर नहीं हुआ, प्रत्युत छन्द-विशेष के कारण उसको इस नाम से अभिहित किया गया। यह छन्द था 'एलिजाइक छन्द' (Elegiac metre) जो षट्पदी (Dectylic hexametre) और पंचपदी (Dectylic pentametre) छन्दों को मिला कर बना हुआ है। आशय यह कि ग्रीक काव्य-क्षेत्र में इसके निर्माण में छन्द विशेष का प्रयोग प्रमुख है और प्रसंग का करुण एवं दुःखद होना अनिवार्य नहीं।

अंग्रेजी साहित्य में जब 'एलिजी' लिखी गयीं तब उनका अर्थ सीमित कर दिया गया। उनमें छन्दों का तो नियमन बहुत कुछ वैसा ही रहा किन्तु उनके विषय भी नियमित कर दिये गये। उनमें केवल ऐसे शोक की व्यंजना

को ही स्थान दिया गया जो किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त कवि के जीवन में अनुभूत हुआ हो। तात्पर्य यह कि अंग्रेजी कवियों ने 'एलिजी' की परिभाषा इसी करुणरस की व्यंजना का मुख्य मान कर की और साथ ही 'एलिजाइक छन्द' (–⌣⌣) में लिखे जाने के कारण उसको 'एलिजी' नाम से प्रसिद्ध किया। 'इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका' में उसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि 'एलिजी' वह छोटी कविता है जिसमें कवि प्रिय या महान् पुरुष की मृत्यु से उत्पन्न शोक अथवा साधारण क्षति से उत्पन्न नैतिक व्यथा को प्रकट करता है। उसका दुःखद एवं करुणा से पूर्ण होना तथा विचारात्मक होना अत्यन्त आवश्यक होता है। वह छोटी होती है किन्तु उसमें भावाभिव्यक्ति सहसा नहीं होती।[१]

समय के साथ 'एलिजी' की परिभाषा में भी परिवर्तन आते गए। एक व्यापक अर्थ में उसकी परिभाषा बनने लगी। अर्थात् जीवन के किसी भी क्षेत्र में अभावजनित दुःख को व्यक्त करना उसका एकमात्र गुण समझा जाने लगा। व्यक्तिगत निराशा, अतीत के प्रति रोदन एवं भविष्य की आशावादिता को लेकर भी जब कवि कविता करने बैठा, उसकी अभिव्यंजना में प्रेम और करुणा की ही प्रधानता आने लगी। वह जो बीत चुका, जो नष्ट हो चुका एवं वह जो भविष्य के गर्भ में अन्तर्हित है और जो प्राप्त नहीं हो सकती ऐसी वस्तु के अभाव में कवि ने जब मनोनुकूल छन्दों में अपने उस क्षोभ को अभिव्यक्त किया, तब भी उसकी अभिव्यंजना को 'एलिजी' का नाम दिया जाने लगा। अर्थात् आधुनिक काल तक आते-आते 'एलिजी' व्यक्तिगत क्षोभ को व्यक्त करने का ही माध्यम बन गई। आज तो उसके लिये 'एलिजाइक छन्द' भी अनिवार्य नहीं। अठारहवीं शताब्दी में फ्रेन्च कवियों ने तो उसमें प्रेम भावना को ही अभिव्यंजित किया और जर्मन भाषा में उस प्रकार की कविता से करुणा अथवा शोक का भाव लिया ही नहीं जाता। जो भी हो 'एलिजी' का गीतिकाव्य में वही स्थान है जो 'ट्रेजेडी'(Tragedy) का दृश्यकाव्य (Drama) में होता है।

---

१. "A short poem of lamentation or regret, called forth by the decease of a beloved or revered person or by a general sense of a pathos of morality....It should be remembered that it must be mournful meditative and short without being ejaculatory.

—Encyclopedia Brittannica—Vol. IX-page 252-53

समुचित रूप से देखा जाय तो 'एलिजी' गम्भीर होती है, उसकी शैली मननात्मक (Meditative) होती है और उसका स्वर वेदनात्मक होता है। उसके निर्माण में कवि तीन बातों का ध्यान रखता है—(१) अवसर अथवा स्थान-विशेष की व्यंजना, (२) तज्जनित भावों की व्यंजना और (३) दार्शनिक समाप्ति या अन्त। 'एलिजी' में कवि खेद प्रकट करने से पहले अपने प्रिय वियुक्त व्यक्ति से सम्बन्धित स्थान विशेष की याद करता है और उससे सम्बन्ध रखने वाली समस्त घटनाओं को एक-एक करके क्रमशः व्यंजित करता जाता है। उसके साथ व्यतीत किए हुए दिनों की सुखद स्मृतियाँ एक-एक करके उसके सामने आती जाती हैं और उसे व्याकुल बना देती हैं। तत्पश्चात् उसके अभाव में उसकी क्षति से उत्पन्न शोक हृदय से फूट पड़ता है। उसके शोकातुर हृदय के साथ पाठक भी तादात्म्य स्थापित करने लगता है। अन्तिम पदों में कवि की शोकातुरता से उत्पन्न मूर्छा दूर होती हुई दिखाई पड़ती है—एक प्रकार से उसकी संज्ञा पुनः लौटती है और वह सचेत हो जाता है। उसे दिखाई पड़ती है संसार की नश्वरता; समष्टि के दुःख का ध्यान आते ही वह अपने व्यक्तिगत दुःख को भूल दार्शनिक-सा बन जाता है। उसे अपने दुःख पर मानों विजय मिल जाती है। 'मिल्टन' के 'लिसिडास' (Lycidas) में 'एलिजी' की सब विशेषताएँ उपलब्ध हुई हैं। अन्तिम पदों में वह यह कल्पना करता है कि 'लिसिडास' की मृत्यु कदापि नहीं हुई। उसे विश्वास है कि जिस प्रकार सूर्य नित्यप्रति समुद्र में डूब कर भी पुनः प्रातःकाल होते ही दिखाई पड़ता है उसी प्रकार, लिसिडास समुद्र की अतल गहराई में डूबकर भी अलौकिक स्तर की उच्चता को प्राप्त हो गया है।[१]

अँग्रेजी में 'एलिजी' की रचना दो प्रकार से हुई। एक तो ग्रीक और लैटिन के ढंग पर जिसे ग्रामीण शोकगीति (Pastoral Elegy) कहते हैं और दूसरे प्रकार की 'एलिजी' अपरोक्ष (Direct) 'एलिजी' कही गई। प्रथम प्रकार की 'एलिजी' में कवि अपने शोक को ग्रामीण वातावरण में निबंधित करता है और वियुक्त व्यक्ति तथा स्वयं अपने आप को ग्रामीण चरवाहे के रूप में रख कर दुःख की व्यंजना करता है। तात्पर्य यह कि यहाँ कवि परोक्ष रूप में भावों की अभिव्यंजना करता है जिसमें कलात्मकता का प्राधान्य होता है। विषय को ग्रामीण वातावरण में रखने का एकमात्र कारण यही है कि प्राचीन काल में 'ग्रीस' के लोगों का यह विश्वास था कि चरवाहों (Shepherds) की मृत्यु पर

१. Golden Treasury—F. T. Palgrave., Page. 73।

समस्त प्रकृति विलाप करती है। अस्तु उनके यहाँ ऐसे गीत अधिकतर ग्रामीण वातावरण के ताने-बाने पर ही लिखे गए। स्पेन्सर की 'सर फिलिप सिडनी' की मृत्यु पर लिखी हुई कविता, मिल्टन का 'लिसिडस' (Lycidas) आर्नल्ड का 'थाइर्सिस' (Thyrsis) ऐसी ही 'एलिजी' के सुन्दर उदाहरण हैं।

अपरोक्ष (Direct) 'एलिजी' में कवि का व्यक्तिगत शोक ज्यों का त्यों सीधे व्यक्त होता है। कलात्मक अथवा परोक्ष रूप में कवि अपने दुख की व्यंजना नहीं करता। कल्पना द्वारा अन्य किसी भी प्रकार के वातावरण की सृष्टि वह कर सकता है। उसे कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता। 'टेनिसन' का 'इन मेमोरियम' (In memoriam) और 'ब्रेक ब्रेक ब्रेक' (Break, Break, Break) तथा वाल्टर स्काट का 'कारोनेक' (Coronach) अपरोक्ष 'एलिजी' के सुन्दर उदाहरण हैं।

आधुनिक काल में गीतिकाव्य के इस गम्भीरतम स्वरूप का अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि पश्चिम में आज उसका स्वरूप व्यापक हो गया है। उसमें किसी प्रकार के अभावजनित दुख अथवा क्लेश की व्यंजना भर अपेक्षित समझी जाने लगी है। अतः देश और समाज के विगत ऐश्वर्य एवं अभिमान की क्षति, गौरव का ह्रास आदि को लेकर भी आज 'एलिजी' लिखी जा रही हैं। किन्तु अति प्राचीन युग में 'एलिजी' का स्वरूप सामूहिक होता था। क्योंकि उस प्रथम चरण में मानव के प्रायः सभी मनोविकार व्यक्तिगत न होकर सामूहिक हुआ करते थे। अस्तु रोदन अथवा शोक उन्होंने महाकाव्य के रूप में ही व्यक्त किया और वीरों की स्मृति में, उनकी याद में हृदयस्थ आकुलता महाकाव्य के रूप में ही व्यक्त हो पाई। वीरकाव्यों में हमें ऐसे प्रसंग मिलते हैं जो करुणरस से भरे हुए हैं। कहने का तात्पर्य यह कि अति प्राथमिक युग में 'एलिजी' का कोई स्वतन्त्र स्वरूप पश्चिम में न था। सभ्यता के विकास के साथ ही साथ उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों मानव समूह से विच्छिन्न होने लगा, उसे व्यक्तिगत स्वार्थ की चिन्ता अधिक रहने लगी। क्रमशः वैयक्तिकता के उत्थान काल में आकर मनोभावों की वैयक्तिक रूप में ही अभिव्यक्ति होने लगी। आज का समाज जिस ओर तीव्र गति से बढ़ रहा है उसमें सामाजिक भावना (समाजवाद की भावना) प्रबल हो रही है, जिसे देख पुनः कवियों का झुकाव सामाजिक 'एलिजी' की ओर होता जा रहा है। आशय यह कि उनका स्वरूप सर्वसाधारण की ओर झुकता-सा जा रहा है।

हिन्दी की शोकगीतियाँ

हिन्दी में अंग्रेजी के इस काव्यरूप का करुणगीति अथवा शोकगीति कह

सकते हैं। भारतीय काव्य-क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से इसकी सत्ता न तो संस्कृत साहित्य में मिलती है और न पूर्वकालीन हिन्दी साहित्य में ही इसका स्वतन्त्र रूप से निर्माण हुआ। यों तो आदि कवि के प्रथम श्लोक में उनके हृदय का शोक ही उच्छ्वसित हो उठा है, 'रघुवंश' के 'अज विलाप' और 'कुमार सम्भव' के 'रतिविलाप' में करुणरस का परिपाक भी पूर्ण रूप से हुआ है, किन्तु इन प्रसंगों में अपनी स्वतन्त्र सत्ता कदापि नहीं। वे महाकाव्यान्तर्गत प्रसंगों के अंग हैं। उन्हें शोकगीति का पर्याय नहीं दिया जा सकता। 'शोक-गीति' तो एक भिन्न स्वतन्त्र रचना है। संस्कृत में इसके अभाव के मूल को यदि विचार कर देखा जाय तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि सम्भवतः इस काव्यरूप के अभाव का मूल कारण हमारी दार्शनिक विचार-पद्धति में विद्यमान हैं। हमारे यहाँ के दार्शनिक मृत्यु द्वारा शरीर का तो अन्त मानते हैं किन्तु आत्मा को अनन्त कहते हैं। ज्ञान की यह चरमावस्था थी जहाँ चिर मिलन के सुख का ही अनुभव उन तत्वज्ञानियों ने किया। दृश्यकाव्य को ही लीजिये वहाँ भी दुखान्त नाटकों का विधान वर्ज्य समझा गया और सम्भवतः यही कारण है कि शोक की व्यंजना स्वतन्त्र रूप में न होकर प्रबन्धान्तर्गत करुणरस के रूप में हुई, जिसे भवभूति ने सर्वश्रेष्ठ रस सिद्ध किया।

उर्दू और फारसी में तो हम गीतिकाव्य के इस स्वरूप को 'मर्सिया' के रूप में पाते हैं। फारस में मृत्यु पर 'मर्सिया' लिखने की पद्धति पूर्वकाल में ही प्रचलित थी और अब भी ज्यों की त्यों चली आती है। ऐसी कविताएँ वहाँ पर केवल मृत्यु पर ही लिखी जाती हैं, अतः उनकी सबसे बड़ी विशेषता इसी में है कि कवि अपने सम्बन्धी अथवा समाज के किसी महापुरुष की क्षति पर उत्पन्न हुए दुःख की ही व्यंजना करे।

मुसलमानों में मर्सिया लिखने की पद्धति अति प्राचीन है। कहा जाता है कि बाबा आदम ने सर्वप्रथम सीरियन भाषा में अपने पुत्र के लिये शोक प्रकट किया जो बाद में अरबी में अनूदित किया गया। यह मर्सिया उस समय उनके मुँह से निकला जब केबिन ने एबिल को मारा। क्रमशः मृत्यु पर मर्सिया लिखने की पद्धति सामान्य होती चली गई और धार्मिक उत्साह से उसका निर्माण किया जाने लगा। आज भी मुहर्रम में मर्सियों का गान ताजियों के साथ होता है। हसन और हुसेन को याद कर बड़े ही करुण मर्सियों को बड़े ही करुण ढंग से गाने की पद्धति आज भी ज्यों की त्यों चली आती है। आशय यह कि उर्दू और फारसी में काव्य के अन्यान्य रूपों में मर्सिया भी एक स्वतन्त्र स्वरूप है और उसका निर्माण

विशेष छन्दों में विशेष प्रकार से होता है। ब्रजरत्नदास जी ने अपने उर्दू-साहित्य के इतिहास में मर्सियों पर लिखते हुए कहा है कि—"यह कविता आरम्भ में केवल धार्मिक उत्साह से की जाती थी और इसमें पन्द्रह बीस शेर से अधिक न होते थे। उसमें वास्तविक उद्गार रहता था और करुणरस से ओत-प्रोत होता था पर मृत की कोरी प्रशंसा कवि को तृप्त नहीं कर सकती थी इससे मर्सियों की कमी और कसीदों का आधिक्य होने लगा। फारसी कविता में शृङ्गार तथा प्रेम का प्राधान्य होने के कारण नैसर्गिकता का ह्रास हो गया और ऊपरी दिखावट बढ़ने लगी। करुणारस के लिये सच्चा उद्गार होना ही सर्वस्व है जिसका अभाव-सा हो रहा था। फिर्दोसी, फारुख सादी तथा शुरो ने भी छोटे-छोटे शोकगीत लिखे हैं। पर उसका विशेष प्रचार नहीं हुआ।

"पहले मर्सिये चार मिसरों के होते थे पर सौदा ने पहले पहल छः मिसरों के मुसद्दस का मर्सिये में प्रयोग किया। इस समय तक तीस-चालीस बन्द तक के मर्सिये होते थे पर मीर जमीर ने पहले पहल एक बहुत बड़ा मर्सिया लिखा जिसमें शाहजादः अली अकबर के मारे जाने का बयान है। आरम्भ में भूमिका देकर वस्तु प्रवेश दिखलाया फिर नखशिख तथा युद्धस्थल का वर्णन किया और अन्त में मारे जाने का वृत्तान्त लिखा। इसमें प्राकृतिक वर्णन, अलंकार आदि का भी प्रयोग किया गया था। यह शैली अनीस और दबीर के समय पूर्णता को पहुँची। पहले मर्सिये सोज़ में पढ़े जाते थे पर अब तहत लफ्ज़ में पढ़े जाने लगे।"[1]

राजस्थानी भाषा के साहित्य में इस प्रकार की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती हैं।[2] अकबर के दरबार में सन्देशवाहक जब महाराणा प्रताप की मृत्यु का सन्देश लाया तब कवि दुरसा आढा ने यह छप्पय कहा—

> अस लागो अणदाग पाघ लेगो अण नामी।
> गो आडा गवड़ाय, जि को बहतो धुरवामी।।
> नवरोजे नहँ गयो न गो आतसां नवल्ली।
> न गो झरोखाँ हेठ जेठ दुनियाणं दहल्ली।।

---

१. उर्दू साहित्य का इतिहास, ब्रजरत्नदास बी० ए०, एल० एल० बी०, पृ० १६३।

२. आलोचना के पथ पर, कन्हैयालाल सहल, पृ० १३६।

गहलोत राणा जीती गयो, दसण मूँद रसना डसी।
नीसास मूक भरिया नयण, तो मृत साह प्रताप सी॥[1]

हिन्दी साहित्य में शोकगीतियाँ आधुनिक काल में ही आकर लिखी गई। प्रथम तो भारतेन्दु काल में राष्ट्रीय कविताओं में इस शोकगीति की झलक मिली और 'भारत दुर्दशा' नाटक के गीतों में करुणा का पूर्ण परिपाक मिला। तत्पश्चात् श्रीधर पाठक के अनुवाद 'उजड़ा ग्राम' में इसकी झलक मिली और फिर तो प्रसादजी का 'आँसू' गीतिकाव्य के इस स्वरूप के सुंदर उदाहरण के रूप में काव्य-क्षेत्र में आया। कवि की व्यक्तिगत निराशा, भावात्मक एवं आवेगपूर्ण भाषा में दार्शनिकता को लिये हुए अभिव्यक्त हुई है। बीते हुए दिनों की याद कर कवि रोता है और ज्यों-ज्यों अभाव का भाव तीव्र होता जाता है त्यों-त्यों उसके रुदन में व्याकुलता और वेदना की मात्रा अधिक होती जाती है। कवि रोते-रोते थक जाता है, उसे अपनी सुध आती है। जीवन की कठोरतम वास्तविकताओं के बीच होता हुआ वह उसी रोदन में विश्व का कल्याण देखने लगता है। उसकी मनोवृत्ति दार्शनिक हो जाती है और शोकगीति के अन्त में वह अपने उच्च स्तर को प्राप्त हो जाती है। नैराश्य के धुँधले क्षितिज पर आशा की चमकीली रेखा खिंच जाती है और वे कहने लगते हैं—'बरसो प्रभात हिमकन-सा, आँसू इस विश्व सदन में'।

राजनीतिक क्षेत्र के बड़े-बड़े नेताओं तिलक, मोतीलाल आदि के निधन पर एवं साहित्य-क्षेत्र के महान कवियों की मृत्यु पर भी शोकगीतियाँ लिखी गई हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने 'प्रसाद'जी के निधन पर सुन्दर शैली में शोक-गीति की रचना की—

'जयशंकर' कहते-कहते ही अब भी काशी आवेंगे।
किन्तु 'प्रसाद' न विश्वनाथ का मूर्तिमान हम पावेंगे॥
तात, भस्म भी तेरे तनु की हिन्दी की विभूति होगी।
पर हम जो हँसते आते थे रोते-रोते जावेंगे॥[2]

'प्रगतिवाद युग' में आकर शोकगीतियों का क्रमशः बहिष्कार-सा किया जा रहा है क्योंकि आज के प्रगतिवादी समाज के उत्तरोत्तर विकासोन्मुख होने में शोकगीतियों को बाधक मानते हैं। अस्तु काव्य के इस रूप का या

---

१. 'आलोचना के पथ पर'—कन्हैयालाल सहल, पृ० १३६–३७।
२. कवि प्रसाद, आँसू तथा अन्य कृतियाँ, विनयमोहन शर्मा, पृ० १४७।

तो धीरे-धीरे अभाव हो जायगा अथवा उसमें व्यापकता आने की सम्भावना है। अर्थात् शोकगीति यदि उनके हाथों निर्मित होगी तो उनमें पुनः पूर्व-कालीन सामूहिक शोक की ही व्यंजना को स्थान मिलेगा, व्यक्तिगत शोक को नहीं।

सांग (Song) गीत

अंग्रेजी का 'सांग' गीतिकाव्य का सबसे अधिक विख्यात एवं सबसे अधिक स्वतःप्रेरित (Spontaneous) स्वरूप है जिसमें कवि के भावावेश-पूर्ण कोमल उद्गार संगीतमय पदावली में अभिव्यंजित होते हैं। यहाँ संगीत और काव्य मिलकर एक हो जाते हैं और यही कारण है कि इन गीतों का सौन्दर्य केवल पढ़ कर नहीं आँका जा सकता—उसे गा कर ही पाठक समझ पाता है। क्योंकि 'गीत' में कवि के अन्तःप्रेरित आवेग (Emotions) ऐसे शब्दों में बाहर अभिव्यंजित होते हैं, जिनमें नाद-सौन्दर्य पूर्ण रूप से वर्तमान होता है। कवि प्रत्येक शब्द के अपने भिन्न नाद को भलीभाँति परख कर उन्हें 'गीत' में इस भाँति सँजोता है कि उसमें तुक और लय उनके नाद-सौन्दर्य को बढ़ावे। कवि एक ओर तो संगीत के शास्त्रीय विधान की ओर अपना ध्यान रखता है और दूसरी ओर काव्य के शास्त्रीय विधान छन्द, तुक काव्य-ध्वनि की ओर उसकी दृष्टि रहती है। चूँकि 'गीत' का अनुप्राणित करने वाली भावना का स्वरूप सरल होता है, अतः उसी के अनुरूप उसके रचयिता को शब्दों की सरलता, कोमलता आदि की ओर अधिक झुकना पड़ता है। स्वर, लय, नाद, तुक एवं छन्दोबद्धता आदि की विशिष्टता 'गीत' में इतनी अधिक होती है कि उनका संगीत बहुत समय तक कानों में गूँजा करता है। यही कारण है कि गीत अधिक गेय होते हैं। किन्तु जहाँ अधि-कांश गीत गाने के लिये रचे जाते हैं और उनका गान वाद्य-यन्त्रों के सहारे होता है, वहाँ 'गीत' ऐसे भी होते हैं जिनका गान हृदय के भीतर ही होता है। 'नार्मन हेपल' ने इसी को दृष्टि में रख कर गीत की व्याख्या की है।[१] उनकी धारणा में गीत वह छोटी कविता है जो गाने के लिये लिखी जाती है

---

१. "........a song may be defined as a short poem adapted for singing and sometimes actually set to music, or a metrical co-mposition musical in itself, though neither fitted nor specially designed for singing otherwise than in the heart"

Lyrical Forms in English' — By N. Hepple P. 15.

और कभी-कभी तो सचमुच उनका गान होता है अथवा वह एक ऐसा छन्द-मय स्वरूप है जो अपने में संगीतमय होता है, जो न तो बाहरी संगीत के आधार पर बनाया ही जाता है और न तो उसका गाने के ध्येय से सृजन ही होता है, उसका गान अन्तःप्रदेश में होता है। कहने का तात्पर्य यह कि 'गीत' एक ओर तो वाद्य यन्त्रों के सहारे गाये जाते हैं, तो दूसरी ओर उनका संगीत बाह्य न होकर आन्तरिक भी हो सकता है। आन्तरिक गान एकान्त में बैठकर पढ़ने वाले पाठकों को आनंन्दविभोर कर देता है। इस प्रकार 'गीत' की परिभाषा होती है ऐसी कविता जो संगीतमय, सरल एवं अतिभावात्मक हो और जिसमें लय, स्वर, तुक एवं नाद का ध्यान इस ध्येय से रखा जाय कि उसका संगीत पर्याप्त समय तक कानों में गूँजता रहे; भले ही उसका संगीत आन्तरिक हो अथवा बाह्य।

'नार्मन हेपिल' ने 'गीत' को रूप की दृष्टि से दो प्रकारों में विभाजित किया है—एक तो गेय (Vocal) और दूसरा साहित्यिक (Literary) गीत। इन्हीं गेय गीतों की रचना में कवि संगीत और गीत का सुन्दर सामंजस्य करता है। उसे शब्दों के अपने संगीत का सूक्ष्म ज्ञान तो होता ही है, पर साथ ही संगीत के क्षेत्र में भी उसका पूर्ण प्रवेश रहता है। यही कारण है कि ऐसे 'गीत' की रचना करते समय कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग कदापि नहीं करता जिससे संगीतात्मकता में व्याघात पहुँचे, संगीत का स्वर शब्दों के स्वर से भिन्न न होने पावे। अस्तु कवि को एक कुशल संगीतज्ञ होना भी अनिवार्य हो जाता है। दूसरी विशेषता इस प्रकार के गीत की यह होती है कि वह कवि की आवेगमयी भाषा में होने के कारण इतनी स्निग्धता एवं माधुर्य की अपेक्षा रखता है कि उसमें बुद्धि की अल्पमात्र यन्त्रणा भी उसके समस्त सौन्दर्य को बिखेर देती है। यहाँ बुद्धि के वैभव अथवा उसकी गूढ़ता को कोई भी स्थान नहीं मिलता। हृदय की सुकोमल आर्द्रता से ही उसका सीधा सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि गेय गीत (Vocal song) सरलतम होते हुए भी रचना की दृष्टि से कठिनतम है।

'साहित्यिक गीत' की रचना वाद्य-यन्त्रों के सहारे गाने के ध्येय से नहीं होती। यह संगीत उनके स्वरूप के भीतर वर्तमान आत्मा (Spirit) में विद्यमान रहता है जो शब्दों के लय एवं उनके मोड़ द्वारा ध्वनित होता है। यह संगीत हृदय के भीतर ही भीतर गूंजता है और उसका गान एकान्त में बैठा हुआ पाठक ही कर सकता है। दूसरी विशेषता इस प्रकार के गीतकाव्य की यह होती है कि इसमें कवि के गहन भावों की अभिव्यंजना साधारण शैली

में न होकर साहित्यिक शैली में होती है। इसीलिये इन्हें साहित्यिक गीत कहा गया है।

'गीत' के उपर्युक्त विभाजन को दृष्टि में न रख कर जब हम समुचित रूप में उसकी शैली की विवेचना करते हैं, तब हम यही देखते हैं कि उसकी रचना में कवि को बड़ी सतर्कता से काम लेना पड़ता है। वह ऐसे ही स्वरों का अधिकतर प्रयोग करता है जिनसे गान खुलकर हो सके। अर्थात् कवि नादप्रधान स्वरों (Open vowels) का ही विशेषकर प्रयोग करता है। जैसे 'ए', ओ, ओह ! जैसी ध्वनियाँ गीत के लिये अधिक उपयुक्त होती हैं। स्वरों में संगीतात्मकता अधिक होती है, न कि व्यंजनों में। दूसरी विशेषता गीत की छन्दों की दृष्टि से है। उसमें छन्दों का प्रयोग स्वरावरोह या मूर्छना (Fall of accent) को ध्यान में रखकर किया जाता है। इस प्रकार वे ही छन्द इसमें प्रयुक्त होते हैं जिनमें कोमलता होती है। नादप्रधान और तान स्वरों (Long notes) का अवरोह (Fail) एक साथ उसमें होता है। प्रायः प्रथम पंक्ति 'टेक' होती है जिससे संगीतात्मकता बढ़ जाती है। यह 'टेक' (Refrain) अथवा ध्रुव की पद्धति संगीत तत्व को बढ़ाने में सहायक होती है।

गीत एक ही नहीं अनेक पद्यों में विभक्त कर लिखा जाता है, किन्तु एक पद्य (Stanza) का दूसरे पद्य से पूर्ण सम्बन्ध होता है। अर्थात् प्रत्येक पद के बीच से होती हुई कवि की एक ही भावना उन सभी पद्यों को गूँथती हुई चली जाती है। भावों की एकता न होने से तो सम्पूर्ण गीत का सौन्दर्य बिखर जाता है। अस्तु एक ही भावना के सूत्र में गीतों के मोती को पिरोना परमावश्यक है। गीत की भाषा अत्यधिक आलंकारिक अथवा कृत्रिम न होकर सरल एवं मधुर होती है। हृदय द्वारा स्वतःप्रवृत्त स्रोत होने के कारण ही इसे गीतिकाव्य के अन्यान्य स्वरूपों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। अंग्रेजी में गीतों के रचयिताओं में डेकर, बर्नस्, ब्राउनिंग, और बायरन प्रसिद्ध हुए हैं।[१]

गीत के विषय साधारण एवं विश्वजनीन होते हैं। प्रेम, हर्ष, युद्ध, प्रकृति सौन्दर्य आदि मनोभावों एवं विषयों को लेकर ही अधिकांश गीतों की रचना हुई। इन्हीं विषयों एवं मनोभावों को लेकर किसी अन्य आलोचक द्वारा यह

---

१. Dekker's–"O sweet content," Robert Burns–A Red Red Rose

गीतिकाव्य का रूप पाँच भागों में बाँटा गया है।[१] किन्तु हम हिन्दी गीतों का विभाजन विषय की दृष्टि से इसलिये नहीं करते कि ये भावनाएँ गीत (Song) के अतिरिक्त गीतिकाव्य के अन्य प्रकार ओड (Ode), एलिजी (Elegy), सोनेट (Sonnet) आदि में भी प्रमुख हो सकती हैं।

हिन्दी के गीत

हिन्दी में 'सांग' (Song) को गीत शब्द का पर्याय हम देते हैं। आए दिन पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी कविताएँ देखने को मिलती हैं जिनमें शीर्षक नहीं होते और यही 'गीत' शब्द उनके स्थान पर लिखा रहता है। किन्तु इससे यह आशय नहीं कि गीत केवल शीर्षकविहीन कविताओं को कहते हैं। यह तो कहा ही जा चुका है कि गीत गीतिकाव्य के अन्यान्य स्वरूपों में से एक है जिसमें संगीत का तत्व अनिवार्यतः रहता है। इस दृष्टि से सूर, तुलसी दास, मीरा आदि के पदों की शैली यही गीत शैली है। क्योंकि उनके पदों में संगीत और काव्य का सुन्दर सामंजस्य किया गया है। जहाँ पर सूर और मीरा के पदों में सारल्य की अति है, वहाँ पर तुलसी के पद साहित्यिक हो गए हैं। कबीर के पदों में तो बौद्धिकता आ गई है जिससे उनके पदों में परवर्ती कवियों जैसा माधुर्य नहीं मिलता।

आधुनिक काल में आकर प्रथम तो भारतेन्दु के गीत हमें मिलते हैं। ये गीत विशेषरूप में 'चन्द्रावली नाटिका' में प्रथम दिखाई पड़े जो बड़े ही शृंगारिक हैं—

पिय तोहि राखौंगी भुजन में बाँधि।
जान न देहौं तोहि पियारे धरौंगी हिये सों नाँधि।
बाहर गर लगाई राखौंगी अन्तर करौंगी समाधि।
हरीचन्द छूटन नहि पैहौं लाल चतुराई साधि॥[२]

स्वतन्त्र रूप से भी भारतेन्दु ने गीतों की रचना की, जिनका संग्रह उनकी

---

१. 1–The sacred song or hymn. 2–The patriotic song. 3–The love song. 4–The convival song. 5–The political song.
The art of versification and the technicalities of poetry. By–R. F. Brewer, B. A. page 221–226.

२. चन्द्रावली नटिका—पृ० ११३, सम्पादक अवध उपाध्याय, प्रथम संस्करण।

'ग्रन्थावली' में हुआ। इनके पश्चात् हम अति आधुनिक काल में प्रवेश कर प्रसाद, पन्त, गुप्त, निराला, बच्चन और महादेवी के गीतों को अपने परिष्कृत रूप में पाते हैं। महादेवी और बच्चन के गीतों की तो मौलिकता भिन्न ही दिखाई पड़ी। प्रसाद के नाटकों में उनके गीतों की योजना हमने देखी। ये गीत संगीत के शास्त्रीय विधान के अनुरूप ही विभिन्न राग-रागिनियों में निर्मित हुए। उनमें शब्द-योजना, नाद-सौन्दर्य को भी साथ लेती चलती है। उनमें भाव, कल्पना एवं आवेग की तीव्रता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है और भाषा, भाव एवं संगीत मिल कर एक हो गए हैं। 'लहर' के इस गीत में यही बात पाई जाती है—

> 'वे दिन कितने सुन्दर थे,
> जब सावन घन सघन बरसते।
> इन आँखों की छाया भर थे,

—लहर, पृ०, २६।

× × ×

और 'स्कन्दगुप्त' नाटक के इस गीत में भी—

> आह! वेदना मिली बिदाई
> मैंने भ्रमवश जीवन संचित,
> मधुकरियों की भीख लुटाई।

—'स्कन्दगुप्त', पृ० १६५, अंक ५।

पन्त में सौन्दर्य भावना अधिक होने के कारण गीतों में कोमलता और 'निराला' में ओज की प्रधानता है। 'निराला' के गीतों के विषय में कहा जाता है कि काव्य की आत्मा संगीत के स्वरों में उतर आई है और संगीत का स्वर काव्य का सुर भर रहा है।[1] किन्तु निराला की 'गीतिका' में कहीं-कहीं भावना के साथ बौद्धिक तत्व समन्वित न होने के कारण गीतों के कोमल स्वरूप को विकृत भी कर रहा है।

महादेवी के गीतों में कोमल स्पन्दन सुनाई पड़ता है। मानो हृदय की व्यथा गीत बन कर अनायास निकल पड़ी है—उसमें संगीत है और प्रचुर मात्रा में है। 'सान्ध्यगीत' के गीत ऐसे ही हैं। इसमें मात्रिक छन्दों का प्रयोग और टेक दोनों मिलते हैं—

---

१. गीतिकाव्य, रामखेलावन पाण्डेय, पृ० ३२०।

'शलभमय शापमय वर हूँ,
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
ताज है जलती शिखा,
चिनगारियाँ शृंगार-माला।
ज्वाल अक्षय कोष सी,
शृंगार मेरी रंग-शाला।
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ।'
—'सान्ध्य गीत' पृ० २०।

बच्चन के गीतों में हृदय की आकुलता बिना किसी कृत्रिमता के स्वतः संगीतमय रूप में निकल पड़ी है। उनके गीतों में सरलता देखने योग्य है। 'निशानिमन्त्रण' के गीतों में संगीत और भाव का सुन्दर समन्वय है—

'आज मुझसे दूर दुनियाँ
भावनाओं से विनिर्मित
कल्पनाओं से सुसज्जित
कर चुकी मेरे हृदय का स्वप्न चकनाचूर दुनियाँ।'
—निशानिमन्त्रण, पृ० ६५।

महादेवी के आत्मबोध और पन्त की सौन्दर्यभावना को ग्रहण कर रामकुमार वर्मा ने अपने गीतों का निर्माण किया है। प्रसाद और महादेवी के गीत उच्च कोटि के गीत कहे जाते हैं। बच्चन के गीत अत्यधिक संगीतमय हैं।

आधुनिक काल के गीत पाश्चात्य 'सांग' से अधिक प्रभावित हैं। उनमें ऐसा कोई बँधान स्वीकृत नहीं जो हृदयस्थ भावनाओं के सहज अभिव्यंजन में बाधक हो। किन्तु छन्दों का एकदम परिहार भी उसमें नहीं। 'स्वच्छन्द छन्द' की भी एक विशेष शैली होती है। कविसम्मेलनों में अधिकतर गीत ही गाए जाते हैं।

गीत के भेद

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए हिन्दी गीतों का विभाजन दो प्रधान भागों में हो सकता है। यह विभाजनाधार है गीतों का बाह्य स्वरूप। आशय यह कि यदि गीतों को बाह्य रूप की दृष्टि से विभाजित किया जाय तो हमें प्रधानतः दो प्रमुख प्रकार मिलेंगे, (१) एक तो लिखित रूप में उपलब्ध गीत और (२) अलिखित रूप में प्राप्य मौखिक-गीत। लिखित-गीतों की धारा शिष्ट कवियों की धारा है और अलिखित मौखिक गीतों की धारा लोक की

अपनी निजी धारा है जिसमें लोक हृदय अपने सहज रूप में खुल पड़ा है। दोनों ही धाराएँ आदिम काल से समानान्तर चली आती हैं और समय-समय पर इस लोकधारा से लिखित गीतों की धारा प्रभावित भी होती रही है। सच पूछा तो लिखित-गीतों की धारा सचेत कलाकार की धारा है इसमें उसके विचार एवं भाव बड़े ही कलात्मक रूप में तरंगायित होते हैं। इसमें कला की भावना ने उसके बाह्य रूप को बड़ा ही सुगठित एवं सुन्दर बना कर प्रकट किया है। इसे हम सचेत कलाकार की सचेत कलात्मक कृति कहते हैं। दूसरी धारा अलिखित या सहज लौकिक-धारा कहलाती है जिसके अन्तर्गत लोकगीत रखे जाते हैं। इस धारा में जो निश्छल अभिव्यंजन दिखाई पड़ता है वह कलात्मकता शून्य होने के कारण अति स्वाभाविक होता है।

लिखित गीतों के प्रकार

समस्त लिखित-गीतों को हम दो प्रमुख भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक को हम साहित्यिक (Literary) और दूसरे को सङ्गीतप्रधान (Vocal) कहते हैं।

साहित्यिक

जब हम एक को साहित्यिक कहते हैं तब हमारा आशय यह कदापि नहीं कि ये गीत उच्च कलात्मक कोटि में आते हैं और दूसरा संगीतप्रधान गीत साहित्यिक होता ही नहीं। साहित्यिक-गीतों से हमारा तात्पर्य वही है जिसका उल्लेख हम 'सांग' (Song) या गीत की परिभाषा देते हुए कर आए हैं।[१] पीछे यह बताया गया है कि ऐसे गीत अति गहन एवं विचार-प्रधान अधिक होते हैं एवं उनकी शैली साधारण न होकर बड़ी साहित्यिक होती है। इनमें भी संगीत होता है, किन्तु बाह्य नहीं आन्तरिक। कवि यहाँ सङ्गीत के बाह्य उपकरणों का सहारा नहीं लेता बल्कि यहाँ तो शब्दों के लय का विशेष ज्ञान आवश्यक होता है। यही कारण है ऐसे गीतों का संगीत अन्तरतम में गूँज उठता है।

ऐसे साहित्यिक-गीत आधुनिक काल के छायावादी और रहस्यवादी गीत हैं जिनकी रचना विशेष रूप से महादेवी और 'प्रसाद' ने की है। इनके ऐसे गीत बड़े ही विचारप्रधान हैं। शैली की दृष्टि से इन गीतों में पर्याप्त मात्रा में निखार आ गया है। उनमें पश्चिम के साहित्यिक-गीत (Literary Song) के सभी गुण उपलब्ध हैं।

---

१. देखिये पृष्ठ ३४५।

संगीतप्रधान

लिखित गीतों के संगीतप्रधान भेद के अन्तर्गत स्पष्टतः दो भेद हमें पुनः दिखाई पड़ते हैं—एक तो मध्यकालीन 'पद' शैली के गीत कहे जाते हैं और दूसरे आधुनिक काल के गीत कहलाते हैं।

(क) पद शैली

'पद' शैली के गीत मध्यकाल में ही अधिकतर निर्मित हुए। ये पद संक्षिप्त होते थे जो गीतों का एक विशिष्ट गुण है। अधिकांश पदों में छः या आठ पंक्तियाँ होती थीं और प्रथम पंक्ति को 'टेक' कहते थे। यह पंक्ति अन्य पंक्तियों से छोटी होती थी जिसे बार-बार गाया जाता था। पद के अन्त में कवि का नाम अवश्य रहता था। यह पद-शैली विभिन्न राग-रागिनियों से पूर्ण गीतों की शैली कही जाती है। क्योंकि इन गीतों का प्रणयन संगीत के शास्त्रीय-विधान के आधार पर ही होता था। इनमें छन्द उतना आवश्यक नहीं, जितनी राग-रागिनियाँ। कारण यह कि इनकी रचना का ध्येय गायन ही होता था। अष्टछाप के कवियों ने गान के लिये ही अपने पदों का निर्माण किया।

मध्यकालीन 'पद' भी शैली की दृष्टि से स्पष्टतः दो प्रधान शैलियों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम शैली अध्यन्तरित कहलाती है, दूसरी स्वानुभूतिपरक।

प्रथम शैली को बाधित गीत-शैली भी कहते हैं क्योंकि इसमें कवि किसी पात्र को लेकर भावाभिव्यंजना करता है। कवि सीधे कुछ नहीं कहता। उस पात्र के सहारे अपनी निजी भावनाओं का प्रकाशन करता है। अतः ऐसी शैली में वर्णन का आग्रह अधिक पाया जाता है। सूर के समस्त रासलीला, भावतीलीला के पद कथात्मकता को लिये हुए हैं, और विनय के पदों में स्वानुभूति का निरूपण ही प्रमुख है। यही बात तुलसी के पदों में भी है। 'गीतावली' के पदों में अध्यन्तरित शैली के पद हैं, तो 'विनय-पत्रिका' के पदों में स्वानुभूतिपरक शैली का प्रयोग मिलता है।

मध्यकालीन पद-शैली भी विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न रूप में ढली। एक ओर तो कबीर की पद-शैली है जिसमें बौद्धिक आग्रह, दार्शनिकता एवं धर्म-प्रतिपादन की भावना के आधिक्य ने संगीत के होते हुए भी उनके गीतों में रागात्मक आवेश में कुछ न्यूनता ला दी। और दूसरी ओर सूर, तुलसी और मीरा की पद-शैली है जिसमें संगीत के साथ-साथ आत्माभिव्यंजना की मात्रा अधिक है। आशय यह कि कबीर की वृत्ति दार्शनिकता में इतनी

रमी कि अनुभूति एवं कला का सुन्दर समन्वय उनके पदों में सर्वत्र न हो सका। किन्तु सूर, तुलसी और मीरा तीनों में अनुभूति और कला का सुन्दर सम्मिश्रण हो गया।

(ख) आधुनिक गीत शैली

संगीतप्रधान गीतों की शैली आज कुछ भिन्न हो गई है। यों तो प्रसाद, पंत और निराला ने राग-रागिनियों के आधार पर भी गीत लिखे हैं किन्तु अब संगीतप्रधान गीतों की रचना में नादप्रधान शब्दों के प्रयोग की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। शब्दों में अपना भिन्न संगीत होता है, इसकी पहिचान कर सुन्दर रूप में उन्हें सँजोने में ही आज के गीत गेयता को अपने में लिये हुए हैं। अतः आज संगीतप्रधान गीत की रचना कठिन हो गई है। वह अत्यधिक स्वानुभूति-प्रधान भी है।

इडिल (Idyll)

अंग्रेजी में 'इडिल' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'एडेडोस' से हुई है, जिसका मूल अर्थ होता है रूप या शैली (Shape or style)।[1] ग्रीस के कवियों ने इस काव्यरूप के निर्माण में कवि का पूर्ण परिपक्वावस्था को पहुँच जाना अत्यन्त आवश्यक समझा है। यह अवस्था वह होती है जब कवि अपने जीवन के समस्त बड़े-बड़े उद्देश्यों को पूर्ण कर लेता है और शेष रह जाता है केवल अतीत के काल्पनिक चित्र बनाना। यही चित्र जब काव्यरूप में परिणत होता है तब वे 'इडिल' की संज्ञा पाते हैं। वस्तुतः 'इडिल' का अर्थ है एक छोटा सा गीतकाव्यमय दृश्य। एक प्रकार से वह बोलता हुआ काल्पनिक चित्र होता है। विशेषता उसको इस बात में होती है कि उसमें ग्राम्य-जीवन की एक झलक निहित रहती है तथा दृश्य-विधान अनुपम होता है। साधारण तौर पर उसका स्वरूप छोटा तो होता है, किन्तु चित्रमय होना उसकी एक भिन्न विशिष्टता भी होती है। यही कारण है कि ऐसे गीतिकाव्य के रचयिता को प्रथम दृश्य-विधान के निमित्त अपने मनोनुकूल विषय का निर्वाचन करना होता है और उसकी सीमा भी निर्धारित करनी पड़ती है जिससे उसका गीतिकाव्यमय दृश्य कटा छटा सुन्दर और प्रभावशाली हो सके।

गीतिकाव्य के इस प्रकार में प्राकृतिक दृश्य-विधान के फलस्वरूप वर्णनात्मकता आ जाती है। कहना तो यों चाहिये कि उसका यह एक अभिन्न अंग

---

१. Encyclopaedia Brttiannica—Vol XIV page 291.

होता है। दृश्य अथवा चित्र में वर्णन का यह तत्व अवश्यम्भावी है। किन्तु वर्णनात्मक होकर भी उसकी अपनी सीमा होती है। कवि दृश्य-विधान के लिये जिस कथा का आश्रय लेता है वह केवल पृष्ठभूमि का कार्य करती है। आशय यह कि वर्णनात्मकता के आग्रह में कथा का उसी सीमा तक हाथ रहता है जहाँ तक दृश्य के विविध अवयव, वर्णन के अन्य प्रसंग एक दूसरे से सम्बद्ध रहें एवं उनमें एकतानता आ सके। किन्तु वह रेखाचित्र भी नहीं होता। बल्कि वह तो एक ऐसा काव्यमय चित्र होता है जिसमें प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु पर कवि तूलिका फेरता है। उसके गीत की शैली अत्यधिक परिष्कृत एवं परिमार्जित होती है। कवि दृश्यविधान यथार्थ रूप में न कर, भावना के अनुरूप करता है। वह प्रायः अपनी कथा को ग्राम्य जीवन के बीच सँजोता है और तब उसमें अपने अनुभूत सत्य को भरता है। अस्तु 'इडिल' की विशेषता शैली की भव्यता एवं पूर्णता और सादगी होती है। किन्तु सबसे बड़ी विशेषता उसकी यह होती है कि यद्यपि कवि प्राकृतिक दृश्य का चित्र तो उसमें खींचता है किन्तु उसके साथ ही साथ मानव हृदय की कोई एक भावना का आरोपण भी करता जाता है। यह भावना चाहे सुखात्मक हो चाहे दुःखात्मक उसमें उसे कोई भी प्रतिबन्ध नहीं रहता। अंग्रेजी में प्रसिद्ध 'इडिल' मिल्टन का 'ला लिग्रो' और 'इल पेन्जीरोजो' (L'A Llegro andIl Pensiroso) हैं। पहले में कवि की सुखात्मक अनुभूति और दूसरे में दुःखात्मक अनुभूति अभिव्यंजित हुई है।

हिन्दी में काव्य के इस रूप का अभाव है।

'इपिसिल' (Epistle) पत्रगीति

मूल अर्थ में 'इपिसिल' किसी भी ऐसे पत्र का पर्याय है जो किसी अनुपस्थित मित्र अथवा अन्य सम्बन्धी को सम्बोधित कर लिखा जाता है। इसकी व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'एपिस्टाले' से मानी जाती है जिसका अर्थ होता है विशेष अवसर पर भेजी हुई कोई वस्तु। किन्तु आज इसका प्रयोग अति प्राचीन पत्रों के अर्थ में ही लिया जाता है। अथवा ऐसी साहित्यिक कृति के लिये उसका प्रयोग होता है जिसका स्वरूप पत्रात्मक होता है। तात्पर्य यह कि वह ऐसे व्यक्ति के प्रति लिखा जाता है जो लेखक से दूर हो।[1]

रोम के प्रसिद्ध कवि 'होरेस' ने इसी पत्रात्मक पद्धति पर काव्यमय रचनाएँ प्रस्तुत की। इन्हीं रचनाओं के आधार पर अँग्रेजी कवियों ने भी उसी शैली

---

१. Encyclopaedia, Brittannica, Vol. IX page 701.

को अपनाया और प्रकारान्तर से वह गीतिकाव्य का एक स्वरूप कहा जाने लगा। एलिजाबेथ युग के कवि 'सेम्पुएल डेनियल'के 'इपिसिल' प्रसिद्ध हैं और 'ड्राइडेन'ने इस काव्यरूप का अत्यधिक परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया। वास्तव में 'होरेस' ने जिन प्रसंगों को लेकर इस काव्यरूप का सृजन किया उनमें दार्शनिकता एवं नीति की बातों का ही आधिक्य था, जिससे उनका स्वरूप उपदेशात्मक-सा हो गया। यद्यपि वे व्यक्ति-विशेष को ही सम्बोधित कर लिखे गए तथापि उनका महत्व सार्वजनीन है। इनके 'इपिसिल' को दृष्टि में रख कर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह एक ऐसा गीतिकाव्य रूप है जिसमें वर्णनात्मकता अधिक होती है। काव्यात्मक शैली में होकर भी वह अधिक संगीतमय नहीं होता है। किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि 'इपिसिल' और पत्र में केवल पद्य और गद्य का अन्तर होता है। माध्यम के अन्तर के अतिरिक्त पत्र से 'इपिसिल' कहीं अधिक भावात्मक एवं स्वतःप्रवृत्त होता है। पत्र में व्यक्तिविशेष का सम्बोधन कर कवि ऐसी व्यक्तिगत बातों को लिखता है जो उन्हीं दोनों तक सीमित होती है, तीसरे व्यक्ति का वहाँ प्रवेश नहीं हो सकता। उसका रस केवल सम्बोधित व्यक्ति को ही मिलता है। कहने का तात्पर्य यह कि साधारण पत्र में वैयक्तिकता (Personal element) अधिक होती है। उसके साहित्यिक होने में कोई सन्देह नहीं, किन्तु उसमें आपस के वार्तालाप को ही गद्यवत् रूप दिया जाता है।

'इपिसिल' गीतिकाव्य का एक रूप होने के नाते काव्यमय तो होता ही है, और आभ्यन्तरिक-तत्व (Subjective element) को भी साथ लेता चलता है; किन्तु व्यक्ति विशेष को सम्बोधित कर लिखे जाने पर भी उसका सम्बन्ध केवल एक से न होकर सामान्य जन से होता है। उसका आनन्द एक नहीं, अनेक उठा सकते हैं। उसकी रचना का ध्येय व्यक्ति नहीं समूह होता है।

विषय की दृष्टि से भी 'इपिसिल' का कम महत्व नहीं। सार्वजनीन महत्व वाले विषयों को ही उसका रचयिता अपनाता है। अधिकतर ऐतिहासिक घटनाओं का ही वह आश्रय लेता है। उसमें गीतात्मक उद्‌गार प्रमुख होने के कारण तथा स्वतःप्रवर्त्तित होने के कारण उसकी गणना गीतिकाव्य के अन्यान्य प्रकारों में ही होती है। पहले इनके विषय व्यंग्यात्मक होते थे, किन्तु धीरे-धीरे यह व्यंग्य की पद्धति जाती रही और प्रेम, हर्ष एवं दुःखमय भावों को भी उसमें स्थान मिलने लगा।

हिन्दी के 'पत्रगीति'

हिन्दी में 'इपिसिल' को पत्रगीति कहते हैं। इसकी रचना की प्रेरणा

आधुनिक-काल में आकर सर्वप्रथम मैथिलीशरण गुप्त को बँगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त की 'वीरांगना' कृति से मिली। इसी के अनुकरण पर उन्होंने 'पत्रावली' की रचना की। 'इपिसिल' के समस्त गुण इसमें उपलब्ध हैं। इसमें सात 'पत्रगीतियाँ' हैं जो विषय में ऐतिहासिक सत्य को लेकर चलती हैं। महाराज पृथ्वीराज, महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, औरंगजेब, महारानी सिसोदिनी, अहिल्याबाई और रूपवती हमारे ऐतिहासिक पात्र हैं, जिनके हृदयोद्गार पत्र रूप में कवि ने व्यक्त किए हैं। महारानी सिसोदिनी का पत्र महाराज जसवन्तसिंह के प्रति तो लिखा गया है, किन्तु सच पूछा जाय तो वह एक सच्ची वीरांगना, सती क्षत्राणी का कायर पति के प्रति लिखा हुआ पत्र है। उसमें उसके हृदय के सच्चे उद्‌गार हैं। इसी भाँति रूपमती का पत्र सच्ची एकनिष्ठ प्रेमिका का प्रिय के प्रति लिखा हुआ पत्र है। उसमें भी नारी हृदय के सच्चे स्वाभाविक उद्‌गार हैं।

'पत्रावली' की अन्य पत्रगीतियाँ इस दृष्टि से अनुपम हैं कि कवि ने उपयुक्त घटनाओं को लेकर उनकी रचना की है। अतः उनमें हृदय की भावना स्वतःप्रेरित हैं। वे व्यक्ति विशेष को सम्बोधित कर अवश्य लिखे गए हैं, किन्तु उनका सम्बोधन प्राणिमात्र के प्रति है—

'तनय! तुम किसी को व्यर्थ पीड़ा न देना,
फल कुछ करने के पूर्व ही सोच लेना।
पथ-विगलित हो के पा रहा ताप ही में,
कुफल चख रहा हूँ पाप का आप ही में।'

—पत्रावली, पृ० २७, औरंगजेब का पत्र।

पत्रगीति की रचना निराला जी ने भी की। उनका 'महाराज शिवाजी का पत्र' ऐतिहासिक प्रसंग को लेकर लिखा गया है जिसमें प्रेषक शिवाजी हैं और औरंगजेब के प्रति वह लिखा गया है। गुप्तजी की 'पत्रावली' की भाँति इसकी रचना भी मुक्त छन्द में हुई है। प्रसंग के अनुरूप ओजस्विता भी इसमें पूर्ण है—

वीर! सर्दारों के सरदार! महाराज!
बहु जाति क्यारियों के पुष्प-पत्र-दल भरे
आन-बान-शान वाले भारत उद्यान के
नायक हो, रक्षक हो,

बासन्ती सुरभि को हृदय से हर कर
दिगन्त भरने वाला पवन ज्यों।
—परिमल, पृ० २१५।

'हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र' भी उनका सुन्दर पत्रगीति है।[1]

हिन्दी की पत्रगीतियों में सब कुछ होते हुए भी वह तत्व नहीं आ पाया जिसे आभ्यन्तरिक तत्व (Subjectivity) कहते हैं। कवियों की दृष्टि प्रसंग पर अधिक रहती है, आत्मप्रकाशन की ओर कम। इसका कारण सम्भवतः यही है कि काव्य के इस रूप को लेकर भावाभिव्यंजना इने-गिने कवियों ने ही की है। द्वारिकाप्रसाद रसिकेन्द्र और जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' ने भी इस ओर पग बढ़ाया है, किन्तु पत्रगीति का सुन्दरतम रूप अभी गुप्तजी और 'निराला'ही दे पाए हैं।

"वर्स डी सोसायटी"

अँग्रेजी में गीतिकाव्य का एक प्रकार 'वर्स डी सोसायटी' (Verse de societe) भी है जिसके अन्तर्गत बेलाड (Ballade), रान्डेल (Rondel), रान्डेओ (Rondeau), रान्डेल (Roundel), ट्रायोलेट (Triolet), सेस्टिना (Sesteina) और विलेनेल (Villanelle) आते हैं। किन्तु हिन्दी में गीतिकाव्य के इस प्रकार का पूर्ण अभाव है।

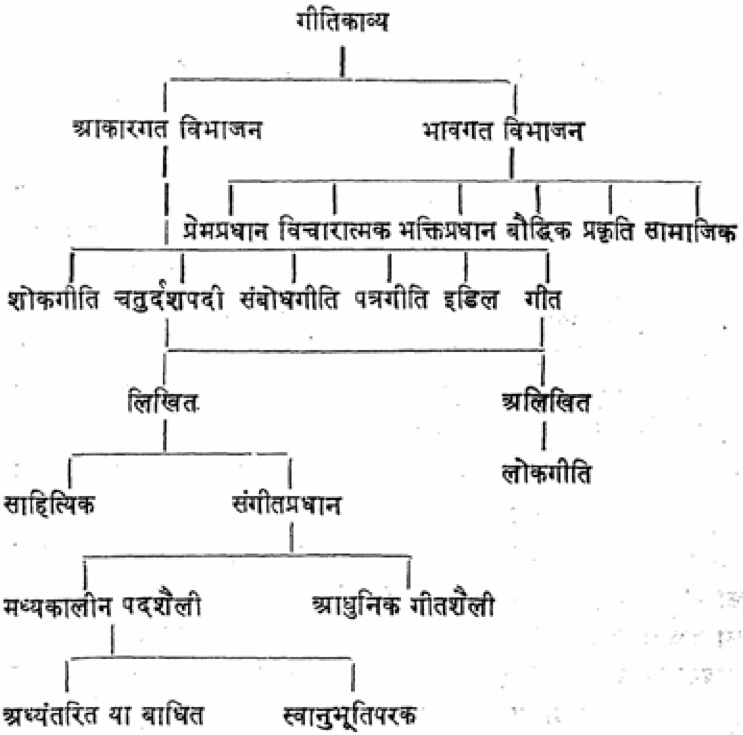
गीतिकाव्य के बहिरंग एवं अन्तरंग का विश्लेषण कर हमने उसके जो अन्यान्य प्रकार निर्धारित किए, उनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीतिकाव्य का सम्बन्ध हृदय की कोमलतम भूमि से है, जहाँ कोमल भावों का नित्य स्पन्दन होता रहता है। बुद्धि की कठोर भूमि से उसका वहीं तक सम्बन्ध है जहाँ तक उसके मनोवेगों का सुनियन्त्रण होता रहे। कारण यह कि हृदय की जिस सरसता में गीतिकाव्य लिपटा हुआ होता है वह बुद्धि के भार को वहन नहीं कर सकती। अति बौद्धिकता के आते ही वह सरसता बिखर जाती है और गीतिकाव्य का समस्त सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अस्तु गीतिकाव्य के लिये बुद्धि तत्व वहीं तक श्रेयस्कर है जहाँ तक वह कवि की अनुभूति को भावना के रूप में प्रकट कर सके। इस दृष्टि से देखा जाय तो विचारात्मक गीतिकाव्य उच्च कोटि का गीतिकाव्य ठहरता है।

दूसरी बात जो गीतिकाव्य में होती है वह है उसका स्वतःप्रेरित होना। गीतिकाव्य का चाहे कोई भी प्रकार क्यों न हो किन्तु उसे श्रेय तभी मिलता है जब वह स्वतःप्रवृत्त उद्गार हो। यह भी तभी सम्भव है जब वह हृदय का

१. अनामिका—'निराला', पृ० ११४।

सहज उद्‌गार हो। यही कारण है उपदेश, नीति आदि भावों को यहाँ कोई भी स्थान नहीं मिलता और व्यंग्य भी वहीं तक यहाँ ग्राह्य है जहाँ तक वह कोरा तर्क न उपस्थित करे; क्योंकि बुद्धि का चमत्कार गीतिकाव्य का लक्ष्य नहीं, हृदय की सरसता से उसका सीधा सम्बन्ध है।

उपर्युक्त विवेचन में गीतिकाव्य के विविध रूपों पर जो विचार किया गया, उनकी वर्गीकृत तालिका इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—



दशम अध्याय

मुक्तक का उद्भव और विकास

हिन्दी में मुक्तक काव्य की दो प्रमुख धाराएँ बहीं, जिनमें एक तो लौकिक या ऐहिकतापरक धारा है और दूसरी पारलौकिक या आमुष्मिकतापरक। ये दोनों ही प्रकार के मुक्तक अति प्राचीन काल से निर्मित होते चले आए हैं, क्योंकि इन दोनों प्रकार के मुक्तकों के भीतर जो दो प्रकार की भावनाएँ निहित हैं, उन्हें वैदिक काल से ही प्रमुखता मिलने लगी थी। इसका संबंध इन्द्र और वरुण की उपासना पद्धति से स्पष्ट हो जाता है। इन्द्र के उपासक नर देवों पर विश्वास रखते थे और इस पृथ्वी को ही कल्याण भूमि मानकर स्वयं मानव में ही देवत्व की भावना का आरोपण करते थे; किन्तु वरुण के उपासकों की धारा प्रकृति के अजेय चिह्नों को अपनी उपासना का प्रतीक मानकर चलती थी। इस प्रकार एक में ऐहिकता और दूसरी में पारलौकिकता की भावना प्रमुख हो गई और जब इन्द्र के उपासकों की इहलोकपरक धारा का विकास हुआ तब ऐसे मुक्तकों का प्राधान्य हो गया जिनमें ऐहिकता की भावना प्रमुख थी और दूसरी धारा से आमुष्मिकतापरक मुक्तक विकसित हुए। प्राकृत काल में तो इहलोकपरक मुक्तकों का विकास बहुत ही स्वतन्त्र रूप में हुआ, जब बाह्य प्रभावों से अनुप्राणित होकर मुक्तकों की बड़ी सरस रचना हुई। इसका प्रभाव परवर्ती संस्कृत के कवियों पर इतना अधिक पड़ा कि ऐहिकतापरक मुक्तकों की एक धारा बड़े ही नवीन ढंग पर बह निकली। इसी धारा का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा और इसी प्रकार के सरस मुक्तकों से उसका 'रीतिकाल' लबालब भर गया।

ऐतरेय ब्राह्मण में ऐहिकतापरक मुक्तक

ऐहिकतापरक मुक्तकों के अन्यान्य प्रकारों में नीति एवं उपदेशात्मक

मुक्तकों की रचना सर्वप्रथम 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अन्तर्गत आए हुए उन कथानकों के बीच हुई, जो गद्य में ही लिखे गए हैं। ऐसी कथाओं में 'शुनः शेफ' की कथा प्रख्यात है और इसी कथा के भीतर बीच-बीच में ऐसे उपदेशात्मक पद्य गुंफित हुए हैं जिनका रूप बिल्कुल मुक्तकों का है। इसी कथान्तर्गत जब रोहिताश्व जंगल में चला जाता है तब ब्राह्मण रूप में इन्द्र यह उपदेश देते हैं:—

> चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह पञ्चमं
> संवत्सरमरण्ये चचार सोऽरण्याद्ग्राममेयाय
> तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच
> चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्
> सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति ॥ ८८४ ॥[1]

अन्तिम दो पंक्तियाँ काव्यत्व से पूर्ण हैं जिनमें प्रतीकों द्वारा उद्योगपूर्ण आलस्यरहित जीवन का सुन्दर चित्र है। 'चलनेवाला ही आनन्द पाता है, चलनेवाला ही स्वादिष्ट गूलर को प्राप्त करता है। सूर्य का श्रम देखो जो चलते हुए कभी आलस्य करता ही नहीं।'

यहाँ 'मधु' में श्रेय और प्रेय का समन्वयपूर्ण भाव है और भौतिक सुख का प्रतीक है 'उदुम्बर'। 'सूर्य' कर्म और उद्योग का सुन्दर प्रतीक है! इन्हीं के द्वारा दिया हुआ उपदेश बहुत ही प्रभावात्मक हुआ है।

एक दूसरे स्थान पर इन्द्र हरिश्चन्द्र से लौकिक जीवन की प्रशंसा में कहते हैं:—

> ऋणमस्मिन्संनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
> पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम् ॥ ८३५ ॥[2]

'यदि पिता पुत्र के उत्पन्न होने पर जीते जी उसका मुँह देख लेता है तब उसी पुत्र के द्वारा पिता पितृ-ऋण से उऋण हो जाता है।' यहाँ इन्द्र समझाते हैं कि अति पारलौकिकता में हम संसार को भूल बैठते हैं, अतः इन्द्रिय सुख के साथ आत्मा का सुख भी सरलता से इसी संसार में उपलब्ध हो सकता है।

आगे बढ़ने पर इस प्रसंग में ऐसे उदाहरण और भी मिलते हैं:—

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण तृतीय खंड, ३३वाँ अध्याय, पृ० ८४५.
२. ऐतरेय ब्राह्मण प्रथम खंड, ३३ वाँ अध्याय, पृ० ८३५.

शाश्वत्पुत्रेण पितरोऽत्यायन्बहुलं तमः आत्मा।
हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्य तितारिणी ॥ [१]

पुत्र की यहाँ भी प्रशंसा है। माता-पिता घने अन्धकार को पुत्र के सहारे पार कर लेते हैं, उसमें आत्मा से आत्मा की उत्पत्ति होती है और वह एक ऐसी नौका है जिसमें सब भोज्य सामग्री पर्याप्त भरी हुई है।

एक स्थान पर तप, योग के विरुद्ध भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई :—

किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोकोऽवदावदः ॥ [२]

अर्थात् यह राख और भस्म रमाने से क्या लाभ, कम्बल से, दाढ़ी से, तप से, क्या लाभ—सब व्यर्थ हैं। ब्राह्मण लोगों पुत्र की इच्छा करो यदि तुम्हें ब्रह्मसुख चाहिये तो; क्योंकि पुत्र 'अवदावदः' है अर्थात् जिसके विषय में कोई बुरी बात नहीं कह सकता, वही सबसे बड़ा लोक है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' के इन प्रसंगों से भासित ऐसा ही होता है कि आरम्भ में कथा गद्य में कही जाती थी और वक्ता बीच-बीच में कुछ ऐसे मार्मिक छन्दों को कह देता था, जिससे उस कथा की शृङ्खला बंधती चली जाती थी और जिन स्थलों पर उसे अपने श्रोताओं का ध्यान केन्द्रीभूत करना रहता था, या जब श्रोता, शिष्य अथवा प्रचारक उस कथा का अनुवाद अथवा आवर्तन करना चाहते थे, तो उन्हीं छन्दों को कंठस्थ कर पूरी कथा कह डालते थे। इस प्रवचन की पद्धति में बहुत ही आकर्षण रहता था और इस प्रकार के छन्दों में ऐसी कथा छिपी रहती थी जिसे प्रवक्ता अपनी कल्पना से घटा-बढ़ा लेता था। इसीलिये उस समय दो प्रकार के वक्ता होते थे—अनुवक्ता और प्रवक्ता। अनुवक्ता अपने ऋषियों द्वारा कही हुई कथा का पूरा-पूरा अनुवाद करना चाहते थे, पर प्रवक्ता अपने जीवन के अनुभव और कल्पना से अधिक सहायता लेते थे। इसीलिये उनका प्रवचन अधिक स्वतन्त्र और प्रकृष्ट होता था। इस प्रकार की गाथाओं का प्रचलन बौद्ध 'जातकों' और जैन साहित्य में भी मिलता है। इस प्रकार कथाओं में से जो मुक्तक निकाल कर अलग काम में लाए जाते थे उनका इतना प्रचलन था कि महाकाव्यों में से भी स्वतन्त्र छन्दों को निकाल कर लोग मुक्तक के समान काम

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण—प्रथम खंड—३३वाँ अध्याय ३-४।
२. ऐतरेय ब्राह्मण—प्रथम खंड—३३वाँ अध्याय ३।

में लाते थे। ऐसे मुक्तक उपदेशकों की ही नहीं, कर्मकांडियों और साहित्यिकों की सुभाषित रत्नावलियों में रहते थे।

आगे चल कर यह मुक्तक केवल स्वतन्त्र मुक्तक छन्दों के ही रूप में ग्रहीत किया जाने लगा। प्राकृत और संस्कृत में जो गाथाओं और आर्याओं का मुक्तक रूप में विकास देख पड़ता है वह परम्परा के अनुसार कथाओं और कल्पनाओं से सदा संबद्ध रहा है। कारण यह कि बिना किसी जीवन-प्रबन्ध की कल्पना किए मुक्तक काव्य समझ में नहीं आता। उसका बाह्य स्वरूप कला की दृष्टि से अवश्य आत्मपर्यवसित होता है और उसे लेकर सहृदय पाठक स्वतन्त्रतापूर्वक यथारुचि एक जीवन की कल्पना कर सकता है और मुक्तक काव्य का अनुभव भी बिठा कर देख सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुक्तक प्राचीन कथा-तत्व के ही कलात्मक, विकसित एवं संक्षिप्त रूप हैं। इसी कारण परवर्ती आलोचकों का दावा भी रहा है कि एक मुक्तक सैकड़ों कथाओं के बराबर रस दे सकता है।

'पालि' में मुक्तकों का स्वरूप

वैदिक संस्कृत काल में मुक्तक के स्वरूप को बड़ा सम्हाल कर रखा गया और लोकभाषा के असंस्कृत प्रभाव से उसे दूर भी रखा गया। किन्तु जब यह संस्कृत भी अत्यधिक व्याकरणसम्मत होने लगी तब जनसाधारण की भाषा, जो समानान्तर बहती चली आ रही थी उसने पालि के रूप में अपना रूप बदला और भावाभिव्यक्ति के माध्यम में सरलता ला दी। अशोक के शिलालेख और बौद्धधर्म के धार्मिक ग्रन्थों की भाषा यह विशेष रूप से कहलाई। बुद्ध वचनों का सम्पूर्ण साहित्य 'पिटक' और 'अनुपिटक' में विभाजित किया गया। 'पिटक' को 'त्रिपिटक' की भी संज्ञा मिली। इसी 'त्रिपिटक' को विषय की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित कर एक एक को 'पिटक' की संज्ञा से पुकारते हैं। यह 'त्रिपिटक' क्रमशः 'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' और 'अभिधम्मपिटक' हैं। इसी 'सुत्तपिटक' के 'खुद्दनिकाय' के अन्तर्गत आनेवाले तीन ग्रन्थ 'धम्मपद', 'थेरगाथा' और 'थेरीगाथा' में ही मुक्तकों का सुन्दर आकलन हुआ है।

'धम्मपद' के अन्तर्गत आने वाले मुक्तक उपदेशात्मक श्रेणी में रखे जाते हैं जिनमें बौद्ध-धर्म सम्बन्धी उपदेश संग्रहीत किए गए हैं। ये मुक्तक उपदेशात्मक होते हुए भी पर्याप्त सरसता में भींगे हुए हैं। साधारण बातों को भी बड़े ही प्रभावात्मक ढंग से कहा गया है और उपमा तथा दृष्टान्त अलंकार इसमें और भी प्रभावशालिता ला रहे हैं—

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पंडिता ॥ ६ ॥
यथापि रहदो गंभीरो विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वा न विप्पसीदन्ति पंडिता ॥ ७ ॥[1]

साधु की गरिमा, स्थिरता एवं निर्मलता की उपमा इन मुक्तकों में अचल चट्टानों और गम्भीर कुण्ड से दी गई है। इसी प्रकार निम्नलिखित मुक्तक में साधारण जीवन से गृहीत साधारण उपमा द्वारा कितनी प्रभावात्मकता ला दी है। विद्वानों की मण्डली में बैठा हुआ मूर्ख क्योंकर ज्ञान पा सकता है। उसके बीच तो वे ही आनन्द ले सकते हैं जो स्वयं विद्वान हों। भोज्य पदार्थ का स्वाद चम्मच को क्योंकर हो सकता है, वह तो जिह्वा ही को मिलता है—

यावजीवं पि चे बालो पंडितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा ॥ ५ ॥[2]

शब्दों का चमत्कार भी 'धम्मपद' में कहीं-कहीं मिलता है—

यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेव पस्सथ मुत्तो बन्धनमेव धावति ॥ ११ ॥[3]

आशय यह कि जो व्यक्ति निर्वाणगामी बन कर संसाररूपी वन से मुक्त हुआ, वह वन को ओर प्रवृत्त होता है और पुनः वही वनमुक्त व्यक्ति संसाररूपी वन की ओर प्रवृत्त होता है। प्रस्तुत गाथा में 'वनमुक्त' शब्द के विरोधाभास द्वारा अर्थ की चमत्कृति है।

थेरगाथा और थेरीगाथा

बौद्धधर्म के निवृत्तिमूलक होने के कारण 'थेर' और 'थेरीगाथा' के अन्तर्गत संग्रहीत मुक्तकों के भाव बड़े ही सौम्य, गम्भीर एवं आन्तरिक संतोष और शान्ति से पूर्ण हैं। बौद्ध भिक्षुक एवं भिक्षुणियों का एकमात्र लक्ष्य था उस उच्चावस्था को प्राप्त होना जिसे निर्वाण की स्थिति कहते हैं और इसके द्वारा जन्म मरण के शाश्वत दुःख से सदैव के लिये मुक्त हो जाना। सुख-दुःख, करुणा और शोक आदि भावों से निर्लिप्त रहने वाले इन भिक्षुक और

---

१. धम्मपदं—राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौशल्यायन, जगदीश कश्यप द्वारा सम्पादित सन् १९३७, 'पंडितवग्गो' पृ० ११।

२. धम्मपद—बालवग्गो, पृ० ६।

३. तण्हावग्गो, पृ० ४८।

भिक्षुणियों ने अपने इन भावों की अभिव्यञ्जना जिस रूप में की है उनमें एक ओर तो उनके हृदय का निजी आत्मप्रकाशन दिखाई पड़ता है जहाँ उनकी निजी भावनाएँ बड़े ही वैयक्तिक रूप में अभिव्यंजित हुई हैं—दूसरी ओर उनमें बड़े ही वैराग्यमूलक और उपदेशात्मक भाव भरे हुए हैं। 'थेरीगाथा' के अन्तर्गत वैयक्तिक हर्ष-शोकमय भावात्मक चित्रों की बहुलता है। यहाँ अभिव्यंजना का रूप बड़ा ही गीतिकाव्यमय है और स्वानुभूति की विवृत्ति भी गीतिकाव्य जैसी ही है। अस्तु 'थेरीगाथा' के ऐसे स्थल मुक्तक में नहीं आते—

> कालका भमरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहुं।
> ते जराय साणवाकसदिसा सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा ॥[1]

'भ्रमरावली' के समान सुचिक्कण काले और घुँघराले मेरे बाल वृद्धावस्था के कारण आज सन और वल्कल के सदृश सफेद हो गये हैं ; परिवर्तन का चक्र अन्यथा नहीं जाता, सत्यवादी का यह वचन मिथ्या नहीं।

इसी प्रकार 'थेरीगाथा' में भिक्षुणियों के हृदय का करुणार्द्र क्रन्दन अनेक स्थानों पर मिलता है। किन्तु 'थेरीगाथा' के वे स्थल जहाँ उपदेशात्मकता भरी पड़ी है, विषयप्रधान हैं और यहाँ काव्य का रूप बिलकुल मुक्तकों का है। ऐसे मुक्तक उसके 'चत्तालो-निपातों' में संकलित हैं। इनमें बौद्धधर्म विषयक उपदेश दिए गए हैं।

'थेरगाथा' के अन्तर्गत ऐसे मुक्तकों का संकलन है जिनको बौद्ध भिक्षुकों ने अपने आराध्यदेव के निमित्त श्रद्धा-निवेदन की भावना से रचा है। इन मुक्तकों को एक विशेष ढंग से सजाया है। पहले तो केवल एक-एक पंक्ति के छन्द रखे गए हैं, फिर क्रम से दो-दो, तीन-तीन पंक्तियों के छन्द रखे हैं। इन मुक्तकों में भाव बड़े गूढ़ एवं वैराग्यपूर्ण हैं। इस वैराग्य भावना के साथ साथ प्रकृति चित्रों को लेकर भी वर्णन मिलते हैं। स्त्रियों के प्रति वैराग्य के भाव तो अधिकांश मुक्तकों में मिलते हैं—

> अलंकता सुवसना मालिनी चन्दनुस्सदा।
> मज्झे महापथे नारी तुरिये नच्चति नट्टकी ॥ २६७ ॥
> पिन्डिकाय पविट्ठाहं गच्छन्तो नं उदिक्खिसं।
> अलंकतं सुवसनं मुच्चपासं व ओड्डितं ॥ २६८ ॥

---

1. थेरीगाथा वीसतिनिपातो, पृ० २३।

ततो मे मनसीकारो योनिसो उदपज्जथा।
आदीनवो पातुरहू, निब्बिदा समतिट्ठत ।। २६९ ।।
ततो चित्तं विमुच्चि मे, पस्स धम्मसुधम्मतं।
तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता, कतं बुद्धस्स सासनन्ति ।। २७० ।।[1]

यहाँ पर सुन्दरी स्त्री को नाचते हुए देख कर किसी भिक्षुक के हृदय में कैसे वैराग्य की भावना जाग्रत हुई, उसका वर्णन कवि कर रहा है।

कहीं-कहीं एकाकीपन की कामना में भिक्षुक कह उठता है, "ऐसा दिन कब आवेगा जब मैं पर्वत की कन्दरा में विहार करूँगा और कब मैं इस संसार को असार रूप में देखूँगा।"

कदा नु हं पब्बतकन्दरासु एकाकियो अद्दुतियो विहरिस्सं।
अनिच्चतो सब्बभवं विपस्सं, तं मे इदं तं नु कदा भविस्सति ।।१०९१।।[2]

'थेरगाथा' के मुक्तकों की अपेक्षा 'थेरीगाथा' के मुक्तक अधिक सरसता लिये हुए हैं। जीवन के यथार्थ चित्र, वेदना एवं बौद्धधर्म के प्रभाव का चित्रण इन भिक्षुणियोंने मार्मिकता के साथ किया है।

वैदिक काल के नीति और उपदेशात्मक मुक्तकों से एक पग आगे बढ़े हुए मुक्तक पालि भाषा में दिखाई पड़े। शुनःशेफ की कथा के बीच में आने के कारण वहाँ उनका स्वरूप इतना स्वतन्त्र नहीं जितना यहाँ पर है। दूसरे, कल्पना का क्षेत्र यहाँ पर आकर कहीं अधिक सीमा को अपने में समेटे हुए है। 'थेरीगाथा' के विविध पक्षों पर दृष्टिपात करने वाले मुक्तक इसके साक्षी हैं। साथ ही सरसता इनमें अधिक दिखाई पड़ी। इस प्रकार एक ओर जहाँ उपदेशात्मक मुक्तक रचे गए, वहाँ रसपूर्ण मुक्तक भी पालि में मिलते हैं।

प्राकृत के मुक्तक

यों तो वैदिक काल से ही मुक्तक रचना की परम्परा चली आती है और आगे बढ़ें तो 'रामायण' और 'महाभारत' में भी नीति, उपदेशात्मक मुक्तकों का गुम्फन मिलता है; किन्तु मुक्तक शब्द की व्याख्या जिस अर्थ में आनन्द-वर्द्धन जैसे आलोचक ने की, उसके अनुरूप मुक्तकों की रचना का प्रथम श्रेय संस्कृत को न मिलकर प्राकृत भाषा को ही मिलता है। लोकभाषा को जब प्रकृत रूप में समृद्ध किया गया, तब प्राकृत-काल आया और इसमें ऐसी प्रकृत एवं सहज रचनाएँ प्रस्तुत हुईं जिनसे हमारा परवर्ती संस्कृत-साहित्य

१. थेरगाथा, चतुक्कनिपातो, पृ० ४६।
२. थेरगाथा, पंचासनिपातो, पृ० १११।

अवश्य प्रभावित हुआ। यह प्रभाव मुक्तक के क्षेत्र में स्पष्ट रूप से दर्शनीय है।

'हाल' की 'गाथासप्तशती'

मुक्तक की बिल्कुल नवीन परम्परा का आरम्भ वास्तव में देखा जाय तो लोक-भाषा प्राकृत से ही हुआ और इसी भाषा के मुक्तकों की परम्परा पर ही गोवर्द्धनाचार्य, अमरुक और भर्तृहरि जैसे कवियों ने मुक्तक रचना की। प्राकृत के इन मुक्तक रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं, किन्तु उनका संग्रह राजा सातवाहन 'हाल' ने किया जो 'गाथासप्तशती' (गाहा सत्तसई) के नाम से प्रसिद्ध है। अपने संग्रहीत रूप में इस 'सप्तशती' के मुक्तक लोक-भाषा में अवश्य निर्मित हुए हैं, किन्तु वे बिल्कुल लोक की ही वस्तु हों ऐसा नहीं प्रतीत होता। इन मुक्तकों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है और कवियों ने इनमें जिन कोमल वर्णों का प्रयोग किया है उनसे तो इनके गेय होने का अवश्य आभास मिलता है। बहुत सम्भव है इनका गान उस समय होता रहा हो, किन्तु इन प्राकृत के मुक्तकों को हम लोकगीत भी नहीं कह सकते। यह निश्चित ही है कि जैसी भावाभिव्यंजना इन मुक्तकों में हुई है उस पर लोकगीतों की छाया स्पष्ट रूप से पड़ी है, किन्तु इनमें लोकगीतों का अकृत्रिम रूप कदापि नहीं मिलता। ये गीत कलात्मकता को भी लिए हुए हैं जिससे भावाभिव्यंजना में कवि की सचेत मनोवृत्ति का पूरा-पूरा आभास मिल जाता है। इसमें भाव जन-जीवन की एक अपूर्व झाँकी को लिये हुए अवश्य हैं, जहाँ ग्राम्य-जीवन अपने प्राकृत रूप में है—पानी भरती हुई सुन्दरियाँ, चक्की पीसती हुई युवतियाँ, धान काटती हुई कृषक बालाएँ, तथा उनकी प्रेममयी भावनाओं का दृश्य इनके रचयिताओं के समक्ष मानों झूला करता था और यही कारण है बाह्य अभिव्यंजना में ये मुक्तक बड़े ही सरस और सजीव हुए हैं। साथ ही गार्हस्थ्य वातावरण से पूर्ण प्रेम और विरह के भाव बड़े ही सुन्दर दृश्यों की कल्पना द्वारा सामने लाए गए हैं। वर्षाऋतु का आगमन एवं ग्राम युवतियों का विरह एक लोकप्रिय विषय है जिसे जनगीतियों में अधिक स्थान मिला है। ऐसे भावों से 'सप्तशती' भरी हुई है। 'धान का खेत पीला होता जा रहा है, वैसे ही खेत की रक्षा करने वाली (गोपी) प्रियतम के न पहुँचने से विरह में पीली होती जा रही है' :—

> दिअहे दिअहे सूसई संकेअअभंगवड्ढिआ संका।
> आवण्डुरोणअमुही कलमेण समं कलमगोवी ॥ ९१ ॥[1]

---

१. गाथासप्तशती—'हाल', काव्यमाला, शतक ७।

यहाँ पर धान के खेत की उपमा बहुत सुन्दर है। कहीं मृग-मृगी के जोड़ों की चेष्टाओं का सुन्दर चित्रण कवि ने किया है—बधिक जब देखता है कि एक की रक्षा के लिये दूसरा प्राणों की आहुति देने के लिये बारी-बारी से लक्ष्य के सामने आ खड़ा हो रहा है, तब वह धनुष और प्रत्यन्चा यों ही खुली हुई धर देता है।

एक्कक्कमपरिरक्खणपहारसंमुहे कुरंगमिहुणम्मि।
वाहेण मण्णुविअलन्तवाहधोअं धणुं मुक्कम् ॥ १ ॥[1]

जनगीतियों में सास और बहू के झगड़े का विषय भी बहुत लिया गया है और यहाँ भी इसी भाव से भरे मुक्तकों का अभाव नहीं :—

गअवहुवेहव्वअरो पुत्तो मे एक्ककण्डविणिवाई।
तह सोह्लाई पुलइओ जह कण्डवरण्डअं वहइ ॥ ३० ॥[2]

'मेरा लड़का एक ही बाण से हथिनियों को विधवा कर देता था किन्तु अब स्त्री के प्रति आसक्त होने के कारण समर्थ नहीं हो पाता।' सास ऐसे वचन बहू से कहती है।

नीति और दुर्जन-निन्दा के मुक्तक भी 'गाथा सप्तशती' में मिलते हैं। प्राकृतिक दृश्य, नीति की गम्भीरता और साथ ही साथ काव्य का सौष्ठव यहाँ पर अनुपम है :—

चोराणं कामुआणं अ पामरपहिआणं कुक्कुडो वअइ।
रे रमह वहह वाहयह एत्थ तणुआअए रअणी ॥ ९८ ॥[3]

कुक्कुट कहता है कि अरे यहाँ देखो, रात्रि, दुबली या क्षीण हो रही है। तुम आनन्द लो, बहो और बहाओ। उसका यह शब्द चोरों, कामुकों, पामरों और पथिकों सबको एक ही साथ सुनाई पड़ रहा है और प्रेरणा देता है। श्लेष का चमत्कार यहाँ दर्शनीय है। ध्वनि का सौन्दर्य भी यत्र-तत्र देखने को मिलता है, जब कवि साधारण रूप में दुर्जन-निन्दा के बहाने बहरों और अन्धों की प्रशंसा करता है :—

धण्णा बहिरा अन्धा ते च्चिअ जीअन्ति माणुसे लोए।
ण सुणान्ति पिसुणवअणं खलाणं ऋद्धिं ण पेक्खन्ति ॥ ९५ ॥[4]

धन्य वे बहरे और अन्धे हैं जो दुर्जनों को बिना देखे और बिना उनकी कर्कश वाणी सुने जीते हैं।

---

१. शतक ७, १. २. शतक ७, ३०.
३. गाथा, शतक ७. ४. शतक ७.

नीति की बात का सुन्दर उदाहरण भी यहाँ मिलता है :—

छज्जइ पहुस्स ललिअं पिआइ माणो खमा समत्थस्स ।
जाणन्तस्स अ भणिअं मोणं च अआणमाणस्स ॥ ४३ ॥ [1]

प्रभु का ललित व्यवहार अच्छा लगता है, चारुशीला प्रिया का रूठना अच्छा लगता है और समर्थ व्यक्ति का क्षमा करना अच्छा लगता है, जानकार का बोलना और मूर्ख का मौन भला लगता है।

'गाथासप्तशती' में मुक्तकों की संख्या अल्प नहीं। स्वयं हाल ने कहा है :—

सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि ।
हालेण विरइआइं सालंकाराणं गहाणम् ।। ३ ।। [2]

अर्थात् कविवत्सल हाल ने एक करोड़ अलंकारयुक्त गाथाओं में से सात सौ गाथाएँ संग्रहीत की। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कितने पूर्व प्राकृत में मुक्तकों की रचना कितने उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। इस 'गाथा' के मुक्तकों की प्रशंसा संस्कृत के आचार्यों ने की और अपने काव्य-शास्त्र में 'रस' के उदाहरण के रूप में इनको उद्धृत किया। मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' में ही नहीं, भोजदेव के 'सरस्वती-कंठाभरण' में भी इसके अनेक श्लोक उद्धृत किए हुए मिलते हैं। अस्तु 'गाथा' में उच्च काव्यत्व है, यह सन्देह की बात नहीं रह जाती।

प्रस्तुत 'सप्तशती' में मुक्तक 'गाथा' छन्द में विरचित हैं जिसकी विशेषता कवि ने पहले ही बताई है। यही 'गाथा' छन्द आगे चलकर अपभ्रंश में 'दूहा' और हिन्दी में 'दोहा' बन गया। प्राकृत के इन मुक्तकों की सबसे बड़ी विशेषता है उनका ऐहिकतापरक होना। शृङ्गार-रस को प्रधानता देने के ही कारण इसका स्वरूप धार्मिकतामूलक मुक्तकों की अपेक्षा भिन्न हो गया है। यहीं से लौकिक मुक्तकों की सुदृढ़ परम्परा का उद्भव होता है और कालान्तर से हिन्दी में भी इसी धारा का प्रवाह तीव्र वेग के साथ 'रीतिकाल' में बहा। प्राकृत के मुक्तकों का महत्व कई दृष्टियों से है। एक तो इनका प्रभाव संस्कृत के मुक्तकों पर पड़ा, जिससे प्रेरित होकर गोवर्द्धनाचार्य ने अपनी 'आर्यासप्तशती' रची। दूसरे, अपभ्रंश के मुक्तकों पर तो इसका समुचित रूप से प्रभाव पड़ा ही। इसके पश्चात् हिन्दी में भी उसी की धारा बह निकली और बिहारी की सतसई के रूप में पुनः 'गाथा' और 'आर्या-

---

१. शतक ३. २. शतक १.

सप्तशती' का आकार खड़ा कर दिया गया। 'रीतिकालीन' मुक्तकों के अध्ययन में इस प्रकार 'गाथासप्तशती' का बहुत महत्व है। 'गाथासप्तशती' के मुक्तक जिस रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुए हैं उनमें अपनी मौलिकता की विशेषता है। यह मौलिकता उस भाषा के सौन्दर्यपूर्ण चयन में भी है, जिसमें इसका 'गाथा' छन्द इतने अनुपम ढंग से ढल सका है। यही कारण है 'आर्या' के रचयिता ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है :—

वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैवसंस्कृतिं नीता।
निम्नानुरूपनीराकलिन्दकन्येव गगनतलम् ॥ ५२ ॥ [1]

अर्थात् वाणी का यह स्वभाव है कि वह प्राकृत काव्यों में ही सरसता को प्राप्त होती है और मैं उसे बलात्कार से 'संस्कृत' कर रहा हूँ। उल्टी गंगा बहाने का ही प्रयत्न कर रहा हूँ।

विषय की दृष्टि से भी 'गाथा' का महत्व कम नहीं। जनजीवन के जितने अधिक निकट इसके मुक्तक पहुँच सके, उतने निकट संस्कृत-काल के मुक्तक नहीं। जितने सहज भावों की अभिव्यक्ति इनमें हुई है और जितनी भावोत्तेजकता में ये पगे हुए हैं, उतने अन्य भाषा के मुक्तक कम ही पाए जाते हैं। पालि भाषा में मुक्तकों को उनकी आमुष्मिकता इतना अधिक दबा रही है कि उनमें सहज उद्गार नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु प्राकृत मुक्तकों में यह आमुष्मिकता की चिन्ता नहीं। यहाँ यदि एक ओर प्रेम का वर्णन है तो कल्पना की उन्मुक्त उड़ान भी है और यदि प्रकृति का चित्रण है तो भावना बड़ी सौन्दर्यमयी है। उद्दीपन की भावना इन चित्रों में प्रमुख है, अतः भावोत्तेजकता यहाँ बहुत मिलती है। जीवन का यथार्थ चित्रण तो यहाँ भरा ही हुआ है।

प्राकृत के मुक्तकों पर बाह्य प्रभाव

'गाथासप्तशती' में ऐहिकतापरक मुक्तकों का प्रणयन शृंगार की जिस आधार भूमि पर हुआ है वह आती हुई प्राचीन ऐहिकतापरक धारा से बहुत ही अंशों में भिन्न है। इस पर निश्चय ही बाह्य संसर्गों का प्रभाव पड़ा जो विद्वानों के अनुसार 'आभीर' जाति के लोगों का दिखाई पड़ता है। आभीरों का संसर्ग भारतीयों से इसी प्राकृत काल से आरम्भ होने लगा था। इनकी भाषा से हमारी प्राकृत तो प्रभावित हुई ही, साथ ही भावों का भी प्रभाव प्राकृत रचनाओं पर पड़ा। 'आभीरों' की अपनी भिन्न उपासना-पद्धति

---

१. आर्यासप्तशती, गोवर्द्धनाचार्य, पृष्ठ २६।

थी, जिसके साथ मिलकर हमारा भागवत-धर्म एक दूसरी ओर ही मुड़ गया। उसी प्रकार गोप-गोपिकाओं की शृंगारिक भावनाओं का प्रचार इन आभीरों के लोकगीतों में अत्यधिक मात्रा में निश्चय ही रहा होगा; क्योंकि 'हाल' की 'सप्तशती' में ऐसे अनेक मुक्तक मिलते हैं, जिनमें अहिर-अहिरिनों की शृंगारिक चेष्टाओं का सुन्दर वर्णन किया गया है। अतएव बहुत से विद्वानों ने प्राकृत के मुक्तकों की इस नवीन धारा में बहती हुई ऐहिकतापरक प्रवृत्ति को आभीरों का प्रभाव माना है।[1] मुक्तकों के विकास में इसकी चर्चा इसलिये आवश्यक हो जाती है कि यहीं से उसकी एक धारा (ऐहिकतापरक) मोड़ लेती है और आगे चलकर अपभ्रंश काल में इसी प्रवृत्ति को हम प्रमुख रूप से मुक्तकों में अन्तर्निहित पाते हैं।

परवर्ती संस्कृत काल के मुक्तक

संस्कृत में मुक्तकों की स्पष्ट दो धाराएँ समानान्तर बहती हुई चली आती हैं। अभी तक प्राकृत काल में इहलोकपरक मुक्तकों की ही रचना को अधिक श्रेय मिला; किन्तु वैदिक काल की आमुष्मिकतापरक मुक्तकों की धारा बौद्ध ग्रन्थों से होती हुई पुनः संस्कृत काल में आकर ही प्रबल रूप में बहती हुई दिखाई पड़ी। इस काल में मुक्तक का भाव एवं विधान दोनों ही दृष्टि से परिष्कार भी हुआ और अमरुक जैसे मुक्तक रचयिता हुए, जिनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से लक्षणकारों ने की। वस्तुतः संस्कृत में मुक्तक रचना ही अधिक परिमाण में हुई। यही कारण है, मुक्तक काव्य परवर्ती सभी भाषाओं में संस्कृत से प्रभावित भी हुआ। हिन्दी का 'रीतिकाल' मुक्तकों का काल है, जिसमें कवियों को मूल प्रेरणा यहीं से मिली।

संस्कृत में ऐहिकतापरक मुक्तकों का प्रथम संग्रह 'शृङ्गारतिलक' मिलता है, जिसके रचयिता कालिदास कहे गए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में शृङ्गार-रस के भावात्मक एवं चित्रात्मक दोनों ही प्रकार के मुक्तकों की सुन्दर रचना हुई है।

भर्तृहरि

कालिदास ने शृंगारिक मुक्तकों की रचना की, किन्तु भर्तृहरि ने इस क्षेत्र में आकर वैराग्य और नीति के भी मुक्तक रचे। इनके 'शृङ्गार', 'नीति' और 'वैराग्य-शतक' कवि के अनुभव की गहनता के द्योतक हैं। प्रत्येक 'शतक' सौ श्लोकों में समाप्त हुआ है। 'शृंगार-शतक' का आरम्भ स्त्री के

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. ११४.

सौन्दर्य-वर्णन से होता है। क्रमशः कवि प्रेम का विश्लेषण करता हुआ शत-कान्त में एक दूसरी विचारधारा में बहने लगता है। वह ज्ञान द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सौन्दर्य अस्थिर है और स्त्री का प्रेम मनुष्य को सांसारिकता में डालकर निरन्तर दुःख प्रदान करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करता। 'सच्चा सुख वैराग्य में ही है।' यह भावना जब अन्त में बद्धमूल हो जाती है, तब उसके मुक्तक बड़े ही वैराग्यपूर्ण हो जाते हैं। अस्तु, शृङ्गार रस से प्रारम्भ हुआ यह शतक शान्त रस के मुक्तकों से समाप्त होता है। 'नीतिशतक' में भी सौ श्लोक हैं। इसमें छन्दगत वैशिष्ट्य मिलता है और इनका स्वरूप इतना लोकप्रिय हो गया कि परवर्ती कवियों ने इनसे प्रेरणा ली। 'वैराग्य शतक' में मानवजीवन की क्षणभंगुरता को दिखाने का प्रयत्न किया है और इसमें संगृहीत मुक्तक वैराग्यमय भावों से परिपूर्ण हैं।

भर्तृहरि के मुक्तकों की रचना मुख्यतः 'शार्दूलविक्रीड़ित' छन्द में हुई है। अन्य छन्दों में 'शिखरिणी', 'अनुष्टुप', 'वसन्ततिलका' और 'स्रग्धरा' मुख्य हैं। भावाभिव्यंजना की पूर्णता एवं अनुकूल रस-परिपाक की दृष्टि से इनके मुक्तक सुन्दर हैं।

अमरुक

अमरुक के मुक्तकों की प्रशंसा में आनन्दवर्द्धन ने जो शब्द कहे, उसमें मुक्तक की परिभाषा भी बन गई। उनके कथनानुसार अमरुक के एक-एक मुक्तक में इतना रस समायोजित हुआ है, जितना एक-एक प्रबन्धकाव्य में प्राप्त होता है।[1] अर्थात् उन्होंने 'गागर में सागर' भरने की उक्ति को अपने मुक्तकों में सार्थक कर दिखाया। इनका शतक 'शृङ्गारशतक' के नाम से प्रसिद्ध है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण से भरे हुए इनके मुक्तकों में बाह्य शब्दाडम्बर नहीं, अपितु आभ्यन्तर रस-परिपाक पूर्ण रूप में वर्तमान है। शृङ्गार की जितनी भी अवस्थाएँ सम्भाव्य हैं, उन सभी का सुन्दर चित्रण इनके अल्पकाय मुक्तकों में मिलता है। शृंगार के भीतर जितनी सुन्दर भावाभिव्यंजना हो सकती है, वह अमरुक ने इन मुक्तकों में कर दिखाई है। भर्तृहरि ने प्रेम की सर्वसाधारण विशेषताओं को अभिव्यंजित किया और अमरुक ने प्रेमी और प्रिय की उन सभी छोटी से छोटी अवस्थाओं का चित्रण किया, जिसकी गणना नायिकाभेद के अन्तर्गत होती है। इस प्रेम-भाव के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को इनके शतक में स्थान नहीं मिला है। शार्दूलविक्रीड़ित

---

१. ध्वन्यालोक-आनन्दवर्द्धन—उद्योत ३।

छन्दों में इनके मुक्तक होते हुए भी समास की क्लिष्टता से दूर हैं। कहीं-कहीं भाव बड़े ही सहज और जनजीवन के निकट हैं—

दंपत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वच
स्तत्प्रातर्गुरु संनिधौ निगदतः श्रुत्वैव तारं वधूः।
कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्च्वाः पुरो
व्रीडार्ता प्रकरोति दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम्॥१६॥[1]

रात्रि के समय सुनी हुई (नायक-नायिका की) बातों को जब प्रातः-काल शुक बड़ों के समक्ष दोहराने लगा, तब लज्जावश युवती अपने कानों के लाल को बिम्बाफल के बहाने उसकी चोंच में देने लगी, जिससे वह बोलना बन्द कर दे।

यहाँ पर कवि के भाव और अभिव्यक्ति की शैली बिल्कुल 'गाथा सप्तशती' के घरेलू जीवन से प्रेरित मुक्तकों से मिलती है। संयोग और वियोग दोनों ही प्रकार के मुक्तकों में अमरुक की प्रतिभा दर्शनीय है। वियोग के मुक्तक अपेक्षाकृत बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं—

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यंके सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले को यमद्वैतवादः॥१०२॥[2]

वियोग की अनुभूति में वियोगी इस प्रकार विह्वल है कि वह अपनी प्रियतमा को सर्वत्र देखता है। प्रासाद पर, प्रत्येक दिशाओं में, पीछे-आगे, शैय्या पर, प्रत्येक रास्ते पर। वियोग में कैसी विचित्रता है कि सम्पूर्ण जगत् में वही-वही अकेली सर्वत्र दिखाई देती है—उसके अतिरिक्त मेरे लिये कोई है ही नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में प्रेम की अति उच्च अवस्था का दिग्दर्शन कवि ने कराया है।

गोवर्द्धनाचार्य की आर्या सप्तशती

शृङ्गार-रस के मुक्तकों में अमरुक के समान कवि संस्कृत में दुर्लभ है। इनके पश्चात् बिल्हण के 'चौर पंचाशिका' में शृङ्गार-रस के मुक्तकों की छटा देखने को मिलती है। किन्तु अनुभूति और कला में वह सुन्दर

---

१. अमरुकशतकम्, काव्यमाला १८, पृ० १८।
२. अमरुकशतकम्, काव्यमाला १८, पृ० ६६।

सम्मिश्रण यहाँ नहीं, जो अमरुक में मिलता है। प्राकृत की 'गाथा सप्तशती' से प्रेरित होकर जब गोवर्द्धन ने 'आर्यासप्तशती' की रचना की, तब मुक्तकों का बिल्कुल वही रूप हमें दिखाई पड़ा, जो 'गाथा' में हम देख चुके हैं। विकास की दृष्टि से 'आर्या' में कोई मौलिकता नहीं, अतएव उसका महत्व केवल इतना ही है कि इसमें कवि ने 'गाथा' छन्द के स्थान पर संस्कृत के 'आर्या' छन्द में इन शृङ्गारिक मुक्तकों की रचना की है, किन्तु शृंगारिक भावनाएँ 'गाथा' छन्द में ढल कर जितनी सुन्दर और सहज हैं, उतना आकर्षण 'आर्या' छन्द में कवि नहीं ला पाया है। वह ग्रामीण एवं गार्हस्थ्य वातावरण, जो 'गाथा सप्तशती' में सर्वत्र व्याप्त है, वह यहाँ बिल्कुल उसी रूप में नहीं मिलता। कहीं-कहीं तो कवि ने गाथा सप्तशती के ही भावों को लेकर मुक्तकों की रचना की है। परन्तु इसको स्वीकार करते हुए भी गोवर्द्धन ने अपने मुक्तकों की स्वयं प्रशंसा भी की है।[1] यह प्रशंसा मुक्तकों के सौन्दर्य और उनकी निजी मौलिकता को देखते हुए बहुत से स्थानों पर उपयुक्त प्रतीत होती है :—

सा सर्व्वथैव रक्ता रागं गुञ्जे व न तु मुखे वहति।
वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव ॥ ६५० ॥[2]

'नायक के प्रति पूर्णतया अनुरक्त नायिका अपने अनुराग को अपने मुख से प्रकट नहीं करती। अस्तु, वह उस गुञ्जाफल के सदृश है, जो मुख के अतिरिक्त सर्वाङ्ग लाल रंग की है। उसके विपरीत दूसरी ओर बोलने में चतुर नायक है, जो अपने मुख से अपने प्रेम को अभिव्यक्त करता है। अतः वह उस शुक के समान है, जो अपने मुख से ही रक्त वर्ण का है।'

'आर्या' में श्लोकों की रचना का एक विशेष क्रम है, जिसमें स्वर और व्यंजनों के क्रम पर आर्याएँ विरचित हैं। यह क्रम 'गाथा' में नहीं मिलता।

नीति और उपदेशात्मक मुक्तक

ऐहिकतापरक मुक्तकों में एक ओर तो शृङ्गारिक मुक्तकों की धारा संस्कृत में बही और दूसरी ओर नीति और उपदेशात्मक मुक्तक भी निर्मित हुए।

---

१. मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्द्धनस्यार्याः ॥ ५१ ॥
—आर्यासप्तशती, पृ. २६।

२. आर्यासप्तशती—गोवर्द्धनाचार्य, १६३१, विद्यापति प्रेस, लहरियासराय। पृ०, ३१०।

किन्तु ऐसे मुक्तकों का अधिकांशतः संग्रह ही मिलता है और उनको संग्रहकर्ता के नाम से प्रसिद्ध भी कर दिया गया है। ऐसे मुक्तकों में 'राजनीतिसमुच्चय' 'चाणक्यनीति' आदि हैं, किन्तु इनमें काव्यगत सौन्दर्य का अभाव है।

इसी प्रकार भोजराज का संग्रह भी उपलब्ध होता है; किन्तु यहाँ मानव जीवन के सभी पक्षों पर दृष्टिपात करनेवाले मुक्तक संगृहीत हैं और इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का सुन्दर प्रयोग यहाँ देखने योग्य है। भोजराज के उपरान्त वररुचि के संग्रह 'नीतिरत्न', 'नीतिप्रदीप' आदि मिलते हैं और मम्मट के अन्योक्तिमूलक मुक्तकों में अन्योक्ति-पद्धति पर नीति की बातों को कहने की प्रणाली नवीन ही दिखाई पड़ती है। इनके पश्चात् भी अनेक कवि हुए, जिन्होंने नीति और उपदेश की बातों को अपने मुक्तकों में स्थान दिया, जिनमें शान्तिदेव, क्षेमेन्द्र आदि प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत मुक्तकों की आमुष्मिकतापरक धारा

आमुष्मिकतापरक मुक्तकों की धारा का उद्भव वेदों से ही है। इसमें ईश्वरोपासना में स्तुति एवं प्रार्थना के भाव मुख्यतः अभिव्यंजित हुए हैं। उपासना के भेद से इन स्तुतियों के रूप विभिन्नता लिए हुए आदिकाल से चले आते हैं। ऐसे मुक्तकों को संस्कृत में 'स्तोत्र' के नाम से अभिहित किया गया है। 'वेदों' के पश्चात् बौद्ध साहित्य में स्तोत्रों की रचना अधिक हुई और इन स्तोत्रों में सबसे अधिक स्तोत्र तारा या शक्ति की स्तुति में निर्मित हुए। तत्पश्चात् 'रामायण' और 'महाभारत' में 'स्तोत्र' निर्मित हुए और पुनः ईसवी सन् के पश्चात् ऐसे मुक्तकों की रचना लौकिक संस्कृत में भी प्रारम्भ हुई। आमुष्मिकता की भावना से पूर्ण स्तोत्रों की रचना सर्वप्रथम कवि बाण ने अपने चण्डीशतक में की। इसमें सौ श्लोकों में शिवप्रिया पार्वती का गुणगान कवि ने किया है। उनके महिषासुर वध की प्रशंसा में ही अधिकांश श्लोक रचे गए हैं। कवि विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपनी अधिष्ठात्री से भक्तों एवं उपासकों पर दया-दृष्टि डालने के लिये प्रार्थना भी करता है।

बाण के पश्चात् मयूर का 'सूर्यशतक' रचा गया। इसमें कवि सौ श्लोकों में सूर्य की स्तुति कर रहा है। इन मुक्तकों में अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि अलंकारों की सुन्दर छटा देखने को मिलती है। साथ ही शब्दों और उनकी ध्वनि का सुन्दर सामंजस्य भी यहीं पर उपलब्ध होता है। कवि ने शब्दध्वनि का कौशल अपने इस स्तोत्र में प्रदर्शित किया है।

बाण के पश्चात् मातंगदिवाकर, हर्ष, आनन्दवर्द्धन आदि अनेक कवि

हुए, जिन्होंने स्तोत्र की धारा को आगे प्रवाहित किया और पुष्पदन्त के 'शिव-महिम्नस्तोत्र' में तो स्तोत्र साहित्य अपने सुन्दर रूप में प्रस्तुत हुआ। इसमें शिखरिणी छन्द में त्रयी, सांख्य और वैष्णव भक्ति की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। श्राव्यध्वनि का मुक्तकों में जैसा विधान 'सूर्यशतक' में हुआ, उससे एक पग आगे बढ़ा हुआ शब्दध्वनि का कौशल इनके मुक्तकों में प्रस्तुत किया गया। उनका यह श्लोक प्रसिद्ध है—

> असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
> सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
> लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
> तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥ ३२ ॥[1]

'समुद्ररूपी दवात में काले पहाड़ के समान कज्जल की स्याही बनाई जाय—कल्पवृक्ष की शाखा लेखनी का कार्य करे, यह विशाल भूतल कागज के रूप में हो और सरस्वती स्वयं सदा आपके गुणानुवाद को इस सामग्री से लिखे, तो भी हे भगवान शंकर, वह आपके गुणों के पार नहीं जा सकती।'

अपभ्रंश काल और मुक्तक

प्राकृत-काल से ही आभीर और हूणों के संसर्ग में आने पर देश-भाषा में कुछ ऐसी विशेषताएँ आने लगीं, जिससे प्राकृत में स्वर एवं उच्चारण में धीरे-धीरे परिवर्तन आने लगे। यह परिवर्तन विदेशियों के संसर्ग और विशेष कर आभीरों का ही प्रभाव था, जिससे लोकभाषा ने एक निश्चित रूप ग्रहण कर लिया। यह परिवर्तन ईसा के लगभग तीसरी शताब्दी से ही होने आरम्भ हो गए थे और वैयाकरणों ने अपनी साहित्यिक प्राकृत से इसे अलग करने के लिये अपभ्रंश नाम भी दे दिया था। क्रमशः इस लोकभाषा का प्रचलन आभीरों की विजय के साथ-साथ सिंध, उत्तरी पंजाब से लेकर गुजरात और राजपूताने तक हो गया। अन्त में जब आभीरों के हाथ शासन की बागडोर आ गई तो इस भाषा को राजभाषा का पद भी प्राप्त हो गया। लगभग छठी शताब्दी से ही इस भाषा में भी अपना साहित्य सृजन हुआ और जैसे-जैसे आभीरों की राज्य सीमा बढ़ती गई, उसके साथ-साथ अपभ्रंश सम्पूर्ण उत्तर भारत, पश्चिम में सिंध, पूर्व में मगध और दक्षिण में सौराष्ट्र तक फैल गई। नवीं और दसवीं शताब्दी में इस भाषा का अपना साहित्य बृहद् रूप में

---

१. शिवमहिम्नस्तोत्र—पुष्पदन्त, १६०६, पृ० ६।

प्रस्तुत हुआ। उसमें मुक्तकों की अत्यधिक रचना हुई और इन मुक्तकों की ऐहिकतापरक धारा पर आभीरों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ। प्राकृत के पश्चात् इसी काल में आकर पुनः काव्य के इस रूप में सहज भावना के अनुरूप सहज अभिव्यंजना दिखाई पड़ी। यह अपभ्रंश काव्य प्रधानतः दो धाराओं में होता हुआ आगे बढ़ा, जिसमें एक धारा तो सिद्धों की, दूसरी जैनियों के काव्य की धारा है। सिद्धों ने 'अर्द्धमागधी' अपभ्रंश में मुक्तक रचना की, तो जैनियों ने 'नागर' अपभ्रंश का प्रयोग किया। इस प्रकार अपभ्रंशकाल में मुक्तक की दो धाराएँ समानान्तर रूप से बहती चली गईं और हिन्दी में मुक्तकों के स्वरूप निर्धारण में इन दोनों धाराओं का बहुत हाथ रहा।

ईसा की प्रथम शताब्दी में ही बौद्धधर्म दो शाखाओं में विभक्त हो गया, जिसमें एक महायान और दूसरी हीनयान कहलाई। अभी तक बौद्धधर्म के मतावलम्बियों ने जिस भाषा में तथागत के धार्मिक उपदेशों को सुरक्षित रखा, वह थी पालि। किन्तु आगे चलकर महायान, महायान से मन्त्रयान और मन्त्रयान से वज्रयान के रूप में बौद्ध धर्म का विकृत रूप दिखाई पड़ा। क्रमशः जब आठवीं शताब्दी में तन्त्र-मन्त्रादि की भाँति महायान सम्प्रदाय में विकृति आ गई, तब वह मन्त्रयान बना और इसी मन्त्रयान में जब पुनः 'मद्य-मैथुन' जैसी वस्तुओं की भी योजना होने लगी, तब उस मन्त्रयान का रूप वज्रयान में परिवर्तित हो गया। इसी वज्रयान शाखा के प्रमुख प्रवर्तक 'सिद्ध' कहलाए और इन्हीं सिद्धों ने अपने मत प्रतिपादनार्थ जिस भाषा को अपनाया, वह अपभ्रंश थी और जिस काव्यरूप को जन्म दिया, वह अधिकांशतः मुक्तक ही था।

वज्रयानी मुक्तक

वज्रयानी-सिद्ध चौरासी हुए और इनमें से बहुत से कवि भी थे। इनकी रचनाओं का प्रभाव हिन्दी काव्यधारा पर पड़ा और विशेषकर मुक्तक अधिक प्रभावित हुए। इन सिद्ध कवियों में सबसे प्राचीन सरहपा माने जाते हैं, जिनका समय आठवीं शताब्दी कहा जाता है। सिद्ध कवियों की कविता में पहले सिद्धों का साधक रूप मिलता है, बाद में कवि का। उन्होंने काव्यनिर्माण काव्य के लिये नहीं किया, अपितु अपने 'सहज सम्प्रदाय' के सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ उन्होंने ऐसे साधन की खोज की, जिससे उनका 'सहज मत' साधारण जनता तक पहुँच जाता। इस साधन में गद्य की तुलना से पद्य अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ और सिद्ध कवियों ने कविता द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्ति की। उन्हें संस्कृत का ज्ञान अवश्य था, किन्तु न तो वहाँ से इन्होंने

कोई प्रेरणा ही ली और न संस्कृत भाषा को ही अपनाया। यही कारण है, इनके मुक्तकों में संस्कृत की अलंकारों से पूर्ण काव्यमय शैली नहीं मिलती और न तो उच्च कल्पनात्मक प्रतिभा ही लक्षित होती है। इनका अधिकांश काव्य 'सहज' मत के सिद्धान्तों और अपने विशिष्ट रहस्यवाद को ही लेकर निर्मित हुआ। फलतः उन्मुक्त अभिव्यंजना का रूप यहाँ न मिल सका और जहाँ कहीं इन्होंने राग-रागिनियों में 'चर्यापदों' का निर्माण भी किया, वहाँ भी सिद्धान्त प्रतिपादन की भावना इतनी प्रमुख है कि पदों में गीतिकाव्य का सौन्दर्य नहीं आ सका है। वास्तव में सिद्धों ने मुक्तक ही अधिक रचे और जितने अधिक मुक्तकों की रचना इन सिद्ध कवियों द्वारा हुई, उतने मुक्तक अन्यत्र कम मिलते हैं। मुक्तक के लिये इन कवियों ने विशेषरूप से 'दोहा' छन्द उपयोग में लिया और आगे बढ़े तो 'चौपाई' का प्रयोग किया। जहाँ नीति और उपदेश इन्हें देना होता था, वहाँ दोहे को अपनाया और जहाँ रहस्यवाद या 'सहजयान' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन उनका लक्ष्य था, वहाँ उन्होंने बड़े छन्द जैसे चौपाई का आश्रय लिया। किन्तु दोहों का ही प्रयोग इन कवियों ने अधिक किया और अनेक 'दोहा कोष' भी रचे। अपभ्रंश की यह दोहा-पद्धति प्राकृत की 'गाथा' से प्रेरित है।

मुक्तक काव्य का एक नवीन रूप इन सिद्धों की कविता में दिखाई पड़ा, जिसे 'सन्धाभाषा' कहकर पुकारते हैं। आलोचकों में इस काव्यरूप को लेकर मतभेद है। बहुत से विद्वानों ने इसका सम्बन्ध भाषा से जोड़ा है, अन्यों ने काव्यरूप के अर्थ में ग्रहण किया है। वस्तुतः सन्धाभाषा मुक्तक काव्य की एक विशिष्ट शैली है, जिसमें उक्ति वैचित्र्य पर कवि का ध्यान रहता है। सिद्धों में यह उक्ति वैलक्षण्य उनकी रहस्यवादी प्रणाली के कारण ही आया है। इसका कारण वाम मार्ग है, जिसके संयोग से वज्रयान सम्प्रदाय की उद्भावना हुई। इसी वाम मार्ग की भावना के अनुरूप उल्टी बातों को कहकर अपने सहजयानी सिद्धान्तों को समझाने की चेष्टा जिन मुक्तकों में हुई, वे 'सन्धाभाषा' के नाम से अभिहित किये गए। आगे चलकर ऐसे ही मुक्तकों का प्रभाव हिन्दी कवियों पर भी पड़ा और कबीर में वह उलटबाँसियों के रूप में तथा सूर और चन्द में दृष्टकूट बनकर दिखाई पड़ा। गोरखनाथ की उलटबाँसियाँ और टेंटणपा के 'सन्धाभाषा' प्रसिद्ध हैं।

अतएव सिद्धों के काव्य में मुक्तक के दो रूप उपलब्ध होते हैं—एक तो दोहे की शैली के मुक्तक और दूसरे सन्धाभाषा या उलटबाँसी। विषय की दृष्टि से देखा जाय तो सिद्धों के मुक्तक सहजयान सम्प्रदाय की रहस्यवादी

भावना से पूर्ण हैं, जिनमें एक ओर पाखण्ड-खण्डन, सहज संयम, निर्वाण, गुरु सेवा, महासुख आदि को लेकर उपदेश दिए गए हैं और दूसरी ओर इन मुक्तकों में रहस्यवादी भाव भरे हुए हैं। विषयानुरूप ये मुक्तक अधिकतर शान्त रस के हैं। दूसरी ओर सिद्ध कवियों ने शृङ्गार-रस के मुक्तक रचे और कहीं-कहीं ये मुक्तक बड़े अश्लील भी हो गए हैं। इस प्रकार शान्त और शृङ्गार-रस के मुक्तकों की रचना ही विशेष रूप से इन सिद्ध कवियों ने की।

मुक्तक का रूप सरहपा की कविता में जैसा है, वैसा ही परवर्ती कवियों में भी पाया जाता है। कबीर पर इसका प्रभाव स्पष्ट है।

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि वढ़ !! चित्त बिसाम करु, सरहें कहिअ उएस ॥ २५ ॥[1]

कबीर के 'लै कौ अंग' में सरहपा के उपर्युक्त मुक्तक का एक दोहा इस प्रकार मिलता है—

जिहि बन सीह न संचरै, पंषि उड़ै नहीं जाई।
रैन दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाई ॥ १ ॥[2]

नाथ-सम्प्रदाय में मुक्तक

चौरासी सिद्धों में गोरक्षपा ने अपना एक भिन्न 'नाथ-सम्प्रदाय' चलाया। इसमें बहुत-सी बातें वज्रयानी सम्प्रदाय से ग्रहीत हुईं और कुछ बातों का इन्होंने खण्डन किया। अस्तु, इनके मुक्तकों में एक नवीन 'अक्खड़पन' या 'फक्कड़पन' मिलता है। इनके मुक्तकों में विरोधाभास द्वारा हठयोग की साधना को समझाया है। अतएव ये मुक्तक प्रहेलिका और उलटवाँसियों के रूप में अधिक हैं। कहीं-कहीं इन काव्यरूपों में रस मिल जाता है, अन्यथा सर्वत्र उक्ति का वैचित्र्य ही प्रमुख है।............उलटवाँसियों का रूप ऐसा ही है :—

गगनि-मंडलि मैं गाय बियाई कागद दही जमाया।
छाछि छौंड़ि पिंडता पीनी सिधा माषण खाया ॥६६॥१६६॥
नाथ बोले अमृत वाणी, वरिषैगी, कंवली भीजैगा पाणी ॥टेक॥
गड़ि पड़रवा बाँधिलै षूँटा, चलै दमामा बाजि लै ऊँटा ॥१॥[3]

गगन मण्डल में गाय का बच्चा देना, कंबली का बरसना और पानी

---

१. हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, १९४५, इलाहाबाद, पृ० ६।
२. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुन्दरदास, ना० प्र० सभा।
३. हिन्दी काव्यधारा पृ० १६१—१६२।

का भींजना, पड़वे का गड़ना और खूँटे का बँधना वस्तुतः उक्ति वैचित्र्य ही है, जो सिद्धों की साधना को समझनेवाले ही समझ पाते हैं।

वस्तुतः इन प्रहेलिकाओं एवं उलटवाँसियों में काव्यत्व एवं रस नहीं, केवल वाग्वैचित्र्य मिलता है। हृदय की भावना पर साम्प्रदायिकता की छाप इन मुक्तकों में इतनी गहरी है कि काव्यरूप में आकर्षण का सर्वथा अभाव आ गया है।

जैन कवियों के मुक्तक

इन सिद्ध कवियों के ही समानान्तर चली आनेवाली मुक्तकों की धारा जैन कवियों द्वारा बहाई गई। आरम्भकालीन सम्पूर्ण जैन-साहित्य 'सिद्धान्त ग्रंथ' कहा जाता है, जिसमें जैन धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या हुई है। काव्य की दृष्टि से इन सिद्धान्तों—ग्रंथों का कोई महत्व नहीं, क्योंकि इनमें केवल धर्म का प्रतिपादन मुख्य है काव्यत्व गौण। अस्तु, काव्यत्व की दृष्टि से सिद्धांतोत्तर-साहित्य ही महत्वपूर्ण है।

यों तो जैन कवियों में स्वयं भूदेव आदि कवि माने जाते हैं, किन्तु उनका महत्त्व प्रबन्धकाव्य के क्षेत्र में ही है, मुक्तक के क्षेत्र में परवर्ती कवि देवसेन आते हैं, जिसका 'साव्यधम्मदोहा' बड़े ही त्यागमय भावों से पूर्ण मुक्तकों का संग्रह है। इनकी रचना का एकमात्र ध्येय गृहस्थों को उपदेश देना है। इनमें दोहे की पद्धति को कवि ने अपनाया है। उपदेशात्मक मुक्तकों में कहीं तो राग और कहीं विराग-विषयक उपदेश हैं। धर्माचरण की महिमा बताते हुए कवि कहता है कि धर्म से सुख होता है और पाप से दुःख। अतः धर्म का आचरण करना चाहिये, जिसके द्वारा मनोवांछित वस्तु प्राप्त हो। अपनी आत्मा के विरुद्ध बातें करने से कोई लाभ नहीं। दूसरों को दुःख न पहुँचाना ही धर्म का मूल है।

> धम्मे सुहु पावेण दुहु, एक पसिद्धउ लोइ।
> तम्हा धम्मु समायरहि, जेहिय हंछिउ होइ ॥ १०१ ॥
> काइँ बहुत्तइ जंपियइँ, जं अप्पह पडिकूल।
> काइँ मि परदु ण तं करहि, एहजि धम्महु मूल ॥१०४॥[१]

इसी प्रकार दान-महिमा, सदाचरण सम्बन्धी उपदेश से इनके मुक्तक पूर्ण हैं। आचार्य देवसेन के पश्चात् पुष्पदन्त के प्रबन्धकाव्यों के साथ ही साथ मुक्तक रचनाएँ भी मिलती हैं। राजाओं का आश्रय इन्हें मिला, उनकी

---

१. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १७०।

प्रशंसा में इनके मुक्तक अधिकांशतः 'घत्ता' छन्द में रचे गए। इन्हीं जैनी कवियों में योगीन्दु और रामसिंह मुनि भी मुक्तकों की रचना में विख्यात हुए हैं। योगीन्दु का 'योगसार' और 'परमात्मप्रकाश' तथा रामसिंह मुनि का 'पाहुड दोहा' त्यागमयी भावनाओं से भरे मुक्तकों के सुन्दर संग्रह हैं। 'पाहुड दोहा' वस्तुतः उपदेशात्मक मुक्तकों का उपहार स्वरूप है। इसके एक-एक दोहे में सरलतम रूपकों एवं दृष्टान्तों द्वारा कवि ने सांसारिक जीवन में सुखप्राप्ति के पथ को सुझाने का प्रयास किया है और यह लक्षित किया है कि वस्तुतः इन्द्रिय-जन्य सुख सच्चा सुख नहीं—स्थायी सुख आत्मा की वस्तु है, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने पर ही उपलब्ध हो सकता है। भौतिक पाखण्ड रचकर योगी कोई नहीं बन सकता, उसके लिए तो अन्तरतम के परिग्रह से निर्लिप्त होने की आवश्यकता होती है।

मंतु ण तंतु ण धेउ ण धारणु। ण वि उच्छासह किज्जइ कारणु ॥
एमइ परमसुक्खु मुणि सुव्वइ। एही गलगल कासु ण रुच्चइ ॥२०६॥
वे पंथेहिं ण गम्मइ वे-मुह सूई ण सिज्जए कंथा।
विण्णि ण हुंति अयाणा इंदियसोक्खं च मोक्खं च ॥ २१३ ॥[1]

'जब न मंत्र, न तंत्र, न ध्येय, न धारणा, न उच्छ्वास का कारण किया जाता है, तब मुनि परम सुख से सोता है। यह गड़बड़ किसी को नहीं रुचती। दो रास्तों से जाना नहीं होता। दो मुख की सूजी से कथरी नहीं सीई जाती। हे अजान! दोनों बातें नहीं हो सकतीं—इन्द्रिय सुख भी और मोक्ष भी।'

इसी प्रकार योगीन्दु ने भी अपने 'योगसार' और 'परमात्मप्रकाश' में आध्यात्मिक विचारों एवं उपदेशात्मक भावनाओं का गुम्फन किया है:—

बुज्झइ सत्थइं तउ चरइ पर परमत्थु ण वेई।
ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥ ८२ ॥[2]

आगे जो निर्विकल्प आत्मभावना से शून्य है, वह शास्त्र को पढ़ता हुआ भी, तपश्चरण करता हुआ भी परमार्थ को नहीं जानता, ऐसा कहते हैं। शास्त्रों को जानता है और तपस्या करता है, लेकिन परमात्मा को नहीं जानता है और जब तक पूर्व कहे हुए परमात्मा को नहीं जानता या अच्छी तरह अनुभव नहीं करता, तब तक नहीं छूटता।

---

१. पाहुड़ दोहा, मुनिरामसिंह, पृ० ६२, ६४।
२. परमात्मप्रकाशः योगसारश्च—संपादित, ए० एन० उपाध्याय, एम० ए०, १६३७, बम्बई।

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणिपत्त कयावि।
तह कम्मेहिं ण लिप्पयइ जइ रइ अप्पसहावि ॥ ९२ ॥[1]

जिस तरह कमलिनि का पत्र कभी भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी तरह यदि आत्मस्वभाव में रति हो, तो जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता।

जैन कवियों में दूसरी ओर जिन्हें दरबार में आश्रय मिला; उन्होंने दरबारी वातावरण के अनुरूप शृंगार-प्रधान मुक्तकों की रचना द्वारा मन-रंजन एवं राजन-रंजन किया। बब्बर की मुक्तक रचना ऐसी ही शृङ्गार प्रधान है, जिनमें स्त्री-सौन्दर्य एवं उनके लक्षणों पर तो उन्होंने मुक्तक रचे, साथ ही काव्यरीति के अनुसार षट्ऋतु वर्णन भी मुक्तकों की शैली में किया। वसन्त वर्णन में कवि कहता है :—

भमइ महुअर फुल्ल-अरविंद, नवकेसु काणण जुलिअ,
सव्वदेस पिक-राव चुल्लिअ, सिअल-पवण लहु वहइ,
मलअ-कुहर णव बल्लि-पेल्लिअ ।....
चित्त मणोभव सर हणइ, दूर-दिगंतर कंत।
किम परि अप्पउ धारिहउ, एम परिपलिअ दुरंत ॥१३५।२३३॥[2]

कवि का वसंत-वर्णन वस्तुतः बड़ा ही भावात्मक है। भौंरे घूम रहे हैं, कमल खिल रहे हैं, नवीन किंशुकों के वन जाज्वल्यमान हो रहे हैं। सर्वत्र कोयल का मधुर स्वर सुनाई दे रहा है। शीतल वायु धीरे-धीरे बह रही है, मलयपर्वत का कुहर और नवीन बेलें प्रेरणा दे रही हैं। चित्त में काम के बाण लग रहे हैं और पतिदेव दूर देश चले गए हैं। मैं अपने को किस भाँति धैर्य बँधाऊँ। मुझे अत्यन्त पीड़ा हो रही है और यह कष्ट अत्यन्त दुःख-दायी हो गया है।

इसी प्रकार प्रत्येक ऋतु का वर्णन मुक्तकों में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है और वीर प्रशंसा में विरचित मुक्तक बड़ी ही ओजपूर्ण शैली में है :—

सुरअरु सुरही परसमणि, नहि वीरेस समाण।
ओ वक्कल अरु कठिण तणु, ओ पसु ओ पासाण ॥७९।१३९॥[3]

---

१. परमात्मप्रकाशः योगसारश्च—संपादित, ए० एन० उपाध्याय, एम० ए०, १९३७, बम्बई।

२. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३२०.

३. हिन्दी काव्यधारा पृ० ३२५।

संस्कृत के आमुष्मिकतापरक मुक्तकों की धारा जैन काव्यधारा में स्वतंत्र रूप से अलग सुरक्षित है। अपभ्रंश काल में इन्हीं जैन कवियों द्वारा यह स्तोत्रों की धारा बहाई गई। अभयदेव सूरि ने तीस 'गाथा छन्द' में 'जय तिहुअण' स्तोत्र रचा। इसमें आत्म कल्याण की भावना प्रमुख है, जहाँ कवि अपने रोग निवारण के लिये प्रार्थना करता है।

तुहु सामिउ तुहु माय बप्पु तुहु मित्त पियंकरु।
तुहु गइ तुहु मइ तुहु जि ताणु तुहु गुरु खेमंकरु॥
हउँ दुहभरभारिउ वराउ राउल निअग्गह।
लीणउ तुह कमकमलसरणु जिण पालहि चंगह॥[1]

तुम्हीं स्वामी हो, तुम्हीं माता-पिता हो, तुम्हीं प्रिय मित्र हो। तुम्हीं गति, तुम्हीं मति और तुम्हीं त्राण और क्षेम करनेवाले गुरु हो। मैं कठिन दुःख से भरा हुआ अकिंचन अभागियों में प्रथम हूँ—तुम्हारे चरणकमल में मैं लीन हूँ—मुझे शरण दो और स्वस्थ कर दो।

बारहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते जैन कवियों में हमें हेमचन्द्र सूरि की शृङ्गार, वीर और करुण-रस प्रधान मुक्तक रचनाएँ मिलती हैं। इनके 'छन्दोनुशासन', 'प्राकृत व्याकरण' और 'देशी नाममाला कोष' में मुक्तकों के उदाहरण उद्धृत किये हुए मिलते हैं। इनके पश्चात् सोमप्रभ सूरि आते हैं, जिनका 'कुमारपाल प्रतिबोध' गद्य-पद्यमय काव्य, बीच-बीच में नीति एवं उपदेशात्मक तथा शृङ्गारिक मुक्तकों से आपूर्ण हैं। यह शृंगारप्रधान मुक्तकों का प्राधान्य आगे चलकर परवर्ती कवियों में इतना अधिक बढ़ गया कि ऋतु-वर्णन, बारहमासे की मुक्तक पद्धति बहुत प्रचलित हो गई और शृङ्गार-रस के मुक्तकों का प्राधान्य हो गया। शृंगार-रस के सुन्दर मुक्तक रचे गये, जिसमें भाव के साथ कला पक्ष पर भी कवियों ने पूरा-पूरा ध्यान दिया।

अइ सिंगारु करेइ वेस मोटई मन उलटि।
रइयरंगि बहुरंगि चंगि चंदणरस उगटि।
चंपय केतकि जाइ कुसुम सिरि खुंप भरेइ।
अति आछउ सुकुमाल चीर पहिरणि पहिरेइ॥१०॥
लहलह लहलह लहलह ए उरि मोतियहारो।
रणरण रणरण रणरण ए पगि नेउर सारो।

---

1. जय तिहुअण स्तोत्र, छन्द॥२०॥ फूलकुमारी, रतलाम।

गमग गमग गमग ए कानिहि वरकुण्डल।
झलझल झलझल झलझल ए आभरणाइं मंडल ॥११॥[1]

यहाँ पर श्राव्यध्वनि का सौन्दर्य लहलह, रणरण, गमगम आदि शब्दों में दर्शनीय है। इसी प्रकार ऋतु वर्णन के मुक्तकों में भी शब्दध्वनि में इन कवियों ने अपूर्व कौशल दिखाया। सच पूछा जाय तो हिन्दी के कवियों को बारहमासे की वर्णन-पद्धति और सौन्दर्य-वर्णन की प्रेरणा इन्हीं कवियों द्वारा मिली। इस दृष्टि से अपभ्रंश काल के इन मुक्तकों का महत्व अपरिमेय है। अपभ्रंश काल के अन्त होते तक इन शृङ्गारिक मुक्तकों की अपेक्षा वीर-रस के मुक्तक आश्रयदाताओं की प्रशंसा में अधिक लिखे गए। मेरु तुंग, अभय-देव सूरि, जज्जल, राजशेखर सूरि की रचनाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं। इनमें कवि जज्जल ने विशेष रूप से वीर रस के मुक्तक लिखे। ऐसे मुक्तकों में शब्दों के प्रयोग-वैचित्र्य पर कवि का ध्यान अधिक गया और इसी पद्धति का प्रभाव परवर्ती हिन्दी कवियों पर पड़ा, जिनमें सूदन की रचनाएँ इसी प्रभाव से युक्त हैं।

शार्ङ्गधर से अपभ्रंश काव्यों का अन्त माना जाता है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि अपभ्रंश के मुक्तकों की रचना तीन प्रमुख दार्शनिक भित्तियों पर हुई। ये दार्शनिक सिद्धान्त सिद्धों, जैनियों और नाथपन्थियों के भिन्न सिद्धान्त थे। तीनों का लक्ष्य मत प्रतिपादन एवं रूढ़िवाद का खण्डन था—किन्तु लक्ष्य एक लेते हुए भी तीनों धाराएँ तीन पथ से होकर निकलीं। सिद्धों ने यदि संसार को अधिक महत्व दिया, तो उसी से निकले नाथ-पंथ ने संसार त्याग की भावना रखी और जैनियों में दोनों का सामंजस्य मिला। फलतः सिद्धों के मुक्तकों में शृङ्गार को प्रधानता मिली। जैनियों के मुक्तकों में शृङ्गार और शान्त दोनों का ग्रहण हुआ और रहस्यवादी भावना एक नवीन हठयोग की साधना पर नाथ-पंथियों के मुक्तकों में नियोजित हुई। परन्तु दार्शनिकता भरे मुक्तक जितने अधिक जैनियों के मिलते हैं, उतने दार्शनिक मुक्तक अपभ्रंश में अन्यत्र नहीं। नाथ पंथियों के मुक्तकों में उक्ति-वैचित्र्य अधिक मिला, जो अद्‌भुत रस के रूप में प्रकट हुआ।

शृंगार और वीर-रस के मुक्तक

अपभ्रंश काल में इन दार्शनिकतापरक मुक्तकों की धारा के विपरीत शृङ्गारपरक मुक्तकों की ऐहिकतामूलक धारा बड़े ही प्रबल रूप में प्रकट हुई,

---

१. हिन्दी काव्यधारा—पृ० ४२४.

जिस पर आभीरों के संसर्ग का प्रभाव भी पड़ा। किन्तु ऐसे मुक्तकों की रचना का एक कारण यह भी था कि उनके रचयिताओं ने अपनी साधना की उच्चावस्था को प्राप्त करने के लिये जीवन के लौकिक पक्ष को सामने रखने की चेष्टा की। इस पक्ष को सामने रखकर ही उन्होंने उसके बाधक स्वरूप को बताया। इस प्रकार लोक-जीवन की एक झलक इन मुक्तकों में हमें मिलती है। दूसरे इस काल में कुछ कवियों को राज्याश्रय भी मिला। दरबार में लिखे गए मुक्तक वातावरण के अनुरूप बड़े ही इहलोकपरक हुए, जिसमें यथार्थ चित्र और संयोग और वियोग के मर्मस्पर्शी भावों का गुम्फन हुआ। रूप-चित्रण के मुक्तक तो बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं और साथ ही वियोग-वर्णन में बारहमासे की पद्धति को लेकर रचे हुए मुक्तक भी बहुत ही भावात्मक हैं। इनका प्रभाव हमारे रीतिकालीन कवियों पर स्पष्ट रूप से पड़ा।

राज्याश्रित भाटों ने शृङ्गार-रस के मुक्तकों के साथ-साथ वीर रस के मुक्तकों का भी प्रणयन किया। सामन्तों की प्रशंसा में लिखे गए मुक्तक या तो उनकी दानवीरता को लेकर निर्मित हुए अथवा युद्धवीरता की प्रशंसा में उन्होंने इनकी रचना की। किन्तु इन मुक्तकों में चाटुकारिता की भावना अपेक्षाकृत प्रमुख है।

छन्द

अपभ्रंश काल के मुक्तकों की शैली दोहे की शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शैली के मुक्तक यदि किसी काल में अधिक परिमाण में लिखे गए, तो वह इसी अपभ्रंश काल में। इस काल के कवि अधिक बढ़े, तो उन्होंने चौपाई का प्रयोग किया। धार्मिक उपदेशों के लिए वस्तुतः यही दोहा छन्द बहुत उपयुक्त सिद्ध हुआ। यही कारण है, जैनियों ने इसे विशेष रूप से अपनाया। अन्य छन्दों में कवित्त, ढाल, सिन्झाय, चौढालिया आदि प्रयुक्त हुए।

काव्यत्व की दृष्टि से यदि देखा जाय तो अपभ्रंश काल में मुक्तकों ने कोई विकास नहीं किया। इसका एकमात्र कारण था, काव्य के लिए काव्य न लिखने का ध्येय। जनता तक अपने धार्मिक सिद्धान्तों को पहुँचाने की अभिलाषा ने सर्वसुलभ माध्यम को ढूँढ़ निकालना चाहा। दोहे की पद्धति का अधिक प्रयोग इसी कारण इस काल में हुआ। दूसरे, विविध अलंकारों द्वारा यहाँ भाषा न तो अधिक अलंकृत हुई और न काव्य के अर्थगत सौन्दर्य की ही चिन्ता इन कवियों ने अधिक की। भाव जैसे सहज रूप में निकल पड़े, उसे उसी रूप में इन्होंने सँजो भर दिया। मुक्तक में रूप की दृष्टि से जो

परिष्कार संस्कृत में अमरुक के 'शतक' में दिखाई पड़ा, वह अपभ्रंश के मुक्तकों में नहीं मिलता। यद्यपि अपभ्रंश के मुक्तकों में भावगत वैशिष्ट्य का अभाव नहीं।

हिन्दी का आदिकाल और खुसरो

अपभ्रंश काल के अन्त होते-होते राजनीतिक परिवर्तनों का आरम्भ होने लगता है और युग का साहित्य अधिकांश रूप में ऐसी गाथाओं में मिलने लगता है, जिनमें वीररसात्मक भाव प्रमुख हैं। इसी समय खुसरो का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका महत्व भाषा की दृष्टि से ही अधिक है। इन्होंने काव्य के माध्यम को खड़ी बोली बनाने का प्रयास किया और गज़लों को छोड़कर कुछ ऐसी रचनाएँ कीं, जिनमें कुछ को हम किसी सीमा तक मुक्तक के उस वर्ग में ले सकते हैं, जिसमें वाग्वैचित्र्य एवं उक्तिवैलक्षण्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। ये हैं उनकी मुकरियाँ, जिनका रूप इस प्रकार का है—

सिगरी रैन मोहि संग जागा।
भोर भया तब बिछुरन लागा।
वाके बिछुरत फाटे हिया।
ए सखि साजन ? ना सखि दिया॥[1]

इन मुकरियों के अतिरिक्त खुसरो ने दोहे में भी जैसी भावाभिव्यंजना की है, उसे मुक्तक के ही अन्तर्गत लिया जायगा। उनके दोहे बहुत प्रचलित हैं—

गोरी सोवें सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥
खुसरो रैन सुहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोऊ भये एक रंग॥[2]

यद्यपि खुसरो के काव्य में उच्च श्रेणी का काव्यत्व नहीं मिलता, तथापि हिन्दी पद्य में खड़ी बोली का स्वरूप निर्माण करने का समस्त श्रेय उन्हीं को मिलता है और हिन्दी में मुक्तक काव्य का आदि स्वरूप यहीं से पनपता भी है। अस्तु, यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि खुसरो ने आती हुई मुक्तक की धारा को उत्तरोत्तर विकसित भले ही न किया हो, परन्तु उसे एक नवीन और सुनिश्चित दिशा की ओर मोड़ अवश्य दिया।

क्रमशः हम अपभ्रंश के मुक्तकों से सीधे हिन्दी के आदिकाल में आ

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रा०कु० वर्मा, पृ० १९६।
२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रा०कु० वर्मा, पृ० १९६।

पहुँचते हैं। काव्यरूप की दृष्टि से यह काल वीर भावात्मक काव्यों का काल है जिसमें वीर-गाथाएँ मुख्य रूप से मिलती हैं। अस्तु अपभ्रंश काल के पश्चात् मुक्तक की दृष्टि से खुसरो के दोहों का ही कुछ महत्व है।

निर्गुण धारा और मुक्तक का विकास

हिन्दी में मुक्तक का वास्तविक प्रादुर्भाव सन्तों की निर्गुण काव्यधारा के बीच हुआ, जहाँ काव्य का लक्ष्य काव्य न होकर एकमात्र मत-प्रतिपादन ही था। इसी मत-प्रतिपादन को जब इन संतों ने अपना लक्ष्य बना लिया तब गद्य की अपेक्षा पद्य का माध्यम अत्यधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ। यही कारण है कि इस मत के प्रमुख प्रवर्तक कबीर की कविता में उच्च काव्यत्व नहीं मिलता, जो संस्कृत के मुक्तकों में उपलब्ध हुआ। कबीर का जन्म ही एक ऐसे समय हुआ जब वातावरण अशान्त था और ऐसे सुधाकर की आवश्यकता थी जो जनता के बढ़ते हुए बाह्याडम्बरों को दूर कर उसे सत्पथ पर लाने का प्रयत्न करता। उपदेश देकर ही यह कार्य बन सकता था और गद्य में रख कर प्रभावात्मकता भी उतनी न आ सकती थी। अतः कटु सत्य-वादी कबीर ने इस गुरुतर भार को अपने ऊपर लिया। पूर्व सिद्धों, निरंज-नियों और नाथों की परम्परा से उनका सम्बन्ध साधना की दृष्टि से तो था ही, जिससे उन्हें अपने इस लक्ष्य को कार्य में परिणत करने में कठिनाई न पड़ी। सच पूछा जाय तो सिद्धों, नाथों और जैनियों ने मत-प्रतिपादनार्थ ही काव्य का माध्यम ग्रहण किया। दोहा छन्द में उपदेश देने की पद्धति सिद्धों की अपनी मौलिक पद्धति थी। इस छन्द की छोटी सी सीमा के भीतर मार्मिकता के साथ उपदेश देना अत्यन्त सफल सिद्ध हो ही चुका था। इसी शैली को कबीर ने भी मुक्तक काव्य के लिये अपनाया और इसका इतना अधिक प्रचार हुआ कि मुक्तक में दोहे की शैली का संबंध निर्गुणियें सन्तों से ही जुड़ गया। मुक्तक की इस दोहा-शैली का प्रभाव सगुण-धारा पर भी पड़ा और उपदेशात्मक मुक्तकों की एक परम्परा सी बन गई।

कबीर और उनके मुक्तक

कबीर के मुक्तकों में काव्यरूप की दृष्टि से मौलिक उद्भावना हुई, इसमें सन्देह है। एक ओर जहाँ उनमें सिद्धों के मुक्तकों के समान अनगढ़ सौन्दर्य वर्तमान है, वहाँ दूसरी ओर उन्हीं के अनुरूप सिद्धान्त-निरूपण की भावना भी प्रमुख है। वस्तुतः कबीर के मुक्तकों द्वारा मुक्तक का अनवरुद्ध विकास अवश्य हुआ है और उनके मुक्तक उस बीच की कड़ी के समान भी प्रतीत होते हैं, जो सिद्धों और हिन्दी काव्य की मुक्तक धारा को आपस में जोड़ रही

हैं। इस प्रकार 'वेदों' से पालि, प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में होती हुई मुक्तक की चली आती धारा को पुनः हिन्दी में उतारने का समस्त श्रेय कबीर को ही दिया जाता है। इस आती हुई परम्परा में काव्यरूप की दृष्टि से निश्चय ही कबीर मुक्तक काव्य को कुछ नवीनता न दे सके हों, परन्तु भावना की मौलिकता में ये मुक्तक अवश्य महत्त्वपूर्ण हैं। जहाँ कहीं भी कबीर ने अपने पूर्ववर्ती भावों को अपनाया है, वहाँ भी अपनी भावना के अनुरूप ऐसे सटीक परिवर्तन किए हैं, जिनसे सम्पूर्ण काव्यरूप में एक नवीन आकर्षण भर गया है। यही है वस्तुतः कबीर के मुक्तकों की एकमात्र विशेषता, अन्यथा उनमें तो वही काव्यरूप है, जो फिरते-फिरते सिद्धों द्वारा स्वतः बन गया था।

सिद्धों की यह उपदेशात्मक शैली इतनी प्रभावात्मक हुई कि जनता के मुँह पर उनके दोहे चढ़ गए। इस शैली में न तो 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' परिभाषा ही उपयुक्त हो सकती थी और न अभिव्यंजना का कोई काव्यमय सौन्दर्य ही इसमें वर्तमान था। फक्कड़ कवि के स्वभावानुरूप इन मुक्तकों की शैली बड़ी सहज और स्वाभाविक है। इसमें न तो कवि अलंकारों के पीछे हैरान है और न रस परिपाक के लिये चिन्तित ही है। भाषा भी उनकी फिरते-फिरते अनेक स्थानों के प्रचलित शब्दों से युक्त है। इस प्रकार कबीर के मुक्तकों में काव्यरूप आयास-सिद्ध नहीं—पिछली परम्परा की पृष्ठभूमि पर उन्होंने नवीन तूलिका से रेखांकन किया।

कबीर की 'साखी'

इन्हीं पुराने धर्मप्रवर्तकों ने जिस ज्ञान का प्रतिपादन किया, उसका साक्षी रूप में साक्षात्कार जब कबीर ने करवाया, तब उस सत्य के साक्षात्कार से सम्बन्धित समस्त दोहों का संग्रह 'साखी' कहलाया। कबीर ने सिद्धों, निरंजनियों और नाथों के दिखाए ज्ञान का सहारा लेकर अपने उपदेशात्मक मुक्तक रचे और इस प्रकार सत्य के साक्षात्कार रूप में उन्होंने साक्षी दी। यही 'साक्षी' शब्द बिगड़ कर 'साखी' हो गया। परन्तु यह शब्द कबीर का अपना मौलिक शब्द है, जो विशेष प्रकार के मुक्तकों के संग्रह के लिए ही रूढ़ है। इसके अन्तर्गत केवल साधना और ज्ञान-सम्बन्धी मुक्तकों का ही संग्रह होता है, अर्थात् शान्त-रस के मुक्तकों को छोड़कर अन्य सभी रस इसमें वर्ज्य हैं। साथ ही 'साखी' के अन्तर्गत केवल निर्गुणियों के ही दोहों का अन्तर्भाव है, अन्य किसी भी सम्प्रदाय के ज्ञान-वैराग्य सम्बन्धी दोहे 'साखी' में प्रवेश नहीं पा सकते। यही कारण है, 'साखी' शब्द को सुनते ही कबीर का ध्यान प्रथम आता है। यह कबीर की अपनी देन है।

मुक्तक के प्रकार

यों तो 'साखी' के अन्तर्गत ज्ञान, वैराग्य और साधना सम्बन्धी मुक्तक हैं और उनका स्वरूप सर्वत्र उपदेशात्मक ही है, तथापि उनके मुक्तकों की कुछ भिन्न-भिन्न विशेषताएँ निकालकर उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। इस दृष्टि से साखी के मुक्तक चार प्रकार के हो सकते हैं।

(१) प्रथम तो 'रहस्यवादी' मुक्तक हैं, जिनमें एक ओर तो हठयोगी साधना के मुक्तक हैं, दूसरी ओर सूफी धर्म के प्रभाव से युक्त प्रेम-प्रधान मुक्तक हैं, जिनमें विरह-भाव की व्यंजना मुख्य रूप से हुई है, और तीसरी ओर ऐसे कथनीमूलक मुक्तक आते हैं, जिनमें उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण उलटवांसियों में होकर कबीर की रहस्यवादी भावना अभिव्यक्त हुई है।

(२) द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत ऐसे ज्ञान-सम्बन्धी मुक्तक आते हैं, जिनमें सन्त मत के स्वरूप का आभास देते हुए सभी अंगों का वर्णन है, जो उनकी साधना में आवश्यक हैं। गुरु महिमा, सतसंग महिमा, कुसंगति, माया, परचा, ज्ञान, विरह, निष्काम कर्म, भेष आदि अनेक अंगों पर रचे गए मुक्तक इसी के भीतर आते हैं।

(३) तृतीय वर्ग के मुक्तक नीतिपरक मुक्तक हैं, जिसमें व्यवहार, सदाचार, चारित्र्य-प्रवर्तक और धार्मिकता-मूलक मुक्तकों का समाहार है। और अन्तिम प्रकार के मुक्तकों में ऐसे भाव की प्रधानता है, जिसमें कबीर ने धार्मिक पाखंड संबंधी बातों द्वारा हिन्दू और मुसलमानों को सचेत करने का प्रयास किया है। ऐसे मुक्तक कबीर के अधिकतर व्यंग्यमूलक मुक्तक हैं।

रहस्यवादी मुक्तकों में हठयोग की प्रक्रिया को लेकर चलनेवाले मुक्तकों का स्वरूप बड़ा ही बुद्धिप्रधान है। यहाँ कवि के उद्‌गार हृदय की सरसता मे पगे हुए नहीं हैं। अतः पाठक 'इंगला', 'पिंगला', 'चक्र', 'रन्ध्र' आदि में ही उलझ कर रह जाता है, उसमें रसमग्न नहीं हो पाता। यहाँ कवि का अभीष्ट हठयोगी प्रक्रिया को समझाना ही है, जिससे इन मुक्तकों में नीरसता आ गई है।

सुरति समांणी निरति में, निरत रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भ दुवार॥ २२॥

आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।
ताका पांणीं को हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि॥ ४५॥

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनानि।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥ ११ ॥

—परचाकौ अंग।[1]

किन्तु जहाँ कवि की भावना पर बुद्धि का दबाव नहीं, जहाँ उनके हृदय की व्यथा सहजप्रवृत्त रूप में अभिव्यंजित हो पड़ी है, वहाँ कवि के मुक्तक बड़े ही सरस एवं आत्माभिव्यंजक हुए हैं। इन स्थलों पर पहुँचकर यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि कबीर का सच्चा हृदय खुल पड़ा है और वह भी एक बड़े ही काव्यात्मक ढंग से :—

आँषड़ियाँ झाँई पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥ २२ ॥
नैना नीझर लाइयाँ, रहट बहै निस जाम।
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ॥ २४ ॥
कै विरहनि कूँ मींच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणाँ मो पै सहा न जाइ ॥ ३५ ॥

—विरहकौ अंग।[2]

जहाँ प्रथम प्रकार के मुक्तकों में बुद्धि की प्रधानता है, वहाँ इनमें हृदय से कवि को प्रेरणा मिली है। जब विरह का भाव तीव्रतम हो उठा है, तब उनकी विरहिणी आत्मा क्रौंच पक्षी की भाँति चीत्कार उठी है और कभी उसने चकवी के समान करुण क्रन्दन किया है। इस विरह में उनके शरीर की अवस्था कितनी हृदयद्रावक हो उठी है—

सब रग तन्त रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ॥ २० ॥

—विरहकौ अंग।[3]

सम्पूर्ण शरीर की एक-एक नस से विरह की झंकार निकल उठी है। इस विरह की भावना को वही परमात्मा समझ सकता है या फिर उन्हीं का अपना चित्त। ऐसी भावनाएँ जहाँ कहीं भी अभिव्यक्त हुई हैं, वहाँ मुक्तकों में अनुभूति और अभिव्यक्ति में सन्तुलन आ गया है।

ज्ञान सम्बन्धी उपदेश की भावना से निर्मित मुक्तकों में कवि की दार्श-

---

१. कबीर ग्रन्थावली....सम्पादक, श्यामसुन्दर दास, ना० प्र० सभा, संवत् १६२८, प्रयाग।

२. कबीर ग्रन्थावली। ३. कबीर ग्रन्थावली।

निकता का आवरण है, जिससे कवि की रागात्मिका वृत्ति को प्रकाशित होने का अवसर नहीं मिला है। कवि उपदेश देता हुआ ही दिखाई पड़ता है। साधना मार्ग में अपने अनुभव द्वारा उन्हें इस तथ्य की प्रतीति हुई कि सद्गुरु का पद गोविंद से भी बढ़कर है; क्योंकि वही साधक और साध्य के बीच की कड़ी को जोड़ने का साधन स्वरूप है। अतएव उसकी प्रशंसा साधना-क्षेत्र में परमावश्यक है। सद्गुरु के न मिलने पर शिक्षा अधूरी ही रह जाती है:—

कबीर सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीष ॥ २७ ॥[1]

—गुरुदेवकौ अंग।

गुरु के पश्चात् स्मरण करने की पद्धति महत्त्वपूर्ण है। किन्तु हरिनाम का स्मरण कठिन है; और जिसे इस सुमिरन का रस मिल जाता है, वह इस भौतिक संसार के द्वन्द्वों से सदा के लिये छूट जाता है—अतएव कवि नाम-स्मरण का उपदेश देता है:—

गुण गाएँ गुण नाँ कटै, रटै न राम वियोग।
अह निसि हरि ध्यावे नहि, क्यूँ पावै दुलभ जोग ॥ २८ ॥[2]

—सुमिरणकौ अंग।

इसी प्रकार 'सतसंग महिमा, कुसंगति परिणाम, भेष' आदि पर लिखे गए मुक्तक बौद्धिकता को अधिक अपनाए हुए हैं, जिससे सरसता का अभाव आ गया है। यही अभाव नीतिपरक मुक्तकों में भी प्रबल है, जहाँ कवि ने व्यवहार, शिष्टाचार एवं धार्मिकतामूलक मुक्तक-रचना की है। व्यंग्यमूलक मुक्तकों में तो बुद्धितत्त्व की ही प्रधानता है, क्योंकि व्यंग्य बुद्धि-जनित है। अस्तु, जब कबीर पण्डित, मुल्ला, काजी आदि को लक्ष्य कर व्यंग्य करते हैं तो उनकी ये उक्तियाँ चुभ तो जाती हैं, पर उसमें तल्लीन नहीं कर पातीं।

कबीर के मुक्तकों में संगीत तत्त्व का अभाव है। एक तो दोहा छन्द ही ऐसा है, जिसमें संगीत नहीं, दूसरे कबीर ने न तो भाषा पर ही इतना ध्यान दिया, न शब्दों ही पर। एक ही दोहे में कहीं राजस्थानी, कहीं पंजाबी शब्दों का प्रयोग है, जिससे सुस्वरता पर आघात पहुँचा है। जहाँ कहीं अनायास शब्दालंकार में अनुप्रास की योजना हो भी गई है, वहाँ भी विशेषगति या संगीतात्मकता नहीं आ सकी।

---

१. कबीर ग्रन्थावली। २. कबीर ग्रन्थावली।

कलापक्ष

कबीर के मुक्तक काव्य-निर्माण के ध्येय से नहीं रचे गए, अतएव कला पक्ष की प्रधानता भी कबीर के मुक्तकों में ढूँढ़ना व्यर्थ है। यह कलापक्ष संस्कृत के मुक्तकों में अपने उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। किन्तु कबीर के मुक्तकों में आकर पुनः हम सहज अभिव्यंजना-पद्धति का प्रयोग देखते हैं, जो लोक की सहज ग्राह्य-प्रवृत्ति के अनुरूप तो सफल सिद्ध हुई, परन्तु काव्यत्व का उसमें अभाव आ गया। वस्तुतः कबीर धर्मगुरु थे और सन्त मत के थे प्रमुख प्रवर्तक। अतः, उनका साध्य था एकमात्र सत्य को ढूँढ़कर ऐसे सर्वसमन्वित रूप में जनता के समक्ष रखना, जिससे अधिक से अधिक प्रमाण में जनता उससे प्रभावित होकर ग्रहण कर सके। फलतः साध्य के अनुरूप साधन स्वरूप कविता के आन्तरिक रूप को तो कवि उच्च स्तर पर ले जा सका, किन्तु उसके बाह्य रूप को सँवारने की ओर उसका ध्यान नहीं जा सका। दूसरे, कबीर बहुश्रुत तो थे ही, बहुविज्ञ नहीं—काव्य की रूढ़ियों से भी उनका कोई सरोकार न था। अतः, उनके मुक्तकों में अलंकारों की छटा, छन्दों की झंकार नहीं मिलती; और यदि मिलती भी है तो वह सहज अयत्न साधित है। यहाँ न तो कवि ने शब्दों को छन्दों के अनुकूल बनाने के लिए नवीन रूप ही दिया है और न भाषा के सौन्दर्य में अर्थालंकारों की भरमार ही की है—

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूं जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव।। २३ ॥

—बिरह कौ अंग।[1]

यहाँ रूपक अलंकार सहज नियोजित हो गया है। परन्तु प्रमुख है, उसके भीतर का भाव। आत्मा, परमात्मा के सम्मिलन के लिए कितनी कठिन साधना के लिए प्रस्तुत है। किन्तु प्रस्तुत दोहे में भासित ऐसा होता है कि कवि के पास भाव अधिक हैं, पर शब्दों का प्रयोग इतना समर्थ नहीं कि उन गहन भावों की अभिव्यंजना या कवि की सच्ची अनुभूति को उसी रूप में बाहर प्रकट कर सके। यही असमर्थता कबीर के मुक्तकों में अनेक स्थान पर दिखाई पड़ती है, जो उनके भक्तस्वरूप का देखते हुए अत्यधिक स्वाभाविक लगती है। कवित्व उनका ध्येय न था, भाव ने जो बाह्य अभिव्यंजना का स्वरूप ग्रहण किया है, वह उनका एक मौलिक रूप है।

---

१. कबीर ग्रंथावली।

विरहिन ऊठे भी पड़े, दरसन कारनि राम।
मूवाँ पीछैं देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥ ७ ॥
मूवाँ पीछैं जिनि मिलै, कहै कबीरा राम!
पाथर घाटा लोह सब (तब) पारस कौणें काम ॥ ८ ॥

—विरह कौ अंग, क० ग्रं०।

दर्शनों की आकुल विरहिणी आत्मा उठती है, किन्तु उठ नहीं पाती—अस्तु, वह निराश होकर कह उठती है कि हे राम! यदि दर्शन देना ही है तो जीते जी दे दो। मरने के पश्चात् मिला तो किसके काम आवेगा? पारस का महत्त्व तो तभी है, जब लोहा साथ हो। उसका सापेक्षिक महत्त्व भी तभी है। पर यहाँ तो सारा लोहा घट-घट कर पत्थर होता जा रहा है, तो बाद में स्पर्शमणि मिला भी तो व्यर्थ है। यदि मौलिकता को तुम आध्यात्मिकता में परिणत करना चाहते हो तो पहले तुम्हारा साक्षात्कार ही परमावश्यक है।

यहाँ भाव का सौन्दर्य अपूर्व है, किन्तु उसके साथ कला का सौन्दर्य उतना नहीं। यदि भावों के साथ कलागत सौन्दर्य भी होता तो कबीर के आध्यात्मिक भाव भरे मुक्तक वस्तुतः सुन्दर होते। भावपक्ष के साथ कलापक्ष का सुन्दर समन्वय कबीर के इन मर्मस्पर्शी मुक्तकों में नहीं मिलता।

मुक्तकों में इस अभाव का दूसरा कारण है भाषा। भाषा के सौन्दर्य पर मुक्तक का सौन्दर्य बहुत कुछ आधारित है। मुक्तक में तो आगे चलकर भावाग्रगामिनी भाषा का ऐसा प्रयोग हुआ कि उनका स्वरूप ही बदल गया। इतना न भी हो तो कोई अड़चन नहीं तथापि मुक्तक का सौन्दर्य उस भाषा के माधुर्य से द्विगुणित हो उठता है, जिसमें पदावली की कोमलता होती है। साधु सतसंग में रहकर हिरते-फिरते हुए कवि की पदावली में पंजाबी, मारवाड़ी, राजस्थानी, पुरबी, पश्चिमी सभी भाषाओं का पुट मिलता है और जहाँ कहीं भी राजस्थानीपन अधिक आ गया है, वहाँ भावगत सौन्दर्य तो बिलकुल नष्टप्राय है—

आषड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जाणें दुखड़ियाँ।
साईं अपणैं कारणैं, रोइ रोइ रतड़ियाँ ॥ २५ ॥

—विरह कौ अंग, क० ग्रं०।

यदि यह 'ण' की परुषता से आक्रान्त न होता तो मुक्तक का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता।

इस प्रकार कहीं-कहीं तो कबीर की भाषागत विवशता बहुत ही खटकने लगती है और लगता ऐसा है कि कबीर बरबस किसी भाव को भाषा के

भीतर से निकालने के लिए आतुर है। वे करना भी यही चाहते थे, क्योंकि 'साखी' में जिस सिद्धान्त प्रतिपादन एवं उपदेशात्मक मुक्तकों का संग्रह है, उनके प्रणयन में आतंक जमाने की भावना बद्धमूल है। इसी भावना के कारण कबीर ने यह चिन्ता न की कि जनता उनमें तल्लीन हो सकती है अथवा नहीं। फलतः जिन मुक्तकों की रचना 'साखी' के अन्तर्गत हुई, उनमें भाषा का सरल प्रवाह भी नहीं। उनका स्वरूप अधिकतर ऐसा हो गया है—

> त्रीया त्रिष्णां पापणीं, तासूं प्रीति न जोड़ि।
> पैड़ी चढ़ि पाछौं पड़ैं, लागै मोटी खोड़ि ॥ १४ ॥
>
> —माया कौ अंग, क० ग्रं०।
>
> सोई आँसू सगजणा, सोई लोक बिड़ांहि।
> जे लोइण लोंहीं चुवै, तौ जाँणौं हेत हियाँहि ॥ २६ ॥
>
> —विरह कौ अंग, क० ग्रं०।
>
> चोट सताणीं बिरह की, सब तन जर जर होइ।
> मारण हारा जाँणिहै, कै जिहिं लागी सोइ ॥ १४ ॥
>
> —विरह कौ अंग, क० ग्रं०।

बौद्धिकता

कबीर की भीतरी मनोवृत्ति का अध्ययन कर, जब हम उनके काव्यरूप को देखते हैं, तब एक दार्शनिक होने के कारण उनकी उक्तियों में काव्य का अयत्न-साधित रूप मिलता है। जिस स्तर पर कबीर बैठकर इस भावाभिव्यंजना में लीन दिखाई पड़ते हैं, उस स्तर को हमें कवि की उसी मनोवृत्ति के विशेष कोण से देखने की आवश्यकता आ पड़ती है। अस्तु,कबीर की दार्शनिक मनोवृत्ति ने अभिव्यंजना का जो बाह्यरूप ग्रहण किया है, वह बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है। यही कारण भी है कि कबीर के मुक्तकों में यदि कोई तत्त्व अधिकता से नियोजित हुआ है, तो वह है बौद्धिकता। सम्पूर्ण उपदेशात्मक मुक्तक ही बुद्धिजनित है, परन्तु इनमें भी प्रतीकमय मुक्तक और व्यंग्यमूलक उक्तियों में जो उक्तिवैचित्र्य मिलता है, वह बुद्धि की ओर अधिक झुका हुआ है। उक्तिवैचित्र्यपूर्ण मुक्तकों का सुन्दर उदाहरण कबीर में ही सर्वप्रथम उपलब्ध हुआ। यह उक्तिवैचित्र्य कबीर की साधना की देन है। किन्तु इनका उद्भव सिद्धोंके द्वारा ही हो गया था, जिसे 'सन्धाभाषा' कह कर अभिहित किया गया है। किन्तु हिन्दी में चन्द के पश्चात् अपने नवीन रूप में उसकी अवतारणा कबीर ने ही की। ये कथनी प्रधान या प्रतीकमय

मुक्तक हैं, जिनमें कभी तो स्वाभाविक व्यापारों के विरुद्ध कवि ने कल्पना की और कभी आश्चर्यजनक व्यापारों के रूप में अपनी भावना को प्रकट किया इन उलटवाँसियों का मूल कारण है, उनकी साधना-पद्धति, जिसमें उलटी क्रिया द्वारा अपनी साधना-पद्धति को समझाया जाता है। ये उलटवांसियाँ बड़ी वाग्वैचित्र्यपूर्ण हैं, जिनसे रसानुभूति तो दूर केवल कौतूहल मात्र होता है।

जाइ पूछौ गोविंद पढ़िया पण्डिता, तेरा कौन गुरु कौन चेला।
अपणे रूप कौं आपहि जाणैं, आपै रहै अकेला ॥ टेक ॥
बांझ का पूत बाप बिन जाया, बिन पांऊं तरवरि चढ़िया।
अस बिन पाषर गज बिन गुड़िया, बिन षंडै संग्राम जुड़िया।
बीज बिन अंकुर पेड़ बिन तरवर, बिन साषा तरवर फलिया।
रूप बिन नारी पुहुप बिन परमल, बिन नीरै सरवर भरिया।
देव बिन देहुरा, पत्र बिन पूजा, बिन पांषाँ भँवर बिलंबिया।
सूरा होइ सु परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया।
दीपक बिन जोति, जोति बिन दीपक, हद बिन अनाहद सबद बागा।
चेतनां होइ सु चेति लीज्यौ, कबीर हरि के अंगि लागा ॥

—१५८, क० ग्रं०।

'ज्ञान विरह कौ अंग' में ऐसे अनेक दोहे हैं—

पाणीं मांहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि।
बहती सलिता रह गयी, मंछ रहे जल त्यागि ॥ ६ ॥
समंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोयला भई।
देखि कबीरा जागि, पंछी रूंषां चढ़ि गई ॥

—१०, क० ग्रं०।

इनके द्वारा कवि ने हठयोग की क्रियाओं की ओर निर्देश किया है। जब तक इनके विशिष्ट शब्दों के विशिष्ट अर्थ का ज्ञान पाठक को न हो, तब तक इनको समझना कठिन है। यह गूढ़ता मुक्तकों की विशेषता भी मानी जाती है।

उलटवाँसियों के अतिरिक्त व्यंग्यमूलक उक्तियों में भी बौद्धिकता पर्याप्त है। व्यंग्य करते समय कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ही को अपना लक्ष्य बनाया और बड़ी ही सरल पदावली में व्यंग भरे मुक्तक रचे। भ्रम में पड़ी हुई दोनों जातियों को वे प्रकाशित पथ पर लाना चाहते थे, क्योंकि दोनों ही आडम्बर को सत्य समझ बैठी थी—

पाहन पूजे हरि मिले, तौ मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चक्की भली, पीसि खाय संसार॥
काँकर पाथर जोरि कै, मसजिद लई चुनाई।
ता चढ़ि मुल्ला बाग दे, बहरा हुआ खुदाई॥

इन व्यंग्यमूलक मुक्तकों में रस नहीं, केवल कौतूहल वृत्ति को वे उद्बुद्ध कर देते हैं।

कबीर के मुक्तक और राजस्थानी काव्य 'ढोलामारू रा दूहा'

कबीर के मुक्तकों में बहुत-से ऐसे दोहे मिलते हैं, जो राजस्थानी प्रेम-काव्य 'ढोलामारू रा दूहा' में भी हैं। इस साम्य को देखकर प्रतीत यही होता है कि या तो कबीर ने प्रेरणा उस प्रेम-काव्य से ली अथवा कबीर के काव्य ने उसके रचयिता को प्रभावित किया। किन्तु 'ढोला मारू' की जो प्रति उपलब्ध होती है, वह कबीर के प्रादुर्भाव के लगभग सौ वर्ष पश्चात् की है। अतः, विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि सम्भवतः इन दोहों का प्रचार जनता में रहा और कबीर ने अपने अनुकूल उनमें से सामग्री चुन ली, अथवा उनके शिष्यों में से किसी ने इन दोहों को उनकी साखी में जोड़ दिया। यथार्थ बात इसमें कोई भी हो, इसकी छानबीन हमारा विषय नहीं। हमें तो यही दिखाना अभीष्ट है कि एक ही विषय किस भाँति भावना के बदलते ही भिन्न रूप ग्रहण कर लेता है। कबीर के दोहों और 'ढोला मारू' के दोहों में साम्य होते हुए भी बहुत अन्तर है।

'ढोला मारू रा दूहा' एक प्रेम कथा है और सम्पूर्ण काव्य प्रेम के लौकिक स्तर पर है; किन्तु कबीर का हृदय आध्यात्मिक अनुभूति से भरा हुआ था। अस्तु, जहाँ 'ढोला मारू' में कवि कहता है—

राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।
जिनकी जोड़ी बीछड़ी तिणका कवण हवाल॥ ५३॥

—ढोला मारू रा दूहा।

यहाँ पर काव्य की नायिका मारवणी पंछियों को सम्बोधित कर कहती है कि जब रात्रि में सारस पक्षी बिछुड़ने पर इतना करुण क्रन्दन करता है, जिससे सम्पूर्ण ताल गुञ्जायमान हो उठता है, तब उन लोगों का क्या हाल होता होगा जिनकी जोड़ी बिछुड़ गई हो। यहाँ मारवणी का संकेत अपनी ओर है, क्योंकि उसका प्रीतम परदेश में है। इस प्रकार यहाँ अर्थ साधारण लौकिक विरह का ही है। किन्तु जब इसी को कबीर लेते हैं, तब उसका रूप ही बदल जाता है।

अम्बर कुञ्जा कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि पै गोविन्द बीछुटे तिनके कौण हवाल ।। २ ।।
—क० ग्रं० ।

प्रस्तुत दोहे में 'जोड़ी' के स्थान पर 'गोविन्द' के प्रयोग से सम्पूर्ण अर्थ भिन्न हो जाता है। यहाँ भावना का स्तर लौकिक नहीं,पारलौकिक बन जाता है। इसी प्रकार जहाँ 'ढोला' में—

सुपनई प्रीतम मुझे मिल्या, हूँ गलि कग्गो धाइ।
डरपत पलक न छोड़ही, मति-सुपनउ हुइ जाइ ।। ५०३ ।।
—ढोला मारू रा दूहा ।

वहाँ कबीर में यही भाव इस प्रकार है—

कबीर सुपनै हरि मिल्या, सूँता लिया जगाइ।
आँषि न मीचौं डरपता, मति सुपिनाँ ह्वै जाइ ।। ६ ।।
—उपगणि कौ अंग, क० ग्रं० ।

प्रथम दोहे में मारवणी स्वप्न में प्रियतम को देखती है और सुबह अपनी सखियों से अपना अनुभव बता रही है। स्वप्न में उसे उसका प्रियतम दिखाई पड़ा, वह दौड़कर उनसे गले मिली, किन्तु आँखें उसने इस भय से न खोलीं कि कहीं वह संयोग वियोग में न परिणत हो जाय। किन्तु दूसरे दोहे में जिस स्वप्न का अनुभव वर्णित है, वह विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ स्वप्नावस्था साधना की चरमावस्था है, जिसको प्राप्त कर साधक पुनः इस संसार में आने का अभिलाषुक नहीं होता।

स्वप्न में इस प्रकार के संयोग को पाकर मारवणी का मन बेचैन हो उठता है, अस्तु वह कहने लगती है—

सुहिणा तोहि मराविसूं, हियइ दिराऊँ छेक।
जद सोऊँ तद दोइ जणा, जे जागूँ तो एक ।। ५१४ ।।
—ढो०मा० दूहा ।

अर्थात् हे स्वप्न मैं तुझे मरवा डालूँगी, तेरे हृदय में छेद करवाऊँगी क्योंकि जब सोती हूँ तब हम दो हो जाते हैं, जागने पर मैं अकेली रह जाती हूँ।

बिलकुल यही भाव जब कबीर ने अभिव्यक्त किया, तब उनके दोहे में आध्यात्मिक अनुभूति का वर्णन बड़े ही रूपकात्मक रूप में दिखाई पड़ा—

कबीर सुपने रैनि के, पारस जीय में छेक।
जो सोऊँ तो दोइ जणा, जे जागूँ तो एक ।। २ ।।
—चितांवणी कौ अंग, क० ग्रं० ।

यहाँ रात्रि पार्थिव रात्रि नहीं, अज्ञानावस्था है, जब पारस और जीव में भेद या द्वैत भाव आ जाता है, किन्तु जागने पर या अज्ञानरूपी रात्रि के बीतने पर अभेद या अद्वैतावस्था आ जाती है।

प्रथम दोहे में सोने और जागने का अर्थ साधारण है और 'दोइ और एक' का अर्थ भी साधारण है, जब स्वप्न में मारवणी अपने को ढोला के साथ पाती है और जागने पर स्वयं अपने ही को अकेले पाती है। किन्तु कबीर में 'दोइ' से द्वैत का भाव है और 'एक' से अद्वैत का।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि किसी प्रबन्ध के बीच आनेवाले विशेष भाव और स्वतन्त्र रूप में अभिव्यंजित होनेवाले भावों की अभिव्यक्ति में महान अन्तर है। 'ढोलामारू' के दोहे किसी कथा का अंग बनकर आए हैं, जिनमें किसी विशेष प्रसंग, विशेष परिस्थिति और विशेष पात्र द्वारा विशेष भाव की अभिव्यंजना हो रही है। अतः विशेष उद्गारों के स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण कथा का ज्ञान भी अपेक्षित है। परन्तु कबीर के दोहे इन बातों से सर्वथा निरपेक्ष हैं। यहाँ न किसी प्रसंग विशेष का निर्देश है, न कथा की अपेक्षा और न विशेष पात्र के विशेष भावों के रूप में ये आए ही हैं। इनमें कबीर की रहस्यात्मक भावना ही अभिव्यंजित हुई है, अस्तु काव्य रूप में यहाँ भेद आ गया है।

रसानुभूति

कबीर के मुक्तक यदि अधिक रसानुभूति न प्रदान कर सके, तो हमें यह कहना भी उचित नहीं कि कबीर के मुक्तकों में नीरसता अधिक है। क्योंकि लक्ष्य की ही दृष्टि से उनके मुक्तकों को हमें परखना समीचीन है। न तो हम कबीर को संस्कृत कवियों के समकक्ष रख सकते हैं और न परवर्ती कवियों के उदाहरणार्थ बिहारी की श्रेणी में रखकर उनके काव्यरूप की परख ही कर सकते हैं। एक साधक है, दूसरा कवि जो कविता करने के ध्येय से कविता करने बैठा। अतएव यह आवश्यक कदापि नहीं कि दोनों समान रसानुभूति प्रदान कर सकें। एक के मुक्तक में यदि काव्यत्व अथवा रसानुभूति मिल गई तो ठीक है, अन्यथा हमें चिन्ता भी नहीं, किन्तु दूसरे में काव्यत्व एवं रसानु-भूति की पूरी-पूरी आवश्यकता हमें है। वाटिका के बीच से निकलते हुए यदि उसने हमें सुगन्ध दे दी तो हमें लाभ हुआ अन्यथा हम उससे माँगने के लिये ठहर नहीं जाते। किन्तु इत्र की दुकान पर यदि मनोनुकूल सुगन्ध हमें नहीं उपलब्ध हो सके तो हम ठहर कर प्रश्न भी कर सकते हैं। इसी प्रकार कबीर के मुक्तक कहीं रसानुभूति प्रदान करते हैं तो कवि का महत्त्व

बढ़ जाता है और अन्यथा भी उनके मुक्तकों का अपना एक निजी महत्त्व है।

कबीर के मुक्तकों में उनकी भावना के अनुरूप रसानुभूति में भी अन्तर आ गया है। इसी भावना के अनुरूप एक ओर तो उनके मुक्तक बड़े ही विचार-प्रधान हो उठे हैं और दूसरी ओर उतने ही भावात्मक। यों तो समुचित रूप से देखा जाय तो कबीर के सम्पूर्ण मुक्तकों पर दार्शनिकता का आवरण घन है; परन्तु कहीं-कहीं उनकी दार्शनिकता के कारण विचार इतने प्रभावित हो उठे हैं कि काव्यत्व पीछे ही छूट गया है। इन स्थानों में उनकी ऐसी प्रवृत्ति हमें रसमग्न करने में असमर्थ है। यहाँ अनुभूति और भावना का सन्तुलन नहीं हो पाया है। पाठक उनकी दार्शनिक पदावली में ही उलझ कर रह जाता है। फिर तो रसानुभूति की बात दूर जा पड़ती है। किन्तु उन स्थानों पर जहाँ कबीर का सहज हृदय अभिव्यंजित हो उठा है और दार्शनिकता का आग्रह केवल प्रेम-मूलक भावना में ही निहित है; जहाँ कबीर की विरहिणी आत्मा क्रन्दन कर उठी है, वहाँ अनुभूति और अभिव्यक्ति के सन्तुलन ने पर्याप्त रस की सृष्टि की है। इन मुक्तकों में दृश्य-विधान का सरल किन्तु सुन्दर रूप देखने को मिलता है। प्रकृति और ऋतु के सहज परिवर्तनमय दृश्यों को लेकर अपनी भावनाओं को कवि ने अभिव्यंजित किया है। इन स्थलों में वस्तुतः कबीर ने मुक्तक का सुन्दर रूप खड़ा कर दिया है :—

> साँझ पड़ी दिन आथव्यो चकवी दीनी रोय।
> चल चकवा वा देश में साँझ कदै नहि होय॥

विरह विह्वल हृदय की वस्तुतः यह आतुर पुकार है। इसमें काव्यत्व भी पूर्ण है। इसी प्रकार जीवन की नश्वरता दिखाते हुए कबीर ने प्रकृति से सुन्दर दृश्यों को लेकर भावाभिव्यंजना बड़े ही मार्मिक ढंग से की है। अस्तु, रस भी यहाँ पूर्ण रूप में मिलता है। कबीर में ऐसे सरस मुक्तक अधिक नहीं हैं।

संत कवियों की मुक्तक रचना के कुछ अन्य प्रकार

इन संत कवियों ने मुक्तक के अन्तर्गत कुछ ऐसे काव्यरूपों की उद्‌भावना की, जिनका महत्त्व वस्तु की दृष्टि से तो अधिक नहीं; क्योंकि संतों के प्रायः सभी काव्य ज्ञान और उपदेश की भावना से युक्त हैं; परन्तु रूप की दृष्टि से ये काव्यरूप अवश्य कुछ महत्त्व रखते हैं।

कबीरदासजी के 'बीजक' में एक प्रसंग 'चौतीसी' या 'ज्ञान चौतीसा' के नाम से भी आया है। जिस रूप में इसकी रचना हुई है, उसे दूसरे शब्दों

में 'ककहरा' की संज्ञा भी मिलती है। इस ककहरा के अन्तर्गत व्यंजनों के क्रम से पद्य रचना हुई है। प्रत्येक पद्य का आदि वर्ण क्रम से व्यंजनों के ही अनुसार बदलता जाता है। कहीं एक दोहे के पश्चात् परिवर्तन होता है, तो कहीं एक चौपाई के बाद। इन सन्त कवियों ने अधिकतर व्यंजनों को ही लिया और जब इन्होंने फारसी के 'अलिफनामा' के ढंग पर इसकी रचना की, तब फारसी के सब अक्षरों का प्रयोग किया। गुरुमुखी में अधिकतर व्यंजन के साथ स्वरों को भी लेकर 'ककहरा' लिखने की प्रथा मिलती है, जिसे वह 'बावन आखरी' कहते हैं। कबीर ने भी इसी प्रकार 'बावन-आखरी' लिखी।[1]

वस्तुतः सन्तों में इस प्रकार के काव्यरूप की रचना फारसी प्रभाव का ही द्योतन करती है। फारसी में 'अलिफनामा' का बहुत प्रचलन रहा है। इसके अन्तर्गत कवियों ने सम्पूर्ण फारसी वर्णमाला के अक्षरों को लेकर पद्य-रचना की है। जायसी ने इसी पद्धति पर अपना 'अखरावट' भी लिखा है।

सन्तों को 'ककहरा' या 'अलिफनामा' की रचना में फारसी कवियों से ही प्रेरणा मिली। कबीर के 'बीजक' का 'ज्ञान चौतीसा' मंगलाचरण के रूप में ॐकार शब्द से आरम्भ होता है।

वो ॐकार आदि जो जाने।
लिखि के मेटि ताहि सो माने॥
काका कमल किरण महँ पावै।
शशि विकसित सम्पुट महँ आवै॥
तहाँ कुसुम्भ रंग जो पावै।
औगह गहि के गगन रहावै॥
खाखा चाहै खोरि मनावै।[2]

× × ×

कबीर के पश्चात् धरनीदास के तीन 'ककहरे' और एक 'अलिफ़नामा' मिलता है। पहले ककहरे में छन्द की प्रत्येक पंक्ति में अक्षर बदलते जाते हैं :—

(क) क्या परिचै करहु प्रानी, कवन अवसर जात।
(ख) खोजि ले निजु वस्तु अपनी, छोड़ि दे बहु बात॥ २॥[3]

—'धरनीदास की बानी' पृ० ३४। ककहरा।

---

१. संत कबीर—डा० रामकुमार वर्मा पृ० २५ (प्रस्तावना)।
२. मूलबीजक पं० रामखिलावन गोस्वामी, प्रथमावृत्ति पृ०३०६, सं० १६६४।
३. धरनीदास की बानी, बेलवेडियर प्रेस, सं० १६११।

दूसरे में दो चरणों के पश्चात् अक्षर बदलकर कवि ने कविता की है—

(क) कायापुर में अलख भूलै तहाँ करु पैसार।
सुरत द्वादस लाइ कै तुम बाद करहु हंकार ॥ १ ॥
(ख) खड़ग गहि गुरु ज्ञान को तब मारु पाँच पचीस।
उनमुनी घर रहनि करि, तुम जपो जन जगदीस ॥ २ ॥

—'धरनीदास की बानी' पृ० ३६।

इसी प्रकार तीसरे ककहरे में चार चरणों के बाद अक्षर बदलते गए हैं। 'अलिफ़नामे' में फ़ारसी के ढंग पर कविता की है :—

अलिफ़—आप अन्दर बसै,—बे बतलावै दूर।

—धरनीदास की बानी पृ० ४५।

यारी साहब ने भी अपने अलिफ़नामे में उपदेशात्मक भाव प्रकट किए हैं। योग-साधना की बातों का गुम्फन भी उसमें हुआ है।

सीन-सुखमन केरी नौबत बाजै। अनहद घोर गगन में गाजै।
घर बरसावै उम्मर भरै। ताकी सेवा गोरख करै ॥ १३ ॥[1]

इसी ककहरे की पद्धति पर आगे चलकर मलिक मोहम्मद जायसी ने अपना 'अखरावट' लिखा है।

बारहमासा

सन्तों का दूसरा काव्यरूप है 'बारहमासा' या 'बारहमासी'। यह बारहमासे की परम्परा अपभ्रंश में भी मिलती है। वस्तुतः लोकगीतों से प्रभावित होनेवाली भाषाओं में ही इसी प्रकार के काव्यरूप गृहीत हुए। संस्कृत में षट्ऋतु वर्णन की परिपाटी तो महाकाव्यान्तर्गत मिली और स्वतन्त्र रूप में कालिदास का 'ऋतुसंहार' भी ऐसे मुक्तकों का संग्रहीत रूप है, जिसमें प्रत्येक ऋतु पर स्वतन्त्र रूप से मुक्तक कालिदास ने रचे। यद्यपि इसे सर्गों में अवश्य सम्बद्ध किया गया है तथापि इसका प्रत्येक मुक्तक अपने में आत्म-पर्यवसित है। परन्तु स्वतन्त्र रूप में बारहमासे की परिपाटी वहाँ नहीं मिलती। इस प्रकार सर्वप्रथम लोकभाषा अपभ्रंश में आकर 'बारहमासा' काव्यरूप, स्वतंत्र रूप में भी निर्मित होता हुआ दिखाई पड़ा। नेमिनाथ और राजमती या राजुल की कथा अपभ्रंश की प्रसिद्ध कथा है जिसमें नेमिनाथ के एकाएक

---

१. यारी साहब की रत्नावली और जीवन चरित्र, बेलवेडियर प्रेस, सं० १९१० इलाहाबाद।

वैराग्य उत्पन्न होने पर राजमती का विरह वर्णन विनयचन्द्र सूरि[1] ने इसी बारहमासे की पद्धति पर किया है :—

भाद्रवि भरिया सर पिक्खेवि । सकरुण रोअइ राजलदेवि ।
हा एकलडी भइ निरधार । किम ऊवेखिसि करुणासार ।। ५ ।।
भणइ सखी राजल मन रोइ । नीठुरु नेमि न अप्पणु होइ ।
सिंचिय तरुवर पारि पलवन्ति । गिरिवर पुणि कड-ढेरा हुंति ।। ६ ।।
साँचउ सखि वरि गिरि भज्जंति । किमइ न भिज्जइ सामलकंति ।
घण वरि सन्तई सर फुटन्ति । सायरु पुण घण ओह डुलिन्ति ।।१७।।[2]

भावार्थ यह कि भादों में सर्वत्र तालाबों को भरा हुआ देखकर राजलदेवी करुण भाव से रो रही है, हाय मैं अकेली निराधर पड़ी हुई हूँ—किस करुण हृदय को तुम उद्वेलित कर रहे हो ? सखी कहती है राजल मत रो । निष्ठुर नेमि अपना नहीं हो सकता । वृक्षों को सींचने से उनमें पल्लव आते हैं परन्तु पहाड़ तो और भी कठोर हो जाते हैं । सचमुच ही ऐ सखि, पानी पर्वतों को भेद डालता है, श्यामल कान्ति किसको नहीं भेद देती । बादलों के बरसने से सरोवर बह जाते हैं, परन्तु समुद्र फिर भी स्थिर रहता है ।

इसी प्रकार प्रत्येक महीने में वियोगिनी की व्यथितावस्था का चित्रण उद्दीपन के रूप में हुआ है ।

परन्तु सन्त कवियों का बारहमासा उपदेश की भावना से ही निर्मित हुआ है । सन्त कवियों ने अपने बारहमासा में प्रकृति का वर्णन उद्दीपन की दृष्टि से नहीं किया । एक प्रकार से प्रकृति वर्णन इन कवियों का ध्येय ही नहीं रहा है । अधिकांशतः प्रत्येक महीने का नाम लेकर उपदेश और वैराग्यमय-भावों को ही इन्होंने अभिव्यक्त किया है । इस प्रकार यहाँ बारहमासे में प्रकृति का रूढ़िवादी रूप नहीं उपस्थित हो पाया है ।

धरनीदास का 'बारहमासा' चैत्र से आरम्भ होता है और जीवन की अस्थिरता को दिखाते हुए कवि प्रत्येक मास का वर्णन करता है—

दोहा—चैत चलहु मन मानि कै, जहाँ बसै प्रान पियार ।
हिलि मिलि पाँच सहेलरी, पञ्च-पाँच परिवार ।। १ ।।

---

१. नेमिनाथ चतुष्पादिका प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह, जी० ओ० एस० XII बड़ोदा, १९२० ।
२. हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन पृ० ४२८ ।

छन्द—परिवार जोरि बटोरि लीजै गोरि खोरि न लाइये।
बहुरि समय सरूप अस ना जानिये कब पाइये॥ २॥
जेठ जतन करु कामिनी, जन्म अकारथ जाय।
जोबन गरब भुलाहु जनि, कछु करि लेहु उपाय॥ ५॥
छन्द—करि लेहु कछुक उपाय नहिं दुख पाय फिरि पछिताइ है।
जब गाँठि को गथ नाटि है, तब ढूँढ़ते नहिं पाइ है॥ ६॥[1]

यहाँ दोहे और छन्द में बारहमासा विरचित है, परन्तु छन्द में भी दो ही चरण हैं। दोहे की अन्तिम पंक्ति का एक अंश लेकर छन्द की प्रथम पंक्ति में पुनरावृत्ति उसी पद्धति पर है, जैसी कुण्डलियाँ में मिलती है। प्रस्तुत बारहमासे में कवि ने स्त्रियों के प्रति उपदेश दिए हैं।

गुलाल साहब का 'बारहमासा' असाढ़ से आरम्भ होता है। कवि ने प्रथम तो एक-एक दोहे में प्रत्येक महीने का उल्लेख कर कोई उपदेशात्मक बात कह दी है और बाद में उक्त महीने की कुछ विशेषताओं के अनुरूप भावाभिव्यंजना की है। यहाँ भी सम्पूर्ण बारहमासा उपदेशात्मक है—

१

बारहमासा जो ठहराई, जन्म सुफल तब जानो भाई॥ १॥

असाढ़

मास असाढ़ जो आइया, सब जिय आसा लाय।
प्रभु चरनन चित लागेऊ, इत उत नाहिन जाय॥ २॥

छन्द

पुरवा जो पवन झकोर उठि, बादर चहूँ दिस धाइया।
गरजि गगन अनन्त धुनि छवि, नाम सो लपटाइया॥ ३॥
लपटाइ रहु रे नाम सों, आनन्द कहि नहिं जाइया।
प्रेम प्रापत भयो तबहीं, आपु आपु बनाइया॥ ४॥

—पृ० ८२।[2]

बिलकुल इसी पद्धति पर अनेक सन्त कवियों के बारहमासे मिलते हैं।

---

१. धरनीदासजी की बानी, पृ० ४८, बेलवेडियर प्रेस, सन् १९११, इलाहाबाद।

२. गुलालसाहब की बानी, पृ० ८२, बेलवेडियर प्रेस, सन् १९१०, इलाहाबाद।

इनमें रामरूप और तुलसी साहेब, हाथरसवाले का भी बारहमासा मिलता है।[1]

तुलसीसाहिब का बारहमासा सावन से आरम्भ होता है और इसमें भी दोहे छन्द में उपदेशात्मक शैली का अनुगमन है—

सत सावन बरसा भई, सुरति बही गंग धार।
गगन गली गरजत, उतरी भव जल पार ॥ १ ॥

—पृ० ६७।[2]

पहाड़ा

बारहमासे के अतिरिक्त इन संत कवियों का एक तीसरा रूप 'पहाड़ा' भी मिलता है। इसमें संख्यावाचक शब्दों से छन्द का आरम्भ हुआ है और प्रत्येक छन्द में कोई न कोई उपदेशात्मक बातें कवि ने कही हैं—गुलाल-साहब का एक उदाहरण लीजिये :—

एका एक अमल जो पावे, साँचा सतगुरु भावे।
प्रेम पदारथ हिय में राखे, सुमिरत ही सुख पावे ॥ १ ॥
दुआ दोष जो दुरमति छोड़े, तिरगुन ताप बहावे।
सुरति निरति लै आसन माँड़े, सकल संतोष जो पावे ॥ २ ॥

—पृ० गुलालसाहब की बानी, १२८।

भूलना

संतों के भूलने भी प्रसिद्ध हुए हैं। जिनमें उक्ति का चमत्कार ही प्रमुख है और ज्ञान एवं योग की उपदेशात्मक बातों का समावेश भी है। यारी साहब का एक भूलना लीजिये :—

जहँ रूप न रेख न रंग है रे, बिन रूप सिफात में आप फूला।
फूल बिना जहँ बास है रे, निर्बास के बास भँवर भूला ॥
उहाँ दह बिना कँवल है रे, कँवल की जोति अलख तोला।
यारी अलम मलोल नहीं, जहँ फूल देखा बिन डार भूला ॥८॥[3]

---

१. रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४१३।
२. तुलसीसाहिब की बानी, बेलवेडियर प्रेस, सन् १६१४, इलाहाबाद, पृ० ६७।
३. यारी साहब की रत्नावली और जीवनचरित्र, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १६१०।

गरीबदास ने भी झूलने लिखे। इनके झूलने अपेक्षाकृत बड़े हुए हैं, किन्तु योग की बातों का गुम्फन उसी प्रकार इनमें भी है :—

बन्दी छोड़ साहब का ध्यान धरो,
निरवलंब निज नूर नेक है जी।
जल थल में धीर गम्भीर गैबी,
देखो लोक परलोक में एक है जी ॥ १ ॥
धर ध्यान दुरबीन यकीन कीजै,
दिल देहरे बैठकर परख भाई।
कुरबान करतार के सेहरे पर,
जहँ सुरत औ निरत दो निरख आई ॥ २ ॥

× × ×

दास गरीब, कबीर, सतगुरु मिले,
सुरत और निरत का तार जोड़ा ॥ ६ ॥[1]

इसी प्रकार पलटूदास के झूलने भी प्रसिद्ध हुए हैं।

रेखता

इन काव्यरूपों में 'रेखता' भी संत कवियों का एक प्रिय काव्यरूप रहा है। इसकी रचना बहुत कुछ कवित्त और सवैये के ढंग पर होती है। गुलालसाहब का एक रेखता लीजिये :—

सुरति सों निरति मिलि ध्यान अजपाजपै,
ज्ञान का घोड़ लै सुन्न धावै ॥ १ ॥
सेत परकास आकास में फूलि रह्यो,
चित्त है भँवर तब जाय पावै ॥ २ ॥
वह गुंज अनहद गुँजै नाम तबहीं जगै,
प्रेम भो पूर नहिं अनते आवै ॥ ३ ॥
कहैं गुलाल फकीर सो सूर है,
मौज के खेल में खेल पावै ॥ ४ ॥[2]

इसमें भी सुरति, निरति, अनहद, नाद आदि योग की बातों की चर्चा मिलती है।

---

१. गरीबदास की बानी, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९१०. पृ० १२७।

२. गुलालसाहब की बानी।

इसी प्रकार 'अरिल्ल' भी संत कवियों के मुक्तक का एक प्रकार है, जिसमें भी यौगिक क्रियाओं की सम्पूर्ण बातों का गुम्फन हुआ है। अधिकांशतः इसका रूप उलटवांसियों का ही है :—

सुन्न सरोवर घाट फूल इक पाइया।
बिनु डाँडी का फूल केतिक मन भाइया॥
अभी पियाला पिया भँवर रस पाइया।
कहै गुलाल अतीथ राम गुन गाइया॥ २॥[1]

सन्त कवियों में मुक्तक के ये सभी प्रकार अपने स्वतन्त्र रूप में विकसित हुए और इन्हीं के अनुकरण पर परवर्ती सभी सन्तों ने अपने मुक्तकों की रचना की।

निर्गुणिये सन्त कवियों के पश्चात् हम प्रेम कथा काव्यों के काल में जब प्रवेश करते हैं, तब मुक्तक रचना का अभाव दिखाई पड़ता है। इसका एकमात्र कारण सूफी कवियों की वह अभिरुचि है, जिससे उन्होंने प्रेम-कथाओं को ही प्रबन्ध रूप में सँवारने का प्रयत्न किया। इन काव्यों के अन्तर्गत हमें 'बारहमासा' की पद्धति तो मिलती है, परन्तु स्वतन्त्र रूप में उसका अभाव मिलता है। मुक्तक की दृष्टि से जायसी का 'अखरावट' अवश्य महत्वपूर्ण है, जिसमें उन्होंने 'ककहरा' की पद्धति पर आध्यात्मिक और ज्ञान-मूलक भावों की अभिव्यंजना की है। इस 'अखराहट' शब्द की छानबीन इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि इसका तात्पर्य 'अक्षरावट' या 'अक्षरवृत्त' से है। जायसी ने सम्पूर्ण 'अखरावट' की रचना इस अक्षर क्रम से नहीं की है। उत्तरार्द्ध में यह क्रम नहीं मिलता। आरम्भ में कवि ने इसे 'ज्ञान का ककहरा' कह कर अभिहित किया है—

कहौं सो ज्ञान ककहरा, सब आखर महँ लेखि।
पण्डित पढ़ अखरावटी, टूटा जोरेहु देखि॥[2]

'अखरावट' का आरम्भ मंगलसूचक दोहे से होता है और पाँच दोहे, सोरठे और अर्द्धालियों के क्रमोपरान्त 'ककहरा' आरम्भ होता है। इसके पूर्व स्वरों में 'अ' और 'ए' से कुछ अर्द्धालियों का आरम्भ अवश्य हो जाता है। सम्पूर्ण 'अखरावट' का क्रम है एक दोहा, एक सोरठा और सात अर्द्धालियाँ जायसी का यह क्रम अपना मौलिक है—

---

१. गुलाल साहब की बानी (अरिल्ल २)।
२. जायसी ग्रंथावली, रामचन्द्र शुक्ल, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३०२।

दोहा—आदम हौवा कहँ सृजा, लेइ घाला कबिलास।
पुनि तहँवाँ ते काढ़ा, नारद के बिसवास॥ ५॥
सोरठा—आदि किएउ आदेश, सुन्नहिं ते अस्थूल भए।
आपु करै सब भेस, मुहमद चादर ओट जेऊँ॥ ६॥
का—करतार चाहिय अस कीन्हा ? आपन दोष आन सिर दीन्हा॥
खाएनि गोहूँ कुमति भुलाने। परे आइ जग महँ पछिताने॥
छोड़ि जमाल जलालहिं रोवा। कौन ठाँव तें देउ बिछोवा॥
रैनि छमास तैसि झरि लाई। रोई रोई आँसू नहीं बहाई॥
पुनि माया करता कह भई। भा भिनसार, रैनि हाट गई॥
सूरुज उए, कँवल-दल फूले। दुवौ मिले पंथ कर भूले॥ ७॥[1]

सगुण धारा और मुक्तक का रूप परिष्कार

तुलसीदास और मुक्तक के विविध रूप

सन्त कवियों की धारा से होते हुए जब हम भक्त कवियों की धारा में आ मिलते हैं, तब तुलसी में ही उस बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाशन मिलता है, जिससे मुक्तक अपने सभी अंगों को लेकर एक साथ लहलहा उठा। यों तो तुलसी ने काव्य के सभी रूपों पर अपनी लेखनी उठाई और अभूतपूर्व कौशल प्रदर्शित किया, किन्तु मुक्तक के क्षेत्र को भी नवीन उद्भावनाओं से भर दिया। क्या अलंकार, क्या रस, सभी दृष्टि से यहाँ मुक्तक अपने बहुमुखी परिष्कार को लेकर निर्मित हुए। सरस से सरस और अलंकृत से अलंकृत मुक्तकों की रचना नवों रसों में सर्वप्रथम तुलसी ने ही की। लौकिक मुक्तकों में शृङ्गार रस के मुक्तक 'कवितावली' में अपने शिष्ट मर्यादापूर्ण रूप में हैं। 'वीररस' के मुक्तकों के लिए भी अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं, यहीं पर 'वीरगाथा काल' की छप्पय और कवित्त शैली में वीर रसात्मक मुक्तक भी निर्मित हुए हैं। व्यवहारपरक मुक्तकों की छटा 'दोहावली' में वर्तमान है—जहाँ नीति और उपदेशात्मक मुक्तकों की रचना भी बहुलता से हुई है। नीति के अन्तर्गत राजनीति, व्यवहारनीति, सदाचार एवं उपदेशात्मक मुक्तकों के भीतर राग-विषयक और विराग-विषयक धार्मिकतामूलक एवं चारित्र्यप्रवर्तक सभी प्रकार के मुक्तक 'दोहावली' में मिलते हैं।

---

१. जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्रशुक्ल, चतुर्थ संस्करण, का० ना० प्र० सभा, पृ० ३०८।

यह तो हुई लौकिक मुक्तकों की बात। पारलौकिक मुक्तकों की निधि तो तुलसी के अपने क्षेत्र की वस्तु है। इनमें वैराग्यमूलक मुक्तकों का एक सम्पूर्ण संग्रह ही 'वैराग्य सन्दीपनी' के रूप में प्रस्तुत है। स्तुति और प्रार्थना-प्रधान मुक्तकों की भी यहाँ प्रचुरता है—जिसमें 'हनुमान बाहुक' आत्म-कल्याण की भावना से विरचित है। विश्वकल्याण की भावना तो सर्वत्र ही मिलती है। 'विनयपत्रिका' के आरम्भिक स्तोत्र में ऐसी ही भावना प्रमुख है। इसी प्रकार स्तुति प्रधान मुक्तकों में सकाम और निष्काम भाव से प्रेरित होकर भी तुलसी की लेखनी चली है। आशय यह कि भक्ति की सगुण-धारा में आकर मुक्तक की न जाने कितनी धाराएँ निकलकर बह पड़ीं, जिसका समस्त श्रेय गोस्वामीजी को ही दिया जाता है।

'वैराग्य-सन्दीपनी' और शान्त-रस के मुक्तक

कवि के वैराग्यमय भाव जब काव्यरूप में अभिव्यक्त होते हैं, तब उसमें ज्ञान की पराकाष्ठा झलक उठती है। स्वयं तुलसी ने इसमें इसी ओर संकेत कर दिया है—

> तुलसी वेद-पुरान-मत, पूजन शास्त्र विचार।
> यह विराग-सन्दीपिनी, अखिल-ज्ञान को सार ॥ ७ ॥[1]

वस्तुतः तुलसी ने जीवन को मथकर जो अनुभव रूपी नवनीत निकाला, वही इन मुक्तकों के रूप में प्रकट है। इसीलिये वह सन्तों के वर्णन में कभी उनके स्वभाव की श्रेष्ठता बताते हुए उनकी तुलना चातक से करता है—

> एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
> राम-रूप-स्वाती-जलद, चातक - तुलसीदास ॥ १५ ॥
>
> —तु० ग्रं०।

और कभी उनकी महिमा को अवर्णनीय समझकर भावाभिव्यंजना करने लगता है :—

> महि पत्री करि, सिंधु मसि, तरु लेखनी बनाइ।
> तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाइ ॥ ३५ ॥
>
> —तु० ग्रं०।

---

१. वैराग्य-सन्दीपिनी, तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, नागरी प्रचारिणी सभा, १९८०।

कवि इन्हीं सन्तों के समान सांसारिक माया-मोह से दूर रहकर परम शांति का अभिलाषुक बन जाता है। क्योंकि उसे दृढ़ विश्वास है :—

रैनि को भूषन इन्दु है, दिवस को भूषन भानु।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ज्ञान ॥ ४३ ॥
ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग।
त्याग को भूषन शान्तिपद, तुलसी अमल अदाग ॥ ४४ ॥

—तु० ग्रं०।

दोनों दोहों में कवि की एक ही भावना के प्रवाह से ऐक्य आ गया है। इन दोहों के अतिरिक्त कवि ने सोरठे और चौपाई छन्द में भी भावाभिव्यक्ति की है। मुक्तक यहाँ बड़े ही सरल और चमत्कारविहीन हैं। कहीं-कहीं रूपक और अनुप्रास का प्रयोग भी कवि ने किया है, किन्तु उस ओर कवि का ध्यान अधिक नहीं है। तो भी इन मुक्तकों में काव्यत्व पूर्ण है। और इनका परिगणन पारलौकिक मुक्तकों के अन्तर्गत होता है। अतः शान्त-रस का सुन्दर परिपाक इन मुक्तकों की विशेषता है।

'बरवै रामायण' और बरवै छन्द का परिष्कृत रूप

यद्यपि 'बरवै' की रचना 'मानस' की भाँति सात कांडों में ही हुई है, किन्तु इसमें प्रबन्धकाव्य की अविछिन्न धारा का अभाव है। प्रतीत ऐसा ही होता है कि समय-समय पर राम के जीवन पर निर्मित बरवै छन्दों को लेकर कथा के रूप में सँजो दिया गया है। यदि ऐसा न होता तो सम्पूर्ण कांडों में कथा की धारा अविरल गति से बहती। 'बालकांड' का आरम्भ एकाएक दो सखियों के वार्तालाप से हो जाता है, जहाँ पर वे सीताजी के सौन्दर्य का वर्णन कर रही हैं। इस सौन्दर्य-वर्णन में सच पूछा जाय तो कवि का उक्ति-कौशल ही प्रमुख है। तुलसी ने अन्यान्य अलंकारों के रूप में सौन्दर्य वर्णन को बड़े ही चमत्कारिक ढंग से रखा है। प्रत्येक बरवै अपने में आत्मपर्यवसित है और इस सौन्दर्य वर्णन में व्यतिरेक अलंकार द्वारा उक्ति में सौन्दर्य कवि ने ला दिया है :—

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग, सखि! कोमल कनक कठोर ॥ २ ॥
सिय मुख सरदकमल जिमि, किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ ॥३॥ [1]

---

१. बरवै रामायण, तुलसीग्रन्थावली, ना० प्र० सभा, (खंड २) १९८०.

इसके पश्चात् राम के रूप का वर्णन है और पुनः हम उस स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ जनकपुरी में राम मंच पर बैठे हुए हैं। समस्त राजाओं का मुख मलीन हो गया और धनुष के न टूटने पर सारी प्रजा उदासीन हो उठीं। एक पद्य में इस उदासीनता का वर्णन है और दूसरे ही में राम के धनुष तोड़ने और पुरी के हर्षित होने का उल्लेख है। 'अयोध्याकाण्ड' में भी कथा थोड़ी-सी है, जिससे केवल राम-वनगमन का आभास मात्र मिलता है। 'अरण्यकाण्ड' में पुनः एक-एक पद्य में कंचनमृग के पीछे जाना और सीता को वहाँ न पाकर राम का वियोग वर्णित है। 'किष्किन्धा' काण्ड में केवल दो बरवै हैं और 'सुन्दर कांड' में केवल सीता विरह के बरवै हैं। इसी प्रकार 'लङ्का कांड' में राम का सेना सहित पार उतरने का ही वर्णन है और उत्तर कांड में रामनाम महिमा के मुक्तक हैं।

सम्पूर्ण 'बरवै रामायण' का रूप संग्रहीत मुक्तकों का है, जिसमें संघात के समान प्रकरणबद्ध मुक्तकों का संग्रह है। ये मुक्तक जिस बरवै शैली में लिखे गए हैं, उसके मूल रचयिता रहीम थे—उन्हीं के 'बरवै नायिकाभेद' से प्रेरणा कवि को मिली। किन्तु तुलसी का यह संग्रह शृङ्गारप्रधान नहीं। इसमें आरम्भ में ही ऐसे मुक्तकों की बहुलता है और यहाँ कवि की प्रवृत्ति अलंकार निरूपण की ओर अधिक है। मुक्तक में कलापक्ष को भावपक्ष के साथ उत्कर्ष पर पहुँचाने का कार्य सर्वप्रथम तुलसी ने ही किया। रूप-वर्णन में कवि ने बरवै छन्द का कौशल दिखाया है, जिसमें भावोत्कर्ष विधायक अलंकार ही प्रयुक्त हुए हैं :—

चम्पक-हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे, जब कुँभिलाइ॥ ५॥

—तु० ग्रं०।

यहाँ उन्मीलित अलंकार है और आगे चलकर मीलित का सौन्दर्य भी अपूर्व है :—

सिय तुव अँग-रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चम्पक होत॥ ६॥

—तु० ग्रं०।

अलंकार-प्रधान मुक्तकों के अतिरिक्त भावप्रधान मुक्तक भी 'बरवै' में आए हैं। विरह-वर्णन के प्रसंग में सीता की उक्ति बड़ी स्वाभाविक हैं :—

डहकु न है उजियरिया निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लागु मोहि बिनु राम॥ ३७॥

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुदरी कंकन होइ॥ ३८॥
राम-सुजस कर चहुँ जुग होत प्रचार।
असुरन कहँ लखि लागत जग अँधियार॥ ३९॥
—तु० ग्रं०।

इसी प्रकार राम को सीता के बिना शशि की शीतलता दाहक सी लगती है :—

सीतलता ससि की रहि सब जग छाइ।
अगिनि ताप है तम कह सँचरत आइ॥ ३३॥
—तु० ग्रं०।

मुक्तक में विरह-वर्णन की यही शैली आगे चलकर बड़े ही ऊहात्मक रूप में रीतिकाल में प्रकट हुई और कभी-कभी तो वह हास्यास्पद भी हो गई।

'बरवै रामायण' में तुलसी की प्रवृत्ति कलापक्ष के सौन्दर्य प्रदर्शन में अधिक रमी। यही कारण है इसके बरवै शुद्ध मुक्तक की श्रेणी में आते हैं। अलङ्कार-प्रधान मुक्तकों में संस्कृत की रीति-पद्धति का आभास मिलता है, जहाँ मुक्तकों का रूप उदाहरण स्वरूप हो गया है।

रामाज्ञा प्रश्न और मुक्तक का नवीन संग्रह

अभी तक तुलसी मुक्तकों के बाह्य अवयव अलंकार और छन्द के सौन्दर्य को सँवारने में लीन दिखाई पड़े। 'रामाज्ञाप्रश्न' में आकर मुक्तक का एक अनोखा ही रूप उन्होंने ला उपस्थित किया। यों तो इसमें भी सात सर्ग हैं और रामकथा का बहुत हलका-सा सूत्र भी ढूँढ़ने पर इनमें मिल जाता है, तथापि यह प्रबन्धकाव्य नहीं। यह एक ऐसा मुक्तकों का संग्रह है, जिसमें शकुन सूचक मुक्तक विशेष रूप में रचे गए हैं।

रामकथा का हलका-सा सूत्र इसमें मिलता है, पर एकसूत्रता इसमें नहीं मिलती। कथा का आरंभ दशरथ के राज्यकाल से होता है। बालकांड की कथा की पुनः चौथे कांड में आवृत्ति हुई है। दूसरे कांड में अयोध्या और किष्किन्धाकाण्ड का पूर्वार्द्ध है। तृतीय में 'अरण्य कांड' का उत्तरार्द्ध और 'किष्किन्धा' की कथा है। पंचम में 'सुन्दरकांड' और 'लंकाकांड' तथा षष्ठ में 'उत्तरकांड' और सप्तम में स्फुट मुक्तक हैं।

इस प्रकार 'रामाज्ञा' मुक्तकों का संग्रह है और एक विशेष प्रकार का ऐसा मौलिक संग्रह है, जिसमें सात सर्ग हैं तथा प्रत्येक सर्ग में सात-सात दोहों के सात 'सप्तक' हैं। प्रत्येक सप्तक का दोहा अपने दूसरे चरण में मंगलसूचक

है। इस मङ्गल भावना से निर्मित होने के कारण कवि का ध्यान काव्यत्व पर अधिक नहीं गया है। तो भी अनुप्रासमयी शब्दावली में इसके मुक्तक गतिपूर्ण हैं:—

सुधा, साधु, सुरतरु, सुमन, सुफल सुहावनि बात।
तुलसी सीतापति-भगति, सगुन सुमंगल सात ॥ १ ॥[1]

'दोहावली' के मुक्तक

'दोहावली' की रचना कर गोस्वामी जी ने निर्गुणियों की दोहा शैली को आगे विकसित किया। उन्होंने दोहों की बड़ी अवली प्रस्तुत कर दी, जिसमें उनका स्वरूप धर्मोपदेशक, नीतिकार और भक्त सभी का दिखाई पड़ता है। फलतः इसमें धार्मिकतामूलक, राजनीति एवं व्यवहारनीतिपरक वैराग्यपरक आदि विभिन्न प्रकार के मुक्तकों की रचना हुई है। इसी विभिन्नता के अनुरूप कहीं तो कवि का रूप बिल्कुल ही सूक्तिकार का हो गया है और कहीं वह अपने सहज कवि के स्वरूप को सुरक्षित बनाए हुए है। जहाँ भी राजनीति अथवा व्यवहारनीति के भावों को पद्य बद्ध किया है, वहाँ कवि का स्वरूप सूक्तिकार का हो गया है। यहाँ मुक्तक में वस्तु की प्रधानता होने के कारण रस नहीं, केवल उक्ति का कौशल मात्र है।

कारन ते कारज कठिन, होइ दोष नहिं मोर।
कुलिस अस्थि तें, उपल ते लौह कराल कठोर ॥ ५०२ ॥
रैयत राज समाज, घर, तन, धन, धरम, सुबाहु।
शान्त सुरुचिवन सौंपि सुख बिलसहि नित नरनाहु ॥ ५२१ ॥

—दोहावली तु० ग्रं०।

किन्तु चातक को लेकर जिस अन्योक्तिपद्धति पर तुलसी ने दोहों की रचना की, उनमें कवि का कवि-रूप पूर्णतः सुरक्षित है। यहाँ कवि की भावुकता कला के साथ एकाकार हो गई है। पक्षी को संबोधित कर भावाभिव्यंजना करने से मुक्तक में बड़ी मार्मिकता आ गई है। इसी प्रकार अन्योक्तिमूलक मुक्तक दीनदयालजी ने आगे चल कर रचे। तुलसी के इन मुक्तकों में भावगत तीव्रता अधिक है—

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम-घनश्याम हित, चातक तुलसीदास ॥ २७७ ॥

---

१. रामाज्ञाप्रश्न, तुलसी ग्रन्थावली, खंड २, ना० प्र० सभा, काशी, सं० १९८० (सर्ग ७, सप्तक ३)।

चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पियै न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि ॥ २७९ ॥
रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक-प्रेम की नित नूतन रुचिरंग ॥ २८० ॥
नहिं जाचत नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी मांगनेहिं को बारिद बिन देइ ? ॥ २९० ॥

—'दोहावली' तु० ग्रं०।

सम्पूर्ण चातक की अन्योक्तियाँ भाव में अपने उत्कर्ष को पहुँच गई हैं। यहाँ काव्य और काव्यत्व दोनों हैं।

यद्यपि दोहे की पद्धति निर्गुणियों की अपनी पद्धति थी, किन्तु तुलसी ने उसी पद्धति को अपना कर उसमें रूप का निखार ला दिया है। जो काव्यत्व कबीर न दे पाये, वह तुलसी ने दिया।

'बाहुक' के मुक्तक।

'हनुमान बाहुक' तक पहुँचते-पहुँचते कवि की भावना इतनी प्रार्थनापरक हो उठी कि वे अपने इष्टदेव से आत्मकल्याण की याचना करने लगे। रोग निवारण के लिये ये प्रार्थनापरक मुक्तक कहीं-कहीं तो बड़ी करुण शैली में निर्मित हुए हैं:—

पाँय-पीर, पेट-पीर, बाहु-पीर, मुँह-पीर,
जरजर सकल सरीर पीर भई है।
देव, भूत, पितर, काम, खल, काल, ग्रह,
मोहि पर दवरि दमानक सी दई है।
हौं तो बिन मोल ही बिकानो, बलि, बारे ही तें,
ओट रामनाम की ललाट लिखि लई है।
कुम्भज के किंकर बिकल बूड़े गोखुरनि,
हाय रामराय ! ऐसी हाल कहूँ भई है ? ॥ ३८ ॥[1]

संपूर्ण 'बाहुक' इसी करुण स्वर में निर्मित है। कवि ने छप्पय झूलना, मत्तगयन्द, घनाक्षरी छन्द में मुक्तक रचे हैं। प्रौढ़ काल की रचना होने के नाते इसमें भाषा की प्रांजलता एवं काव्यात्मकता पूर्ण मिलती है।

सतसई और नवीन परम्परा के मुक्तक

कबीर ने तो केवल दोहे की परम्परा को आगे बढ़ाया, पर तुलसी ने 'गाथा'

---

१. 'बाहुक', तुलसी-ग्रन्थावली खंड २, ना० प्र० सभा, १९८०।

और 'आर्या' की परम्परा को भी पुनः काव्यक्षेत्र में लाकर दिखाया। किन्तु तुलसी की 'सतसई' अपनी पुरानी परम्परा पर निर्मित नहीं। सबसे प्राचीन प्राकृत की सप्तशती शृंगारप्रधान है और आगे चलकर संस्कृत में उसीका अनुकरण 'आर्यासप्तशती' के रूप में हुआ। तुलसी ने अपनी 'सतसई में' एक ओर तो भक्ति, ज्ञान विषयक दोहे रचे हैं, दूसरी ओर राजनीति विषयक दोहों का भी इसमें अन्तर्भाव है। प्राकृत की 'गाथा सप्तशती में' व्यवहार-विषयक दोहों का पुट तो मिलता है, परन्तु उसका प्रमुख रस शृङ्गार ही है। तुलसी ने अपनी सतसई के सात सर्गों में क्रमशः भक्ति, उपासना, रामभजन, आत्मबोध, कर्म-मीमांसा, ज्ञानमीमांसा और राजनीतिक दोहों को संकलित किया है। इस प्रकार सप्तशती की उन्होंने एक नवीन रूप में हिन्दी में अवतारणा की है। जहाँ कहीं भक्ति-भावना भरे मुक्तक तुलसी ने निर्मित किए, वहाँ बड़ी प्रभावोत्पादकता कवि ने ला दी है। इस भावना की गम्भीरता से दोहे बड़े विचार प्रधान भी हो उठे हैं।

'कवितावली' और मुक्तक की विविधता

कवितावली में मुक्तक रचना सर्वाङ्गपूर्ण और सुन्दर है। क्या पदावली, क्या रस व्यंजना और क्या कलात्मकता, सभी ओर से कवि ने मुक्तक के रूप को सँवारने की चेष्टा की है और यह कार्य इतना अधिक सफल हुआ है कि कवि की जितनी सराहना की जाय थोड़ी ही है।

तुलसी ने वीरगाथाओं की कवित्त, छप्पयवाली पद्धति को अपना कर इसमें जिन मुक्तकों की रचना की, उनमें रामकथा का आधार अवश्य लिया है। यही कारण है, इसके प्रत्येक मुक्तक के पीछे एक पूरा प्रसंग निहित है। इस प्रसंग को देख कर ही इसके प्रबन्धकाव्य होने का आभास भी मिलने लगता है। निश्चय ही इसमें कहीं-कहीं एक ही भाव के मुक्तक लगातार मिलते हैं और सर्गों का विधान भी है, किन्तु इसमें कथा को न तो नियमित विस्तार ही मिला है और न कांड-विभाजन ही ठीक से किया गया है। 'किष्किन्धा' और 'अरण्य' में केवल एक-एक मुक्तक हैं। दूसरे, प्रत्येक कांड में कथा प्रत्येक प्रसंग को लेकर आगे नहीं बढ़ती। 'बाल कांड' से एकाएक प्रसंग आरम्भ हो जाता है, जो राम के रूप-वर्णन से चलता है। सीता स्वयंवर आता है, पर न तो विश्वामित्र आगमन है, न कहीं अहिल्या-उद्धार का प्रसंग। 'अयोध्याकांड' में रामवनगमन का प्रथम ही संकेत कर दिया जाता है। कैकेयी के वरदान की चर्चा भी नहीं, केवल राम के माहात्म्य सम्बन्धी प्रसंग को ही कवि ने लिया है। 'अरण्य कांड' में कंचन-मृग की ओर दौड़ने और 'किष्किन्धा' में केवल

हनुमान के समुद्र पार करने का प्रसंग एक-एक छन्द में पूर्ण हो गया है। 'सुन्दर कांड' में भी कोई विशेष कथांश नहीं। लंका-दहन का प्रभावशाली वर्णन है। 'लंका कांड' में भी नियमित कथा नहीं, यहाँ युद्ध-वर्णन ही प्रमुख है। 'उत्तर कांड' में वैराग्य, भक्ति और नीति के सुन्दर मुक्तकों के साथ आत्मग्लानि का सुंदर भाव अभिव्यक्त हुआ है। इनसे यह स्पष्ट है कि 'कवितावली' में प्रबंधत्व नहीं, प्रकरणबद्ध मुक्तकों का 'संघात' रूप में संग्रह ही है। 'संघात' में ऐसे ही मुक्तक सँजोए जाते हैं, जिनमें प्रसंग की एकता हो।

तुलसी के अन्य मुक्तकों में अनुभूति की तीव्रता एवं शब्दों द्वारा संगीत की सृष्टि अभी तक इस रूप में नहीं दिखाई पड़ी थी, जिस रूप में 'कवितावली' में वर्तमान है। इस संग्रह के मुक्तक बड़ी ही सरसता में पगे हुए हैं। राम के बालरूप का वर्णन जिन सवैयों में हुआ है, उनमें कोमल कान्त पदावली का इतना सुंदर प्रयोग है कि सम्पूर्ण मुक्तक अपूर्व माधुरी से भर उठे हैं। रूप-वर्णन में सजीव दृश्यांकन की क्षमता भी कवि में है :—

> बर दन्त की पंगति कुंदकली, अधराधर-पल्लव खोलन की।
> चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की।
> घुँघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुण्डल लोल कपोलन की।
> निवछावरि प्रान करैं तुलसी, बलि जाऊँ लला इन बोलन की ॥५॥[1]

सवैये में कवि का हृदयावेग बड़े ही लययुक्त शब्दों में होकर स्वतः ढल गया है, जिससे कवि का आवेग बाह्य छन्द के लय के साथ मिलकर बड़ा ही कम्पनयुक्त हो उठा है। इसी हृदयावेग-जनित-कम्पन में संगीत फूट पड़ा है। इस संगीत के साथ ही इसमें काव्यत्व भी पूर्ण है और इसी सामंजस्य में मुक्तक की एकमात्र विशेषता है। यह विशेषता अभी तक मुक्तक में अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ी थी।

आगे चलकर शृङ्गार, वीर, रौद्र, भयानक, अद्भुत और शान्त-रस के मुक्तकों की छटा भी अपूर्व है। शृंगार का शिष्ट मर्यादापूर्ण वर्णन इन मुक्तकों में है :—

> दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माँहीं।
> गावति गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं।

---

१. कवितावली.......तुलसी ग्रंथावली, खंड २, ना० प्र० सभा, काशी, सं० १९८०, बालकाण्ड।

राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
बातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाहीं ॥ १७ ॥
—तु० ग्रं० बाल कांड।

वन-गमन के प्रसंग में ग्रामवधूटियों के सहज स्वाभाविक प्रश्न और सीता के उत्तर भी भावात्मकता से पूर्ण हैं। मानव प्रवृत्ति का सूक्ष्म अध्ययन यहाँ दर्शनीय है :—

सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने, सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाइ कछू मुसुकाइ चली।
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन - लाहु अली।
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै बिगसीं मनो मंजुल कंज कली ॥२२॥
—तु० ग्रं० अयोध्या कांड।

रसानुकूल पदावली का परिवर्तन कवि ने किया है। वीर रस के मुक्तकों में जिस परुष और द्वित्व वर्णों की शैली को उन्होंने अपनाया है, वह उस रस के परिपाक में सहायक है। भयानक रस के मुक्तकों में श्राव्य ध्वनियों का ऐसा कौशल है जिससे पढ़ते ही भयातुर समूह भागता हुआ आँखों के समक्ष आ जाता है :—

"लागि लागि आगि," भागि भागि चले जहाँ तहाँ ॥ १४ ॥
—सुन्दर कांड तु० ग्रं०।

मुक्तक की यह एक ही पंक्ति भय के भाव को व्यक्त करने में सक्षम है। अस्तु कवितावली में भावों की विविधता के अनुरूप मुक्तक के विविध रूप मिलते हैं और इन विविध रसों के मुक्तकों में कहीं भाव की प्रधानता है, तो कहीं विधानपक्ष की। परन्तु कलात्मकता का इन मुक्तकों में कहीं अभाव नहीं है और जहाँ इस कला की प्रधानता में भावों का सामंजस्य हो गया है वह मुक्तक बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं।

'विनय पत्रिका' और "स्तोत्र" शैली के मुक्तक

'विनय पत्रिका' में पहुँच कर तो कवि की प्रतिभा गीतिकाव्यात्मक हो उठी है, जहाँ आत्माभिव्यंजना भरपूर है। किन्तु उसके आरंभिक और बीच बीच में आए हुए 'स्तोत्र' गीतिकाव्य के अन्तर्गत परिगणित नहीं होते। ये 'स्तोत्र' संस्कृत पदावली से पूर्ण हैं और उनमें स्तुति और प्रार्थना के भाव प्रमुख हैं। 'स्तोत्र' में कवि की पारलौकिक भावना अभिव्यक्त होती है जो शान्त रस के भीतर आती है। मुक्तक का यह रूप संस्कृत में बहुत

प्रचलित रहा है। हिन्दी में उसे लाने का श्रेय तुलसी को ही दिया जाता है। इनके स्तोत्र संस्कृत शैली में ही निर्मित हैं :—

नौमि नारायणं नरं करुणायनं ध्यानपारायणं ज्ञानमूलम्।
अखिल-संसार-उपकार-कारन सदय-हृदय तपनिरत प्रणतानुकूलम् ।।६०।।[1]

रीतिकाल और मुक्तक का बाहुल्य

भक्तिकाल का अन्त होते होते हिन्दी की मुक्तधारा में एक नवीन प्रवृत्ति के योग से एक नवीनता का आभास मिला। यह प्रवृत्ति रीति ग्रन्थों के निर्माण की प्रवृत्ति थी, जिसमें काव्यशास्त्र के अन्तर्गत विवेचित अन्यान्य विषयों का निरूपण ही कवियों का मुख्य लक्ष्य बन गया। यह प्रवृत्ति हिन्दी की अपनी मौलिक उद्भावना के फलस्वरूप प्रकाशित हुई हो ऐसी बात नहीं। वास्तव में यह प्रवृत्ति संस्कृत की थी, जो काव्यशास्त्र के बनने के पश्चात् उसके छूने रूप में संस्कृत के अन्तिम दिनों में दिखाई पड़ी। संस्कृत का काव्यशास्त्र जिन पाँच सम्प्रदायों द्वारा पुष्ट हुआ, उसमें रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द-शक्ति, नायिकाभेद, छन्द और पिंगल आदि सभी की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना की गई और जब यह शास्त्र अत्यधिक पुष्ट हो चुका था तभी संस्कृत काल के अन्तिम दिनों जब संस्कृत अत्यधिक अलंकृत हो चुकी थी कवियों ने उसमें से अपने मनोनुकूल सामग्री निकाल-निकाल कर ऐसे लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण किया, जो रीतिकाव्य कह कर अभिहित किया गया। इन लक्षण-ग्रन्थों का रूप बहुत ही छूना हुआ था, जो एक ओर अलंकार और रस के उदाहरणों को लेकर और दूसरी ओर नाट्यशास्त्र से अन्यान्य नायक और नायिकाओं की विशेषताओं को लेकर सूत्ररूप (नायिका भेद) में निर्मित किया गया। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में एक समय ऐसा आ गया जब कवि में काव्यत्व के स्थान पर पांडित्यदर्शन अधिक प्रबल हो उठा और वे कवि के स्थान पर आचार्य कहे जाने लगे।

हिन्दी के रीतिकाल की परिस्थितियाँ

संस्कृत की इसी परवर्ती प्रवृत्ति का प्रभाव, बहुत धीरे-धीरे हिन्दी काव्यधारा में भी होता हुआ भक्तिकाल के अन्तिम दिनों में उदय हुआ और उस समय अपने प्रबल रूप में दिखाई पड़ा, जब कवियों का संबंध दरबार से अटूट रूप में स्थापित हो गया। यह काल मुगल सम्राटों के वैभव का युग था, जब कवियों की काव्याभिव्यक्ति दरबारों के आश्रय में होने के कारण

---

१. विनय-पत्रिका—तुलसी-ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा संवत् १९८०)

उन्मुक्त आत्माभिव्यंजन के रूप में न प्रकट हो पाई। जब देश की राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन हुए और जहाँगीर एवं शाहजहाँ जैसे कलाप्रेमी बादशाहों ने कवियों को राज्याश्रय देना आरम्भ कर दिया, तब साधारण वर्ग का कवि बरबस दरबारों की ओर उन्मुख हुआ और वहीं पर उसने अपनी काव्यकला का प्रकाशन किया। काव्य पर इनकी जीविका निर्भर थी, अतः इन्होंने ऐसी ही कविता का निर्माण किया जो आश्रयदाताओं का मनोरंजन अधिक से अधिक रूप में कर पाती। अस्तु, कविता राजनीतिक और सामाजिक कारणों के फलस्वरूप कवियों की एक मात्र साधना बन गई और आए दिन दरबारों में कवियों का समाज प्रस्तुत हो कर एक दूसरे को पछाड़ने के ध्येय से काव्य पाठ करता और इसके द्वारा राजाओं से अधिक मान पाने का अभिलाषुक रहा करता था। आशय यह कि भक्तिकाल के पश्चात् काव्यक्षेत्र में जो नवीन परिवर्तन दिखाई पड़े उनके मूल में देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ कार्य कर रही थीं। इन्हीं के अनुरूप मुक्तक ने अपना स्वरूप निर्माण किया।

'रीतिकाल' का आरम्भ जिस सत्रहवीं शताब्दी से माना जाता है वह इतिहास में शाहजहाँ का काल था। यह शान्ति और कला के उत्कर्ष का काल था। शाहजहाँ की मृत्यु के उपरान्त तो औरंगजेब के कट्टर राज्य और राजनीतिक अधःपतन का युग आ जाता है और धीरे-धीरे उसके ध्वंस होने का स्वर भी सुनाई पड़ने लगता है। ऐसे अशान्त वातावरण में जब कवियों का अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व न रह गया था हमारे रीतिकाव्य का सृजन हुआ। अस्तु स्वाभाविक रूप में संस्कृत के रीतिकाव्य से हिन्दी का रीतिकाव्य दूसरी श्रेणी का हो गया। राज दरबार के वातावरण में पला हुआ कवि एक ओर तो घोर शृङ्गारिक बन गया, दूसरी ओर जब उसने लक्षण-ग्रन्थ लिखे भी तो वे संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों की अनुकृति के ही रूप में हमारे समक्ष आए। तो भी 'रीतिकाल' के कवियों में अपनी एक विशेषता यह दिखाई पड़ी कि उन्होंने अपनी सीधी-सादी, सरल भाषा में मुक्तक रचना द्वारा अपने काव्य-सिद्धान्तों एवं कविता को दरबारों के अतिरिक्त साधारण जन तक अवश्य पहुँचा दिया। इस प्रकार संस्कृत रीतिकालीन मुक्तकों में काव्यत्व के होते हुए भी जहाँ पांडित्यप्रदर्शन ही प्रमुख दिखाई पड़ा वहाँ हिन्दी के रीतिकालीन मुक्तक पांडित्यपूर्ण होते हुए भी काव्यत्व पूर्ण भी हुए। इसका प्रधान कारण वातावरण की भिन्नता में निहित था। जहाँ हिन्दी का रीतिकालीन मुक्तक विलासप्रिय बादशाहों के ही आश्रय में अधिकांश रूप से पनपा, वहाँ संस्कृत

के रीतिकालीन काव्य में वातावरण ऐसा नहीं मिलता। संस्कृत का साहित्य बहुत पूर्व ही एक प्रशस्त साहित्य बन चुका था, जिसमें नाट्यशास्त्र और काव्य की मीमांसा प्रौढ़ रूप में हो चुकी थी। इनसे तो परवर्ती संस्कृत कवि प्रभावित हुए ही, साथ ही यह भी कहा जाता है कि वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का प्रभाव भी उन पर पड़ा। तीसरी और सबसे प्रमुख बात जो संस्कृत मुक्तकों में दिखाई पड़ी वह थी प्राकृत से उनका प्रेरित होना। प्राकृत-काल में अमीरों के प्रभाव के अनुरूप ऐहिकतापरक मुक्तकों की रचना की चर्चा पीछे की गई है। हाल की 'गाथासप्तशती' का प्रभाव समुचित रूप से इन परवर्ती कवियों पर पड़ा। हिन्दी के 'रीतिकाल' की पूर्वपीठिका में ये तीनों बातें निहित होने के कारण हम इस काल के कवियों को एक ओर जहाँ संस्कृत के लक्षण-लक्ष्य ग्रन्थों और नाट्यशास्त्रीय एवं कामशास्त्रीय ग्रन्थों से प्रभावित पाते हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्हें प्राकृत के मुक्तकों से प्रेरणा लेते हुए भी देखते हैं। इस प्रकार रीतिकालीन मुक्तकों पर अपने समय का प्रभाव तो पड़ा ही, साथ ही पूर्ववर्ती साहित्य के अंग-प्रत्यंगों से उन्हें प्रेरणा भी मिली और जिस रूप में वे प्रस्तुत हुए वह अत्यधिक अलंकृत, चमत्कार पूर्ण एवं शास्त्रीय दिखाई पड़ा।

श्रृंगारिकता

इस काल के मुक्तकों की प्रथम विशेषता जो दिखाई पड़ी, वह थी उनकी अतिशय श्रृङ्गारिकता। श्रृङ्गारप्रधानता का मूल कारण मुगल दरबारों की विलासिता एवं श्रृंगारिक वातावरण था। मुगल सम्राटों की विलासिता अपने चरम को पहुँच चुकी थी। अतः कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के मनोनुकूल दरबार की शान-शौकत एवं श्रृंगारप्रियता की प्रवृत्ति को ही अंकित करने में अधिक अभिरुचि दिखाई। इन शाही दरबारों में जिन चित्रकारों को आश्रय मिला उन्होंने भी दरबार के ऐश्वर्य को चित्रित करने का प्रयास किया। मुगल सम्राटों की ऐहिकतापरक भावना का आभास कवियों और चित्रकारों के ऐसे झुकाव को देखकर मिल जाता है। इस ऐहिकतापरक भावना में भी जीवन के श्रृंगारिक पक्ष को अधिक अपनाने का कारण आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति में निहित था। शाहजहाँ के वैभव-पूर्ण दरबार और ऐश्वर्यपूर्ण अन्तःपुर की बिखरी हुई विभूति का वर्णन इतिहास में मिलता है। ऐसे वातावरण के बीच रहनेवाले कवि को, प्रेरणा जिस श्रृंगाररस के मुक्तकों के निर्माण में मिली, वह स्वाभाविक ही थी। यही कारण है श्रृंगाररस के मुक्तकों का जितना बृहद् संग्रह इस काल में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

मुगल-विलासिता का प्रभाव हिन्दू राजकर्मचारियों और राजाओं पर भी पड़ा, फलतः इनके आश्रय में रहने वाले कवियों की लेखनी भी इसी शृङ्गार रस में डूब गई।

भक्ति-भावना का ह्रास

भक्ति भावना का ह्रास क्रमशः होता चला गया और 'सन्तन को कहा सीकरी सों काम' जैसी स्वतन्त्र भावना को अभिव्यक्त करने का न तो अवसर ही था, और न साहस ही रह गया था। परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी आ पड़ी थीं, कि बिना राज्याश्रय लिए कवियों को कहीं पूछ न थी। दरबार के बाहर कवि अपने को प्रकाश में ला ही न सकता था। अतः दरबारी वातावरणमें अपनी धार्मिकता की प्रवृत्ति को उसे सर्वथा तिलाञ्जलि देनी पड़ी; और यदि इन कवियों ने राधाकृष्ण का स्मरण भी किया तो वह केवल नायक-नायिका के ही रूप में सामने रख कर। उन्हें यह स्वीकार ही करना पड़ा—

आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई।
नत, राधा कन्हाई सुमिरन को बहानो है॥ भिखारीदास॥[1]

मुगल सम्राटों की धार्मिक असहिष्णुता के फलस्वरूप हिन्दू संस्कृति के प्रवर्तकों का समय प्रायः बीत चुका था। अतः भक्तिभावना का स्वरूप तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप विकृतावस्था को प्राप्त होता जा रहा था। वैष्णव भक्तिभावना भरे पदों की धारा दूसरी ओर बह अवश्य रही थी, किन्तु उसमें भी धीरे धीरे रीति का प्रभाव पड़ा, जिसमें शृंगार के पुट से वह भी अछूती न बची। फलतः एक ओर साम्प्रदायिकतापूर्ण काव्यों की रचना हुई, दूसरे शृंगारिक भावना ने उसके सहज रूप को विकृत कर दिया।

वैयक्तिकता का अभाव

मुगल सम्राट अहंभाव से पूर्ण थे और उनकी शासन-प्रणाली क्रूर थी। यद्यपि शाहजहाँ का काल, शान्ति का काल कहा गया, किन्तु उसके व्यक्तिवादी अहंपूर्ण राजतन्त्र में जनता और विशेष कर हिन्दू जनता की अपनी कोई वैयक्तिक स्वातन्त्र्य भावना न पनपने दी गई। औरंगजेब के कट्टर शासन के पश्चात् तो ऐसा कोई उसका उत्तराधिकारी भी न हुआ जो स्वयं किसी विशिष्ट व्यक्तित्व को लेकर पैदा हुआ हो। अस्तु व्यक्तित्व के इस परम अभाव के युग में कवि को अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रखने का अवसर ही न मिल सका। इस वैयक्तिक पराधीनता के युग में कुछ समय तक, जब इन कवियों को दरबार

---

१. 'काव्य निर्णय'—भिखारी दास—छन्द ८, पृ. २ (वेंकटेश्वर प्रेस)।

में आदर मिला, मुक्तक रचना अपने को अन्यान्य प्रकार से सजा सकी और अपनी कलात्मकता की चरमावधि को पहुँचा भी दी गई। परन्तु औरंगजेब के पश्चात् जब कवियों का सम्बन्ध राजदरबारों से विशृङ्खल हो उठा तब उसका ह्रास भी होने लगा।

वैयक्तिकता के अभाव में कवियों के दृष्टिकोण पर अधिकारियों के सीमित दृष्टिकोण का नियंत्रण लगा दिया गया। कवि की आत्मा मानों स्वर्ण के पिंजरे में फड़फड़ा उठी। किन्तु स्वर्ण–पिंजरे की लालसा में वह उससे दूर भी नहीं जा सकती थी। अस्तु, उसने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य को अपने सीमित घेरे में ही प्रकाशित होने का अवकाश दिया। यही कारण है कि अभिव्यक्ति का क्षेत्र सीमित होने के कारण इस युग में काव्य के जिस रूप का परिष्कार हुआ, वह अपनी चरमावधि को पहुँच गया। कवि का सच्चा स्वरूप उसके व्यक्तित्व के विकास में दिखाई पड़ता है किन्तु रीतिकालीन कवि, मुगल राजनीति एवं न्याय की संकुचित प्रवृत्ति को देख कर भी, स्वर्ण मुद्राओं से अपनी भावनाओं पर पट डाल चुके थे। अस्तु, वैयक्तिक भावना के अभाव में और शृङ्गार के सीमित दायरे में इन कवियों ने जैसी भावाभिव्यंजना की, उसका बाह्य रूप अत्यधिक अलंकृत हो गया। 'कविता के लिए कविता' के ध्येय ने कलापक्ष-प्रधान काव्यरूप को जन्म दिया और यह काव्यरूप मुक्तक का ही है, जो इस काल में आकर अत्यधिक कलात्मक रूप में अभिव्यक्त हुआ। मुक्तक में इतनी अधिक कलात्मकता पहले कभी न दिखाई पड़ी थी और यदि दिखाई पड़ी तो वह संस्कृत के मुक्तकों में।

कलात्मकता

भक्तिकालीन मुक्तकों में जहाँ वस्तु और भाव की प्रधानता थी वहाँ रीतिकाल में मुक्तक, जो स्वतः एक कलात्मक काव्यरूप है—और भी कलाप्रधान हो उठा। यों तो तुलसी के 'बरवै' में मुक्तकों का रूप कलात्मक अवश्य हो उठा है किन्तु यह प्रवृत्ति भक्तिकाल के मुक्तकों की सामान्य प्रवृत्ति-विशेष नहीं थी। रीतिकाल में आकर मुक्तक की एक बड़ी विशेषता कलाप्रधानता बन गई। रीतिकालीन कवि वस्तुतः ऐसा कलाकार था, जिसे भाषा और उसकी शक्तियों का पूरा-पूरा ज्ञान था। यही कारण है कि भक्तिकाल तक आते-आते स्वतः मँजी हुई भाषा को पाकर इन कवियों ने जो शब्द-कौशल अपने मुक्तकों में दिखाया वह अभूतपूर्व था। रीतिकालीन कवियों के लिए भाषा का प्रश्न न था। उन्होंने उस परिष्कृत भाषा को उसके सहज सौन्दर्य के साथ मुक्तकों में सरलतापूर्वक प्रयुक्त किया। शब्द-शक्ति के ज्ञाता

इन कवियों ने एक ओर ऐसी कोमलकान्त पदावली का प्रयोग किया जिससे छन्दों में प्रभावात्मकता पूर्णरूप में आ गई। दूसरी ओर मुक्तकों में चमत्कार-प्रधान शब्द-योजना हुई जिससे भाषा की व्यंजकता द्विगुणित हो गई। हम यों कह सकते हैं कि रीतिकाल में भाषा भावों के पीछे-पीछे न चली, बल्कि उसके आगे उसने अपना पग बढ़ाया है।

वास्तव में मुक्तकों में कारीगरी का सूक्ष्म सौन्दर्य रीतिकाल में ही आकर दिखाई पड़ा। इसका एक कारण तो भाषा का परिष्कृत रूप में होना था, जिससे अलंकारों की योग्यता एवं चमत्कार-प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर कवियों को मिल सका। दूसरे, संस्कृत की अलंकृत प्रवृत्ति का प्रभाव भी इस काल के मुक्तकों पर पड़ा। अन्तिम बात यह थी, इन कवियों के पास इतना समय था कि वे बैठकर अपनी अभिव्यक्ति को भलीभाँति सजा सकते थे। दरबार में अधिक से अधिक सम्मान पाने की स्पर्द्धा ने इन कवियों में इस कलात्मक प्रवृत्ति को और भी परिवर्धित कर दिया।

कलात्मकता की इस प्रवृत्ति ने कवियों को अलंकार की ओर अधिक झुका दिया, अतः मुक्तकों में अलंकार-प्रधानता अधिक मिली। इस विशेषता के पीछे संस्कृत काव्यशास्त्र का वह 'अलंकार सम्प्रदाय' काम कर रहा था जो काव्य में अलंकारों की विशिष्टता को स्थान दे चुका था। यह अलंकार-प्रियता मुक्तकों में इतनी बढ़ गई थी कि बिना उसके काव्य की शोभा ही असम्भव समझ ली गई :—

जदपि जाति सुलच्छिनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजहीं कविता बनिता मित्त॥

—'कविप्रिया'...केशव।[1]

भक्तिकालीन मुक्तकों में अलंकारों का प्रयोग भावगत सौन्दर्य को बढ़ाने की दृष्टि से हुआ, जिससे मुक्तक का स्वरूप बड़ा ही सहज और परिष्कृत बना हुआ है। किन्तु रीतिकालीन मुक्तकों में ऐसे-ऐसे अलंकारों का प्रयोग हुआ जिससे मुक्तकों का रूप बड़ा ही कलात्मक हो उठा। अलंकारों के प्रयोग के पीछे कवि की पांडित्यपूर्ण प्रवृत्ति निहित थी; अतः कहीं-कहीं तो इनके प्रयोग में ऐसी चमत्कारिता दिखाई पड़ी कि अर्थ तक पहुँचने के लिए पर्याप्त आयास की अपेक्षा हुई। इस गूढ़ता में अस्वाभाविकता ही प्रमुख हो ऐसी

---

१. 'कविप्रिया', केशवदास, सातवाँ संस्करण, लखनऊ। कवितालंकार वर्णन, दोहा १ पृ० २४।

बात नहीं। कलात्मक प्रवृत्ति के कारण अलंकारों का प्रयोग अलंकारों के लिए हुआ और मुक्तक शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों से अत्यधिक समृद्ध हो गया।

कलात्मकता के मोह द्वारा मुक्तक इस दृष्टि से समृद्ध तो हो गया किन्तु उसके द्वारा रूप में कोई ऐसी विशेषता न आ पाई, जो हृदय को अधिक समय तक रसमग्न कर पाती। कोरे शब्दालंकारों द्वारा न तो कोई संगीत उत्पन्न होता है और न उसका प्रभाव ही स्थायी होता है। स्थायी प्रभाव के लिए तो उनका अर्थ के भार को वहन करना परमावश्यक है, जिससे अनुभूति का अभिव्यक्ति के साथ कलात्मक सम्बन्ध स्थापित होने पर भी संगीतमय प्रभाव स्थायी रूप से पड़ता है रीतिकालीन मुक्तकों में यह बात कम मिलती है, क्योंकि यहाँ अलंकार कवि के भावावेग के साथ स्वतः-प्रवृत्त रूप में उतने नहीं निकले, जितने कलात्मकता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप उसमें नियोजित किए गए। यही कारण है कि रीतिकाल के मुक्तक अधिकांशतः क्षणिक प्रभावात्मकता को ही अपनाए हुए हैं।

कल्पना की सीमित परिधि

दरबार के परिमित क्षेत्र में निर्मित होने वाले मुक्तकों में अलंकरण तो पूर्ण रूप में हो गया किन्तु कवियों के सीमित दृष्टिकोण के अनुरूप कल्पना का उन्मुक्त सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ा। कल्पना भी रूढ़िबद्ध हो गई और कवियों को पुरानी शास्त्रसम्मत बातों से ही मुक्तक-रचना में प्रेरणा मिली। परम्परागत आते हुए व्यापारों की ही योजना को श्रेय दिया गया। एक तो कवि साधारण जीवन से दूर जाकर दरबारी वातावरण में पहुँच गया था, दूसरे, वैयक्तिकता का ह्रास हो जाने के कारण उसको व्यक्तिगत प्रतिभा के प्रकाशन का अवसर न मिल सका। फलतः इन कवियों का आदर्श संस्कृत साहित्य बन गया और काव्य परम्परा पर चलना ही हो गया उनका एकमात्र ध्येय। मुक्तक की भावाभिव्यंजना पद्धति कवि-समय-सिद्ध व्यापारों तक ही सीमित रह गई। इस रूढ़िबद्धता के बीच से मुक्तक का रूप बड़ा ही कटा छँटा होकर बाहर निकला।

संस्कृत के लक्षण और लक्ष्यग्रन्थों की रचना-परिपाटी का अनुसरण रीतिकालीन कवियों ने किया और जहाँ कहीं भी उन्होंने लक्षण ग्रन्थों के रूप में मुक्तक रचे, उनमें अलंकार, रस, गुण, दोष, पिंगल, छन्द आदि के लक्षण 'चन्द्रालोक' 'कुवलयानन्द' 'रसतरंगिणी', 'रसमंजरी' आदि काव्यांग-विवेचना के ग्रंथों से ज्यों के त्यों ले लिए। और यदि आगे बढ़े भी तो

'काव्यप्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' तक ही बढ़ पाए। दूसरी ओर जब इन्होंने 'नायिकाभेद' के अन्यान्य नायक-नायिकाओं के लक्षण दिए वहाँ भी 'शृङ्गार तिलक', 'रसमंजरी' को उपजीव्य मानकर ही ये कवि मुक्तकों के निर्माण में संलग्न हुए।

लक्षणग्रन्थों के निर्माण में भी उन्हीं रस-शास्त्रियों के बनाए लक्षणों के आधार पर शृङ्गार-रस का निरूपण किया और भावाभिव्यंजना में भी यहाँ पर कवियों को प्रथम प्रेरणा 'हाल' की सतसई से मिली। तदुपरान्त संस्कृत के 'अमरुकशतक' और 'आर्यासप्तशती' ने अपना समुचित प्रभाव इन कवियों पर डाला। फिर तो अपभ्रंश के मुक्तकों का बाहुल्य मिलता है और इनकी प्रेरणा से भी हिन्दी के इस युग में मुक्तकों और विशेषरूप से शृंगारिक मुक्तकों की रचना हुई। संस्कृत मुक्तकों के पारलौकिक भावनापूर्ण स्तोत्रों का प्रभाव भी रीतिकालीन कवियों पर पड़ा और चण्डी और बाण के प्रसिद्ध स्तोत्रों से प्रेरित होकर इस काल में स्तोत्र भी रचे गए। फलस्वरूप रीतिकाल में मुक्तक काव्यरूप की दृष्टि से अधिक विकास न कर पाया।

किन्तु इस सीमित परिधि के बीच इतना अवश्य स्वीकार किया जाता है कि रीतिकालीन मुक्तकों में जहाँ कहीं भी स्वतन्त्ररूप से दोहों की रचना हुई उन पर दरबारी वातावरण का समुचित प्रभाव पड़ा। फलतः उर्दू शायरी की ऊँची कल्पनात्मकता एवं कोमलता काव्य के रूप में अवश्य गुंफित हुई।

मुक्तक के विभिन्न रूप

(१) रूढ़िबद्ध शैली

लक्षण और लक्ष्यग्रन्थों के अनुरूप 'रीतिकाल' के मुक्तकों का एक रूप तो लक्षणग्रन्थों में मिलता है और दूसरा लक्ष्यग्रन्थों में। लक्षणग्रन्थों के रचयिताओं ने काव्यांगों को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया और संस्कृत के आचार्यों द्वारा विवेचित सामग्री को लेकर पुनः दोहों या कवित्त-सवैयों में बद्ध करने का प्रयास किया। इन मुक्तकों में प्रथम तो लक्षण दिये गये हैं फिर उनके उदाहरण। फलतः इन मुक्तकों में भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति पर कवियों का ध्यान न होकर, केवल अलंकार, रस, छन्द, पिंगल, शब्द-शक्ति, गुण-दोष और नायिकाभेद के लक्षणों एवं उदाहरणों को केवल सूत्र रूप में सामने प्रस्तुत कर दिया गया। केवल तथ्य-कथन के कारण इन मुक्तकों का रूप बड़ा ही नीरस हो गया। ऐसे मुक्तकों की रचना कुलपति

मिश्र[१], श्रीपति[२], दास[३], सूरति मिश्र[४], देव[५], सेनापति[६], चिन्तामणि[७], पद्माकर[८], आदि अनेक कवियों ने की।

इस शैली के मुक्तक, दोहे, सवैये और कवित्तों में होते हुए भी दोहों में ही अधिकांशतः हैं। यहाँ न तो मानव वृत्तियों का प्रकाशन ही है, न प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन ही। यदि मानव मनोवृत्तियों को कवि ने प्रदर्शित करने की चेष्टा भी की है, तो वह नायक या नायिका-भेद के परम्परागत आते हुए साँचे में ही ढालकर। यहाँ प्रथम तो विवेचित वस्तु के लक्षण और बाद में उसके उदाहरण के रूप में मुक्तक की रचना हुई है। हम पद्माकर के 'जगद्विनोद' से कुछ उदाहरण लेकर मुक्तकों के इस स्वरूप को देखते हैं। कवि नायिका-भेद के मुक्तकों का आरंभ प्रथम उसके लक्षण देकर करता है :—

> प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता होइ।
> विप्रलब्ध, उत्कंठिता, वासकसज्जा जोइ ॥ १४० ॥
> स्वाधिनपतिका हू कहत, अभिसारिका बखानि।
> प्रकट प्रवत्स्यत्प्रेयसी, आगतपतिका जानि ॥ १४१ ॥
> ये सब दसविध नायिका, कविन कही निरधारि।
> तिनके लच्छण लच्छ सब, क्रम तें कहत विचारि ॥१४२॥[१]

—[पृ० ११२]

दस प्रकार की नायिकाओं के उल्लेख के पश्चात् कवि एक-एक का लक्षण इस प्रकार देता है :—

'प्रोषित पतिका को लच्छण'

> पिय जाको परदेस में, प्रोषितपतिका सोइ।
> उदित उदीपन तें जु, तन संतापित अति होइ ॥ १४३ ॥[१]

[पृ० ११२]

तदुपरान्त कवि नायिका के अनेक भेदों को उदाहरण रूप में कवित्त छन्द में रखता है :—

> मांगि सिख नौ दिन की न्यौते गे गोविन्द तिय,
> सौ दिन समान छिन मान अकुलावै है।

---

१. रस रहस्य, २. काव्यसरोज, ३. काव्यनिर्णय, ४. काव्यसिद्धांत, ५. काव्यरसायन, ६. काव्यकल्पद्रुम, ७. कविकुल कल्पतरु, काव्य विवेक, ८. जगद्विनोद, ९., व १०. पद्माकर पंचामृत, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। [संवत् १९९२ की]

कहै पद्माकर छपाकर छपाकर तें,
बदन छपाकर मलीन मुरझावै है।
बूझत जु कोऊ के 'कहा री भयो तोहि',
तब और ही को औरै कछू वेद न बतावै है।
आँसू सकै मोचि न सँकोच-बस आलिन में,
उलही बिरह - बेलि दुलही दुरावै है ॥ १४८ ॥[1]

मुक्तकों का यह एक ऐसा रूप है जो रीतिकाल के कवियों द्वारा अत्यधिक प्रिय समझा गया। किन्तु किसी हार्दिक भावना के अभाव में यहाँ रस वस्तुतः कोई भी नहीं। अतः ये रूढ़िग्रस्त मुक्तक कहलाए जा सकते हैं। जिस प्रकार नायिकाभेद के मुक्तक लक्षण और उदाहरण के रूप में हैं, इसी प्रकार रस और अलंकार, गुण, दोष आदि के लक्षण रूप में भी ऐसे नीरस मुक्तकों की रचना हुई। आगे बढ़ने पर ऋतुवर्णन और बारहमासे के रूप में भी मुक्तक-रचना हुई। यहाँ पर भी कवि बहुत रूढ़िग्रस्त है—प्रकृति के साथ उसके हृदय का रसात्मक सम्बन्ध यहाँ स्थापित होता हुआ नहीं दिखाई पड़ता और न तो प्रकृति को मानवीय भावों के प्रतिबिम्ब के रूप में ही कवि चित्रित करता है। ये मुक्तक उद्दीपन की एक विशिष्ट साहित्यिक रूढ़ि के रूप में ही हैं। यहाँ कलात्मकता एवं चमत्कारिता को प्रमुख स्थान मिला है—पावस का वर्णन देखिए :—

मल्लिकन मंजुल मलिंद मतवारे मिले,
मन्द-मन्द मारुत मुहीम मनसा की है।
कहै 'पद्माकर' त्यों नदन नदीन नित,
नागर नबेलिन की नजर नसा की है।[2]

मुक्तक का ऐसा ही रूप अन्य कवियों के लक्षणग्रन्थों में भी मिलता है।

२. दूसरा रूप मुक्तकों का उन लक्ष्यग्रन्थों में मिलता है, जहाँ कवि लक्षण और उदाहरण के फेर में नहीं पड़ा—तो भी उसके मुक्तक रीतिबद्ध हैं। यह अवश्य है कि इनकी रीतिबद्धता लक्षण ग्रन्थों के रचयिताओं के समान पूर्णतया रूढ़िबद्ध रूप में नहीं है।

(क)—ऐसे मुक्तक एक ओर बड़े ही कलापूर्ण रूप में निर्मित हुए। रीति के बल पर ही मुक्तकों का रूप यहाँ खड़ा किया गया, अतः चमत्कार-

१. जगद्विनोद, प० पंचामृत पृ० ११२, ११३।
२. जगद्विनोद पद्माकर पंचमृत, पृ० १५६।

प्रदर्शन की ओर ये मुक्तक अधिक झुक गए। इन मुक्तकों में कलापक्ष ही प्रमुख रूप से कवि द्वारा सँवारा गया। परन्तु लक्षण ग्रन्थों के रूढ़िबद्ध मुक्तकों की अपेक्षा इनमें रस-व्यंजना पर कवि का ध्यान अधिक रहा है। बिहारी, देव और मतिराम के मुक्तक इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

(ख)—इसी वर्ग में दूसरी ओर ऐसे भी कवि हुए जिन्होंने रीति के घेरे के बीच रह कर भी अधिक स्वाधीनता को अपनाया और अपने मुक्तकों में हृदय की मनोवृत्तियों को प्रसार का पूर्ण अवसर दिया। फलतः शास्त्रीयता से इनके मुक्तक बहुत दूर जा पड़े और रूढ़ि-प्रसिद्ध बातों के निरूपण को इन्होंने व्यर्थ समझा, हृदय-पक्षको प्रधानता दी। अन्तःप्रवृत्ति की इस छान-बीन में मुक्तक का स्वरूप बड़ा ही भावात्मक हो उठा। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि ऐसे मुक्तकों में अनुभूति और कला का सुन्दर योग मिलता है। यही कारण है 'रीतिकाल' के इन्हीं मुक्तकों में अत्यधिक कोमलता एवं सरसता मिलती है। इन्हें हम भावप्रधान मुक्तक कह सकते हैं। ऐसे मुक्तकों की रचना घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि कवियों ने विशेष रूप से की।

(ग) तीसरी ओर ऐसे कवियों के मुक्तक आते हैं जिन्होंने रीतिकाल की प्रमुख श्रृङ्गार-भावना के विपरीत देशप्रेम की भावना से आविर्भूत होकर वीर-रस के मुक्तक रचे और वैराग्यभावना से प्रेरित होकर नीति एवं वैराग्यपरक मुक्तकों की रचना की। वीर-रस के मुक्तक प्रमुख रूप में भूषण ने रचे तथा वैराग्यपरक मुक्तकों की रचना में दीनदयाल गिरि प्रसिद्ध हुए। नीति और उपदेश के लिए वृंद, घाघ, गिरधर आदि के मुक्तक प्रसिद्ध हैं। स्तोत्र की शैली में मुक्तक-रचना भी हुई, जिसमें गिरधरदास प्रमुख हुए।

बिहारीलाल

लक्ष्यग्रंथ लिखनेवाले कवियों में कलापूर्ण शैली के प्रमुख कवि बिहारी हुए। इन्होंने मुक्तकों और उसमें भी श्रृङ्गार-रस के मुक्तकों में जितना कौशल दिखाया वह अभूतपूर्व था। मुक्तकों में 'रीतिकाल' से पूर्व कलात्मकता का अभाव था और भक्तिकाल में तुलसी का ऐसा झुकाव भी समुचित रूप से रीतिबद्धता के भीतर आता हुआ न दिखाई पड़ा। यह कलात्मकता की प्रवृत्ति संस्कृत में अपने चरम को पहुँच चुकी थी। दूसरे, वहाँ पर श्रृङ्गारिक मुक्तकों की रचना भी बहुलता से हो चुकी थी। हिन्दी में इसी कलात्मकता को प्रवृत्ति को लेकर श्रृङ्गारिक रचना इसी 'रीतकाल' के भीतर हुई और

अन्यान्य कवियों में बिहारी ने इस ओर विशेष रूप से अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया।

मुक्तक का जो रूप 'गाथा सप्तशती' में दिखाई पड़ चुका था, बिलकुल वैसा नहीं तो बहुत कुछ वैसा ही रूप 'रीतिकाल' में आकर बिहारी की सतसई में उपलब्ध हुआ। इनको 'सतसई' की मूल प्रेरणा प्राकृत की इसी 'गाथा' से मिली और उसी भाँति इन्होंने भी शृंगार-रस के अंग-प्रत्यंगों का सूक्ष्माति-सूक्ष्म वर्णन अपने मुक्तकों में कर दिखाया। नायिकाभेद, नखशिख, षट्ऋतु वर्णन आदि सभी रीति-सम्पादित विषयों पर मुक्तक तो इसमें मिलते ही हैं, साथ ही नीति और उपदेशात्मक भावना भरे सूक्ति-शैली के मुक्तकों का भी इसमें गुम्फन हुआ है। किन्तु 'गाथा' के मुक्तकों की वह जन-जीवन की लोक-सामान्य झलक यहाँ नहीं मिलती। कवि ने चेष्टा तो की है साधारण प्रसंगों को लेकर मुक्तक-रचना करने की—परन्तु वह दरबार का राजसी कवि है, अतः उसकी 'सतसई' भी वैसे ही भावों से पूर्ण है, जिनमें दरबारी ऐश्वर्य का विलास दिखाई पड़ता है। दूसरे, बिहारी-सतसई में मुक्तकों का जो रूप दिखाई पड़ता है, वह रस के अतिरिक्त अलंकारों से भी इतना अलंकृत है कि उनकी चमत्कारिक प्रवृत्ति एक एक मुक्तक से टपकी पड़ती है।

वस्तुतः बिहारी की प्रवृत्ति इतनी कलात्मक हो उठी है कि इन मुक्तकों में यही दृष्टिगत होता है कि भावों को यदि कला का रूप कहीं मिला है, तो वह 'सतसई' में ही। इस कलात्मकता की प्रवृत्ति के मूल में यदि देखा जाय तो हमें कवि की सीमित दृष्टि ही मिलेगी जिसकी पहुँच हृदय-प्रदेश की सीमित वृत्तियों तक ही थी। इसी परिधि में छानबीन की सूक्ष्मता और अत्यधिक कलात्मक हो उठना कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया। फलतः कहीं-कहीं तो कवि के मुक्तक बड़े दुरूह हो गए हैं। ऐसे मुक्तकों में यही भासित होता है कि बिहारी बरबस दुरूहता के फेर में पड़े हैं और जब तक उस भाव को उन्होंने कलापूर्ण रूप में अभिव्यक्त न कर लिया है, उन्हें चैन नहीं मिला है। यही कारण है बिहारी के मुक्तकों को समझने के लिए कहीं-कहीं रूढ़ि और कविपरम्परासिद्ध बातों की जानकारी ही नहीं, ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान भी अभिप्रेत है। उदाहरणार्थ इस मुक्तक में :—

> सनि-कज्जल चख-झख-लगन, उपज्यौ सुदिन सनेहु।
> क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेसु सबु देहु ॥ ५ ॥[1]

---

1. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, नवीन संस्करण १९५१।

यहाँ वस्तुतः है तो नेत्रों के काजल का वर्णन, परन्तु प्रत्येक शब्द साभिप्राय है, जिसके लिए ज्योतिष की बातों से अभिज्ञ होना आवश्यक है। फलतः गूढ़ता की प्रवृत्ति धीरे-धीरे मुक्तकों का एक गुण बनती चली गई है।

यों तो 'सतसई' की रचना तुलसी ने भी की, किन्तु वहाँ भक्ति और ज्ञान की भावना प्रमुख है। बिहारी ने अपनी 'सतसई' द्वारा प्राकृत की पुरानी पद्धति का पुनः प्रादुर्भाव किया, साथ ही 'आर्या' और 'अमरुकशतक' से प्रेरणा लेकर अपनी सतसई में बड़ी मौलिकता ला दी है। एक ही भाव को 'गाथा' अथवा 'आर्या' से लेने पर भी कवि ने अपनी प्रतिभा के बल पर मुक्तक का रूप कुछ दूसरा ही बना लिया है।

गाथा में सौन्दर्य वर्णन का एक मुक्तक इस प्रकार आया है—

> अण्णाणं विहोन्ति मुहे पम्हल धवलाइं दीहक सणाइं।
> णअणाइँ सुंदरीणं तह विहु दट्ठुं ण जाणन्ति ।। ५।७० ।।[1]

इसी भाव को लेकर बिहारी कहते हैं—

> अनियारे, दीरघ दृगनु, किती न तरुनि समान।
> वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान ।। ५८८ ।।[2]

'गाथा' के उक्त श्लोक में नेत्रों का वर्णन करने के पश्चात् कवि कहता है कि सभी सुन्दर नेत्रों वाली स्त्रियाँ अपने नेत्रों का उपयोग करना नहीं जानतीं; किन्तु बिहारी सौन्दर्य-वर्णन तो करते हैं साथ ही उसके प्रभावशाली परिणाम की ओर भी लक्ष्य कर देते हैं। वे कहते हैं कि सुजानों को वश में करने वाले नेत्रों का केवल मधुर होना ही कोई विशेष गुण नहीं, प्रत्युत सुजान जिससे मुग्ध हो जायँ, ऐसे नेत्रों की विशेषताएँ कुछ और ही हैं। कवि ने द्वितीय पंक्ति में 'वह चितवनि औरै कछू' कहकर संपूर्ण मुक्तक में मार्मिकता ला दी है। यह बिहारी की अपनी मौलिकता है, जिससे भावों को 'गाथा' से लेने पर भी वे उसमें अपनी विशेषता सुरक्षित कर सके हैं।

ठीक इसी भाँति 'आर्या सप्तशती' से जहाँ कवि ने भाव लिए हैं, वहाँ भी अपनी निजी विशिष्टता को उन्होंने प्रदर्शित किया है। आर्या का एक श्लोक है :—

> मधुमथनमौलिमाले सखि तुलसि तुलयसि किं सुधा राधाम्।
> यत्तव पदमदसीयं सुरभयितुं सौरभोद्भेदः ।। ४३२ ।।[3]

---

१. गाथा सप्तसती ५।७० हाल।
२. बिहारी रत्नाकर।
३. आर्या सप्तसती, गोवर्द्धनाचार्य।

मोरचन्द्रिका, स्यामसिर चढ़ि कत करति गुमानु।
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा-मानु ॥ ६७६ ॥[1]

आचार्य गोवर्द्धन कहते हैं 'तुलसी तू कृष्ण के सिर पर चढ़ने के कारण राधा के सौभाग्य से अपनी बराबरी मत कर; क्योंकि तेरी सुगंध राधा के पैरों को सुगन्धित करने के लिए है।' किन्तु बिहारी की कल्पना एक पग और आगे बढ़ गई है; वे उस मोरचन्द्रिका के पैरों तक आने के कारण को भी बताते हैं। राधा का मान और कृष्ण का उन्हें मनाना सब आँखों के समक्ष आ जाता है। फिर तो मोरचन्द्रिका के पैरों पर आने का कारण भी स्पष्ट हो जाता है।

अमरुक के शृंगारिक मुक्तकों से भी बिहारी प्रेरित हुए। किन्तु जहाँ अमरुक ने भाव को चार पंक्तियों में भलीभाँति अभिव्यक्त करने का अवसर हाथ लिया है, वहाँ बिहारी को सम्पूर्ण भाव अपने दोहों में ही भरने पड़े हैं। यह उनका कौशल है। अमरुक का एक श्लोक है, जहाँ सखी नायिका को मान धारण करने के लिए कहती है; इस पर नायिका का उत्तर बहुत सुन्दर है—

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदिस्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७०॥[2]

बिहारी इस सम्पूर्ण भाव को केवल दो पंक्तियों में यों रखते हैं—

सखी सिखावति मान-बिधि, सैननि बरजति बाल।
हरुैं कहै, मो हीय मैं, बसत बिहारी लाल ॥ ११६ ॥[3]

अमरुक में 'भीतानना' सखी का कथन है कि 'हे बाला ऊँचे स्वर से न बोल, मेरे हृदय में बसे हुए प्रियतम कहीं तेरी बातें सुन न रहे हों।' परन्तु बिहारी की सखी 'भीतानना' नहीं; वह तो अपने इशारों से नायिका को बरजती है। अतः यहाँ भावों में माधुर्य आ गया है।

इस प्रकार अपने चारों ओर बिखरी हुई सामग्री को लेकर बिहारी ने अपनी निजी प्रतिभा के बल पर मुक्तक का रूप खड़ा किया और शृंगार-रस

---

१. बिहारी रत्नाकर।
२. अमरुकशतक पृ० ५३।
३. अधिक दोहे....बिहारी रत्नाकर।

के क्षेत्र में ऐसे-ऐसे सरस मुक्तकों की रचना की जिनमें चित्रात्मक और भावात्मक दोनों ही प्रकार के मुक्तक सुन्दर शैली में प्रणीत हुए। भावात्मक मुक्तकों में कवि का ध्यान रस की ओर है, जो विभाव, अनुभाव, संचारी-भाव आदि की सहायता से उत्पन्न किया गया है। चित्रात्मक मुक्तकों में कवि ने एक तो रूप-चित्रण किया है, दूसरे अनुभवों के द्वारा चेष्टाओं का वर्णन भी हो गया है। अनुभावों का सौन्दर्य बिहारी में अपूर्व है। कारण यह कि यहाँ कवि को शास्त्र की चिन्ता उतनी नहीं जितनी सच्ची भावाभिव्यंजना की है। यही कारण है अनुभावों के विधान में कवि ने जो चित्र खींचे हैं, वे बहुत ही स्वाभाविक हुए हैं। उदाहरणार्थ—

नासा मोरि, नचाइ जे, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकैं ति हिय गड़ी कँटीली भौंह ॥ ४०६ ॥
ललन-चलनु सुनि पलनु मैं अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिनु हूँ झूठैं हीं जमुहाइ ॥ ३५८ ॥
सीस-मुकट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल ॥ ३०१ ॥[1]

इन चित्रात्मक मुक्तकों की विशेषता रूप-चित्रण में तो है ही, साथ ही हृदय के प्रभाव का भी चित्रण इनमें हो गया है। किन्तु बिहारी ने रूप-चित्रण में बँधी हुई उपमाओं और बँधे हुए अङ्गों का वर्णन किया है—जैसे अलक, जूड़ा, तिल, तिलक, कुच, कटि, एड़ी इत्यादि।

भावात्मक मुक्तकों में जहाँ कवि का ध्यान रस-व्यंजना पर है वहाँ संयोग और वियोग के मुक्तक निर्मित हुए हैं। संयोग में 'षट्ऋतु वर्णन' और वियोग में बारहमासे की पद्धति पर जो मुक्तक रचे हैं वे उद्दीपन रूप में ही प्रकृति को लेकर चलते हैं। कहीं-कहीं तो वियोग-वर्णन के मुक्तकों में कवि की ऊहा हास्यास्पद हो गई है यहाँ हृदय की भावना के अपेक्षाकृत शरीर के ताप की ओर कवि का ध्यान अधिक है। किन्तु जहाँ कहीं संचारी भावों की व्यंजना हृदय-पक्ष को लेकर की गई है, वहाँ वियोग-वर्णन भी बहुत स्वाभाविक हुआ है :—

सघनकुंज-छाया सुखद, सीतल सुरभि-समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै, उहि जमुना के तीर ॥ ६८१ ॥[2]

---

१. बिहारी रत्नाकर।
२. बिहारी रत्नाकर।

कलात्मकता की प्रवृत्ति के कारण बिहारी के मुक्तकों में उक्ति कौशल-पूर्ण है। इसका दूसरा कारण है उनका भाषा पर अधिकार। यही कारण है दोहे जैसे छोटे छन्द में गहन से गहन भावों की व्यंजना कवि ने सरलता-पूर्वक बिना किसी प्रयास के अथवा बिना शब्दों के तोड़े मरोड़े कर ली है। ऊँचे कवियों में जो ध्वनि मिलती है वह भी इनके इने-गिने मुक्तकों में देखने को मिलती है। साथ ही शब्द की शक्तियों के ज्ञान ने इनके दोहों में अनुप-पन्न अर्थ को भी उत्पन्न कर दिखाया है :—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥ ३४७ ॥[1]

यहाँ गरब और गरूर शब्द भाव में तीव्रता लाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

बिहारी के मुक्तकों का स्वरूप उर्दूपन के कारण और भी निखर उठा है। उपर्युक्त दोहे में 'सबी' का सम्बन्ध अरबी के 'शबीह' शब्द से है। इसी प्रकार 'गरूर' भी अरबी का ही है। यह उर्दूपन दरबारी प्रभाव था जो उनके मुक्तकों में नियोजित हुआ। इस नवीन पुट से इनके मुक्तकों का रूप बिल्कुल मौलिक बन गया।

सौन्दर्य वर्णन में जहाँ कवि उसके द्वारा हृदय की प्रभावशालिता का वर्णन करता है, वहाँ मुक्तक में यह कौशल लक्षित होता है :—

कौनैं हूँ कोरिक जतन, अब कहि काढ़े कौनु।
भो मनमोहन-रूपु मिलि, पानी मैं कौ लौनु ॥ १८ ॥[2]

पानी में नमक मिल कर जिस भाँति घुलकर एक रूप हो जाता है, उसी भाँति मोहन के रूप का पान कर उसका मन तल्लीनावस्था को प्राप्त हो चुका है। दृष्टान्त द्वारा यह भाव बड़े ही कौशल द्वारा व्यक्त हुआ है। अन्यत्र शब्दालंकारों में यमक द्वारा यही उक्ति-कौशल इस प्रकार का है :—

तोपर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी, ह्वै उरबसी-समान ॥ २५ ॥[3]

अर्थालंकारों में असंगति और विरोधाभास द्वारा यह उक्ति-कौशल मुक्तकों में रूप को आकर्षणपूर्ण बना रहा है :—

---

१. बिहारी रत्नाकर।
२. बिहारी रत्नाकर।
३. बिहारी रत्नाकर।

दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियैं; दई, नई, यह रीति ॥ ३६३ ॥
तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ॥ ६४ ॥[1]

सूक्तियों में कहीं-कहीं यह उक्ति-कौशल दूसरे प्रकार का हो गया है। यहाँ साधारण बातों का ही वर्णन है :—

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चले, तेतौ ऊँचौ होइ ।। ३२१ ।।
बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ, भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु, दानु ।। ३८१ ।।
—बिहारी रत्नाकर।

बिहारी के इन कलाप्रधान मुक्तकों में संगीत का अभाव है। यों तो यह तत्त्व मुक्तकों में अधिक नहीं मिलता, तो भी जितना संगीत-तत्त्व छन्दों का स्वतः गुण है, वह बिहारी में नहीं। इसका प्रधान कारण है कलात्मकता की प्रवृत्ति, जो उनमें अधिक मिलती है। दूसरे, दोहे छन्द में संगीत-तत्त्व का समावेश उचित परिमाण में नहीं हो पाता। दोहे जैसे छोटे से छन्द में जो कौशल बिहारी ने दिखाया उसमें पाठ का सौन्दर्य तो है, परन्तु संगीत का नहीं। किन्तु कलात्मकता को प्रवृत्ति ही इस संगीताभाव का कारण हो ऐसा भी नहीं—क्योंकि देव में कलात्मकता पूर्ण है फिर भी जिन कवित्त सवैयों में उन्होंने भावाभिव्यंजना की, उनमें संगीत की योजना अधिक मात्रा में हुई है। क्योंकि सवैया और कवित्त में अपना भिन्न लय विशेष रूप में होता है। अतः बिहारी में मुक्तकों की वह गूँज नहीं मिलती जो कवित्त सवैये में मुक्तक रचने वाले कवियों में मिलती है।

इस प्रकार कलात्मक मुक्तकों में एक ओर तो बिहारी के दोहों की शैली के मुक्तक मिलते हैं और दूसरी ओर कवित्त सवैयों के रूप में मुक्तक मिलते हैं। ये दोनों शैलियाँ तुलसी में पहले हमें मिलीं और इस युग में आकर परिस्थितियों के अनुरूप उनमें भावों का नए ढंग से विधान हुआ। इसी कवित्त-सवैये की शैली में समस्यापूर्तियाँ इस युग में लिखी गईं, जो मुक्तक में एक नवीन प्रकार की शैली दिखाई पड़ी। ऐसे मुक्तकों में कवि का उक्ति-कौशल ही प्रमुख रूप में मिला, जिनमें भाव का चरम अन्तिम

---

१. बिहारी रत्नाकर।

पंक्ति में जाकर दिखाई पड़ता है। पद्माकर, प्रतापसाहि जैसे कवि प्रसिद्ध समस्यापूर्ति के लेखक हुए। प्रतापसाहि की एक समस्यापूर्ति लीजिये :—

चंचलता अपनी तजि कै रस ही रस सों रस सुन्दर पीजियो।
कोऊ कितेक कहै तुम सों, तिनकी कही बातन को न पतीजियो॥
चोज चवाइन के सुनियो न, यही इक मेरी कही नित कीजियो।
मंजुल मंजरी पै हौ, मिलिन्द! विचारि कै भार सँभार कै दीजियो॥[1]

आगे चल कर समस्यापूर्ति के रूप में मुक्तक-रचना की प्रेरणा जिस भारतेन्दु समाज को मिली, वह यहीं से दिखाई पड़ती है।

देव

बिहारी ने दोहों में ही अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति की, किन्तु देव ने कवित्त और सवैयों में भी मुक्तक-रचना की। इन छन्दों में मुक्तकों का रूप भिन्न हो गया है। किन्तु बिहारी के समान ही देव में भी कलापक्ष प्रधान है। इन्होंने भी अपने मुक्तकों को हर प्रकार से सम्पन्न करने का प्रयास किया। किन्तु इस प्रयास में भिन्नता है। बिहारी के मुक्तकों में कवि बहुत ही सचेत बन गया है और उसे कलात्मकता का इतना अधिक आग्रह है कि कहीं-कहीं रसाभिव्यक्ति पीछे छूट गई है। फलतः मुक्तकों का रूप ऐसा हो गया है जो उक्ति का चमत्कार अधिक होने के कारण हृदय को रसमग्न करने की क्षमता नहीं रखता। परन्तु देव की कलात्मकता के प्रति अभिरुचि होते हुए भी भाव इस प्रकार अभिव्यंजित हुए हैं, मानों कवि उसके लिए अधिक प्रयास नहीं कर रहा है। हाँ, इतना अवश्य है कि जिन चित्रात्मक मुक्तकों में बिहारी की सूक्ष्म कारीगरी दिखाई पड़ती है, वह देव में नहीं। इनके मुक्तकों में भाषा की प्रौढ़ता के होते हुए भी जो लाक्षणिकता एवं व्यंजना आई है, उसमें प्रत्येक मुक्तक चमत्कारपूर्ण होकर रस की सृष्टि एक नवीन ढंग से कर रहा है। यहाँ कवि के भावों को कवित्त और सवैये जैसे छन्दों में संगीतात्मक रूप में अभिव्यक्त होने का अवसर अधिक मिला है। दोहे की तुलना में इन छन्दों में जितनी अधिक संगीत की सृष्टि करने की क्षमता है वह अन्यत्र कम उपलब्ध होती है। कवि इस प्रकार अपनी अनुभूतियों को छन्दोबद्ध करता है कि छन्द की प्रत्येक पंक्ति में 'गण' एक ही रहता है। 'गणों' की इस एकता में भावधारा शब्दों को बड़े ही क्रमबद्ध रूप में सँजोकर, एक निश्चित लय उत्पन्न करती हुई बहती है। भाव जब निय-

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. ३८०.

मित स्वरापात में होकर अभिव्यंजित होते हैं, तब संगीत अविरल बहने लगता है। अतएव कलात्मकता के आग्रह में भी देव के मुक्तकों का रूप भिन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ :—

दौरी फिरैं फिरकी सी दुहूँ दिसि देव दुहू गुन बाँधिकै ऐंची।
लोक की लीक इतै न लघौ उत नेह नए वा लये गहि खैंची॥
लाज ज्यों बाज चिरी झपटी कपटी कुल के उर अन्तर कैंची।
या तन तेज न तेहो जुदो पर रे मन तैं अनतैं कहुँ बैंची॥२६॥[1]

कवि को अक्षर-मैत्री और तुक का ध्यान अधिक है। यही कारण है इनके मुक्तकों की संगीतात्मकता एक विशेष माधुर्य लिए हुए है।

घनानन्द

'रीतिकाल' के जिन कवियों ने हृदय की उन्मुक्त अभिव्यंजना को प्रथम स्थान देकर मुक्तक का निर्माण किया उन कवियों में घनानन्द के मुक्तकों का महत्त्व अधिक है। उन्होंने हृदय की उमड़ती हुई भावना के अभिव्यंजन में बाह्य अलंकरण एवं चमत्कार-प्रदर्शन को बिलकुल व्यर्थ सिद्ध कर दिया और हृदयस्थ मनोवृत्तियों के प्रसार में रीतिबद्धता को पूर्णतया हेय बताया। इनके विचारों में शास्त्रपद्धति का अवलम्बन बाह्य अलंकरण के लिए सहायक है, किन्तु जहाँ हृदय की सहज अभिव्यंजना का प्रश्न है, वहाँ वह सर्वथा बाधक रहती है। अतएव घनानन्द ने अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन करने के लिए गहरे पैठकर अधिक से अधिक रस को पाकर उसे उतनी ही सरसता के साथ अभिव्यक्त करके भी दिखा दिया।

भाषा और उसकी शक्ति को पहिचानने वाले इस प्रेमोन्मत्त कवि ने संयोग और वियोग की जैसी मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं का चित्रण किया, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस चित्रण में कवि की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी रही है। यही कारण है कि बाह्य अभिव्यंजना का स्वरूप यहाँ आकर बिलकुल बदल गया है। बाह्य अभिव्यंजना में मुक्तक को जो रूप यहाँ मिला वह अत्यधिक भावात्मक हो उठा है और उसमें कवि का अपना हृदय खुलता हुआ दिखाई पड़ रहा है। सर्वत्र कवि के हृदय की आशा-निराशा की छाया दिखाई पड़ती है। इसी तत्त्व को लेकर 'रीतिकाल' के 'रीतिबद्ध मुक्तक' एक ओर, और घनानन्द के मुक्तक दूसरी ओर रख दिए जाते हैं। मुक्तकों में रूप का ऐसा परिष्कार अभी तक नहीं दिखाई पड़ा था।

---

१. भवानी विलास—देव।

शब्द-शक्ति का ऐश्वर्य, भावोचित शब्दावली एवं व्यंग्यमूलक उक्तियों से इनका प्रत्येक मुक्तक भरा हुआ है। भावों के कोष को ऐसे-ऐसे प्रतीकों द्वारा उन्होंने खोलकर प्रकट किया, जिनमें उन भावों को वहन करने की अपूर्व क्षमता थी। लक्षणा और व्यंजना तथा व्यंग्यमूलक उक्तियों का जैसा चमत्कार इनके मुक्तकों में मिला, ऐसा सम्पूर्ण 'रीतिकाल' में ढूँढ़े से कहीं नहीं मिलता। यह वक्रोक्ति-पद्धति बुद्धिजनित नहीं है, प्रत्युत हृदयप्रसूत है। यही कारण है कि छन्दों की समानता होते हुए भी घनानन्द के मुक्तक रीतिकालीन रूढ़िबद्ध मुक्तकों से भिन्न दिखाई पड़ते हैं। कवि ने भावों को विचार की कसौटी पर, एवं विचारों को भावों की कसौटी पर कसा। यही कारण है उनके मुक्तकों को अन्य किसी भी कसौटी पर कसने की आवश्यकता नहीं। साथ ही उन्होंने तो अपनी कविता के अधिकारी का निर्देश स्वयं ही कर दिया है—

नेही महा ब्रजभाषा प्रबीन औ सुन्दरतानि के भेद कौं जानै।
जोग बियोग की रीति में कोविद भावना-भेद स्वरूप कौ ठानै।
चाह के रंग में भींज्यो हियो बिछुरें मिलें प्रीतम साँति न मानै।
भाषा प्रबीन सुछंद सदा रहै सो घनजी के कवित्त बखानै॥१॥[1]

अर्थात् उनके मुक्तकों को समझने के लिए ऐसे हृदय की आवश्यकता है जो प्रेम से परिपूर्ण हो, 'नेह की पीर' का अनुभव कर चुका हो। अर्थात् जो सच्चा प्रेमी हो और संयोग-वियोग के मर्म को खूब समझ चुका हो, जिसे प्रिय के संयोग में भी तृप्ति न मिलती हो, जो संयोग-वियोग की अनेक अन्तर्दशाओं से अभिज्ञ हो, साथ ही सौन्दर्यपारखी भी हो जब तक इन अन्तर्दशाओं के भेदों का ठीक-ठीक स्वरूप वह ग्रहण नहीं कर सकता, जो स्वच्छन्द प्रकृति का नहीं, ब्रजभाषा की शक्ति का जिसे ज्ञान नहीं, वह उनकी कविता का सच्चा पारखी भी नहीं।

यों तो कवित्त-सवैयों में मुक्तकों की रचना देव, मतिराम, मंडन आदि कवियों ने भी की और इन्हीं छन्दों में घनानंद के भी उद्गार बहे। परन्तु जब हम भावना की दृष्टि से दोनों की तुलना करते हैं, तब स्पष्ट भेद दोनों में दिखाई पड़ता है। कलाप्रधान कवियों की भावना में अन्तर्वृत्ति के निरूपण की ओर झुकाव नहीं; जहाँ कहीं भी उन्होंने किसी संयोग अथवा वियोग के भावों को अभिव्यक्त किया है, वहाँ राधा-कृष्ण अथवा नायक-नायिका

---

१. 'सुजान सागर' घनानंद।

के माध्यम द्वारा। यहाँ कवि बिलकुल तटस्थ है; किन्तु घनानन्द के मुक्तकों में 'सुजान' या 'कृष्ण' के सम्बोधन के होते हुए भी प्रतीत ऐसा ही होता है मानो कवि का अपना हृदय ही खुल पड़ा है। मानो वे स्वयं अपनी व्यथा मुक्तकों में ढालने के लिए आतुर हो उठे हैं :—

केतो घट सोधौं पै न पाऊँ कहाँ आहि सोधौं
की धौं जीव जारै अटपटी गति दाह की।
धूम कौं न धरै गात सीरो परै ज्यौं ज्यौं
जरै ढरै नैन नीर बीर हरै मति आह की।
जतन बुझैहै सब जाकी झार आगें अब
कबहूँ न दवै भरी भभक उमाह की।
जबतें निहारे घन आनंद सुजान प्यारे
तबतें अनोखी आगि लागि रही चाह की॥ २०॥[1]

प्रस्तुत छन्द में कवि ने व्यतिरेक अलंकार द्वारा प्रेमाग्नि को सामान्य अग्नि से विलक्षण बताया है और सम्पूर्ण भाव को इस शैली में अभिव्यक्त किया है कि उसमें आत्माभिव्यंजना का पुट आ गया है। प्रिय के वियोग में कवि आँखों का वर्णन भी बड़ी प्रभावात्मक शैली में करता है—

आखैं जो न देखैं तो कहा हैं कछू देखति ये
ऐसी दुखहाइनि की दसा आप देखिये।
प्रानन के प्यारे जानरूप उजियारे बिना तिहारे
मिलन इन्हैं कौन लेखे लेखिये॥
नीर न्यारे मीन औ चकोर चन्दहीन हूँ तैं
अतिहि अधीन दीन गति मति पेखिये।
हो जू घन आनन्द ढरारे रस भरे भारे
चातिक विचारे सों न चूकनि परेखिये॥ २१॥[2]

घनानन्द के मुक्तकों की अभिव्यंजना-शैली और देव, मतिराम आदि की शैली में इस प्रकार बहुत अन्तर आ गया है। घनानन्द का विरहविदग्ध हृदय ही अधिकांश, मुक्तकों में ढल पड़ा है। उनको अपने जीवन में जिस गहन प्रेम की अनुभूति हो चुकी थी, एवं प्रेम के प्रतिदान के अभाव में उनका हृदय कितना विह्वल हो उठा, उसकी सच्ची कहानी इनके मुक्तकों में मिल जाती है। निराश प्रेम की छाया इनके मुक्तकों में वर्तमान है।

---

१. सुजान सागर। २. सुजान सागर।

सम्भवतः यही कारण है कि इनके मुक्तकों में संयोग की अपेक्षा वियोग के चित्र अधिक आए हैं। इसी वियोग की अनेक सूक्ष्म अन्तर्दशाओं का सूक्ष्म स्वरूप घनानन्द ने उद्घाटित करने का असाधारण प्रयास किया। इस प्रयास में सर्वथा स्वच्छन्द पद्धति का ही प्रदर्शन हो रहा हो ऐसी बात भी नहीं। घनानन्द ने अपनी अभिव्यंजना पद्धति में कुछ बन्धन भी स्वीकार किए हैं। यह बन्धन चार पंक्तियों में होकर भावाभिव्यंजना करने में दिखाई पड़ता है। अस्तु, जहाँ कलात्मक रीतिबद्ध कवियों के मुक्तकों से इनके मुक्तक भिन्न श्रेणी के हो गए, वहाँ कवित्त-सवैये की परिपाटी को अपनाने के कारण इनकी शैली न तो भक्ति-काल की पदों की शैली के समीप पहुँचती है और न इनमें गीतिकाव्य की सी अति-आत्माभिव्यंजकता ही नियोजित हो पाई है। हृदय का स्वाभाविक उद्गार छन्द की नियमित पंक्तियों में पूर्णतः बहने के लिए तैयार नहीं, तो भी घनानन्द के मुक्तकों की शैली रीतिबद्ध मुक्तकों की शैली से सर्वथा भिन्न है। उनमें यदि लाक्षणिकता एवं व्यंग्यमूलक उक्तियों का समावेश है तो वह पांडित्यपूर्ण भावना से नहीं, अपितु वह उनके उस भाषा-ज्ञान एवं अधिकार का फल था, जो 'रीतिकाल' के अन्य कवियों में कम उपलब्ध होता है। ऐसी भाषा पर अधिकार पाने के उपरान्त उन्होंने भावों को ऐसे-ऐसे पथों से होकर निकालने की चेष्टा, और सफल चेष्टा की, जिनपर बिहारी, देव आदि कवि जाने की कल्पना भी नहीं कर सके हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि के स्थान पर इन्होंने अधिकतर विरोधाभास, व्यतिरेक, असंगति का सौन्दर्य दिखाया और वह भी हृदय की सच्ची स्थिति का आभास देने के लिए। इसीलिए उन्हें मुहाविरों का प्रयोग भी अधिक करना पड़ा :—

देखिये दसा असाध निपटिनि की
भसमी दसापर नित लंघन करति हैं॥ [१]

आँखें स्वभाव की भुक्खड़ हैं उस पर से भस्मी रोग हो गया है जिससे खाने पर भी भूख नहीं मिटने वाली आँखों को, अब लंघन करना पड़ रहा है। विरोधाभास का सुन्दर चमत्कार घनानन्द के मुक्तकों में अद्वितीय है। यह विरोध अर्थगत तो सर्वत्र है ही, शब्दगत भी है।

सहज भावाभिव्यंजना करने वाले घनानन्द के मुक्तकों में संगीत भी

---

१. घनानन्द कवित्त—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 'सरस्वती मन्दिर'—बनारस द्वितीय संस्करण कवित्त (२९)।

बहुत मिलता है। भाषा के प्रवीण घनानन्द ने भावों के अनुरूप पदावली का प्रयोग इस कौशल के साथ किया है, जिसमें संगीत की सृष्टि अपूर्व रूप में हो गई है। किन्तु उन मुक्तकों में जहाँ कवि ने प्रयासपूर्ण लाक्षणिक पदावली का प्रयोग किया है वहाँ यह संगीत भी रुक-रुक कर प्रवाहित होता दिखाई पड़ रहा है :—

सुधि करै भूल की सुरति जब आय जाय,
तब सब सुधि भूलि कूकै गहि मौन को।
जात सुधि भूले सो कृपा ते पाइयत प्यारे,
फूलि फूलि भूलौं या भरोसे सुधि हौन को।
मेरी सुधि भूलहि विचारिये सुरति नाथ,
चातक उमाहै घन आनँद अचौन को।
ऐसी भूलहूँ सों सुधि रावरी न भूले क्यों हूँ,
ताहि जौ बिसारौं तो सहारो फिरि कौन को ॥ ३०२ ॥

—कृपाकन्द।

किन्तु जहाँ कवि ने शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग बड़े ही नैसर्गिक एवं अयत्नसाधित रूप में किया है वहाँ संगीत तत्त्व अधिक है :—

पर कारज देह को धारे फिरौ परजन्य ! यथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सबही बिधि सुन्दरता सरसौ ॥
घनआनँद जीवन-दायक हौ, कबौं मेरियो पीर हियै परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ॥१३१॥

—सुजान सागर।

रीतिकालीन मुक्तकों का जो रूप घनानन्द में मिलता है, वह उनकी स्वच्छन्द चित्तप्रवृत्ति के अनुरूप अपने एक भिन्न रूप में ढला है। भीतरी भावना बाह्यरूप-विधान में बहुत काम करती है; अतएव घनानन्द जिस उन्मुक्त प्रवृत्ति के थे, उसी के अनुरूप उन्होंने रूढ़िवाद के इस युग में भी मुक्तकों की रचना एक मौलिक शैली में की।

तीसरा वर्ग इस युग में वीर-रस के मुक्तकों का है। इस वर्ग के मुक्तकों में भावाभिव्यंजना-पद्धति चारणों की शैली में ही हुई। तुलसी ने चारणों की कवित्त-छप्पय की शैली के रूप में प्रथम ही मुक्तक निर्मित कर लिए थे। इस काल में स्वतन्त्र रूप से यदि किसी कवि ने वीर-रस में भावाभिव्यंजना की तो वह भूषण ने। उन्होंने शिवाजी और छत्रसाल की प्रशंसा में जिन मुक्तकों की रचना की, उनमें झूठी प्रशंसा या

खुशामद के भाव नहीं। भीतरी प्रेरणा का रूप जब सच्चा होता है, तब बाहर अभिव्यंजना में भाव बड़े हार्दिक रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह हार्दिकता पद्माकर में नहीं मिलती। शिवाजी और छत्रसाल वस्तुतः वीर थे, अतएव आलम्बन के उपयुक्त रसव्यंजना इनके मुक्तकों में हो पाई है :—

> इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सु अम्भ पर,
> रावन सदम्भ पर रघुकुलराज हैं।
> पौन बारिवाह पर, सम्भु रतिनाह पर,
> ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
> दावा द्रुम दुण्ड पर, चीता मृग झुंड पर,
> भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं।
> तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
> त्यों मलेच्छ बंस पर, सेर सिवराज हैं॥१॥[1]

दूसरी ओर नीति और वैराग्यपरक मुक्तकों में अन्योक्ति-पद्धति पर मुक्तक इस काल में विशेषरूप से दीनदयालगिरि ने लिखे। ये अन्योक्तियाँ कुण्डलिया छन्द में लिखी गई जिनमें सौन्दर्यभावना और प्रतिभा दर्शनीय है। इस प्रकार मुक्तकों में लौकिक एवं पारलौकिक भावना, दोनों का अभिव्यंजन हुआ है। यह अभिव्यंजना सरल होती हुई भी चमत्कारपूर्ण इस अर्थ में है कि कवि ने जहाँ कहीं भी अवसर पाया है, श्लेष और यमक का चमत्कार भी अवश्य दिखा दिया है। किन्तु मार्मिक भावों की व्यंजना जहाँ पर कवि ने की है, वहाँ इस चमत्कार के फेर में वह नहीं पड़ा है।

> तेरे ही बिच बस्तु वह, जाको जगत सुगन्ध।
> खोजत कहा कुरंग तू! अंबक आछत अन्ध॥
> अंबक आछत अंध कहा दिसि दिसि भरमै है।
> अपनी दिसि अवलोक तबै वाको सुख पैहै॥
> बरनै दीनदयाल मिलै नहिं बाहर हेरे।
> अन्तर्मुख है ढूँढ़ सुगन्ध सबै घट तेरे॥ ७८॥[2]

पक्षियों एवं वृक्षों को सम्बोधित कर मुक्तकों की अन्योक्तिपरक शैली

---

१. शिवाबावनी-भूषण ग्रन्थावली—संपा० रामनरेश त्रिपाठी—सं० १९८७।
२. 'अन्योक्ति कल्पद्रुम'—लाला भगवानदीन, मोहनवल्लभ पन्त, 'द्वितीय शाखा'।

इनकी अपनी मौलिक शैली है। तुलसी ने चातक की अन्योक्ति में मुक्तकों का यह रूप उपस्थित किया परन्तु दीनदयाल ने उसे अनेक पक्षियों, वृक्षों एवं मानव राग—आशा, निराशा आदि को सम्बोधित कर मुक्तकों के उस रूप को आगे विकसित किया। अन्य कवियों ने भी ऐसी भावाभिव्यंजना की है, जिसमें गुरुदत्त का 'पक्षीविलास' प्रसिद्ध है। इसमें पक्षियों के स्वभाव का वर्णन मुक्तक शैली में हुआ है।

नीति सम्बन्धी मुक्तकों की रचना तो बहुलता के साथ हुई और उसके लिये गृहीत 'दोहा' छन्द ही प्रयुक्त हुआ। रहीम, विक्रम, वृन्द, बैताल और दीनदयाल ने नीतिपरक दोहों की रचना की। गिरिधर ने दीनदयाल की 'कुण्डलिया'-पद्धति को अपनाया। इन नीतिपरक दोहों में अधिकांशतः प्रथम पंक्ति नीति की कोई बात लेकर निर्मित हुई है और दूसरी में उसका कोई उदाहरण अथवा दृष्टान्त दिया गया है। भक्तिकाल में तुलसी की 'दोहावली' में ऐसे मुक्तकों का संग्रह हुआ और 'रीतिकाल' में बिहारी की 'सतसई' में भी ऐसे मुक्तक आए हैं। किन्तु मनोवृत्ति के भेद से दोनों के मुक्तकों में अन्तर आ गया है। जहाँ तुलसी के नीतिसम्बन्धी दोहों में उनकी विचारात्मकता का प्राधान्य मिलता है, वहाँ बिहारी में कलापक्ष की प्रधानता है। रहीम और दीनदयालगिरि के दोहों में आकर हमें मार्मिकता अधिक मिली। रहीम ने अपने जीवन में गहरी अनुभूति पाने के उपरान्त ही भावुकता के साथ संसार के साधारण, किन्तु मार्मिक व्यापारों के बीच अपने अनुभव को रखकर अभिव्यक्त किया। यही कारण है कि उनके नीतिपरक दोहे बड़े ही हृदयस्पर्शी हुए हैं, जिनमें उनके हृदय का सच्चा प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है :—

> रहिमन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुःख प्रकट करेइ।
> जाहि निकारौ गेह तें, कस न भेद कह देइ॥ १६५॥
> दुर्दिन पड़े रहीम कह, भूतल सब पहिचानि।
> सोच नहीं बित-हानि को, जो न होय हित-हानि॥ ९९॥
> सर सूखे पंछी उड़े, औरे सरन समाहि।
> दीन मीन बिन पंख के, कहु रहीम कहँ जाहि?॥ २५७॥[1]

वैराग्यपरक मुक्तकों में दीनदयालगिरि, पद्माकर, नागरीदास आदि कवियों के नाम प्रसिद्ध हैं। इनके मुक्तकों में एक विशेष प्रकार के काव्यरूप

१. रहीम रत्नावली, संपा० मायाशंकर याज्ञिक।

का निर्माण हुआ। कवियों ने गंगा और जमुना को सम्बोधित कर अपनी वैराग्य भावना प्रकट की। इनमें पद्माकर की 'गङ्गालहरी' और ग्वाल की 'जमुना लहरी' प्रसिद्ध हैं। व्याजस्तुति के आधार पर गङ्गा की प्रशंसा पद्माकर ने बड़े ही कलात्मक ढंग से की है :—

जोग जप जागे छाँड़ि जाहु न परागे मैया,
मेरी कही आँखिन के आगे सु तो आवैगी।
कहै पद्माकर न ऐहै काम सरस्वती,
साँच हू कालिंदी कान करन न पावैगी।
लैहै छीनि अंबर दिगंबर के जोरावरी,
बैल पै चढ़ाइ फेरि सैल पै चढ़ावगी॥
मुण्डन के माल की भुजंगन के जाल की,
सु गङ्गा गजखाल की खिलत पहिरावैगी ॥१६॥[1]

'रीतिकाल' के मुक्तकों के कुछ अन्य रूप

'रीतिकाल' में प्रकृति को लेकर स्वतन्त्र रूप में कुछ ऐसे काव्यरूपों की रचना भी हुई, जिनके द्वारा कवियों को रूढ़िगत रूप में प्रकृति के चित्रण का अवसर हाथ लगा है। ये रूप 'बारहमासे' और ऋतुवर्णन से ही सम्बन्ध रखते हैं, जिनके द्वारा कवि ने उद्दीपन के रूप में ही प्रकृति का चित्रण किया है। यहाँ भी कवियों की चमत्कारपूर्ण एवं अलंकारमयी शैली का ही प्रदर्शन हुआ है। किन्तु स्वतन्त्र रूप में, फुटकल रूप से लिखे जाने वाले षट्-ऋतुवर्णन के मुक्तकों में और इन ऋतुसम्बन्धी मुक्तकों के भिन्न रूपों में अन्तर यही है कि जहाँ षट्ऋतु वर्णन करते हुए कवियों ने एक-एक ऋतु पर अपनी भावाभिव्यंजना की है; वहाँ इन ऋतुसम्बन्धी रूपों में अधिकतर 'वसन्त' और 'पावस' को लेकर कवियों ने भावाभिव्यंजना उद्दीपन की पद्धति पर की है।

बारहमासे के रूप में जिन्होंने मुक्तक रचना की उनमें देवीसिंह, रामचन्द्र, बख्शी हंसराज, बलभद्रसिंह के 'बारहमासी' और रसाल का 'बारहमासा' प्रसिद्ध हैं। ऋतुवर्णन के रूप में एक ओर तो रास, विहार सम्बन्धी रूप हैं जैसे 'झूला', 'हिंडोला', 'फाग' और दूसरी ओर ऋतुसम्बन्धी रूप हैं 'बसन्त', 'पावस' इत्यादि। ऋतुओं में विशेषरूप से इन्हीं दोनों ऋतुओं को कवियों ने लिया है और मुक्तक रूप में स्वतन्त्र काव्यरूप निर्मित किए हैं।

---

१. पद्माकर पंचामृत, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। 'गङ्गालहरी' पृ० २४८।

प्रियदास का 'झूलापचीसी', देव का 'पावस विलास', पृथ्वीसिंह का 'हिंडोला', नागरीदास का 'फागविलास', 'हिंडोरा के कवित्त' 'वर्षा के कवित्त', 'हिंडोला और पावस पचीसी' तथा महाराज विश्वनाथ सिंह का 'वसन्त चौतीसी' आदि रूप प्रसिद्ध हैं।

बारहमासे के रूप में मुक्तक-रचना की परिपाटी इस युग में बहुत ही रूढ़िवादी रूप में प्रस्तुत हुई। अपनी चमत्कार प्रवृत्ति के अनुरूप उन्होंने सर्वत्र उद्दीपन के रूप में ही प्रकृति के चित्र चित्रित किए। ऐसे काव्यरूपों में कवि ने प्रोषित-पतिकाओं को लेकर प्रत्येक महीने के परिवर्तित होते हुए रूप के साथ उनके हृदय की तीव्र होती हुई व्यथा का अंकन ही प्रमुख रूप से किया है। यह वर्णन बड़े ही कलात्मक रूप में विविध अलंकारमयी शैली में हुआ है। इस प्रकार एक बँधी हुई सीमा के भीतर बारहमासे के रूप में प्रकृति का वर्णन होने के कारण प्रायः सभी कवियों के ऐसे रूप एक से ही मिलते हैं। उदाहरणार्थ देवीसिंह का एक मुक्तक देखिए :—

जेठ लागे उठे हू ते अम्बर उमड़े घरी,
घरी भरि प्यारी कल क्यूँ हूँ न परत है।
वृष के रथ वृष शशि बैठे भान तपै,
मेरे प्रान कँपै ऐसो सीत की-सी अरति है।
—'बारहमासी', देवीसिंह।

इसी प्रकार ऋतुवर्णन के काव्यरूपों में भी 'बसन्त', 'हिंडोला', 'फाग' आदि में मानवीय उल्लास को प्रकृति की पृष्ठभूमि पर अंकित किया गया है। इनमें भी रूढ़ि के अनुरूप वर्णन की कलात्मक शैली एवं सीमित कल्पना है। नागरीदास का एक कवित्त लीजिए—

भादौं की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावै।
स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रस-रीति मलारहिं गावै।
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै।
पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावै।[1]

मुक्तक में 'बारहमासा' की पद्धति निर्गुणिये सन्त कवियों में भी दिखाई पड़ी जिनमें धरनीदास, रामरूप, गुलाल साहब के 'बारहमासों' का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।[2] किन्तु उन्होंने बारह महीनों का उल्लेख करते हुए

---

१. वर्षा के कवित्त, नागरीदास।
२. हिन्दी सा० का आलोचनात्मक इतिहास, रामकुमार वर्मा, पृ० ३६६, ४१३, ४०४।

उपदेश दिए हैं। इस प्रकार सन्तों के इस काव्यरूप में और रीतिकालीन कवियों के बारहमासों में पर्याप्त अन्तर मिलता है। यहाँ कवियों ने विरह भाव को ही प्रकृति के आधार पर अभिव्यंजित किया है।

प्रेमाख्यान काव्यों के रचयिताओं ने अपने काव्यों के अन्तर्गत बारहमासों की रचना विरह-वर्णन को ही लेकर की। अतः रीतिकालीन बारहमासे काव्याभिव्यंजना की दृष्टि से सूफी कवियों के बारहमासों के निकट तो आते हैं परन्तु सन्तों के बारहमासों से उनका कोई मेल नहीं।

'रीतिकाल' में आकर मुक्तकों का परिष्कार हर एक दृष्टि से हुआ। एक ओर जहाँ वह कलापक्ष की प्रधानता में अति अलंकृत रूप में प्रस्तुत हुआ, वहाँ दूसरी ओर वह अति भावात्मक रूप में निर्मित हुआ। छन्द की दृष्टि से मुक्तक की सीमा कुछ बँध अवश्य गई। दोहे और कवित्त, सवैये की शैली में मुक्तक-रचना 'रीतिकाल' की एकमात्र विशेषता कही जा सकती है। दोहे जैसे छोटे छन्द को बिहारी ने जितना माँजा, उतना ही परिष्कार घनानन्द ने अपने कवित्त-सवैयों में कर दिखाया। इन छन्दों के अतिरिक्त कुंडलिया छन्द भी अन्योक्ति-पद्धति के मुक्तकों की रचना में प्रयुक्त हुआ। 'बरवै' में मुक्तक का सुन्दर रूप रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' में दिखाई पड़ा।

मुक्तक-रचना में विषय की दृष्टि से देखा जाय तो 'रीतिकाल' में रसराज शृंगार को ही प्रमुख स्थान मिला। इसी के चारों ओर विभिन्न रूपों को पल्लवित होने का अवसर मिला। शृंगारप्रधान-मुक्तकों के निर्माण में कवियों की मनोवृत्ति का परिवर्तन था, जो अपने समय और वातावरण के अनुरूप प्रबल हो उठा था। यही कारण है 'रीतिकाल में आते ही शृंगारिक मुक्तकों की बाढ़ आ जाती है। संयोग और वियोग के मुक्तकों की रचना अधिकता के साथ हुई और षट्ऋतु वर्णन तथा बारहमासे की पद्धति पर स्वतन्त्र रूप से भी मुक्तक निर्मित हुए। इस प्रकार प्रकृति को लेकर उद्दीपन के रूप में जितने मुक्तक इस काल में निर्मित हुए उतने अन्यत्र नहीं। दरबारी वातावरण में कवियों की मनोवृत्ति स्वतः एक ऐसी दिशा की ओर उन्मुख हो गई जिसमें भावाभिव्यक्ति को यदि कोई रूप मिल सकता था तो इन्हीं मुक्तकों का। बाह्य परिस्थितियाँ कवि पर पूरा प्रभाव डालती हैं जिनके अनुरूप उसकी मनोवृत्ति भी बदलती है, फलतः काव्यरूप भी बदल जाता है। रीतिकालीन शृंगारिक मुक्तकों के निर्माण में भी यही बात लागू होती है।

शृङ्गार के अतिरिक्त यदि किसी अन्य रस को स्वतन्त्र रूप से प्रमुखता मिली तो वह वीर रस को। वैराग्य और नीति की भावना भी

गौण रूप से प्रसारित हुई। पारलौकिक मुक्तकों में स्तोत्रों की रचना भी हुई।

काव्यरूप की दृष्टि से देखा जाय तो 'रीतिकाल' में मुक्तक तीन प्रवृत्तियों के अनुरूप निर्मित्त होता हुआ प्रतीत होता है। एक तो रूढ़िवादी प्रवृत्ति के रूप में, दूसरे कलात्मकताकी प्रवृत्ति के रूप में और तीसरे भावात्मक प्रवृत्ति के रूप में। इन्हीं के अनुरूप क्रमशः रूढ़िग्रस्त, कलाप्रधान और भावप्रधान-मुक्तक के ये तीन प्रकार किए जा सकते हैं। इन तीनों प्रकार के मुक्तकों में प्रथम तो नीरस मुक्तक हैं, दूसरे में कलाप्रधान रसाभिव्यंजना है और तीसरे में अनुभूति और कला के सुन्दर योग से रसात्मकता अधिक मिलती है।

भारतेन्दु युग और मुक्तक

'भारतेन्दु युग' के आगमन से पूर्व मुक्तक अपने सर्वाधिक रूप में 'रीतिकाल' में ही निर्मित हुए। इसका कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ थीं, जिनमें कविता जनसाधारण के बीच से उठकर राजदरबारों में पहुँच गई थी और कवियों का मुख्य लक्ष्य राज-रंजन बन गया था। किन्तु समय की गतिविधि के साथ परिवर्तन हुए और मुगल शासकों के पतन के साथ कवियों का संबंध राजदरबारों से विच्छिन्न हो गया। सन् '५७ के अभूतपूर्व राजनीतिक परिवर्तन ने सम्पूर्ण रजवाड़ों को भी धक्का पहुँचाया। फलतः छोटे-मोटे राजाओं के यहाँ भी राज्याश्रय इन कवियों को न मिल सका। परिणामतः उस राजनीतिक परिवर्तन से भारतीय जीवन में एक नवीन जागर्ति की भावना फैल गई और विदेशी शासन की नींव पड़ जाने के कारण प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन होने लगे। समाज की भावना के बदलते ही उसका कवि भी राजदरबारों के मखमली आसन से उतर कर साधारण भूमि पर आकर, समाज के साथ हिल-मिल गया और उसका काव्य जीवन से आबद्ध भी हो गया।

मुक्तक के विषय-क्षेत्र में विस्तार

काव्य और जीवन का नवीन रूप में सम्बन्ध इसी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग में दिखाई पड़ा। इसका परिणाम भी सुन्दर हुआ, जिससे कवि तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी परिस्थितियों से प्रभावित होता हुआ काव्य-निर्माण में दत्तचित्त हुआ। अब मुक्तक कविता विविध विषयों पर निर्मित हुई और उसकी वह बँधी सीमा जो रीतिकाल में बन गई थी, टूटने लगी। मुक्तक का रचयिता विविध क्षेत्रों से अपनी अभिव्यंजना के

लिए उपकरण जुटाने लगा। एक ओर हमारी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्था ठीक न थी, दूसरी ओर पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव देश-वासियों पर उचित रूप में न पड़ रहा था। हिन्दू समाज अन्ध विश्वास से युक्त एक कट्टर भावना से पूर्ण भी हो रहा था। आर्य समाज का प्रादुर्भाव इसी के विरोध में हुआ जिससे सांस्कृतिक चेतना की लहर इस काल में बह निकली। देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना के मूल में देशभक्ति की भावना बद्धमूल थी। देशभक्ति की भावना स्वातन्त्र्य भावना को जन्म देती है। फलतः इसी काल से स्वतन्त्रता की भावना का भी बीजारोपण हो गया। इस प्रकार 'रीतिकाल' के अन्त होते-होते भारतीय जीवन में एक संघर्ष का काल आ गया। इस संघर्ष काल में पथ-प्रदर्शन का सम्पूर्ण उत्तर-दायित्व भारतेन्दु जी ने लिया और इसी कारण यह काल (ईसवी सन् १८६५–१६००) उन्हीं के नाम से अभिहित होता है।

रूढ़ि के प्रति विद्रोह

भारतेन्दु ने जिस कवि समाज की स्थापना की उसमें प्रमुख कवि थे, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास और रामकृष्ण वर्मा। इन कवियों ने मुक्तक को उसके रीतिबद्ध रूप से निकालने का प्रयत्न किया। अतः उसमें भाषागत परिष्कार तो उन्होंने किया ही, विषयगत परिवर्तन भी पूर्णरूप में किये। मुक्तक में ये दोनों ही परिवर्तन बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए, जिससे मुक्तक काव्य-रूप के क्षेत्र में विचारों एवं भावों का समुचित रूप में विस्तार हुआ। भीतरी विचारों एवं भावों का प्रभाव बाह्य आकार पर स्वाभाविक रूप से पड़ता है। परन्तु 'भारतेन्दु युग' में मुक्तक काव्य का स्वरूप बिलकुल ही बदल गया हो ऐसा भी नहीं। उन्हीं कवित्त-सवैयों में इस काल के मुक्तक रचे गए, जो 'रीति-काल' के प्रिय छन्द थे। भाषा भी ब्रज ही है इन कवित्त सवैयों की, किन्तु इस भाषा का स्वरूप बहुत परिष्कृत है। परम्परा प्राप्त छन्दों एवं भाषा को ग्रहण करके भी यहाँ मुक्तक, रूढ़िग्रस्त मुक्तक के रूप में नहीं दिखाई पड़ता। यही भारतेन्दु-युग की मुक्तक-धारा को बड़ी देन है। कुछ पुराने परिपाटी के कविगण जिनमें सेवक, महाराज रघुराजसिंह, गोविंद गिल्ला भाई और नवनीत चौबे प्रमुख हैं, अवश्य पुरानी परम्परा पर शृंगारिक मुक्तक रचते रहे, किन्तु उनकी परम्परा फीकी पड़ती गई; और यदि शृंगार-प्रधान मुक्तकों की रचना हुई तो उसमें नायक-नायिकाभेद के फेर में नवीन कवि न पड़े—हृदय की सहज भावनाओं की ही यहाँ अभिव्यंजना हुई।

नवीन छन्द

कवि जब साधारणजन का बन गया तब लोक ने जिस सहज रूप में अपना अभिव्यंजन किया उससे वह पूर्ण रूप से प्रभावित हुआ और उसने अपनी अभिव्यंजनाशैली में लोकगीतों के छन्दों का भी प्रयोग किया। अतः मुक्तक में नवीनता आई। लावनी, कजली, बिरहा और मल्हार के आधार पर इन कवियों ने मुक्तक रचे। स्वयं भारतेन्दु ने इन छन्दों में मुक्तक-रचना की, जिससे अन्य कवि भी प्रभावित हुए। बिरहा छन्द में एक 'नायक-नायिकाभेद' रामकृष्ण वर्मा ने लिखा, कजली छन्द का प्रयोग 'प्रेमघन' और खंगबहादुरमल ने किया, लावनी छन्द के मुक्तक भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायण मिश्र ने लिखे। उर्दू का प्रभाव भी इस समय पड़ा, जिसमें 'रेख़ता' और 'गज़ल' छन्द में मुक्तक रचना भारतेन्दु और शाह कुन्दनलाल ने विशेष रूप में की।

अलंकार

इस युग के मुक्तकों में कलात्मकता के अभाव से अलंकारों की ओर कवियों का अधिक झुकाव नहीं दिखाई पड़ा। विषय और विचारों को अधिक महत्त्व देने वाले इन कवियों ने जिस प्रकार प्राचीन छन्दों का बिलकुल परिहार न किया और सरलतापूर्वक अपने नाना विचारों को पुराने छन्दों के साँचों में ढाला, उसी भाँति अलंकार भी पुराने ही गृहीत हुए। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह, अपह्नुति, यमक, श्लेष और अनुप्रास, इन पूर्व प्रचलित अलंकारों का ही प्रयोग हुआ। कहीं-कहीं अलंकारगत अशुद्धियाँ भी मिलती हैं। आशय यह कि मुक्तक, जिसका कलागत परिष्कार 'रीतिकाल' में अपने चरम पर पहुँच चुका था, 'भारतेन्दु युग' में आकर साधारण रूप लेता हुआ दिखाई पड़ा। विचारों के इस संघर्षमय युग में मुक्तक कलापक्ष से विहीन हो गया; किन्तु प्रभावशालिता के वह किसी भी प्रकार पीछे न रहा।

मुक्तक में प्रभावशालिता

'भारतेन्दु युग' के मुक्तकों में प्रभावशालिता एक तो नवीन विचारों के गुम्फन से आई, दूसरे भाषा की प्रांजलता में उनका रूप प्रभावशाली हो उठा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यद्यपि रीतिकालीन ब्रजभाषा को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, परन्तु उसके उन सभी शब्दों को उन्होंने दूर कर दिया, जो जन साधारण से दूर जा पड़े थे और एक प्रकार से मुक्तकों में उनका प्रयोग रूढ़ बन गया था। अतः इस काल के मुक्तकों में समुचित

प्रवाह और सरसता दोनों आ गई। रीतिकालीन मुक्तकों में प्राकृत और अपभ्रंश के कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग भी दिखाई पड़ा, जिनके अर्थ भी रूढ़ हो गए थे, अतः एक प्रकार की भाषागत अस्थिरता आ गई थी। यह अस्थिरता भारतेन्दु काल में दूर हो गई। साथ ही इस काल के अन्तिम दिनों में खड़ी बोली में भी मुक्तक रचे गए।

मुक्तक की प्रमुख शैलियाँ

भारतेन्दु युग में यद्यपि अत्यधिक कलापूर्ण मुक्तक नहीं रचे गए, तथापि शैलियों में होकर मुक्तक विकास की ओर अग्रसर अवश्य हुआ। ये शैलियाँ हैं—१. कवित्त-सवैया की समस्या पूर्ति की शैली, २. व्यंग्यात्मक शैली, ३. अलंकृत शैली, ४. स्तोत्र शैली, ५. गद्यात्मक शैली, ६. लोक छन्दों की शैली, ७. उर्दू की शैली।

१. भारतेन्दु के कवि-समाज द्वारा मुक्तक की यदि कोई शैली सर्वाधिक-रूप में विकसित हुई तो वह समस्यापूर्ति की शैली है। इस शैली में मुक्तक अपने सरसरूप में निर्मित हुए। स्वयं हरिश्चन्द्र जी और अन्य कवि मुख्यतः प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', अम्बिकादत्त व्यास और रामकृष्ण वर्मा, समस्यापूर्ति के कुशल प्रणेता हुए। इन समस्यापूर्तियों की रचना विशेषकर श्रृंगाररस में हुई; किन्तु अश्लीलता की भावना से ये कोसों दूर हैं। भारतेन्दु के ऐसे कवित्त-सवैये अत्यधिक मर्मस्पर्शी हुए हैं—

यह संग में लागियै डोलें सदा बिन देखे न धीरज आनती हैं।
छिनहूँ जो बियोग परे 'हरिचन्द' तो चाल प्रलै की सुठानती हैं।
बरुनी में थिरैं न झपैं उझपैं पल मैं न समाइबो जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहीं मानती हैं।[१]

उनके ऐसे कवित्त-सवैयों का संग्रह 'प्रेममाधुरी', 'प्रेम फुलवारी', 'प्रेम मालिका', आदि में हुआ है।

प्रतापनारायण मिश्र की प्रसिद्ध समस्यापूर्ति 'पपीहा जब पूछिहैं पीव कहाँ?' और 'प्रेमघन' की 'चरचा चलिबे की चलाइयो ना' पर है।

समस्यापूर्तियाँ बड़ी उक्तिवैचित्र्यपूर्ण शैली में भी निर्मित हुईं, जो प्रधानतः पुरानी परिपाटी के कवियों द्वारा निर्मित हुईं। नवनीत चौबे ने 'बाजत ये मदन महीप के नगारे हैं' पर पूर्ति इसी उक्तिवैचित्र्यपूर्ण शैली पर की है :—

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग २, पृ० १५५।

"किड़ किड़ान धान धिति किट धिति धाँन धाँन
तत्तड़ान तत्तड़ान करत पुकारे हैं।
कहैं नवनीत चोब चपल चमकन की अर
रर रर कड़ां कड़ां गरज हकारे हैं।
धूँ धूँ किट धूँ धूँ किट धूँ धूँ किट धाम धाम
धसकत प्रान बिरहीन के विचारे हैं।
ग्रीषम गनीम जाको दखल उठाय आज
बाजत ये मदन महीप के नगारे हैं" ॥ २ ॥

—समस्यापूर्ति, प्रथम भाग, संग्रहकर्ता रत्नाकर, सं० १६५१।

किन्तु इस शैली में सरसता बहुत कम है, केवल उक्ति का वैचित्र्य मिलता है।

२. व्यंग्यात्मक शैली में प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त और अम्बिकादत्त व्यास का स्वर ऊँचा उठा। इन्होंने भारतीय संस्कृति के विरुद्ध होती हुई सभी बातों पर व्यंग्यात्मक मुक्तक लिखे। विधवा विवाह के विरोधी गुप्तजी की व्यंग्यात्मक शैली देखिये—

भला हम विधवा मां का व्याह करें।
माता दादी नानी चाची फूफी घर की नार।
कोई विधवा हो हम उसकी शादी पर तय्यार।
भला हम बीज न छोड़ें विधवा का।[1]

प्रेमघन की उक्तियाँ भी बड़ी व्यंग्यपूर्ण हुई हैं—

यहै असीस देत तुम कहँ मिल हम सब कारे।
सफल होहिं मन के सब संकल्प तुम्हारे।
वे कारे घन से कारे जसुदा के वारे।
कारे मुनिजन के मन मैं नित विहरन हारे।
मंगल करैं सदा भारत को सहित तुम्हारे।
सकल अमंगल मेटि रहैं आनँद विस्तारे।

—कविता कौमुदी पृ० ४०।[2]

प्रतापनारायण मिश्र के 'बुढ़ापा' और 'तृप्यन्ताम्', शीर्षक के मुक्तक बड़े ही व्यंग्यपूर्ण हैं।

---

१. स्फुट कविता, विधवा विवाह, पृ० ११६।
२. कविता कौमुदी, रामनरेश त्रिपाठी।

इसी व्यंग्य शैली में एक भिन्न प्रकार के छन्द की उद्‌भावना भी इस काल में हुई, जिसे 'पोपछन्द' कहते हैं। आर्यसमाजी भावना के कवियों ने ऐसे छन्द लिखे—

ये चाल चलावें क्या उलटी जो पत्थर को पुजवाते हैं।
क्या पत्थर फिर भगवान मिले जब उनका ध्यान छुड़ाते हैं।
सब नद्दी नाले ढूँढ़ चुके तब रेती पर भी वार करें।
ये गौर पुजावें देवी की फिर रेती का भरमार करें।
क्यों पड़े फन्द में पापों के तुम नाहक जन्म गवाँते हो।
जंजाल तजो जगदीश भजो क्यों भटके-भटके फिरते हो।[1]

३. तीसरी शैली के मुक्तकों में कुछ कलात्मकता दिखाई पड़ती है। ऐसे मुक्तकों में रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षालंकार प्रयुक्त हुए हैं। 'प्रेमघन' की शैली कहीं-कहीं ऐसी हो गई है—

सम्पति सुजस का न अन्त है विचारि देखा,
तिसके लिए क्यों सोक सिन्धु अवगाहिये।
लोभ की ललक न अभिमानियों के तुच्छ,
तेवरों की देख उन्हें संकित सराहिये।
दीन गुनी सज्जनों से निपट विनीत बने,
'प्रेमघन' नित्य नाते नेह के निबाहिये।
राग रोष औरों से न हानि लाभ कुछ उसी,
नंद के किसोर की कृपा की कोर चाहिये।[2]

४. चौथी शैली धार्मिक भावनाओं से पूर्ण मुक्तकों की वह शैली है, जिसे संस्कृत में 'स्तोत्र' के नाम अभिहित किया गया है। भक्त कवियों ने देवी-देवताओं पर तो स्तोत्र लिखे, पर पवित्र नदियों को लेकर भी अनेक स्तोत्रों की रचना हुई। कवियों ने 'पंचक', 'अष्टक' तथा 'पचीसी' और 'बतीसी' इसी स्तोत्र शैली में लिखी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्तोत्र लिखे किन्तु उनकी शैली सर्वत्र संस्कृतमयी है :—

जयति आनन्दरूप परमानन्द कृष्णमुख
कृपानिधि देवि उद्धारन कारी।

---

१. भारतसुदशा प्रवर्तक, खंड ४ नंबर २।
२. कविताकौमुदी, पृ० ७७।

स्मृति मात्र सकल आरतिहरन गूढ़
गुन भागवत अर्थ लीनो बिचारी ।। १ ।।[1]

बालमुकुन्द गुप्त ने भी स्तोत्र लिखे, उनका 'रामस्तोत्र' बहुत ही सरल शैली में निर्मित है :—

जयति जयति जय रामचन्द्र रघुवंश-विभूषन
भक्तन हित अवतार-धरन नाशन भवदूषन।
जयति भानुकुल-भानु कोटि ब्रह्मांड प्रकाशन
जयति जयति अज्ञान मोहनिशि-तिमिर विनाशन ।।[2]

५. पाँचवीं शैली के मुक्तक उस गद्यात्मक शैली के हैं जो उपदेश देने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप हैं। कवि की भावना पर जब उपदेशात्मकवृत्ति का दबाव पड़ता है तब अनुभूति बड़े ही आवेगरहित रूप में अभिव्यंजित होती है, जिसमें कवि विषय से अधिक सम्बद्ध होनेके कारण गद्यात्मक रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है। इस युग में विचारों का संघर्ष प्रबल हो उठा। कवि प्रत्येक प्रश्न को लेकर अपनी लेखनी उठाने का उत्सुक भी बन गया। फल-स्वरूप इतिवृत्तात्मकता का सूत्रपात भी हो गया, जो मुक्तक की गद्यात्मकता के कारण उद्भूत हुई। बालमुकुन्द गुप्त की ऐसी कविता में मुक्तक की गद्यात्मक शैली का उदाहरण मिल जाता है :—

हे धनियों क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार।
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार ।।
हे बाबा जो यह बेचारे भूखों प्राण गँवावेंगे।
तब कहिये क्या धनी गलाकर अशर्फियाँ पी जावेंगे ।।

—'स्फुटकविता', जातीयगीत, पृ. ६१. क० कौमुदी।

यह गद्यात्मक शैली उस समय अधिक दिखाई दी जिस समय कविता के माध्यम का प्रश्न छिड़ उठा था। यह भारतेन्दु-काल का अन्तिम समय था और जब आगे चलकर द्विवेदी-युग में खड़ी बोली को कविता का माध्यम बना दिया गया तब यह इतिवृत्तात्मकता अपनी अति को पहुँच गई।

६. छठीं शैली मुक्तक की लोकगीतों के छन्दों से प्रभावित शैली है। लोकप्रचलित कजली, लावनी, बिरहा और मल्हार इन तीनों प्रकार के छन्दों में मुक्तक लिखे गए। कजली छन्द में 'प्रेमघन', और खंगबहादुर

---

१. भारतेन्दु ग्र० भाग २, सर्वोत्तम स्तोत्र, पृ. ७१४।
२. स्फुटकविता, राम स्तोत्र पृ. १. क० कौमुदी।

मल प्रसिद्ध हैं। 'प्रेमघन' ने 'कजली कादम्बिनी' और खंगबहादुरमल ने 'सुधाबुन्द' में ऐसे मुक्तकों का संग्रह किया। 'कजलीकादम्बिनी' में मुक्तकों का रूप इस प्रकार का है :—

सोहै न तोके पतलून साँवर गोरवा।
कोट बूट जाकेट कमीज क्यों पहिनि बने बैबून साँवर गोरवा।

—'कविता कौमुदी' पृ. ४८।

लावनी छन्द में भारतेन्दु, प्रतापनारायण और रामकृष्ण वर्मा ने मुक्तक रचे। 'विनय प्रेम-पचासा' में भारतेन्दु ने ऐसे मुक्तकों का संग्रह किया है :—

मजा कहीं नहि पाया जग में नाहक रहा भुलाया।
छिन के सुख की लालच जित तित स्वान लार टपकाया॥
यह जग में जिसको अपना कर झूठा भरम बढ़ाया।
तिन स्वारथ फँसि कूकर सूकर सब दुतकार बताया॥ ३६॥

—भा० ग्रं० भाग २।

रामकृष्ण वर्मा का विरहा छन्द में 'नायक-नायिका भेद' प्रसिद्ध है। उसकी दो एक पंक्तियाँ लीजिये :—

दुखवा क बतिया नगिचवौ न आवै, गुइयाँ हँसीखुसी रहला हमेस।
बजुवा सरकि कर कंगना भयल, सुनि प्यारे क गवनवा बिदेस।

—क० कौ० पृ० ५३५।

७. अन्तिम शैली मुक्तकों की उर्दू के छन्दों की शैली है जो विशेष रूप से 'गजल' और 'रेखता' छन्दों के आधार पर बनी है। भारतेन्दु की 'गजलें' प्रसिद्ध हैं।

फसादे दुनियाँ मिटा चुके हैं हुसूले हस्ती उठा चुके हैं।
खुदाई अपने में पा चुके हैं मुझे गले वह लगा चुके हैं॥

—स्फु० क०, भा० ग्रं० २, पृ. ८५५।

शाह कुन्दनलाल ने भी इसी शैली में मुक्तक लिखे।

द्विवेदी युग और मुक्तक

भारतेन्दु युग नवीन विचारों के संघर्ष का युग था, जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों से कवि प्रभावित हुआ और ऐसे मुक्तकों का उसने निर्माण किया जिसमें प्रत्येक क्षेत्र के नवीन और गम्भीरतम प्रश्न भरे हुए थे। पिछली परम्परा का पूर्णतः परित्याग न हो पाया था और भाषा का जो प्रश्न उनके अन्तिम दिनों में छिड़ा वह अधूरा ही बना रह गया। फलतः भाषा इतनी सशक्त न हो पाई जिससे मुक्तक-रचना अपनी

शैली की दृष्टि से प्रौढ़ बन पाती। भाषा की प्रौढ़ता मुक्तक का एक विशिष्ट गुण है। इसी का अभाव था जो 'द्विवेदी युग' में आकर पूर्ण हुआ।

इतिवृत्तात्मकता

द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को कविता का माध्यम स्थिर कर उसे प्रौढ़ बनाया। यह प्रौढ़ता संस्कृत की पदावली द्वारा पूर्णतः उसमें नियोजित हुई। किन्तु इस युग के आरम्भिक काल में मुक्तक का रूप बहुत ही इतिवृत्तात्मक हो उठा। भारतेन्दु युग के मुक्तकों में कल्पना की कमनीयता भी दिखाई पड़ी और विभिन्न शैलियों में से होकर मुक्तक ने अपना स्वरूप निर्माण भी किया था। परन्तु इस युग के आरम्भ में दो कारणों से यह इतिवृत्तात्मकता मुक्तकों में आ गई। एक तो भाषा के प्रश्न के कारण, दूसरे उपदेशात्मक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप बौद्धिकता का पुट अधिक आ जाने से। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, तथा आर्थिक परिस्थितियाँ धीरे-धीरे बदल रही थीं। परन्तु उनका स्वरूप बहुत कुछ वैसा ही बना हुआ था जैसा हरिश्चन्द्र युग में। अतएव इन प्रश्नों को लेकर कभी धार्मिक उपदेश कभी सामाजिक रीतियों की आलोचना और कभी आर्थिक अवस्था पर क्षोभ प्रकट करने वाले मुक्तकों में कहीं कोरी उपदेशात्मकता आ गई तो कहीं कोरा वस्तु-कथन। उदाहरणार्थ, भाषा के प्रश्न को हल करने के कारण ऐसी शैली मुक्तकों की बन गई जिसमें गद्यात्मकता अधिक है—

> यदि कोई पीड़ित होता है, उसे देखकर सब घर रोता है।
> देश दशा पर प्यारे भाई, आई कितनी बार रुलाई॥
> थोड़ा भी श्रम यदपि उठाते, जन्मभूमि को तुम न भुलाते।
> तो अबतक निहाल हो जाती, शोभामयी दिव्य दिखलाती॥[१]

और जब कवियों ने सामाजिक प्रश्न को लिया तब उनके मुक्तक इस प्रकार के हो गए—

> बाल विवाह विशाल जाल रच पाप कमाया।
> ब्रह्मचर्य - व्रत - काल वृथा विपरीत गँवाया।
> अबला ने चुपचाप उठाय पछाड़ा मुझको।
> बेटा जन कर बाप बनाय बिगाड़ा मुझको॥[२]

इसी प्रकार अन्य प्रश्नों को लेकर आलोचना की भावना जब प्रमुख हो

---

१. 'जन्मभूमि', म० प्र० द्विवेदी, मार्च १९०३।
२. सरस्वती खं० ११, सं० ३, १९१०, ना० शं० शर्मा।

उठी तब मुक्तक में भावात्मकता का अभाव और बौद्धिकता का प्राधान्य हो चला।

तीसरा कारण इस इतिवृत्तात्मकता का है संस्कृत की पदावली का अत्यधिक प्रयोग, जिससे सहज संगीत छन्दों में न आ सका। यह संस्कृतमय पदावली द्विवेदी जी में अधिक मिली—

सुरम्यरूपे रस राशि रंजिते, विचित्र वर्णाभरणे कहाँ गई।
अलौकिक आनन्द विधायिनी महा कवीन्द्र कांते कविते अहो कहाँ।[१]

क्रमशः जब भाषा में पूर्ण सशक्तता आने लगी और खड़ी बोली में भावाभिव्यंजना सरल हो गई, तब मुक्तक की शैली भी प्रौढ़ होती चली और उसमें कलात्मकता की भावना के साथ-साथ भावात्मकता भी बहुत कुछ समाविष्ट हुई। किन्तु यह तत्त्व आगे चलकर लगभग सन् १६१० के पश्चात् परिलक्षित हुआ। अस्तु, द्विवेदी युग के द्वितीय चरण तक पहुँचते-पहुँचते मुक्तक रचना में अनेक शैलियाँ दिखाई पड़ीं। ये हैं प्रमुख छः शैलियाँ १. इतिवृत्तात्मक शैली, २. उक्तिवैचित्र्यपूर्ण शैली, ३. अलंकृत शैली, ४. स्तोत्र की शैली, ५. व्यंग्यात्मक शैली, ६. सूक्ति और अन्योक्ति की शैली। भारतेन्दु युग में इन सभी शैलियों को हम पाते हैं, किन्तु इस समय तक पहुँच कर उनमें पर्याप्त परिष्कार आ गया। अतः इनका महत्त्व अधिक है।

१. इतिवृत्तात्मक शैली के मुक्तक द्विवेदी जी और उनके समकालीन आरम्भ के सहयोगी कवियों ने अधिकतर रचे। इस शैली की विशेषता प्रधानतः गद्यात्मकता और वस्तु-प्रधानता है। 'ग्रन्थकारों से विनय' में द्विवेदी जी के मुक्तक की शैली में यही इतिवृत्तात्मकता मिलती है :—

हे ग्रन्थकार ! आगार गुणों के ज्ञाता,
अति रुचिर मनोरम गद्य-पद्य निर्माता।
क्षण भर के लिये समेट काम निज सारा,
सुनिये यह इतना विनय विनीत हमारा।[२]

इसी प्रकार के मुक्तक 'ग्रंथकार लक्षण', 'ग्रन्थ महिमा', 'नागरी तेरी यह दशा', इत्यादि शीर्षकों में मिलते हैं। रामचरित उपाध्याय ने भी इस शैली के मुक्तक लिखे—

---

१. सरस्वती खंड २, सं० ६, सन् १६०१।
२. फुटकर रचनाएँ, द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ३७३, संग्रहकर्ता देवीदत्त-शुक्ल, १६४० प्रयाग।

अति खल की संगति करने से जग में मान नहीं रहता है।
लोहे के सङ्ग में पड़ने से घन की मार अनल सहता है।

—कुसङ्ग, 'क० कौ०', पृ० २८० ।

गिरिधर शर्मा में भी यह गद्यात्मक प्रवृत्ति मिलती है—

मैं जो नया ग्रंथ बिलोकता हूँ,
भाता मुझे सो नव मित्र सा है।

—पुस्तक प्रेम । क० कौ०, पृ० ३०६ ।

अन्य लेखकों में माधव शुक्ल भी इस प्रकार के मुक्तक रचते रहे हैं। इस इतिवृत्तात्मक शैली के मुक्तक सरसताविहीन विषयों पर अधिकतर लिखे गए। अतः इनमें रस नहीं मिलता।

२. उक्ति वैचित्र्यपूर्ण मुक्तक उपाध्याय जी 'हरिऔध' की रचनाओं से आरम्भ हुए, जब इन्होंने 'चोखे चौपदे' की रचना की। एक ओर इस शैली में उर्दू के प्रभाव से युक्त मुहावरों की शैली के मुक्तक आते हैं, जिसके मौलिक रचयिता हरिऔध जी थे और दूसरी ओर खुसरो के दोहों की शैली पर पहेलियाँ भी रची गईं जिसके लेखक विशेष रूप से रामचरित उपाध्याय हुए।

'हरिऔध' जी की शैली बड़ी ही चुभती हुई चमत्कारपूर्ण शैली है—

बावले घूकते जी में मिले
आँख में बेचैन पड़े बेहाल से
बात दुःखिया आँसुओं की क्या कहें ॥ १ ॥

—दुखिया के आँसू। 'पद्य प्रमोद' पृ० १२१ ।

'आँख का आँसू' इनके चौपदों का सुन्दर उदाहरण है :—

किस तरह वह कलेजा है बना,
जो किसी के रंज से हिलता नहीं।
आँख से आँसू छना तो क्या छना,
दर्द का जिसमें पता मिलता नहीं।
वह कलेजा हो कई टुकड़े अभी,
नाम सुनकर जो पिघल जाता नहीं।
फूट जाए आँख वह जिसमें कभी,
प्रेम का आँसू उमड़ आता नहीं ॥ ३७ ॥

—'पद्य प्रमोद' पृ० १४८ ।

सम्पूर्ण चौपदों की शैली इसी प्रकार मुहावरों की चमत्कारपूर्ण शैली है।

लाला भगवानदीन ने भी ऐसे मुक्तक रचे हैं जिनमें 'मेंहदी', 'चाँदनी' और 'आँख' पर लिखी उक्तियाँ विशेषरूप से उर्दू के प्रभाव से युक्त हैं। 'आँख' में उर्दू का ढंग—होते हुए भी पदावली में कहीं-कहीं संस्कृतपन भी है :—

कहो तो कह दें आपकी आँखों को क्या समझे,
सिता सिंदूर मृगमद-युक्त अद्भुत कुछ दवा समझे।
अगर इसको न मानो तो बता दें दूसरी उपमा।
सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुंदर सुधा समझे॥
न हो संतोष इस पर भी तो उपमा तीसरी ले लो।
युगल-पद-धारिणी त्रिगुणात्मिका ऋगुकी ऋचा समझे॥

—'क० कौ०' पृ० २३५।

इसी प्रकार कवि आँखों पर उपमा पर उपमा देता चला जाता है। 'मेंहँदी' शीर्षक मुक्तकों में उर्दूपन है :—

तुमने पैरों में लगाई मेंहदी, मेरी आँखों में समाई मेंहदी।
खूनी होते हैं जगत के सब्ज रंग, दे रही है यह दोहाई मेंहदी॥

—'क० कौ०' पृ० २३५।

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के मुक्तकों में भी यही उक्ति का चमत्कार व्रजभाषा के सवैयों में मिलता है :—

रावन से बावंन बिलाने हैं बचे न एक चाल
नहिं काल से किसी की चल पाई है।
कौरव कुटिल कुल कुल के कठोर भए
कृष्ण जी सों कंस की न दाल गल पाई है॥
हाय की हवा सों जल गए हैं जवन जूथ
हासिल हुकुम पै न लागे पल पाई है।
याते बल पाय फल पाय लेहु जीवन की
दीन कलपाय कहौ कौने कल पाई है॥

—'क० कौमुदी', पृ० ३३२।

और जहाँ उर्दू का प्रभाव उन पर पड़ा है, वह शैली मुक्तकों की ऐसी हो गई है :—

वह बेपरवाह बने तो बने हमको परवाह का है।
वह प्रीति का तोड़ना जानते हैं ढंग जाना हमारा निबाह का है॥

कुछ नाज़ जफ़ा पर है तो भरोसा हमें बड़ा आह का है।
उन्हें मान है चंद्र से आनन पै अभिमान हमें भी तो चाह का है॥
—'क० कौमुदी' पृ० ३३१।

उक्ति वैचित्र्यपूर्ण मुक्तकों की दूसरी शैली 'पहेली' की शैली है जिसकी प्रेरणा कवि को खुसरो की पहेलियों से मिली। रामचरित उपाध्याय के मुक्तक इसी शैली में निर्मित हैं :—

ऐनक दिये तने रहते हैं अपने मन साहब बनते हैं,
उनका मन औरों के काबू क्यों सखि सज्जन?
नहिं सखि बाबू॥ १॥
—'क० कौ०' पृ० २८५।

इन मुक्तकों में कोरा चमत्कार है, जो रसविहीन है।

२. अलंकारमयी शैली के मुक्तक अयोध्यासिंह उपाध्याय, गोपालशरण सिंह, नाथूराम शंकर शर्मा, जगन्नाथदास रत्नाकर, देवीप्रसाद पूर्ण, वियोगी हरि, और दुलारेलाल भार्गव आदि कवियों ने विशेष रूप से निर्मित किये। 'हरिऔध' के दोहों की रीतिकालीन अलंकृत शैली देखिये :—

रिस हूँ मैं सरसत रहत, बरबस बनत रसाल।
ललना लोचन लाल ह्वै, लालहिं करन निहाल॥ १॥
चाव भरे चित चोर को, लखि चितवत ललचात।
चंचल नयनी को भयो, चित्त चलदल को पात॥ १४१॥
कित इनकी गति है नहीं, कहाँ न इनका जोर।
काके उर में नहिं गड़ी, बाँके दृग की कोर॥ ३॥
—'रस कलश'।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' में यह अलंकृत शैली अपने चरम को पहुँच गई है, जहाँ जाकर वह पांडित्यपूर्ण दिखाई पड़ने लगी है। यह प्रवृत्ति 'उद्धवशतक' में देखने योग्य है। यहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार से मुक्तक भरे हुए हैं। कलापक्ष का सौन्दर्य इन मुक्तकों की विशेषता है। रूपकालंकार का सुन्दर निर्वाह देखिये—

नैननि के नीर और उसीर सौं पुलकावलि
जाहि करि सीरी सीरी बातहिं विलासैं हम
कहैं 'रतनाकर' तपाई बिरहातप की
आवन न देति जामैं बिषम उसासैं हम

सोई मन-मन्दिर तपावन के काज आज
रावरे कहे तैं ब्रह्म-जोति लै प्रकासैं हम
नन्द के कुमार सुकुमार कौं बसाई यामै
ऊधौ अब हाइ के बिसास उदबासैं हम ।।५६।।[1]

रूपक के अतिरिक्त 'उद्धवशतक' में 'परिकरांकुर', 'उपमा', 'सहोक्ति', 'अर्थान्तरन्यास', 'असंगति', 'विषम', 'विभावना', 'व्यतिरेक' आदि अनेक अर्थालंकारों की छटा देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त श्लेष, यमक और लाटानुप्रास का कौशल भी इन मुक्तकों में भरपूर है।

नाथूरामशंकर शर्मा की शैली भी बड़ी अलंकार प्रधान है। इन्होंने शृंगार प्रधान मुक्तकों में इस शैली को विशेष रूप से अपनाया है—

कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है,
कि श्याम घन-मंडल में दामिनी की रेख है;
कि राहु के कबन्ध में कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है;
कि तेज ने तिमिर के हिय में तीर मारा है।
काली पटियों के बीच मोहिनी-सी मांग है
कि ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है।

—'क० कौमुदी' पृ० १०३।

अलंकृत शैली के मुक्तकों में दोहे की पद्धति पर दुलारेलाल और वियोगी हरि ने अपना कौशल दिखाया है। 'दोहावली' में रूपकालंकार का निर्वाह सुन्दर है—

हृदय कूप, मन रहट, सुधि माल-माल, रस राग।
विरह वृषभ, वरहा नयन, क्यों न सिचै तन बाग ?[2]

इसी प्रकार वियोगी हरि की 'वीर सतसई' में अलंकृत शैली आद्यन्त है—

तड़ित और तरवार में, समता किमि ठहराय।
ज्यों ही यह चमकति दमकि, त्यों ही वह दुरिजाय।[3]

गोपाल शरण सिंह के 'ब्रज वर्णन' की शैली भी इसी प्रकार की अलंकृत-शैली है।

---

१. 'उद्धवशतक' जगन्नाथदास रत्नाकर, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९४०।
२. दोहावली, वियोगीहरि।
३. खंग, वीर सतसई।

४. स्तोत्र शैली के मुक्तक भी इस युग में विरचित हैं। स्वयं द्विवेदी जी ने वसन्ततिलका छन्द में 'देवी स्तुति शतक' की रचना की जिसमें देवी की स्तुति बड़ी संस्कृतमय पदावली में की है :—

धूमावती त्रिपुर सुन्दरि मातु तारा,
पद्मातिकारु भुवनेश्वरी सावतारा।
मातङ्गि छिन्नशिर भैरवि भव्यनामा।
काली कराल बगलामुखि को प्रणामा।[1]

द्विवेदी जी ने 'श्रीमहिम्नस्तोत्रम्' का हिन्दी में अनुवाद भी किया।

५. व्यंग्यात्मक शैली का सूत्रपात हरिश्चन्द्र युग में हो हो चुका था। उसे इस युग के कवियों ने आगे विकसित किया। इनमें भी द्विवेदी जी प्रमुख हुए जिन्होंने ग्रन्थकार, बलीवर्द, टेसू की टांग और 'गर्दभ-काव्य' में बड़े व्यंग्यात्मक मुक्तकों की रचना की है—

धनी पुरुष गद्दी के ऊपर, धोती, को कटि से लिपटाय,
तुन्दिल तनु पर हाथ फेरता, रहता है घमण्ड में आय।
वृषभराज! तुम भी निज थल पर, भूल पीठ पर से लटकाय।
पूँछ फिराते हो शरीर पर, बैठे ही बैठे सुख पाय॥

—'बलीवर्द'[2]।

नाथूराम शंकर शर्मा ने भी बड़ी व्यंग्यात्मक शैली में कुछ मुक्तक रचे हैं। उनका निम्न मुक्तक प्रसिद्ध है :—

ईश गिरिजा को छोड़ यीशु गिरजा में जाय,
'शंकर' सलोने मैन मिस्टर कहावेंगे।
बूट पटलून, कोट, कम्फ़ाट टोपी डाट
जाकट की पाकट में 'वाच' लटकावेंगे।

—'क० कौमुदी', 'स्फुट काव्य' पृ० १०१।

६. अन्तिम शैली मुक्तकों की अन्योक्ति और सूक्तियों की है। इस शैली के मुक्तक विशेषरूप से रामचरित उपाध्याय ने लिखे। इन्होंने सूक्तियों और अन्योक्तियों के संग्रह भी प्रस्तुत किए हैं। 'सूक्ति मुक्तावली', 'अन्योक्ति पुष्पावली' और 'अन्योक्ति तरंगिणी' में इस शैली के सुन्दर मुक्तक संकलित हैं। इनमें विविध विषयों को लेकर कवि ने भावाभिव्यंजना की है।

---

१. देवीस्तुतिशतक, द्विवेदी काव्यमाला, पृ० १४३।

२. 'द्विवेदी काव्यमाला, बलीवर्द, पृ० २७५। (संग्रहकर्त्ता–देवीदत्त शुक्ल १९४० प्रयाग।)

'कुसंग', 'सपूत', 'कपूत' आदि विषयों पर रचित सूक्तियाँ सुंदर हैं। 'कुसंग' में उनकी एक सूक्ति लीजिए :—

सबसे नीतिशास्त्र कहता है, दुष्ट संग दुख का दाता है।
जिस पथ में पानी रहता है, वही दूध औंटा जाता है ।। २ ।।
जहाँ एक भी दुष्ट रहेगा, वह समाज क्यों चल पावेगा।
जहाँ तनिक भी अम्ल पड़ेगा, मानो दूध फट जावेगा ।। ३ ।।
—'क० कौ०' पृ० २८०।

हिन्दी लेखकों में सैयद अमीर अली 'मीर' ने कुण्डलिया छन्द में सुन्दर अन्योक्तियाँ लिखी हैं :—

मैना तू बन वासिनी, परी पींजरे आन।
जान दैव गति ताहि में, रहे शान्त सुख मान।
रहे शान्त सुख मान, बान कोमल तैं अपनी।
सब पच्छिन सरदार, तोंहि कबि-कोविद बरनी।
कहै 'मीर' कवि नित्य, बोलती मधुरे बैना।
तौ भी तुझको धन्य, बनी तू अजहूँ मैना।
—'क० कौमुदी', पृ० २६३।

राय देवीप्रसाद पूर्ण की अन्योक्तियाँ भी सुंदर हुई हैं। रूपनारायण पाण्डे की 'दलितकुसुम' शीर्षक अन्योक्ति भी प्रसिद्ध है।

उपसंहार

आधुनिक काल के इस द्वितीय चरण में शैली की दृष्टि से मुक्तक समुचित विकास का द्योतन करता है। उसमें छन्दों की विविधता मिलती है और छन्द की ही दृष्टि से यदि देखा जाय तो एक ओर तो संस्कृत के छन्द द्रुतविलंबित, शार्दूल विक्रीड़ित, मालिनी, शिखरिणी, स्रग्धरा, आर्या आदि प्रयुक्त हुए और दूसरी ओर नवीन छन्दों की उद्भावना की गई। इस ओर 'हरिऔध' सर्वप्रथम अग्रसर हुए। इन्होंने संस्कृत के प्रायः सभी छन्दों का प्रयोग किया, दूसरे उन्होंने 'चौपदे' और 'छपदों' में मुक्तक रचना की एक नवीन शैली को जन्म भी दिया। यह उर्दू का प्रभाव था जो उनपर विशेषरूप से पड़ता हुआ दृष्टिगत हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी संस्कृत के इन वृत्तों में अपनी प्रतिभा का प्रकाशन किया। किन्तु जहाँ कहीं भी इनकी शैली संस्कृत-पदावली से भरी हुई है, वहाँ मुक्तकों का प्रवाह सहज नहीं। जैसे :—

शुभ्राम्बु धार जहँ शैल शिलानि लागी,
विन्ध्याद्रि आदि शिखरोन्नत भाग त्यागी।

वर्षा पयोद रव रव करै सजोरा,
साश्चर्य तँह देखहिं व्योम ओरा।
—'ऋतुतरंगिणी', द्वि० काव्यमाला, पृ० ६२।

'आर्या' छन्द अधिक प्रयोग में न लाया गया। केवल रामचरित उपाध्याय ने इसका प्रयोग किया है।

रीतिकालीन कवित्त–सवैये की परिपाटी, जिसका प्रयोग भारतेन्दु काल में अत्यधिक मात्रा में हुआ, इसमें भी इन कवियों ने रचनाएँ की। सत्य-नारायण 'कविरत्न' के सवैये बड़ी ही सरल शैली में निर्मित हुए। नाथूराम शंकर और देवीप्रसाद पूर्ण का भी इधर झुकाव दिखाई पड़ा। दोहे की शैली को दुलारेलाल भार्गव और वियोगी हरि ने विशेषरूप से अपनाया। अन्योक्तियों के लिए कुंडलिया छन्द भी इस युग में प्रयुक्त हुआ। इन छन्दों के अतिरिक्त लोकगीतों से छन्द की प्रेरणा भी ली गई। इधर भी देवीप्रसाद पूर्ण और रामकृष्ण वर्मा ने विशेष अभिरुचि दिखलाई। क्रमशः वह इतिवृत्तात्मकता, जिसने 'द्विवेदी युग' के आरम्भ में मुक्तकों पर नीरसता का आवरण डाल दिया था कम होती गई। इसके परिणाम स्वरूप सरसता-पूर्ण कलाप्रधान मुक्तकों का उदय तो हुआ किन्तु जब बँगला में रवीन्द्र बाबू की गीतांजलि की रचना हुई और हिन्दी-क्षेत्र में भी उसका प्रभाव पड़ा तब कवियों की प्रवृत्ति स्वानुभूति की विवृति की ओर अधिक झुकने लगी। व्यक्तिवाद का धीरे-धीरे उत्थान भी होने लगा जो आधुनिक काल की सबसे निराली देन थी। फलतः हिन्दी साहित्य में वह युग आया जब कविता-क्षेत्र में एकाएक क्रान्ति मच उठी। इस क्रान्ति के मूल में पश्चिमी काव्यधारा का प्रभाव भी था, जिसके फलस्वरूप स्वच्छन्दतावाद का आगमन हिन्दी काव्यधारा में प्रबल रूप में हुआ। फिर तो कविता ने कवियों की इस बदलती हुई प्रवृत्ति के अनुरूप ही काव्यरूप का बाना पहना और जहाँ अभी तक मुक्तक की पुरानी धारा नवीन रूप में बहाई जा रही थी वहाँ 'छायावाद युग' गीतिकाव्य के नवीन रूप को लेकर अवतीर्ण हुआ। इस काल में गीतिकाव्य रचना इतने अधिक परिमाण में हुई कि यदि इस काल को उसी के नाम से अभिहित किया जाय तो अत्युक्ति न होगी। फिर तो मुक्तक की धारा का क्षीण पड़ जाना स्वाभाविक ही है। इस क्षीण पड़ती हुई मुक्तक की धारा में भी ऐसे कवि अवश्य मिलते हैं जिनका झुकाव मुक्तक रचना की ओर है। इधर ही जब अनूप शर्मा अपनी 'शर्वाणी' लेकर आए तब घनाक्षरी छन्द का कौशल उसमें अपूर्व दिखाई पड़ा। मुक्तक के क्षेत्र में प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्त्व भी बहुत है।

एकादश अध्याय

मुक्तक का स्वरूप

काव्य के अबन्ध वर्ग का एक दूसरा प्रकार मुक्तक है। यह काव्यरूप बन्ध की दृष्टि से बहुत कुछ वैसा ही दिखाई पड़ता है जैसा गीतिकाव्य। किंतु विश्लेषण करने पर जब हम बाह्य शरीर से होकर दोनों काव्यरूपों की भीतरी आत्मा तक पहुँचते हैं तब यही निष्कर्ष निकलता है कि मुक्तक गीतिकाव्य से बिलकुल भिन्न है। मुक्तक यहाँ काव्य से उस बृहद् विभाजन के रूप में प्रयुक्त नहीं जहाँ समस्त प्रबन्धकाव्य के विपरीत मुक्तक शब्द का प्रयोग भी संस्कृत काव्यशास्त्र के रचयिताओं ने किया है। उस विभाजन के रूप में प्रयुक्त मुक्तक शब्द के स्थान पर हम अबन्ध शब्द का प्रयोग करते हैं और काव्य के इस अबन्ध वर्ग में ही एक ओर गीतिकाव्य को रखते हैं और दूसरी ओर मुक्तक को। जहाँ आत्माभिव्यंजन के साथ गेयता का एक विशिष्ट गुण प्रथम काव्यरूप को गीतिकाव्य की संज्ञा देता है, उस दृष्टि से यदि हम दूसरे काव्यरूप के एक विशिष्ट गुण को लेकर उसका नाम करण करें तो पाठ्य होने के नाते वह पाठकाव्य भी कहा जा सकता है। परन्तु गेय और पाठ्य के बीच स्पष्ट विभेदक रेखा खींचना कठिन है। क्योंकि गीतिकाव्य ही गेय होता है और मुक्तक का ही पाठ हो सकता है ऐसा भ्रामक है। रीतिकालीन मुक्तक विशेषकर सवैये अत्यधिक संगीतात्मक हैं और आज भी भिक्षुक-भाटों के द्वारा गाये जाते हैं। अतएव हम अबन्ध-काव्य के एक प्रकार को गीतिकाव्य और दूसरे को मुक्तक ही कह कर अभिहित करते हैं।

संस्कृत में मुक्तक का स्वरूप

संस्कृत में मुक्तक काव्यरूप की चर्चा प्रथम 'अग्निपुराण' में मिलती

है जहाँ ऐसे श्लोकों को मुक्तकों की संज्ञा दी है जो अपने अर्थद्योतन में स्वतः समर्थ हो—

मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ।[1]

'अग्निपुराण' के पश्चात् जब हम संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा प्रणीत परिभाषा पर आते हैं तब भी मुक्तक इसी अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रथम तो दण्डी की परिभाषा है जिन्होंने पद्य के भेद करते हुए मुक्तक को सर्गबन्ध का अंग भी माना है—

मुक्तकं कुलकं कोषः संघात इति तादृशः ।
सर्गबन्धांग रूपत्वादनुक्तः पद्य विस्तरः ।[2]

दूसरा विचारणीय उल्लेख मुक्तक का हमें 'ध्वन्यालोक' में मिलता है। जहाँ दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में मुक्तक का विचार केवल रूप की दृष्टि से किया वहाँ आनन्दवर्द्धन ने उसका रस की दृष्टि से विवेचन किया। 'ध्वन्यालोक' के लोचनकार अभिनव गुप्त ने व्याख्या करते हुए कहा है—

मुक्तमन्येनाऽनालिंगितम् । तस्य संज्ञायां कन् । तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ती मुक्तकमित्युच्यते ।... पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् ।[3]

अर्थात् अगले-पिछले पद्यों से जिसका संबंध न हो, अपने विषय को प्रकट करने में अकेला ही समर्थ हो, ऐसे पद्य को मुक्तक कहते हैं। साथ ही स्वतन्त्र और निराकांक्ष अर्थ-द्योतन में समर्थ होने पर भी वह प्रबन्ध के बीच समाविष्ट हो सकता है। ऐसे मुक्तक काव्य में एक बात और जो आवश्यक है वह यह कि उसमें विभाव अनुभावादि से परिपुष्ट इतना रस भरा हो कि उसके स्वाद से पाठक तृप्त हो जाय तथा सहृदयता की तृप्ति के लिए पूर्वापर का सहारा उसे ढूँढना न पड़े। ऐसे अनूठे पद्य को उन्होंने मुक्तक कहा है। रस को मुक्तक की सबसे बड़ी विशेषता बताते हुए आनन्दवर्द्धन ने इस ओर लक्ष्य किया है कि जितने भाव या रस का सन्निवेश एक सम्पूर्ण प्रबन्धान्तर्गत होता है, उतने ही भाव या रस का परिपाक एक मुक्तककार को अपने श्लोक

---

१. अग्निपुराण, अध्याय ३३७ श्लोक ३३, पृ० ४२१ ।

२. काव्यादर्श, दण्डी, अध्याय १, श्लोक ६ ।

३. ध्वन्यालोक आनन्दवर्द्धन, ३ उद्योत, पृ० १४३–१४४ ।

में करना पड़ता है। अमरुक का एक एक श्लोक इसी दृष्टि से उनकी दृष्टि में अनुपमेय है।[1]

'काव्यमीमांसा' में आकर मुक्तक का अर्थ की दृष्टि से विचार हम देखते हैं। राजशेखर ने वस्तु के स्वरूप का विचार करते हुए लिखा है प्रबन्ध के समान मुक्तक में भी वस्तु पाँच प्रकार की हो सकती हैं। ये हैं क्रमशः शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, संविधानकभू और आख्यानवान।[2] परन्तु इस दृष्टि से मुक्तक का विचार हमारा क्षेत्र नहीं।

'काव्यानुशासन' में मुक्तक का अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है। यहाँ हेमचंद्र काव्य के प्रथम तो दो भेद करते हैं एक प्रेक्ष्य और दूसरा श्रव्य। इसी श्रव्य काव्य के अन्तर्गत उन्होंने निबद्ध और अनिबद्ध ये दो भेद निर्धारित किये हैं और मुक्तक को अनिबद्ध काव्य के अन्तर्गत रखते हुए कहा है—

'अनिबद्धं मुक्तकादि' ।। १० ।।[3]

साहित्यदर्पणकार ने भी मुक्तक को सर्वथा मुक्त अर्थ में ही लिया। 'छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्' का आशय यही है कि मुक्तक पूर्वापर निरपेक्ष रचना की संज्ञा है।[4]

संस्कृत में मुक्तक की परिभाषा जिस रूप में हुई उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वापर निरपेक्ष पद्यों को मुक्तक की संज्ञा दी जाती है, जिसमें रस पूर्ण रूप में नियोजित होता है। इसी के अनुरूप हम भी हिन्दी में पद्यान्तर निरपेक्ष कविता को मुक्तक की संज्ञा देते हैं, किन्तु उसे सर्गबद्ध काव्य का अंग रूप नहीं मानते जैसा कि दण्डी ने माना है। मुक्तक जब भी रचा जायगा स्वतन्त्र रूप में ही उसकी अवस्थिति होगी और आत्मपर्यवसित रचना रसपूर्ण एवं नीरस दोनों ही प्रकार की हो सकती है।

---

१. मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव (ध्वन्यालोक, ३उद्योत) पृ० १४४।

२. काव्यमीमांसा, राजशेखर, नवम अध्याय।

३. काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, अ० ८ सूक्त ५, ६, पृ० ४४९।

४. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ कविराज, षष्ठ परिच्छेद, ३१६।

मुक्तक का विश्लेषण

आत्माभिव्यंजना का स्वरूप

स्वानुभूति के निरूपण में कवि उन्मुक्त होकर गाता है। उसके इस बाहरी गीत में कलापक्ष की प्रधानता न होकर भाव-पक्ष को प्रधानता होती है। उसमें उसके हृदय की वेदना, उसके हृदय का उल्लास एवं उसी के हृदय का शोक मुखरित हो उठता है। ये मनोवेग अपनी तीव्रता में इतने उत्कट होते हैं कि बाह्य अभिव्यक्ति के इस रूप में संगीतात्मकता स्वतः आ जाती है। यही संगीतात्मकता गीतिकाव्य का एक विशिष्ट गुण बन जाती है। जब कबीर का हृदय आध्यात्मक विरह भावना से आपूर्ण हो गया तब उन्होंने पद गाए, सूर और तुलसी की आध्यात्मिक अनुभूति भी पदों में ही होकर बाहर अभिव्यक्त हुई। कृष्ण के रंग में रँगी हुई मीरा ने भी गीतों द्वारा अपने प्रेमपूर्ण हृदय को आराध्यदेव के समक्ष निकाल कर रख दिया। आधुनिक काल के 'छायावाद युग' में आकर तो स्वानुभूति की तीव्र संगीतात्मक अभिव्यक्ति ही काव्य की एकमात्र विशिष्टता बन गई।

किन्तु काव्य का एक दूसरा स्वरूप वह भी होता है जहाँ कवि की अपनी अनुभूति ज्यों की त्यों उसी की बनकर बाहर अभिव्यक्त नहीं हो पाती। उसका हृदय उन्मुक्त पक्षी के समान गान करता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ बौद्धिक एवं शास्त्रीयता का आग्रह अनुभूति पर अधिक दबाव डालता है, जिससे इसके स्वरूप में गीतिकाव्य का-सा स्वतः प्रवृत्त स्वरूप नहीं झलकने पाता। प्रतीत ऐसा होता है कि यहाँ कवि विषय अथवा भावों के साथ उसकी अभिव्यक्ति में बिलकुल सचेष्ट है। बाह्य अलंकरण की ओर वह उतना ही लीन है जितना विषय की अभिव्यक्ति में। उदाहरणार्थ बिहारी का कोई एक दोहा हम ले सकते हैं :—

> लाल तुम्हारे रूप की, कहौ रीति यह कौन ?
> जासौं लागत पलकु दृग, लागत पलक पलौ न ।। ३६८ ।।
>
> —बिहारी रत्नाकर।

अथवा दुलारेलाल का यह दोहा लीजिये—

> मम तन तव रज-राज, तव तन मम रज-रज रमत।
> करि बिधि हरि-हर काज, सतत सृजहु, पालहु, हरहु ।।७।।
>
> —दुलारे दोहावली, पृ० ५१।

इन दोहों में कवि अपने अन्तरतम की भावनाओं को व्यक्त करने के

लिये उतना व्यग्र नहीं जितना अभिव्यक्त स्वरूप के बाह्य सौन्दर्य को सँजोने में। अस्तु जहाँ गीतिकाव्य में कवि का अन्तःप्रदेश अपने अपूर्व रूप में झंकृत हो उठा है, जहाँ आन्तरिक हृदयावेग को स्थान देना उसका प्रथम कार्य होता है, वहाँ मुक्तकों में उसके बाह्य स्वरूप पर टिकी हुई कवि की दृष्टि आत्माभिव्यंजना के तत्त्व को उसमें नहीं ला पाती। गीतिकाव्य में कवि का अन्तर्जगत जिस रूप में खुल पड़ता है उसमें उसी के हृदय का हर्ष शोक, व्यक्त हो पड़ता है। इस प्रकार पाठक सीधे कवि के अन्तर्जगत से हिल मिल जाता है। किन्तु मुक्तक में कवि यदि हृदयस्थ भावों को अभिव्यक्त करे भी तो काव्यात्मकता का आवरण उस पर इतना चमकीला होता है कि कवि की आत्माभिव्यंजना बाहर उभरने नहीं पाती।

काव्य में आत्मनिष्ठता तभी आ पाती है जब कवि की अनुभूति विशेष क्षणों में विशेष तीव्रता को प्राप्त कर लेती है और वह अति भावात्मक हो उठता है। इन्हीं क्षणों में भावावेग के साथ जब कवि बाह्य अभिव्यंजना में प्रवृत्त होता है तब कवि का 'स्व' बड़े वेग के साथ बाहर निकल पड़ता है। किन्तु मुक्तक में ऐसा नहीं होता; वह भावावेग के तीव्रतम क्षणों की आवेशमयी अभिव्यंजना नहीं। वह तो आयास-साध्य कविता है जिसमें स्वतन्त्र चेतना अभिव्यक्त होने के लिए कलात्मकता का सहारा लेती है और कभी कभी तो शास्त्रीयता का आवरण उस पर इतना सघन होता है कि अभिव्यंजित रूप बड़ा ही कटा-छँटा एवं रूढ़िबद्ध साँचे में होकर प्रस्तुत होता है। अतः कवि का रागात्मक आवेश यहाँ स्वतन्त्र रूप में अविरल बहता हुआ भी नहीं दिखाई पड़ता। कवि खुल कर प्रकाशन नहीं कर पाता। फलतः मुक्तकों में आत्मनिष्ठता का अभाव हो जाता है। कवि अनेक प्रकार से अभिव्यंजित रूप को सँवारने में ही लग जाता है जिससे अनुभूति पीछे रह जाती है। यही आत्माभिव्यंजना का तत्त्व गीतिकाव्य को मुक्तक से भिन्न करता है और जहाँ एक की गणना आत्माभिव्यंजक भावप्रधान काव्य के अन्तर्गत होती है वहाँ मुक्तक कलाप्रधान काव्यरूप के भीतर परिगणित होता है।

कलापक्ष की प्रधानता

जब मुक्तक कलाप्रधान काव्यरूप कहा जाता है तब आशय यह कदापि नहीं होता कि उसमें भावपक्ष का सर्वथा परिहार किया गया है। वस्तुतः भावपक्ष को छोड़ कर काव्य की सम्भावना ही कवि के लिये व्यर्थ है। मुक्तक में

कवि के भावों पर कविकर्म का आवरण ढँका होता है, अतः कविकर्म के विचार से मुक्तक में जिन बातों का समावेश है उसमें कलापक्ष की प्रधानता स्वतः हो जाती है। यही कारण है कि मुक्तक में अलंकार, रस, छन्द, रीति, गुण, दोष आदि काव्य के सभी शास्त्र-सम्पादित अङ्गों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण भी देखने को मिलता है। कभी-कभी तो कवि की दृष्टि इस बाह्य अलंकरण की ओर इतनी अधिक रहती है कि अभिव्यक्त स्वरूप को सरलता से समझ लेना कठिन-सा हो जाता है। इस प्रवृत्ति के अतिरिक्त काव्य में शास्त्रीय बातों के नियोजन से भी, भाव के ग्रहण में कठिनाई आ पड़ती है और ऐसी स्थिति में तो जब तक शास्त्र का भलीभांति ज्ञान पाठक को न हो जाय तब तक अर्थ लग ही नहीं पाता। नायिकाभेद के मुक्तकों में यही बात देखने को मिलती है। दूसरे, यह गूढ़ता की प्रवृत्ति कभी-कभी इतनी अधिक बढ़ जाती है कि अर्थ तक पहुँचते-पहुँचते काव्य का समस्त रस बिखर जाता है। आशय यह कि मुक्तक में गूढ़ता और दुरूहता को भी स्थान दिया जाता है। कवि का पांडित्य इसी में समझा जाता है कि वह अपनी उक्ति को किस सीमा तक गूढ़ बनाने में दक्ष है। यही कारण है कि मुक्तक में रसपरिपाक जिस ढंग से होता है उसमें चमत्कार की ही प्रधानता होती है। जिस मुक्तककार की उक्ति में जितना ही अधिक चमत्कार देखने को मिले उतनी ही विशेषता समझी जाती है उसकी। फलतः बहुधा यह चमत्कार की प्रवृत्ति कवि के अभिव्यक्त भाव को गौण और रचना-कौशल को प्रमुख बना देती है। इसीलिये मुक्तक को कलाप्रधान काव्यरूप की अभिधा मिलती है।

कलापक्ष हमारे मनोवेगों को तरंगित करने में असमर्थ हो ऐसा भी कदापि नहीं। जिस भांति भावपक्ष हमारे मनोवेगों को तरंगायित करने में सहायक होता है उसी प्रकार कलापक्ष-प्रधान काव्यरूप भी हमें प्रभावित करता है। परन्तु भावपक्ष-प्रधान काव्यरूप जिन सूक्ष्म तरंगों को उद्वेलित करने में समर्थ है वैसी तरंगें कलापक्ष-प्रधान काव्यरूप नहीं उठा सकता। दूसरे, जहाँ एक में हृदय झंकृत होकर स्थायी प्रभाव को ग्रहण करता है वहाँ दूसरे में बाह्य शरीर के सौन्दर्य-विधान द्वारा कवि कुतूहल मात्र हृदय में उत्पन्न करा पाता है। एक में रागात्मक आवेश की प्रबलता हो जाती है तो दूसरे में उसकी अवस्थिति नहीं के बराबर होती है। रचना-चातुरी के फेर में पड़ा हुआ मुक्तककार रसाभिव्यक्ति के समय हृदय में रस की धारा बहाने की अपेक्षा रस के छींटे ही मार कर रह जाता है।

बौद्धिकता

कलापक्ष की प्रधानता हृदय नहीं अपितु बुद्धि का फल है। अति बौद्धिकता ने ही मुक्तक को भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की ओर अधिक झुका दिया है। यही कारण है बाह्य स्वरूप के सौष्ठव की ओर कवि की दृष्टि सहज ही उन्मुख हो जाती है। मुक्तकों का बाह्य स्वरूप अन्य काव्यरूपों की ही भांति छन्द और अलंकार से मिलकर ही खड़ा होता है। किन्तु जितना सुन्दरतम गठन इन दोनों तत्त्वों का काव्य के इस रूप में अपेक्षित होता है उतना अन्य किसी रूप में नहीं।

मुक्तक को गीतिकाव्य से अलग करने का दूसरा कारण यही बुद्धि-तत्त्व है। गीतिकार बुद्धि का हलका-सा सहारा लेकर अनुभूति का भवन खड़ा करता है, किन्तु यहाँ मुक्तककार बुद्धि के ऊहापोह में इतना उलझ जाता है कि अनुभूति इसके नीचे दब सी जाती है। यह बात तो मुक्तक की कला-पक्ष-प्रधानता से ही सिद्ध हो जाती है कि उसमें प्रेरणा का केन्द्र हृदय नहीं बुद्धि है। नीति, उपदेश और आचार-सम्बन्धी बातें हृदय के व्यापार नहीं। न तो कवि की रागात्मिका वृत्ति से इनका कोई घनिष्ट सम्बन्ध ही है। साथ ही अलंकार, छन्द, नखशिख और नायिकाभेद हृदय के उन्मुक्त उद्गार नहीं। ये तो परम्परागत रूढ़ि का पालन हैं, जिनमें बिना बुद्धि से काम लिए एक पग भी बढ़ना कवि और साथ ही पाठक के लिये कठिन है। उदाहरणार्थ :—

सीख सिखाई न मानति है, बर ही बस संग सखीन के आवै।
खेलत खेल नए जल में, बिन काम बृथा कत जाम बितावै।
छोड़ि कै साथ सहेलिन को, रहि कै कहि कौन सवादहि पावै?
कौन परी यह बानि, अरी, नित नीर भरी गगरी ढरकावै।[1]

यहाँ परम्परागत रूढ़ि से अनभिज्ञ पाठक कोई भी रस नहीं पा सकता। साथ ही उक्तिवैचित्र्य-प्रधान मुक्तकों में तो कवि का ध्यान भाव और अर्थ की अपेक्षा विषय और उक्ति के चमत्कार की ओर अधिक रहता है। उक्ति चमत्कार बुद्धि का आयास है। फलतः मुक्तक में अनुभूति की तीव्रता का अभाव आ जाता है।

गीतिकाव्य में बुद्धि अनुभूति के रंग में रँग कर अभिव्यक्त होती है। अनुभूति के साथ वह तदाकार हो जाती है, किन्तु मुक्तक में दोनों की सत्ता

---

१. 'व्यंग्यार्थ'—प्रताप साहि—भारत जीवन प्रेस—काशी सम्वत् १९५७, पृ० ८।

पृथक् रहती है। यही कारण है मुक्तककार बड़ी ही कलापूर्ण तूलिका से मुक्तक काव्य का सृजन करता है। जिसमें भाव अलग चमकते हैं और कला अलग अपना प्रकाशन करती है।

रसाभिव्यक्ति

छन्द और अलंकार काव्य के बाह्य शरीर हैं और भाव या रस उसकी आत्मा। मुक्तक में शरीर के इन्हीं दोनों अवयवों का सुन्दरतम गठन कवि को अपेक्षित होता है। भाव या रस के छींटें मुक्तक में न मिलते हों ऐसी बात नहीं। मुक्तक में जिस प्रकार का रस मिलता है वह भावात्मक न होकर कृत्रिमताप्रधान होता है। ऐसा रस, जो चमत्कार-प्रधान हो मुक्तक में उत्पन्न किया जाता है। विभाव अनुभाव और संचारियों पर कवि का ध्यान अधिक रहता है। अनायास भावावेग की तीव्र अवस्था में इनकी योजना द्वारा रसपरिपाक हो जाय ऐसी बात यहाँ नहीं होती। कवि इस ओर इतना सतर्क रहता है कि कहीं एक भी भाव न छूट जाय।

मुक्तक में दृश्य-विधान का महत्त्व

रसोत्पत्ति के लिये मुक्तक में दृश्य-विधान को एक विशेष महत्त्व दिया गया है। बिना इस दृश्यों की अनोखी उद्भावना के मुक्तक में रसोत्पत्ति संभव नहीं। चित्त के भावों को उद्बुद्ध करने के लिए जब तक मुक्तककार कवि की कल्पना इतनी उत्कृष्ट नहीं होती कि वह नवीन से नवीन दृश्य उपस्थित करने में सहज ही सफल न हो सके, तब तक उसका दृश्य-विधान रसमग्नता नहीं ला सकता। ये दृश्य कभी-कभी हृदय को छू लेने की क्षमता रखते हैं। कल्पना के अभाव में कवि जो कुछ भी अभिव्यक्त करता है उसमें या तो कोई उपदेशात्मक सी बात निहित रहती है अथवा कोरा वस्तुवर्णन। अतः उपदेश और नीति के मुक्तकों में जीवन के किसी मर्मस्पर्शी पक्ष का सहारा लेना आवश्यक सा हो जाता है। कारण यह कि मुक्तक कविता काव्य का ऐसा रूप है जिसमें एक पद्य दूसरे से बिलकुल ही निरपेक्ष होता है। अब इस पद्यान्तर निरपेक्षता में कवि के पास कथन के लिए इतना थोड़ा समय रहता है कि वह अपनी उक्ति में विस्तार नहीं ला पाता। विस्तृत वर्णन तो वहाँ पर होता है जहाँ कवि किसी कथा का सहारा ले, अथवा जीवन के किसी एक अथवा सम्पूर्ण अंग का चित्रण करे। महाकाव्य, खंडकाव्यादि में ये बातें परमावश्यक होती हैं। यही कारण है कि उनके कर्त्ताओं को विस्तृत वर्णन के लिए अधिक समय मिल जाता है जिसमें रसधारा सतत बहती रहती है। किन्तु मुक्तक में न तो जीवन के किसी अंग का प्रदर्शन ही होता है और न

किसी कथांश का वर्णन ही। ऐसी स्थिति में उसके भीतर शुद्ध भावावेग के आधार पर रस की बहती हुई धारा को सर्वत्र ढूँढ़ना व्यर्थ है। शुक्ल जी के शब्दों में मुक्तक में रस के छींटें पड़ते हैं, जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है।[१] वस्तुतः मुक्तक में रस या भाव तो मिलता है, किन्तु वह चमत्कारप्रधान रस होता है, काव्यात्मक नहीं। 'रस की धारा' और 'रस के छींटें' दोनों उक्तियों में भेद है। प्रथम उक्ति तो इस ओर संकेत करती है कि महाकाव्य या खण्डकाव्य में कथा अथवा कथांश का होना आवश्यक है, किन्तु दूसरी उक्ति में जिस ओर संकेत है उसमें कथांश का होना कोई प्रतिबन्ध नहीं। साथ ही जहाँ पहली उक्ति में पाठक की रसमग्नता और उस पर स्थायी प्रभाव पड़ने का भाव है वहाँ दूसरी में केवल कुछ ही क्षणों के लिए तन्मय कर देने की ओर संकेत है। इस तन्मयता को लाने के लिये कल्पना की समाहार शक्ति को भी शुक्ल जी ने अत्यधिक आवश्यक माना है।[२] यही कल्पना उस खंड-चित्र को सजीव बना देती है। अर्थात् अमूर्त दृश्यों का मूर्त विधान इसी कल्पना द्वारा कवि करता है। इसके अभाव में न तो वह सजीवता आ पाती है न वह चमत्कार जो बाह्य अलंकारों से उद्भूत होता है। यही कारण है मुक्तकों में अलंकारों को जितना महत्त्व दिया जाता है उतना ही काव्य-शरीर के बाह्य अवयव छन्द और भाषा को भी।

इस प्रकार मुक्तक में रसाभिव्यक्ति दृश्य-विधान पर ही अधिक अवलंबित है। ये दृश्य जीवन और प्रकृति के बीच से ही लिए जाते हैं और उनको लेकर कभी कवि नीतिपरक बातें कहता है तो कभी वह रसमय भाव को अभिव्यंजित करता है। कहीं-कहीं यह दृश्य-विधान प्रकृति के आधार पर कबीर के मुक्तकों में बहुत ही हृदयस्पर्शिता को लिए हुए है :—

> माली आवत देखि कर, कलियाँ करीं पुकार।
> फूले फूले चुन लिये, काल्हि हमारी बार॥

प्रकृति के इस छोटे से व्यापार को लेकर कवि ने अपनी उक्ति में कितनी मार्मिकता ला दी है। इसी प्रकार जहाँ कहीं भी कवि की कल्पना ऐसे

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' रा० च० शु० पृ० २६८।

२. "अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा"। रा०च०शु०, हि० सा० का इतिहास पृ० २६८।

सहज व्यापारों को ढूँढ़ निकालती है वहाँ रसाभिव्यक्ति पूर्ण रूप से हो जाती है।

गीतिकाव्य और मुक्तकों की रस-व्यंजना में भेद

मुक्तक और गीतिकाव्य की रसानुभूति में अन्तर है। मुक्तक में शास्त्र सम्पादित अन्यान्य व्यापारों की सहायता द्वारा कवि रस-व्यंजना करता है जिसमें कवित्त-सवैयों या दोहों में कवि की भावना अनुभाव, विभाव एवं संचारियों का सूक्ष्म ध्यान रखते हुए रस-परिपाक तक पहुँचती है। यहाँ जिन अलंकारों का सहारा कवि लेता है उनमें कवि की कल्पनाशक्ति ही कार्य करती है। किन्तु गीति-काव्य की रसव्यंजना मुक्तक की भांति कलात्मक अथवा रूढ़िगत व्यापारों की योजना द्वारा उत्पन्न नहीं होती। यहाँ कवि के भावावेग जब अपने चरम पर पहुँच जाते हैं तब बाह्य अभिव्यंजना होती है जिसमें रस बहुत ही अकृत्रिम और सहज होता है। गीतिकाव्य में विशेषकर शृंगार और करुण रसों में ही सुन्दर भावाभिव्यंजना कवि करता है। किन्तु मुक्तक काव्य रस की दृष्टि से इतना परिमित नहीं। उसमें प्रायः सभी रसों में भावाभिव्यक्ति होती है। हाँ, सामाजिक मनोवृत्ति ने समय-समय पर अवश्य मुक्तक के निर्माण में यह परिमिति ला दी है। रीतिकाल के मुक्तक अधिकांशतः शृङ्गार रस में ही निर्मित हुए।

उक्तिवैचित्र्य भरे मुक्तकों में रस का अभाव

इसी प्रसंग में एक बात और जो उल्लेखनीय हो जाती है वह यह कि मुक्तक में रस के छींटें भी सर्वत्र नहीं मिलते। ये वहीं प्राप्य हैं जहाँ कवि ऐसा दृश्य सामने लाता है जिसमें या तो जीवन के किसी हृदयस्पर्शी व्यापार का चित्र प्रत्यक्ष किया जाता है या प्रकृति के किसी दृश्य का एक खण्ड। सूक्तियों में रसमग्नता की ओर कवि का ध्यान नहीं रहता, वहाँ तो कथन के अनूठेपन में ही कवि के लक्ष्य की पूर्ति हो जाती है। रसमग्नता का अवसर वहाँ नहीं रहता। पाठक उसे पढ़कर कौतूहल से भर जाता है। कहने का आशय यह कि जहाँ मुक्तक के लिए संस्कृत में यहाँ तक कहा गया है कि जितने भावों तथा रस का समावेश उसके एक पद्य में होता है, अन्यत्र यदि ढूँढ़ें तो वह एक पूरे प्रबन्ध-काव्य में ही प्राप्त होता है[1] वहाँ दूसरी ओर ऐसे मुक्तक भी मिलते हैं जिनकी विशेषता केवल वक्रतापूर्ण उक्ति में ही होती है। यह उक्ति की वक्रता मुक्तकों का एक विशिष्ट गुण भी माना जाता है,

---

१. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्द्धन, ३ उद्योत, पृ० १४४।

किन्तु कभी-कभी यह तत्त्व मुक्तकों में इतना अधिक बढ़ जाता है कि उनकी मार्मिकता जाती रहती है। मूल में जाने पर इसका एकमात्र कारण पांडित्य-प्रदर्शन की भावना ही मिलेगी। जहाँ कहीं भी इस भावना ने प्रबलता पाई है वहाँ ऐसा काव्य भावात्मक एवं रसपूर्ण न होकर चमत्कारिक बन गया है।

मुक्तक में भाषा

मुक्तक में भाषा पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। कारण यह कि मुक्तक में उसका स्थान बहुत ऊँचा कहा गया है। उसे प्रौढ़, प्रांजल होने के साथ ही समासयुक्त भी होना इसलिये आवश्यक है कि मुक्तक का आकार छोटा होता है। उस छोटे से आकार में कवि को 'गागर में सागर' भरने का कार्य करना पड़ता है। ऐसा तभी सम्भव है जब कवि समास-शक्ति में भलीभांति दक्ष हो। अर्थात् संक्षिप्त रूप में सब कुछ कहने की शक्ति मुक्तककार में होनी चाहिये। साथ ही ओज, प्रसाद और माधुर्य इन तीनों की अवस्थिति भी मुक्तक में पाई जाती है। अर्थालंकार तो उसमें कूट-कूट कर भरे ही होते हैं साथ ही शब्दालंकार भी उसमें परमावश्यक होते हैं। अनुप्रासमयी शब्दावली कोमलता लाती है अतएव इसको प्रायः सभी मुक्तककार अपनाते हैं। इस प्रकार मुक्तक में पांडित्यपूर्ण भाषा का प्रयोग होता है और भाव के अभाव की पूर्ति इसी भाषा-कौशल द्वारा की जाती है। उसमें चमत्कार और सौन्दर्य-वृद्धि के लिये कवि मुहावरों का प्रयोग अधिक करता है। अतः मुक्तक में भाषा केवल भावों की अनुगामिनी ही न होकर भावाग्रगामिनी भी हो जाती है।

संगीतात्मकता

मुक्तक में संगीतात्मकता न हो ऐसी बात नहीं। हाँ, यह बात अवश्य है कि मुक्तक संगीत के शास्त्रीय ढंग पर निर्मित नहीं हुए। उनमें राग-रागिनियों के अनुरूप छन्दोविधान नहीं किया गया। परन्तु संगीत का आधार केवल राग-रागिनियाँ ही नहीं, छन्द में भी अपना भिन्न संगीत होता है। उसमें एक ऐसी शक्ति होती है जिससे अनुकूल लययुक्त शब्दों का संकलन एक साथ हो जाता है और जब लययुक्त एक से शब्द आपस में सँजो दिए जाते हैं तब उनमें एक संतुलन आ जाता है। इसी लययुक्त संतुलन से सम्पूर्ण छन्द का समाहित प्रभाव बड़ा लयात्मक हो उठता है। उसमें गतिशीलता आ जाती है जिससे संगीत फूट पड़ता है। कवि का आवेग इन छन्दों द्वारा बाह्य अभिव्यक्ति में बड़ा ही कम्पनयुक्त हो जाता है। इसी कम्पन में संगीत की सृष्टि हो जाती है। कवि के आवेग की तीव्रता पर इस

कम्पन का तारतम्य निर्भर है। जितना ही तीव्र आवेग कवि का होगा अनुभूति में उतनी ही शक्ति शीघ्रता के साथ बाहर अभिव्यक्त होने के लिए आ जावेगी और जितनी शीघ्रता के साथ उसके तीव्रतम आवेग बाह्य अभिव्यंजना में परिणीत होंगे उतना ही लयात्मक वह अभिव्यक्त स्वरूप होगा। इसी लयात्मकता में संगीतात्मकता अपने आप नियोजित हो जायगी।

मुक्तक में छन्दोविधान आवश्यक तत्त्व है। गीतिकाव्य तो एक बार इस छन्द के बन्धन को अमान्य कर आगे बढ़ सकता है किन्तु मुक्तक बिना उसे अपनाए आगे बढ़ ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, मुक्तक में तो छन्दों के प्रयोग में कवि को एक एक मात्रा का ध्यान भी रखना पड़ता है अन्यथा उसमें दोष आ जाते हैं। अस्तु, मुक्तक बड़ा नपा-तुला होता है और उसका रूप भी छन्दों में कटा-छँटा एवं व्यवस्थित होता है। समुचित रूप में देखने पर वह परम्परागत आती हुई रूढ़ि में ढला हुआ काव्यरूप है जिसमें चमत्कार और वाग्वैचित्र्य का स्थान भाव और अनुभूति से अधिक है। फलस्वरूप वह छन्दों में ढल कर भी पर्याप्त संगीतात्मकता नहीं उत्पन्न कर पाता। मुक्तक गेय अवश्य हो सकते हैं किन्तु इस गेयता में हृदय को झंकृत कर देने का गुण नहीं होता। मुख्यतः हिन्दी के मुक्तक दरबार के लिए ही निर्मित हुए और दर-बार में इनका गान नहीं पाठ होता था। इससे भी यह स्पष्ट है कि मुक्तक में संगीतात्मकता कम होती है। दूसरे, मुक्तक में अनुभूति की तीव्रता के अभाव में संगीतात्मकता का तत्त्व अपने पूर्ण रूप में नहीं नियोजित हो पाता। अनु-भूति की तीव्रता वहीं पर प्रबल रूप में समाविष्ट होती है जहाँ कवि अपने हृदय को खोल कर रख देने की चेष्टा करता है। आत्माभिव्यंजक काव्य में ही यह बात हमें देखने को मिलती है। फलतः वहाँ संगीत तत्त्व अधिक मात्रा में मिलता है।

मुक्तक में संगीत तत्त्व के अभाव का दूसरा कारण है कवि का अपने को अति अलंकृत रूप में अभिव्यंजित करने का मोह। आलंकारिक भाषा में अभिव्यंजना काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाती है। कभी कवि शब्दालंकार की ओर झुकता है तो कभी अर्थालंकारों की ओर। यहीं पर मुक्तक के दो स्वरूप दिखाई पड़ने लगते हैं। एक में कवि का ध्यान शब्दालंकारों पर अधिक रहता है और दूसरे में अर्थालंकारों पर उसकी दृष्टि टिकी रहती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन दोनों अलंकारों के सहारे कवि संगीत की सृष्टि कर ही ले। जहाँ केवल अनुप्रास का ही चमत्कार है और अर्थ पर कवि

का ध्यान नहीं वहाँ संगीत की सच्ची सृष्टि भी नहीं हो पाती, केवल शब्दों की अनुप्रासमयी झंकार उत्पन्न होकर रह जाती है। जैसे :—

गुलगुली गिल में गलीचा है गुनीजन हैं
चाँदनी हैं चिक हैं चिरागन की माला हैं।
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा हैं राजी
सेज हैं सुराही हैं सुरा है और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुन ताला हैं विनोद के रसाला हैं
सुबाला हैं दुशाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं।। ३३९ ।।
—"जगद्विनोद"—प० पंचामृत।

प्रस्तुत मुक्तक को पढ़ने के पश्चात् पाठक की चित्तवृत्ति 'माला' 'प्याला' 'मसाला' 'चित्रसाला' आदि शब्दों की झंकार में उलझी रहती है। न तो कोई संगीतात्मकता इसमें आ पाई है और न कवि की अनुभूति के साथ पाठक का कोई तादात्म्य ही स्थापित हो सका है। अस्तु, मुक्तक में संगीतात्मकता वहीं आती है जहाँ शब्दों का अलंकृत रूप अर्थ के सौन्दर्य को भी अपने साथ लेता चलता है। जब इन सादृश्यमूलक अलंकारों के सहारे कवि की अनुभूति आवेग के साथ अभिव्यक्त होती है तब मुक्तक संगीतमय हो उठता है। कवित्त-सवैयों में जब कवि इस प्रकार अभिव्यंजना करता है तब संगीत का तत्त्व दोहे की अपेक्षा उसमें अधिकता के साथ समायोजित हो जाता है। देव के मुक्तकों में यह बात कहीं कहीं प्रत्यक्षतः वर्तमान है :—

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मो सौं 'चलौ झूलिबे कों आज',
फूली ना समाती भई ऐसी हौं मगन में।
चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोइ गए भाग मेरे जानि वा जगन में।
आँख खोलि देखौं तो न घन है न घनस्याम,
वेइ छाई बूँदें मेरे आँसू ह्वै दृगन में ।।१३।।[1]
—देव।

---

१. 'रसायन', प्रथम भाग, संकलनकर्त्ता—केशव प्रसाद मिश्र, पद्मनारायण आचार्य, ११३।

प्रस्तुत मुक्तक में संगीतात्मकतापूर्ण है। यहाँ भाव के साथ भाषा और छन्द का लयात्मक समन्वय है। पाठक मन ही मन अन्तिम दो पंक्तियों को बार बार गुनगुनाने लगता है। इन्हीं दोनों पंक्तियों में कवि की अनुभूति अपने चरम को प्राप्त हो गई है, अतः संगीत सहज स्वाभाविक रूप में फूट पड़ा है। इसलिये जहाँ कहीं भी कवियों ने पांडित्यप्रदर्शन एवं कलात्मकता की भावना को पीछे छोड़ कर सहज अभिव्यंजना को प्रमुखता दी है वहाँ मुक्तकों का रूप सहज संगीत से लिपटा हुआ है।

छन्दों की एकता

मुक्तक का प्रत्येक पद्य अपने में आत्मपर्यवसित होता है और भाव के अनुरूप छन्द शीघ्रातिशीघ्र बदलते जाते हैं। इस प्रकार उसका प्रभाव क्षणिक होता है जिसमें 'हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है।' प्रभाव का स्थायित्व वहीं पर होता है जहाँ भावों का ऐक्य हो। किन्तु मुक्तक में भावों का ऐक्य वैसा नहीं होता जैसा गीतिकाव्य में होता है। गीतिकाव्य में अन्यान्य पद्यों के बीच से होती हुई कवि की एक ही अनुभूति अन्त तक चली जाती है। इस प्रकार भाव या अनुभूति की इकाई में प्रभाव की अखण्ड एकता भी उसमें आ जाती है जिससे समाहित प्रभाव पाठक पर एक ही प्रकार का पड़ता है। किन्तु मुक्तक में प्रत्येक पद्य स्वतन्त्र होता है। एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करता। अतः प्रत्येक पद्य भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव पाठक पर डालता है। इस प्रकार यहाँ भावों का ऐक्य नहीं मिलता और जहाँ भावों की एकता नहीं वहाँ प्रभाव का स्थायित्व सम्भव नहीं, फलतः मुक्तक कोई समाहित प्रभाव नहीं डालता। उसमें किसी तत्त्व की यदि इकाई है तो वह छन्दों के बाह्य स्वरूप की। जब मुक्तक एक स्थान पर संकलित हो जाते हैं और उन्हें किसी विशेष संग्रहीत रूप से पुकारा जाने लगता है, अर्थात् सात सौ मुक्तकों का संग्रह जब सतसई कहलाता है तब छन्दों का ऐक्य स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है और केवल दोहे छन्द को ही कवि अपनाता है। इस प्रकार मुक्तक में छन्द का स्थान प्रमुख हो जाता है और छन्दों के भिन्न-भिन्न साँचों में कवि अपनी भावना को भर कर अभिव्यक्त करने लगता है।

मुक्तक का अन्य काव्यरूपों से संबंध

मुक्तक का अन्य किसी काव्यरूप से कुछ साम्य है तो वह गीतिकाव्य से। महाकाव्य खंडकाव्यादि तो बिलकुल ही दूसरे वर्ग (प्रबन्धकाव्य) के अन्तर्गत अपना स्थान रखते हैं जिसमें मानव-जीवन से गृहीत अनुभूति की अभिव्यंजना शृङ्खलाबद्ध रूप में होती है। इस अभिव्यंजना को कथा का आधार प्राप्त है।

वहाँ वर्णनात्मकता को प्रथम स्थान मिलता है। किन्तु मुक्तक वह रूप है जो काव्य के अबंधवर्ग में आने के कारण वर्णनात्मक और कथा के तत्त्व से बहुत दूर है। महाकाव्य में सम्पूर्ण जीवन और खंडकाव्य में एक काल का यदि चित्रण है तो मुक्तक में किसी एक क्षण की घटना या भाव का अंकन। मुक्तक उस भूमि पर खड़ा है जहाँ क्षण-क्षण भावों एवं दृश्यों का परिवर्तन होता है। नवीन से नवीन प्रसंगों की उद्भावना ही में उसकी विशेषता है।

मुक्तक में कथा का रूप

यद्यपि मुक्तक में किसी कथा अथवा कथांश का वर्णन नहीं होता, तथापि उसमें कोई प्रसंग अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य वर्तमान रहता है। कवि की भावाभिव्यंजना के पीछे एक सम्पूर्ण चित्र छिपा रहता है। कवि इस चित्र का वर्णन मुक्तक में नहीं करता। तो भी उसकी उक्ति में जीवन के किसी एक व्यापार की कल्पना स्वतः निहित रहती है। यदि इस कल्पना का पाठक को पूर्ण रूप से ज्ञान होता है तब मुक्तक का रस भी पूर्ण रूप में मिलता है। किन्तु दूसरी ओर उस ज्ञान के न होने पर अर्थ पाठक न लगा सके ऐसा नहीं होता। किसी न किसी रूप में वह रसास्वादन कर ही लेता है। अर्थात् प्रत्येक मुक्तक रचना के लिये किसी न किसी प्रसंग की उद्भावना आवश्यक होती है। कभी-कभी वह पद्य के भीतर होता है और कभी बाहर भी उसकी अवस्थिति होती है। उदाहरणार्थ बिहारी का एक दोहा लीजिये—

अजौं न आए सहज रँग, बिरह दूबरैं गात।
अब हीं कहा चलाइयति, ललन, चलन की बात ॥२०३॥

—बिहारी रत्नाकर।

प्रस्तुत दोहे में एक सम्पूर्ण चित्र छिपा हुआ है। इस चित्र में नायक है नायिका है और साथ ही उसकी सखी भी है। नायक थोड़े ही दिन हुए हैं विदेश से आया है और अब पुनः परदेश जाने के लिये प्रस्तुत हो रहा है। उसके इस उपक्रम को देख सखी उसे समझाते हुए कह रही है कि हे ललन! भला ऐसे समय में जब तुम्हारे (तुम दोनों के) अंगों में संयोग के सुख का स्वाभाविक रंग भी नहीं चढ़ने पाया है, पुनः विदेश चलने की बात क्या चलाते हो।[1]

---

१. जैसे—प्रकृति के सुन्दर निरीक्षण को न देख यहाँ शृंगारिक अर्थ भी लगते हैं—

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणी पत्तम्मि रेहइ बलाआ,
णिम्मल मरगअ भाअणपरिट्ठिदा सङ्ख सुत्ति व्व ॥१४॥ गाथा सप्तशती।

प्रस्तुत दोहे से यह स्पष्ट है कि मुक्तक-रचना में जीवन के किसी एक मार्मिक प्रसंग का विधान भी किया जाता है और यह प्रसंग जितना ही जीवन के निकट होता है उतनी ही उसकी मार्मिकता बढ़ जाती है। अतएव रस को पाने के लिए अनुकूल प्रसंग-कल्पना सहृदय पाठक के लिये अपेक्षित होती है। परन्तु कभी-कभी यह प्रसंग-कल्पना भद्दी रुचि का परिचय भी देती है, जब पाठक अथवा टीकाकार बरबस मुक्तकों में प्रसंग-कल्पना करने लगते हैं। प्राकृत की अनेक मार्मिक गाथाओं के अर्थ इसी भद्दी रुचि के कारण नीरस हो गए हैं।

रूढ़ि

मुक्तक में दूसरी ओर समुचित रसावगाहन के लिए काव्यगत रूढ़ि का ज्ञान भी आवश्यक होता है। सम्पूर्ण नायिकाभेद के मुक्तक एक रूढ़िगत परम्परा पर निर्मित हुए हैं। उनको समझने के लिए नायिकाभेद का ज्ञान अपेक्षित है। एक ही मुक्तक में भिन्न-भिन्न प्रकार से रस मिलने का एकमात्र कारण इसी रूढ़ि की अनभिज्ञता है। जहाँ रीति का ज्ञाता एक मुक्तक में नग्न शृङ्गार को देखता है। वहाँ रूढ़ि से अनभिज्ञ पाठक उसके साधारण अर्थ की सीमा तक ही रह जाता है।

जैसे—

सनु सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजैं, धरि धरहरि जिय, नारि ॥ १३५ ॥

—बिहारी रत्नाकर।

प्रस्तुत मुक्तक का साधारण अर्थ समय की परिवर्तनशीलता पर एक स्त्री की अवसादपूर्ण उक्ति से लिया जा सकता है। परन्तु इसका रूढ़िगत अर्थ उस सखी की उक्ति से लिया जाता है जो 'अनुशयाना नायिका' को धैर्य बँधा रही है।

मुक्तक और गीतिकाव्य

रूढ़ि और कलात्मकता इन दोनों तत्त्वों के कारण मुक्तक का स्वरूप बिलकुल भिन्न हो गया है। गीतिकाव्य से उसकी तुलना की जाय तो दोनों में कुछ साम्य यदि है भी तो वह इसी बात में कि मुक्तककार और गीतिकार दोनों ही का ध्यान ऐसे बिन्दु पर टिका रहता है जो अन्यान्य परिस्थितियों द्वारा उद्भूत नहीं होता। दोनों में अबन्धता के कारण एक भाव या एक विचार पर ही कवि की दृष्टि टिकी रहती है। किन्तु एक भाव एक विचार और एक ही अवस्था की अखण्ड एकता में जहाँ गीतिकाव्य अत्यधिक भावा-

त्मक एवं आत्माभिव्यंजक होता है, जहाँ गीतिकाव्यकार का मूल प्रेरणा-केन्द्र उसी के हृदय की भावात्मकता होती है, जहाँ भावों का ही एकमात्र सहारा कवि को रहता है, वहाँ मुक्तककार अपनी अभिव्यंजना में, भावावेग की तीव्रता के अभाव में आत्मनिष्ठता का तत्त्व नहीं ला पाता। वह अपनी भावधारा को बुद्धि की विचारधारा में रंग कर एक बड़े ही कलापूर्ण रूप में अभिव्यंजित करता है। कभी-कभी तो कल्पना की इतनी ऊँची उड़ान भी लेने लगता है कि उसकी अभिव्यंजना में उक्तिवैलक्षण्य आ जाता है। यह उक्तिवैचित्र्य गीतिकाव्य में स्थान नहीं पा सकता।

मुक्तक मे रूप का साधन केवल भाव ही हों ऐसी बात नहीं। यहाँ तो कवि भाव के साथ विधान के विभिन्न अंगों अर्थात् छन्द-अलंकारादि का सहारा अधिक लेता है। अस्तु कोई भाव घटना या प्रसंग जब अपनी चरमावधि पर पहुँच जाता है तब मुक्तक के रूप में अभिव्यक्त हो जाता है।

द्वादश अध्याय

मुक्तक का वर्गीकरण

हिन्दी में मुक्तक का विभाजन दो दृष्टियों से हो सकता है। एक तो उसके बाह्य आकार की दृष्टि से और दूसरे उसकी भीतरी अनुभूति अथवा भाव की दृष्टि से। इस प्रकार मुक्तक का आकारगत एवं भावगत वर्गीकरण अपने में लगभग सभी प्रकार के मुक्तकों को समेट लेता है।

१. आकारगत विभाजन

मुक्तक के बाह्य आकार को लेकर यदि हम चलें तो तीन प्रकार से मुक्तकों का विभाजन किया जा सकता है, एक तो छन्द की दृष्टि से, दूसरे संग्रह की दृष्टि से और तीसरे उक्तिवैचित्र्य की दृष्टि से।

छन्द की दृष्टि से मुक्तक के भेद

हिन्दी के कवियों ने तो अन्यान्य छन्दों में मुक्तक की स्वतन्त्र रचना की, परन्तु कुछ छन्द ऐसे हैं जो परम्परागत चले आते हैं अतः उनमें मुक्तक रचना की एक पद्धति-सी बन गई है। प्रत्येक छन्द-पद्धति अपनी-अपनी निजी विशेषताओं को लिये हुए है। कुछ तो ऐसी हैं जिनमें केवल छन्दो-बद्धता ही उनका गुण है और कुछ ऐसी हैं जिनमें संगीतात्मकता अधिक मात्रा में उपलब्ध है। अर्थात् मुक्तक की विभिन्न छन्द-पद्धतियों में कुछ तो केवल पाठ्य होने के नाते और कुछ गेय होने के नाते प्रसिद्ध हैं। वे छन्द हैं क्रमशः दोहा, कवित्त, सवैया, कुंडलिया, छप्पय, बरवै और सोरठा। इनमें कवित्त, सवैया तथा घनाक्षरी अधिक गेयता लिये हुए छन्द हैं।

दोहा

आकार की दृष्टि से यह छन्द अन्य छन्दों की अपेक्षा छोटा होता है। इसमें केवल दो पंक्तियाँ होती हैं जिनके चार चरणों में १३, ११ की यति

से ४८ मात्राएँ होती हैं। इतने छोटे से आकार में कवि अपने गूढ़ से गूढ़ भाव को इस कौशल के साथ भरता है कि कहीं भी मात्रा में अधिक न्यूनता नहीं आने पाती। अति संक्षेप में समस्त भावों को भर देने की शक्ति मुक्तककार में परम आवश्यक होती है। इसी ओर लक्ष्य करते हुए रहीम ने अपने एक दोहे में कहा है—

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहि।
ज्यों रहीम नट कुंडली, सिमित कूदि चलि जाहि।

—रहिमन शतक, पृ० ५३।[1]

जिस प्रकार नट अपने आप को समेट कर छोटे से घेरे के बाहर कर लेता है, ठीक उसी भांति मुक्तककार को भी उन थोड़े से अक्षरों द्वारा ही दीर्घ अर्थ का द्योतन करना होता है। यही कारण है कि दोहे में समास शक्ति का अधिक उपयोग मिलता है। इसका परिहार दोहे में वह बात नहीं ला पाता जिसे हम 'गागर में सागर भरना' कहते हैं। अस्तु, दोहा देखने में जितना सरल और सीधा स्वरूप लगता है उतना ही रचना की दृष्टि से कठिन भी। उसमें त्रिकल द्विकल और यति का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। यहीं तक दोहे की विशेषता नहीं है, रहीम ने आगे चल एक बात और भी कही है—

रूप, कथा, पद चारु पट, कंचन दोहा लाल,
ज्यौं निरखत सूक्ष्म अति, मोल रहीम विसाल॥

रत्न को जितना ही देखते जाइए उसमें नवीन से नवीन अनोखे से अनोखा सौन्दर्य मिलता जायगा। ठीक उसी भाँति दोहे में साधारण अर्थ तो होता ही है पर उसके सूक्ष्म अध्ययन पर गम्भीर भावों की अवस्थिति देखने को मिलती है।

दोहे की परम्परा हिन्दी की अपनी नहीं है। वह तो प्राचीनकाल से चली आती है। अपभ्रंश काल में दोहों का ही राज्य था। प्राकृत में हमें 'गाथा' छंद मिलता है। यह गाथा हिन्दी के दोहे के ही सदृश है और इसी गाथा छन्द के नाम पर 'गाथा सप्तशती' की रचना भी हुई। पाली में 'थेरगाथा' और 'थेरीगाथा' भी इसी गाथा शैली में रचे गए हैं। एक में वैराग्य भरे भाव हैं तो दूसरे में सौन्दर्य की कलापूर्ण अभिव्यक्ति है। अपभ्रंश में आकर यह 'गाथा'-छन्द 'दोहा' या 'दूहा' के नाम से मिलता है। हिन्दी का दोहा

---

१. रहिमन शतक—संग्रहकर्त्ता—सूर्यनारायण त्रिपाठी—सम्वत् १९५२।

इसी अपभ्रंश छन्द से ही लिया गया है। कहा यह जाता है कि अपभ्रंश का दूसरा नाम 'दूहाविद्या' है। अर्थात् जिस प्रकार 'गाहाबन्ध' से प्राकृत का बोध होता था उसी भांति दोहय बन्ध से अपभ्रंश का। इस दोहय बंध में छन्द चाहे सोरठा हो चाहे दोहा पर कहलाता वह दोहाविद्या ही था। उदाहरणार्थ 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में दोहाविद्या नामक शीर्षक में ये दोनों ही छन्द मिलते हैं।[1] इस प्रकार अपभ्रंश में छन्द की दृष्टि से नियम कठिन नहीं, अन्त्यानुप्रास अवश्य सर्वत्र मिलता है। यह अपभ्रंश के दोहों की अपनी निजी विशेषता भी दिखाई पड़ती है।

दोहा शब्द की उत्पत्ति बताते हुए गुलेरी जी ने इसे दोधक से व्युत्पन्न न मानकर दो की संख्या से माना है—'दो+पद; दो+पथ या दो+गाथ–दोह'[2] अपभ्रंश के ग्रन्थों की रचना अधिकतर इसी दोहे में मिलती है। वस्तुतः यहाँ दोहे छन्द में रचना दो प्रकार से हुई, एक तो भावात्मक मुक्तकों में दूसरे संतों द्वारा रचित आध्यात्मिक मुक्तकों में प्रथम प्रकार के मुक्तकों में श्रृंगार, वीर, करुण, आदि रसों में भावाभिव्यंजना हुई है और दूसरे के अन्तर्गत कवि का चिन्तन, उसका उपदेश एवं आध्यात्मिक भाव हमें भरे हुए मिलते हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' में श्रृङ्गार, वीर और करुण आदि रसों के दोहों को उद्धृत किया है।

भंल्ला हुआ जु मारिया बहिणी म्हारा कंत।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥२१॥

—पृष्ठ १६८।

पिय संगिय कउ निद्दड़ी पियहो परोक्ख हो केव।
भइ बिन्निवि विन्नसिया, निद्द न एव न तेव ॥१११॥

—पृ० १६०।[3]

आध्यात्मिक मुक्तकों के उदाहरण हमें अधिकतर जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलते हैं। रामसिंह मुनि रचित 'पाहुड दोहा' और देवसेन कृत 'सावयधम्म दोहा' ऐसे ही मुक्तकों के संग्रह हैं:—

---

१. पुरानी हिन्दी, ना०प्र० पत्रिका न. सं. भाग २, पृ० ५५।
२. पुरानी हिन्दी, ना०प्र० पत्रिका न. सं. भाग २, पृ० १८।
३. सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन, हेमचन्द्र पृ० १६८, पृ० १६०।

जसु दंसणु तसु माणुसह दोस पयासई जंति ।
जहि पएसि णिवसइ गरुडु तहिं कि विस हर ठंति ॥५४॥

—पृ० १८ ।[1]

जिसके दर्शन से उस मनुष्य के दोष नाश को पहुँच जाते हैं। जिस प्रदेश में गरुड़ निवास करता है, वहाँ क्या विषधर ठहर सकता है ?

हिन्दी में 'वीरगाथा काल' से ही दोहे की परम्परा चली आ रही है जिसमें मुख्यतः शृंगारिक, वीर और नीतिपरक मुक्तकों की रचनाएँ मिलती हैं। तत्पश्चात् हमें 'भक्तिकाल' में आते ही कबीर के दोहे जिनका संग्रह 'साखी' के अन्तर्गत हुआ है और तुलसी के दोहे जो 'दोहावली' में संग्रहीत हुए, मिलते हैं। 'रीतिकाल' में तो मुक्तकों का राज्य रहा बिहारी, वृन्द, वैताल की सतसइयों में दोहों का ही संग्रह हमें मिलता है और रहीम के नीतिपरक दोहे भी प्रसिद्ध हैं। आधुनिक काल में इनकी परम्परा लुप्त हो गई हो ऐसी बात नहीं, वियोगी हरि की 'वीर सतसई' दुलारे लाल का 'दुलारे दोहावली' इसी काल के दोहों के संग्रह हैं।

अपभ्रंश में जिस प्रकार 'दोहों' में प्रायः सभी रसों की व्यंजना मिलती है, उसी भांति हिन्दी की इस दोहे की पद्धति में भी सभी रसों की अभिव्यंजना की गई है। वीर, शृंगार, नीति, उपदेश और वैराग्यप्रधान मुक्तक दोहों में भी निर्मित हुए। रूप की दृष्टि से तो चाहे वह शृंगारप्रधान दोहा हो अथवा नीतिप्रधान, उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता। हाँ, रस या भाव में तारतम्य का अन्तर अवश्य दिखाई पड़ता है। साथ ही जहाँ नीति और उपदेशात्मक दोहों में वाग्वैचित्र्य एवं चमत्कार की भी प्रधानता होती है वहाँ शृंगारप्रधान दोहों में अधिकतर साम्यमूलक अलंकारों की प्रमुखता मिलती है। सच पूछा जाय तो दोहों की रचना नीति और उपदेश के लिये ही हुई, कारण यह कि जितनी शीघ्रता के साथ दोहों में तथ्य को ग्रहण कराने की क्षमता है उतनी अन्य किसी छन्द में नहीं। कबीर रहीम आदि कवियों ने अपने उपदेशप्रधान मुक्तकों की रचना के लिये इसी छन्द को अपनाया जो आगे चलकर एक पद्धति के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

सवैया

सवैया छन्द में २२ से लेकर २६ तक अक्षर होते हैं। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें एक ही गण आद्यन्त चलता है, चाहे वह गण जगण

---

१. सावयधम्म दोहा, संपादक हीरालाल जैन।

हो अथवा कोई अन्य गण। यही कारण है इस छन्द का संगीत एक निश्चित लय के आधार पर उत्पन्न होता है। तुक पर ध्यान होने के कारण यह संगीत और मधुर हो जाता है। एक ही 'गण' में जब अक्षरों को कवि नियमित स्वरों में संजोता है तब सवैये की गति में एक निश्चित संतुलन भी आ जाता है जिससे उसका प्रवाह सुन्दर और संगीतमय हो उठता है। इन्हीं 'गणों' के अनुरूप सवैये का लय प्रमुख रूप से तीन प्रकार का कहा गया है। 'भगण' 'सगण' और 'जगण' के अनुसार लिखे हुए सवैयों में तीन भिन्न प्रकार के लय उत्पन्न होते हैं। अतः सवैया छन्द में तीन प्रकार की संगीत सृष्टि होती है।

सवैये की व्युत्पत्ति के विषय में कहा यों जाता है कि इसका संबंध 'सपादिका' शब्द से है।[१] आरम्भ में भाट और चारणों का यह प्रिय छन्द था, और इसके पाठ की विधि अनोखी थी, जिसमें सम्पूर्ण छन्द की अन्तिम पंक्ति को वे प्रथम दो बार पढ़ते थे और पुनः चौथे चरण के बाद उसे दोहराते थे। यह पाठ्य-विधि सवाये के रूप में होती थी, अतः सवाये के संस्कृत रूप 'सपाद' से'सपादिक' और इसी सपादिक से सवैया बन गया, ऐसा विद्वानों का मत है।

इस सवैये के दो भेद 'किरीट' और 'दुर्मिल' का उल्लेख 'प्राकृत पैंगलम्' में आया है।[२] जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रस्तुत छन्द की रचना प्राकृत में अवश्य हुई। साथ ही 'प्राकृत पैंगलम्' की रचना का समय लगभग संवत् १३०० के निकट है, जिससे यह स्पष्ट है कि इस छन्द का प्रचलन इस काल तक अवश्य रहा होगा। किन्तु हिन्दी में कहने को तो इसका आविर्भाव 'वीरयुग' से ही माना जाता है।[३] किन्तु इस काल की असंदिग्ध रचनाओं में विद्वानों ने जो छानबीन की है उससे यही निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रस्तुत छन्द की रचना इस काल में न होकर आगे चल कर अकबर के शासनकाल से आरम्भ हुई। वस्तुतः नगेन्द्र जी के ऐसे विचार इस दृष्टि से उचित हैं कि सवैया छन्द न तो 'रासो' में आया है न अन्य किसी वीरगाथात्मक प्रबन्ध काव्य में। और यदि किसी

---

१. रीतिकाव्यकी भूमिका तथा देव और उनकी कविता, नगेन्द्र, पृ० २३६.

२. प्राकृत पैंगलम्, पृ० ५७५, ५७६.

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास रा० च० शुक्ल, पृ० १६.

छन्द से इसका भ्रम हो सकता है तो वह 'रासो' के 'दुमिल्ला' या 'दुमिला' छन्द से, किन्तु वह 'दुर्मिल' छन्द नहीं। इसके पश्चात् यदि 'आल्हा' में इसकी रचना मिली तो यह भी अवश्य कहा जा सकता है कि 'आल्हा' मौखिक रूप में होने के कारण अपने मूल रूप से कहीं अधिक बदला हुआ आज मिलता है। तो भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सवैया छन्द चारणों द्वारा मौखिक रूप में ही इस काल में रहा हो।

अतः सवैया छन्द तुलसी, रहीम, नरोत्तमदास, गंग आदि कवियों द्वारा पहले पहल लिखित रूप में प्रयुक्त हुआ और आगे चलकर 'रीतिकाल' में इसी छन्द को विशेष रूप से मुक्तक के लिये अपनाया गया। नरोत्तमदास और तुलसी के सवैयों को देखकर भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे पूर्व सवैया छन्द अवश्य वर्तमान रहा होगा। इन कवियों द्वारा इस छन्द का इतना परिष्कार इसी अवस्था में संभव है।

'रीतिकाल' में देव, घनानन्द, रसखान आदि कवियों के सवैये बहुत ही परिष्कृत रूप में रचे गये। 'भक्ति काल' के सवैयों में जो प्रवाह की कमी थी वह इसकाल में आकर पूर्ण हो गई। परन्तु, नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित' में सवैयों की छटा अनुपम है—

> ऐसे बिहाल बिवाइन सो पग कंटक जाल लगे पुनि जोए।
> हाय महादुख पायौ सखा! तुम आये इतै न कितै दिन खोए?
> देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
> पानी परात को हाथ छुवौ नहि नैनन के जल सों पग धोए॥४३॥[1]

सवैये के भेदों में कुछ विद्वान दस और कुछ इससे अधिक बताते हैं। तो भी इन भेदों में मदिरा, चकोर, मत्तगयन्द, सुमुखी, किरीट, मुक्तहर, दुर्मिल, सुन्दरी आदि अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

शृङ्गार और करुण रसों के लिए सवैया छंद विशेषरूप से अपनाया गया। इस छंद में ये भाव अपने सहज रूप में अभिव्यक्त हुए हैं।

'आधुनिक काल' में आकर ब्रजभाषा काल के कवियों ने अधिकतर इसी पद्धति पर मुक्तक-रचना की। भारतेन्दु बाबू, ठाकुर जगमोहन सिंह, गया-प्रसाद शुक्ल 'सनेही', 'रत्नाकर' आदि के सवैये सुन्दर बन पड़े हैं। 'रत्नाकर' जी ने 'शृंगारलहरी' में कवित्तों के बीच-बीच में बड़े ही सरस सवैयों

---

१. 'सुदामा चरित'—सम्पादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काशी, पृ० २२।

की रचना की है। भारतेन्दु बाबू की 'प्रेम-माधुरी' में सवैयों का सुन्दर संग्रह किया गया है।

भारतेन्दु के सवैये बड़े ही सरस हैं—

राखत नैनन मैं हिय मैं भरि दूर भए छिन होत अचेत हैं।
सौतनि की कहै कौन कथा तसवीर हू सों सतराति सहेत है।
लाग भरी अनुराग भरी 'हरिचन्द' सबै रस आपुहि लेत है।
रूप-सुधा इकली ही पियैं पियहू को न आरसी देखत देत है॥ १॥

—भा० ग्रं०, भाग २, पृ० १४५।

'सवैया' पद्धति में मुक्तकों की एक विशेष शैली जिसे समस्यापूर्ति कहते हैं, भारतेन्दु के कवि समाज में प्रचलित हुई। उसके जन्मदाता पण्डित अम्बिकादत्त व्यास थे। प्रतापनारायण, 'प्रेमघन' और स्वयं भारतेन्दु ने सुंदर समस्यापूर्ति की।

छप्पय

छप्पय शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'षट्पद' से हुई है जो प्राकृत में 'षटपअ' अपभ्रंश में 'छप्पअ' और हिन्दी में 'छप्पय' बन गया। दोहे की भांति यह छन्द भी बहुत प्राचीन काल से प्रयुक्त होता चला आ रहा है। दसवीं शताब्दी के आचार्य स्वयंभू के 'श्रीस्वयंभू छन्दः' नामक प्राकृत के ग्रन्थ में छप्पय के लक्षण मिलते हैं—

पढम चउत्थे तिण्णि छआरआ।
दो छा पंचम वीए होन्ति दोण्णि छआरआ तस्सिं।
अवरे चे पे पवरे तं सुइ सुइ जणं जं।
तं छप्पअस्स लक्खणम्॥ ३८॥[1]

आगे चलकर आचार्य हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन में भी छप्पय के लक्षण किये गए। उन्होंने इस छन्द को काव्य और उल्लाला छन्द का योग बताया। इससे भी आगे चलने पर हिन्दी में भिखारीदास के 'छन्दोर्णवपिंगल' में छप्पय का लक्षण इस प्रकार मिलता है।

रोला में लघु बद्र पर काव्य कहावे छन्द।
ता आगे उल्लाल है जानहु छप्पै छन्द॥ ३४॥[2]

---

१. विशाल भारत, अक्टूबर, १९५०।
२. सातवीं तरंग, छन्दोर्णवपिंगल, भिखारीदास।

इस प्रकार छप्पय में ६ चरण होते हैं उसका प्रथम पद 'रोला' और दूसरा 'उल्लाला' है। छप्पय-पद्धति विशेषरूप से 'वीरगाथा काल' की पद्धति कही जाती है। कारण यह कि वीर रस की अभिव्यक्ति इस छन्द में अपने सहज रूप में हो पाई है। इस काल के कवियों को इसकी प्रेरणा भी अपभ्रंश मुक्तकों से मिली। अपभ्रंश के 'सप्तपद' छन्द का अन्तिम अंश इसी छप्पय छन्द में निर्मित होता था और स्वतन्त्र रूप में भी छप्पय छन्द में मुक्तक निर्मित हुए—

> गयणमग्ग संलग्ग लोल कल्लोल परं परु।
> निक्क रुणुक्कइनक्क चक्क चंकमण दुहं करु।।
> उच्छलंत गुरु पुच्छमच्छ रिंछोलि निरंतरु।
> विलसमांण जालाजडालवडवानल दुत्तरु॥
> आवत्तसयापुलु जलहि लहु गोपउ जिम्व ते निरत्थरहि।
> नीसेसवसन गणनिवणु पासनाहु जे संमरहि ।।[१]

छप्पय छन्द वीररसात्मक उद्रेक के लिये अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ। कारण यह कि इसमें द्वित्व एवं परुष वर्णों के प्रयोग को अधिक स्थान मिला। 'वीरगाथाकाल' से आगे चलकर 'मध्यकाल' में तुलसी की 'कवितावली' इसी शैली में रची गई और इस छन्द के प्रयोग में नरहरि और नाभादास भी प्रसिद्ध हो गए। 'रीतिकाल' के केशव भी 'रतनबावनी' में रत्नसिंह की वीरता का यशोगान इसी छप्पय-छन्द में हुआ। तुलसी की 'कवितावली' में छप्पय अपने सुन्दर रूप में प्रयुक्त हुआ है :—

> डिग्गति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
> ब्याल बधिर तेहिं काल, बिकल दिग्पाल चराचर।
> दिग्गयन्द लरखरत, परत, दसकंठ मुक्ख भर।
> सुर बिमान हिमभानु, भानु संघटित होत परस्पर।
> चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
> ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यौ ।।[२]

भावों के अनुरूप छन्द ने कितनी प्रभावात्मकता ला दी है। 'आधुनिक काल' में भारतेन्दु ने भी छप्पय पद्धति में मुक्तक रचना की। क्वीन विक्टोरिया

---

१. पुरानी हिन्दी, दूसरा भाग, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सोमप्रभ और सिद्धपाल की कविता से पृ० १०४।

२. कवितावली—बालकाण्ड, ११ तुलसी ग्रंथावली, खंड २, पृ० १६५।

के प्रति प्रिंस एडवर्ड की मृत्यु के अवसर पर 'अन्तर्लापिका' छप्पय-छन्द में ही रचा गया है। किन्तु यहाँ छप्पय छन्द में वैसी गतिशीलता एवं प्रभावात्मकता नहीं जो तुलसी में है क्योंकि यहाँ भाव दूसरा है :—

> बस हित सानुस्वार देव बाणी-मधि का है?
> अवहि भाषा माहि कहा सब माखन चाहै?
> को तुव हास्यौ सदा? दान तुम नितहिं करइ किमि?
> का तुव मीठे सुनंत? कहा सोहत नागिन जिमि?
> महरानी तुम कहँ का कहत? अरि-सिर पै तुम का धरत?
> का जल की सोभा? कौन तुव सैन सदा निज भुज करत ॥१॥
>
> —भा० ग्रं० भा० २, पृ० ५२३।

कुंडलिया

यह छन्द दोहा और रोला छन्दों को मिलकर बनता है। दोहे के दो और रोले के चार चरण मिलकर इसमें छः चरण हो जाते हैं और प्रत्येक चरण की २८ मात्राएँ मिलाकर १४४ मात्राएं हो जाती हैं। जिस शब्द से इसका आरंभ होता है प्रायः उसी शब्द से उसका अन्त भी किया जाता है। तुलसी की 'कुंडलिया-रामायण' दीनदयालगिरि की अन्योक्तियाँ इसी छन्द में हैं। वास्तव में इस छन्द में अन्योक्तियाँ ही अधिकतर लिखी गई। गिरिधर कविराय की नीति एवं उपदेशात्मक कुंडलिया प्रसिद्ध हैं। 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' में दीनदयालगिरि की अन्योक्तियों का संग्रह है जिसमें इस छन्द का प्रयोग सुन्दर भावाभिव्यंजना कर रहा है :—

> नहिं मानस को हंस यह, नहि मुकतन की रासि
> यह तो संबुक मलिन सर, करटन की मिरियासि
> करटन की मिरियासि रहे याको सठ घेरे
> तू मति भूले धीर जाहु याके नहि नेरे
> बरनै दीन दयाल चलो निरजर-सर पाहीं
> जहाँ जलज की खानि सदा सुख है दुःख नाहीं ॥६३॥[1]

सोरठा

यह छन्द भी मुक्तक-रचना की एक पद्धति के रूप में प्रचलित हो गया है। दोहे से बिलकुल विपरीत शैली में इसकी रचना होती है। रहीम का

---

१. अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृ० ७७ टीकाकार; लाला भगवानदीन, मोहन वल्लभ पंत।

'शृंगार सोरठ' इसी छन्द में आद्यंत लिखा गया है। अपभ्रंश में भी सोरठे लिखे गये किन्तु उनका दोहों के भीतर ही अन्तर्भाव हुआ। हेमचन्द्र के व्याकरण में इस छन्द के उदाहरण मिलते हैं—

इक्कइ फुल्लइ माटि दे अइ सामी सिद्धी सुहु।
तिणी सिउ के ही साटि भालिम जिणवरह ॥ २६ ॥

—पु० हिन्दी, पृ० ५७।

कवित्त

कवित्त छन्द में ३१, ३२ अक्षर होते हैं और इसमें यति आठ, आठ, आठ, सात (८, ८, ८, ७), अक्षरों के बाद अथवा आठ, आठ, आठ, आठ, (८, ८, ८, ८) के पश्चात् होती है। किन्तु इस 'यति' क्रम में न्यूनाधिक्य भी होता रहता है। जिस भांति सवैये में गण के आधार पर लय उत्पन्न होता है उस भांति यहाँ गण को कोई भी स्थान नहीं मिलता। यति के नियम भी यहाँ पर कठिन नहीं होते। अस्तु लय का आधार है सम विषम का ध्यान। इस सम विषम में हेर फेर होने पर सम्पूर्ण कवित्त का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

कवित्त छन्द को ही 'घनाक्षरी' के नाम से अभिहित किया गया है। यों तो डा० मनोज ने घनाक्षरी को स्वतन्त्र छन्द कहकर अभिहित किया है, परन्तु पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे कवित्त का ही पर्यायवाची मानकर यह कहा है कि 'यह छन्द अधिकतर कवित्त नाम से प्रसिद्ध है जो शब्द अपभ्रंश काल से छप्पय के लिए प्रयुक्त होता था।'[1]

कवित्त छन्द भी सवैया के साथ ही चला आता है और मौखिक रूप में वीर-गाथाओं के युग में इसका भी प्रचार अवश्य रहा होगा और लिखित रूप में इसका प्रचार उसी समय से है जिस समय से सवैया छन्द हिन्दी में प्रचलित हुआ। लेखक भी तुलसी, नरोत्तम, गंग, रहीम आदि प्रथम हुए और बाद में रीतिकाल में आकर तो घनानन्द, सेनापति, केशव तथा अन्य रीतिकालीन कवियों ने बहुलता के साथ इसका प्रयोग किया। शृंगार और वीर रस के लिये यह अनुपम प्रमाणित हुआ। वीर रस में जहाँ कहीं भी इसका प्रयोग हुआ वहाँ भाव बड़े ही ओजपूर्ण शैली में अभिव्यक्त हुए—

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठे बार बार
दिल्ली दहसति चितै चहि करषति है।

---

१. शर्वाणी—अनूप शर्मा—भूमिका पृ० 'ई' 'म'।

बिलखि बदन बिलखत बिजपुर-पति
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है ॥
थर थर काँपत कुतुब साहि गोलकुण्डा
हहरि हबस भूप भीर भरकति है ।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते बादसाहन की छाती धरकति है ॥ भूषण। शिवाबावनी।३६।
—भूषण ग्रन्थावली—रामनरेश त्रिपाठी ।

शृंगार रस में :—

जलज नयन, जलजानन, जटा है सिर,
जोबन उमंग अंग उदित उदार हैं ।
साँवरे गोरे के बीच भामिनी सुदामिनी सी,
मुनिपट धरे, उर फूलनि के हार हैं ॥
करनि सरासन सिलीमुख, निषंग कटि,
अति ही अनूप काहू भूप के कुमार हैं ।
तुलसी बिलोकि कै तिलोक के तिलक तीनि,
रहे नरनारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं ॥ १४ ॥
—'तुलसी ग्रन्थावली'—कवितावली खंड २ ।

आधुनिक काल में आकर इस छन्द के मुक्तक रत्नाकर ने विशेष रूप से लिखे । 'उद्धवशतक' घनाक्षरी में ही आद्यन्त रचा गया है । इस छन्द के ओज को देखकर निराला ने अपनी कविता में इसी का आधार लिया और उन्होंने इसकी प्रशंसा में इस प्रकार कहा है :—

'यदि हिन्दी का कोई जातीय छन्द चुना जाय तो वह यही (कवित्त) होगा—कारण यह कि यह छन्द चिरकाल से इस जाति के कंठ का हार रहा है । दूसरे इस छन्द में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल आदि बड़ी तालों में तथा ठुमरी की तीन तालों में सफलतापूर्वक गा सकते हैं—इस छन्द में (Art of reading) का आनन्द मिलता है ।[1]

वस्तुतः कवित्त की यही विशेषता है । दरबारों में राजाओं के यशोगान के समय कवित्त छन्द का पाठ होता होगा, गान नहीं । आधुनिक काल में भी रत्नाकर अपने कवित्तों को एक बड़ी ओजपूर्ण शैली में पढ़ते थे । इस पाठ्यशैली की ओर संकेत कर नगेन्द्र जी ने दो प्रकार की शैलियों की चर्चा

---

१. 'परिमल'—'निराला'—पृ० २२ । (चतुर्थ संस्करण सं० २००५) ।

की है जिसे 'शुद्कंत' और 'पद्माकरी' शैली प्राचीन कवि कहा करते थे।[1] रत्नाकर ने इसी पद्माकरी शैली में कवित्त रचे और इसी शैली में उसको पढ़ते भी थे। इधर अनूपशर्मा ने 'सुमनांजलि' और 'शर्वाणी' की रचना इसी घनाक्षरी छन्द में की है।

बरवै

यह छन्द १९ मात्राओं का है जिसमें चार चरण होते हैं और सम चरणों में सात मात्रा तथा विषम में बारह मात्राएँ होती हैं। इसके सौन्दर्य को अन्त में आने वाला 'जगण' (ISI) और बढ़ा देता है।

इस छन्द के मूल रचयिता रहीम थे जिन्होंने अपने 'बरवै नायिका भेद' की रचना सर्वप्रथम इसी छन्द में की। इस छन्द की व्युत्पत्ति के पीछे एक छोटी सी जनप्रचलित कथा भी है। कहते हैं कि एक बार रहीम के मुंशी ने घर जाने के लिये कुछ दिनों की छुट्टी ली। अवधि को बीते बहुत दिन हो गए तब मुंशी जी को पुनः लौटते हुए संकोच सा हुआ जिसे जानकर उनकी स्त्री ने एक दोहा बनाकर उनको दिया और उसे रहीम को देने के लिये कह दिया। मुन्शी जी ने आकर रहीम को वह दोहा दिया जो इस प्रकार था :—

> प्रेम प्रीति के बिरवा चलेहु लगाय
> सींचन की सुधि लीजो मुरझि न जाय।

दोहे को पढ़कर रहीम बहुत प्रभावित हुए। कहते हैं इसी दोहे के बिरवा शब्द से उन्होंने बरवै छन्द की उद्भावना कर डाली। इस लोकप्रचलित कहानी में चाहे जितना भी सत्य हो परन्तु इतना तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इस छन्द के प्रथम रचयिता रहीम ही थे और लोक में इस छन्द का प्रचार रहा होगा। 'मूल-गोसाईं चरित' में बेणीमाधव दास ने एक स्थान पर लिखा है :—

> कवि रहीम बरवै रचे, पठए मुनिवार पास
> लखि तेइ सुन्दर छन्द में, रचना किएउ प्रकास।[2]

रहीम के 'बरवै नायिका भेद' में लक्षण नहीं उदाहरण दिए गए हैं और तुलसी ने 'बरवै रामायण' में श्रृंगार, शान्त दोनों ही रसों में बरवै छन्द के मुक्तकों का संग्रह किया है।

---

१. नगेन्द्र, रीतिकाल की भूमिका और देव की कविता, पृ० २४८।

२. तुलसी के चारदल, सद्गुरुशरण अवस्थी पृ० ११८।

चौपदे

उपर्युक्त सभी छन्दों में मुक्तक-रचना अति प्राचीन काल से चली आती है किन्तु आधुनिक काल में आकर इन छन्दों के अतिरिक्त नवीन छन्द-पद्धति में मुक्तकों की रचना हुई। 'स्वच्छन्दतावाद' के आगमन से कवियों ने इस ओर अधिक परिवर्तन ला उपस्थित किये। नवीन छन्दों की उद्भावना भी की गई। हरिऔध जी के चौपदों में नवीन छन्द दिखाई पड़ा जिसमें मुहावरों और अलंकारों की ऐसी अद्भुत छटा दिखाई दी जो पूर्व में कभी न दिखाई पड़ी थी। छन्द की दृष्टि से इनके 'चुभते चौपदे' और 'चोखे-चौपदे' बहुत ही नवीन हैं। दूसरी ओर रामचरित उपाध्याय ने संस्कृत के पुराने आर्याछन्द में भी मुक्तक-रचना प्रस्तुत की।

हरिऔध जी के चौपदों में व्यंग्य और हास की सामग्री प्रचुर मात्रा में है, एवं गंभीर भावों का अभाव भी नहीं है। इनके चौपदे चार पद के हैं जिनमें १७, १७, मात्राओं पर यति होती है। रचना विधान की दृष्टि से दूसरी विशेषता इनकी यह है कि इनमें मुहावरों का प्रयोग बहुत किया गया है जिससे शैली में उक्तिवैचित्र्य या वाग्विदग्धता कूट कूट कर भर दी गई है। चोखे चौपदे से एक दो उदाहरण लीजिये :—

लालसा है रस बरसती ही रहे
पर तुम्हारी आँख रिस से लाल है।
यह चमेली है खिलाना आग में
यह हथेली पर जमाना बाल है॥

—'केसर की क्यारी' पृ० ५६, चोखे चौपदे।

× × ×

सब सहेंगे हम सहें कुछ भी न वे
जायँगे हम सूख उनके मुख सुखे।
जाय दुख तो जी हमारा जाय दुख
देखिये उनकी न नँह उँगली दुखे॥

—'काम के कलाम' पृ० १७१, हरिऔध, चोखे चौपदे।

हरिऔध जी के ये मुक्तक बिल्कुल उर्दू के ढंग पर हैं और अपने ढंग के निराले हैं। इसी प्रकार उनके 'छ' पदों में भी मौलिक उद्भावना मिलती है।

संग्रह की दृष्टि से मुक्तकों के प्रकार

छन्द की दृष्टि से हमें जितने भी रूप उपलब्ध हुए उनकी चर्चा की गई। अब हम आकारगत विभाजनान्तर्गत एक दूसरी दृष्टि से

मुक्तकों को विभाजित करने का प्रयास करेंगे । यह संग्रह की दृष्टि कहलाती है । मुक्तक-रचना का संग्रह कई प्रकार से किया गया है। यह संग्रह स्वयं मुक्तक-रचयिताओं ने ही नहीं अपितु अन्य लोगों ने भी किया है । अस्तु संस्कृत में मुक्तकों के संग्रह एक तो स्वयं कवि के नाम से दूसरे संग्रहकर्त्ता के नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं । इस दृष्टि से संस्कृत में कोष संघात और संहिता ये तीन प्रकार के संग्रह मिलते हैं ।

१ कोष

'स्वपरकृतसूक्तिसमुच्चयः कोषः'[1] अर्थात् स्वयं अथवा अपर कृत सूक्तियों के संग्रह को कोष कहते हैं । यह संग्रह विषय-सम्बद्ध नहीं होता । कवि की अन्यान्य सुन्दर उक्तियों को लेकर क्रमबद्ध रूप में रख देना ही संग्रहकर्त्ता अथवा कवि का कार्य होता है । यदि वह श्लोकों को संख्या-नुसार क्रमबद्ध करता है तो उसी संख्या के अनुरूप ही उस संग्रह का नामकरण कर दिया जाता है । उदाहरणार्थ—सप्तशती में सात सौ श्लोकों का पंचशती में पांचसौ, त्रिचशती में तीन सौ, शतक में सौ और पंचाशिका में पचास श्लोकों का संग्रह किया जाता है । गोवर्द्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती', मूक की 'देवी पंचशती', भर्तृहरि की 'सुभाषितत्रिशती', अमरुक का 'शृंगार शतक' और विल्हण की 'चौरपंचशिका' आदि संस्कृत के मुक्तकों के संग्रह इसी कोष के अन्तर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त 'अवली' के रूप में भी जितने सुभाषित संग्रह संस्कृत के में मिलते हैं वे कोष ही कहलाते हैं । वल्लभदेव की 'सुभाषितावली', जल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली' ऐसे ही संग्रह हैं ।

हिन्दी में संस्कृत के कोष रूप में संग्रहीत किये हुए मुक्तक के प्रायः सभी रूप मिलते हैं । सतसई तो संस्कृत के सप्तशती का ही रूपान्तर है । इसी प्रकार हजारा, शतक, पचासा ही नहीं पचीसी, चौंतीसी आदि रूप में भी मुक्तकों का संग्रह हमें उपलब्ध होता है । ऐसे संग्रह का नवीन रूप अष्टक है जिसमें आठ पदों का संग्रह होता है। ये अष्टक रत्नाकर के 'रत्नाष्टक' और 'वीराष्टक' हैं, जिनमें देवी-देवताओं एवं वीर महापुरुषों तथा ऋतुओं पर कवि ने आठ-आठ कवित्त रचे हैं ।

'अवली' के रूप में भी संग्रह हिन्दी में उपलब्ध होते हैं । जिसका उदा-हरण है रामचरित उपाध्याय की 'सूक्ति-मुक्तावली' ।

---

१. काव्यानुशासन—हेमचन्द्र—खंड २, भा० १, छन्द २०८ ।

(क) सतसई

हिन्दी का यह शब्द संस्कृत के 'सप्तशती' शब्द से व्युत्पन्न है। इस प्रकार का सर्वप्राचीन संग्रह प्राकृत भाषा का 'गाथा सप्तशती' कहा जाता है जिसके संग्रहकर्ता हाल या राजा सातवाहन हुए हैं। इन्होंने गाथा छन्द के सात सौ श्लोकों का संग्रह प्रस्तुत सप्तशती में किया है।

सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडोअ मज्झ आरम्भि।
हालेण विरइआइं सालंकाराणं गाहाणम् ॥१।३॥

—हाल, गाथा सप्तशती।

इसी संग्रह की प्रेरणा से संस्कृत के कवियों ने भी ऐसे ही शृंगार रस से भरे मुक्तकों की रचना की 'आर्यासप्तशती' इसी 'गाथा सप्तशती' से ही प्रेरित होकर लिखी गई। एक स्थान पर स्वयं कवि ने कहा भी है।

वाणी प्राकृतसमुचितरसावलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम् ॥

—आर्या सप्तशती, पृ० २६।

वाणी वस्तुतः प्राकृत में ही सरस होती है। मैं उसे संस्कृत में बरबस बदल कर वैसा ही प्रयत्न कर रहा हूँ जैसे नीचे बहने वाली यमुना का आकाश की ओर ले जाने का प्रयत्न।

यहां पर कवि ने आर्या सप्तशती को गाथा का ही रूपान्तर माना है। बात भी वस्तुतः सत्य ही है क्योंकि आर्या में क्या भाव और क्या छन्द दोनों ही दृष्टि से साम्य मिलता है। 'गाथा' की भांति यह भी शृंगारप्रधान है और इसमें भी छन्द की संख्या उसी प्रकार सात सौ श्लोकों की है।

अपभ्रंश में ऐसे संग्रह का तो कोई पता नहीं हिन्दी में अवश्य बहुत-सी सतसइयां मिलती हैं। तुलसी की 'तुलसी सतसई', रहीम की 'रहीम सतसई', और बिहारी, मतिराम, वृंद, विक्रम आदि कवियों की सतसइयां प्रसिद्ध हैं। आगे चलकर रामसहायदास की 'रामसतसई' भी मिलती है। इनमें तुलसी और रहीम की सतसइयां तो शृंगार-रस-प्रधान नहीं हैं परन्तु शेष सभी शृंगार-रस-प्रधान हैं।

आधुनिक काल में आकर भी सतसई लिखी गई। वियोगीहरि की 'वीरसतसई' आधुनिक काल की रचना है।

(१) तुलसी सतसई

तुलसी ने अपनी सतसई की रचना कुछ भिन्न ढंग से की है। अपनी सतसई को उन्होंने सात सर्गों में विभाजित कर विभिन्न विषयों के दोहों को

विभिन्न सर्गों में रखा है। प्रथम सर्ग में ११० दोहे हैं, जिनमें राम-महिमा रामोपासना की महिमा आदि भक्ति-विषयक दोहे हैं और अन्त के ४० दोहों में चातक की अन्योक्तियाँ हैं।

द्वितीय में पराभक्ति के दोहे हैं जिनमें ईश्वर और जीव के विषय पर कवि ने लिखा है। इसमें १०३ दोहे हैं। तृतीय में रामभक्ति का निर्देश है और पिंगल शास्त्र एवं छन्दशास्त्र के विषय में भी कवि ने लिखा है। इसमें १०१ दोहे हैं। चतुर्थ में १०४ दोहे हैं जिनमें आध्यात्मिक विषयों पर विचार किया है। पंचम में ६६ दोहों में कर्मकाण्ड का निरूपण है। षष्ठ में १०१ दोहों में ज्ञान सिद्धान्त का निरूपण है और सप्तम सर्ग के १२६ दोहों में राजनीति का वर्णन है।

तुलसी सतसई संस्कृत की परम्परा के अनुसार शृंगार रस की सतसई नहीं है। अस्तु यह विहारी, मतिराम आदि परवर्ती कवियों की परम्परा से बिलकुल भिन्न है। उनकी शैली से यदि इसमें कुछ साम्य है तो वह इसका दोहों में होना। इसमें विषय की दृष्टि से कहीं तो ज्ञान, कहीं भक्ति और कहीं कोरे नीति और उपदेशात्मक दोहे हैं। अस्तु, इस सतसई को हम एक ऐसा संग्रह कह सकते हैं जिसमें विभिन्न विषयों पर सुन्दर उक्तियाँ संग्रहीत कर दी गई हैं। यही कारण है कि इसमें सर्गों का विधान कर दिया गया है। यह बात पिछली सतसइयों में नहीं मिलती।

(२) रहीम सतसई

रहीम का सांसारिक अनुभव बहुत ही गहन था। यही कारण है अपनी सतसई में व्यावहारिक बातों को बड़े ही मार्मिक ढंग से उन्होंने अभिव्यक्त किया है। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में अपने को डाल कर जब भावाभि-व्यक्ति होती है तब अभिव्यंजना का स्वरूप बड़ा ही मार्मिक हो जाता है। रहीम की सतसई के नीति उपदेश और सदाचार विषयक दोहों में इसी कारण मार्मिकता अधिक मिलती है।

(३) बिहारी सतसई

बिहारी की इस सतसई का स्वरूप विषय एवं छन्दसंग्रह की दृष्टि से बिल-कुल वैसा ही है जैसा की हमें 'गाथा' और आर्यासप्तशतियों का मिलता है। यों तो वैराग्य एवं नीति की सुन्दर उक्तियाँ इनकी सतसई में यत्र तत्र अवश्य मिलती हैं किन्तु विषय की दृष्टि से इसमें शृंगारिक भावना ही प्रधान है। शृङ्गार रस के भीतर संयोग एवं वियोग का वर्णन, नायिका-भेद आदि का शास्त्रीय रूप में निरूपण हमें मिलता है। छन्द संग्रह की दृष्टि से इसमें ७१३

दोहे मिलते हैं। बीच-बीच में एक आध सोरठे भी आ गए हैं किन्तु संपूर्ण रचना दोहेपद्धति की ही कही जाती है। उसका आरम्भ राधा की[1] वन्दना सूचक दोहे से होता है और अन्त में राजा जयशाह की स्तुति के तीन दोहों[2] से होता है उनमें ग्रंथ निर्माण का कारण, निर्माण करानेवाले का नाम, अपना नाम तथा ग्रन्थ का नाम भी मिलता है।

(४) मतिराम सतसई

यह भी शृङ्गार-रस-प्रधान रचना है जिसमें ७०३ दोहों का संग्रह है। इसका आरम्भ भी 'बिहारी सतसई' की भाँति राधा-वंदना के दोहे से हुआ है[3] और अन्त पहले कुछ ऐसे दोहों से होता है जिनमें किसी राजा भोगनाथ की प्रशंसा है। इन्हीं को समर्पित कर कवि राम की स्तुति से अपनी सतसई का अन्त करता है। श्लेष से कवि का नाम भी आ जाता है इस दोहे में।[4]

(५) वृन्द सतसई

तुलसी की सतसई के अनुकरण पर इस सतसई की रचना हुई है। किन्तु इसमें सर्गों का विधान मिलता है। तुलसी सतसई से इसका साम्य इस बात में है कि यह उसकी भांति बिहारी की पद्धति पर नहीं रची गई। बिहारी सतसई के समान यह शृंगार प्रधान नहीं है। इसमें नीति और उपदेशात्मक दोहों की ही प्रधानता है। आरम्भ में वन्दनासूचक दोहा है और अन्त सतसई, रचना संबंधी बातों के दोहों से होता है:—

---

१. मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं, स्यामु हरित-दुति होइ ॥ १ ॥
—बिहारी रत्नाकर।

२. हुकुम पाइ जयसाहि को, हरि-राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद ॥ ७१३ ॥
—बिहारी रत्नाकर।

३. मो मन तम तामहि हरौ, राधिका को मुखचंद।
बढ़ै जाहि लखि सिन्धु लौं, नंद-नन्दन-आनंद ॥ १ ॥
—मतिराम सतसई, पृ. १, मतिराम त्रिपाठी।

४. मेरे मति में राम हैं, कवि मेरे मतिराम।
चित्त मेरो आराम में, चित मेरे आराम ॥
—सतसई सप्तक, श्यामसुन्दर दास पृ. ७०३।

श्रीगुरुनाथ प्रभाव ते होत मनोरथ सिद्ध।
घन तैं ज्यौं तरु बेलि दल, फूल फलन की वृद्धि ॥ १ ॥

—स० सप्तक, पृ० २८८।

प्रस्तुत सतसई में ७०६ दोहे हैं।

(६) विक्रम सतसई

इसकी रचना भी शृंगार-प्रधान दोहों से हुई है जिसमें ७५२ दोहे मिलते हैं। इस सतसई का आरंभ भी राधा की वन्दना से हुआ है :—

कूल कालिंदी नीप तर, सोहत अति अभिराम।
यह छबि मेरे मन बसो, निसि दिन स्यामा स्याम ॥१॥

—स० सप्तक, पृ० ३४२, श्याम० सु० दास।

और अन्त, सतसई के विषय में जो कुछ उन्होंने कहा है, ऐसे दोहे से होता है :—

रस धुनि गुनि अरु लच्छना, बिंग्य शब्द अभिराम।
सप्तसही यामैं सही धर्यौ सतसई नाम ॥ ७४२ ॥

—स० सप्तक, पृ० ४००।

(७) रसनिधि सतसई

'बिहारी सतसई' के अनुकरण पर ही रसनिधि ने इसमें शृङ्गार-प्रधान दोहों की रचना की है। वस्तुतः रसनिधि ने 'रतन-हजारा' में हजार दोहों की रचना की; उसी के सात सौ दोहों को संग्रहीत कर इसको 'रसनिधि सतसई' के नाम से प्रसिद्ध किया गया है।[1]

(८) राम सतसई

रामसहाय दास की 'सतसई' में ७२७ दोहे हैं। मतिराम की सतसई की भांति यह भी शृंगारप्रधान रचना है। आदि में राधा-वन्दना का दोहा है और अन्त में हरि-राधा को समर्पित कर कवि इस दोहे में अपना नाम भी दे देता है :—

श्री स्यामा को करत हैं, राम सहाय प्रनाम।
जिन अहिपतिधर को कियो, सरस निरंतर धाम ॥१॥

—स० स०, पृ० २२६।

---

१. 'रसनिधि सतसई रसनिधि कवि के रतन हजारा, का संक्षिप्त संस्करण है।' पृ० ३५ सतसई सप्तक, श्यामसुन्दर दास।

कलित ललितई सतसई, रामसहाय बनाय।
हरि राधहिं वरु नजर करि, दई लई रति पाय ॥
—स० सप्तक, पृ० २८५, दोहा ७२७।

(६) वीर सतसई

सूर्य मल्ल की यह सतसई वीर रस की सर्वोत्कृष्ट सतसई कही जाती है। इसका रचनाकाल सं० १६१४ है जो स्वयं कवि द्वारा निर्दिष्ट है।[1] इस सतसई की भाषा डिंगल है। राजपूती वीरत्व का सुन्दर प्रदर्शन इनकी इस अधूरी रचना में हुआ है। डिंगल भाषा में वीररस का परिपाक स्वतः बड़े ही अनुपम ढंग में हुआ। प्रस्तुत सतसई में इस रस के मुक्तक अपने सहज रूप में, विशेषकर उन स्थलों पर दिखाई पड़ते हैं जहाँ कोई राजपूत बाला अपने हृदयोद्गार प्रकट करती हुई अपने वीरत्व का आदर्श सामने रखती है। ये स्थल अपभ्रंशकालीन वीर रस के मुक्तकों की याद दिलाते हैं :—

जे खल भग्गा तो सखी, मोताइल सज थाल।
निज भग्गा तो नाह रौ, साथ न सूनो टाल ॥५॥[2]

'हे सखी ! यदि शत्रु भग गए हों तो मोतियों से थाल सजा ला जिससे प्राणनाथ की आरती उतारूँ। यदि अपने ही लोग भाग चले तो पतिदेव का साथ मत बिछुड़ने दे अर्थात् सती होने दे।'

रणस्थली के सजीव चित्र भी इन मुक्तकों में मिलते हैं :—

आधा आधा ऊचरे, राउत तेथ हरौल।
पग खड़े हलबल पड़े, बोलै गलबल बोल ॥२५७॥[3]

'उस सेनानी के प्रबल प्रहारों के कारण शत्रु सेना के अग्र भाग के सुभट चिल्ला रहे हैं' 'दूर रहो, दूर रहो' और वहाँ अगणित घायल प्रलाप कर रहे हैं।'

'प्रस्तुत सतसई अधूरी है, तो भी जितने दोहे प्राप्त हैं उनमें वीर रस कूट-कूट कर भरा हुआ है। डिंगलभाषा का विशिष्ट अलंकार 'वैण सगाई' इसके दोहों में अधिकांशतः मिलता है। वीर रस में सतसई के निर्माण का श्रेय सर्वप्रथम सूर्यमल्ल को ही मिलता है।

---

१. दोहा नं० ४, वीर सतसई, सूर्यमल्ल, सम्पादक कन्हैयालाल सहल और पतराम गौड़।
२. 'वीरसतसई' (वि० सं० २००५)।
३. " " "

(१०) वीर सतसई

वियोगी हरि की सतसई 'तुलसी सतसई' की भांति सात सर्गों से पूर्ण हुई है। किन्तु सर्ग का नामकरण 'शतक' रूप में हुआ है। प्रत्येक शतक में सौ दोहे हैं, जिनमें वीररस का प्राधान्य है। भारत के वीर पुरुषों एवं स्त्रियों के वीर चरित्र से लेकर अन्यान्य ऐतिहासिक घटनाओं का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत सतसई में मिलता है। आरम्भ में मंगलाचरण के दोहे हैं और अन्त में कवि ने सतसई की रचना का समय एवं उसके रचना-स्थान का संकेत दिया है।

> जयतु कंस-करि-केहरी ! मधु-रिपु ! केशी-काल।
> कालिय-मद-मर्द्दन ! हरे ! केशव ! कृष्ण ! कृपाल ! ।। १ ।।
>
> × × ×
>
> चैत-सुदी-सुभ-पंचमी, वेद सिद्धि निधि इन्दु।
> करी समापत सतसई, हरी सुमिरि गोविन्दु ।। १०० ।।
>
> —वीरसतसई वियोगीहरि।

सतसई का यह संक्षिप्त विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि उसकी रचना मुख्यतः दो रूपों में हुई। एक तो संस्कृत की पुरानी पद्धति पर और दूसरी स्वतन्त्र रूप में। छन्द की दृष्टि से तो दोनों पद्धतियों में समानता मिलती है, किन्तु रस की दृष्टि से कुछ सतसइयों में शृंगार-रस प्रधान है तो कुछ में भक्ति नीति एवं उपदेश की भावना का प्राधान्य है, और कुछ वीर रस प्रधान सतसइयां है। 'आर्या' और 'गाथा' में शृंगार रस प्रधान है। अस्तु वे शृंगारिक सप्तशती कही जा सकती हैं। किन्तु हिन्दी कवियों ने सतसईकी रचना नीति और उपदेशात्मक भावों को लेकर भी की जिन्हें हम 'सूक्ति सतसई' कह सकते हैं। इस प्रकार सतसई दो रूपों में प्राप्त हैं। एक तो रस-प्रधान सतसइयों के रूप में दूसरी सूक्ति-सतसइयों के रूप में।

रस-प्रधान सतसइयों में अधिकतर शृंगार रस की प्रधानता होती है जिसकी परम्परा 'गाथा' और 'आर्या' सप्तशती से चली। इसी परम्परा पर हिन्दी में बिहारीलाल ने 'बिहारी सतसई' की रचना कर अनेक आगे वाले कवियों के लिये प्रेरणा का बीजारोपण किया। फलतः मतिराम, रसनिधि, विक्रम, रामसहाय की सतसइयां लिखी गईं। छन्द की दृष्टि से सभी ने दोहे छन्द को ही अपनाया, जो कि संस्कृत की आर्या और प्राकृतिक गाथा छन्दों के समान ही दो ही पंक्तियों में आत्मपर्यवसित होता है।

सूक्ति-सतसइयाँ ऐसे दोहों का संग्रह है जिनमें रस पर कवि की दृष्टि उतनी नहीं रहती जितनी उक्तिकौशल पर। सूक्ति शब्द में ही यह भाव छिपा है—'सु+उक्ति=सूक्ति'। आशय यह कि वाग्वैचित्र्य सूक्ति में अधिक होता है, किन्तु यह क्लिष्टता से दूर ही रहता है। किसी धार्मिक नैतिक अथवा उपदेशात्मक भावना से प्रेरित होकर जब कवि कोई मर्मस्पर्शिणी बात बड़े प्रभावात्मक ढंग से कहता है तब उस उक्ति को हम सूक्ति का पर्याय देते हैं। अस्तु, इसमें उक्तिकौशल एवं रचना-चातुर्य कवि की एकमात्र विशेषता बन जाती है, जिसके द्वारा वह अपनी उक्ति में एक बांकापन एक वक्रता ला पाता है। जब ये ही हृदयस्पर्शी उक्तियाँ सतसई रूप में संग्रहीत कर दी जाती हैं तब उन्हें सूक्ति-सतसई कहा जाता है। उदाहरणार्थ—तुलसी सतसई और वृन्द सतसई ऐसी ही श्रेणी में आती हैं।

एक पग और आगे बढ़ने पर वीर रस की सतसइयाँ मिलती हैं जिनमें अपनी भिन्न मौलिकता है। यों तो इनमें सूक्तियाँ भी हैं किन्तु इनकी गणना भी हम रस-प्रधान सतसइयों में ही करते हैं। जैसा कि इनके नाम से ही प्रकट है ये वीररसात्मक भावनाओं से आपूर्ण हैं। अस्तु, ये रस-प्रधान श्रेणी में रखी जाती हैं।

(ख) शतक

हिन्दी में 'शतक' रूप में भी मुक्तक के संग्रह उपलब्ध होते हैं। 'रीतिकाल' में लछमण का 'खुमान शतक', चन्द्रशेखर का 'वृन्दावन शतक', श्रीभट्ट का 'युगलशतक' और मुबारक के 'तिलशतक' और 'अल शतक' मिलते हैं। 'आधुनिक युग' में आकर रत्नाकर का 'उद्धव शतक' मिलता है।

सतसई और शतक के अतिरिक्त हिन्दी में हजारा, पचासा, बत्तीसी और पचीसी रूप में भी मुक्तक संग्रहीत मिलते हैं। 'रीतिकाल में रसनिधि का 'रतनहजारा' भूषण का 'भूषणहजारा' कालिदास त्रिवेदी का 'कालिदास हजारा' मिलते हैं। यहीं तक नहीं, पद्माकर भट्ट का 'प्रबोध पचासा' अम्बिकादत्त व्यास का 'पावस पचासा' तथा मंडन का 'नैन पचासा' आदि संग्रह मिलते हैं। महाराज विश्वनाथ सिंह की 'वसंत चौतीसी' और नागरीदास की 'पावस पचीसी' भी प्रसिद्ध संग्रह हैं। देव ने भी 'तत्त्वदर्शन', 'जगदर्शन' और 'आत्मदर्शन' पचीसियाँ लिखीं। खुमान ने 'हनुमान और नृसिंह पचीसी' की रचना की।

(ग) अवली

अवली के नाम में मुक्तकों के संग्रह हैं तुलसीकृत 'दोहावली', रहीम की

'रत्नावली', नागरीदास की 'रसिक रत्नावली' और आधुनिक युग में दुलारेलाल भार्गव ने 'दुलारे दोहावली' नामक संग्रह प्रस्तुत किया।

(२) संघात[1]

'कोष' की ही भांति संघात भी मुक्तकों का संग्रह कहा गया है किन्तु कोष में जहां विषय का बंधन नहीं रहता वहां संघात में विषय का बंधन आवश्यक है। यहां एक स्पष्ट विषय लेकर मुक्तक संग्रहीत किये जाते हैं। अर्थात् प्रकरण एवं प्रयोजन से पूर्ण संग्रह संघात कहलाता है। हिन्दी में तुलसी कृत 'बरवै कवितावली' और 'वैराग्य संदीपिनी' को मुक्तकों का ऐसा ही संग्रह कह सकते हैं जिसमें रामचरित संबंधी मुक्तकों का संग्रह क्रमबद्ध रूप में किया है। 'उद्धवशतक' को भी हम संघात रूप में ही मुक्तकों का संग्रह कहते हैं। इसमें भागवत के भ्रमरगीत के प्रसंग को लेकर रत्नाकर ने कलात्मक मुक्तकों का संग्रह किया है। इसमें ११६ घनाक्षरियों का संकलन है।

तुलसी का 'रामाज्ञा प्रश्न' भी इसी प्रकार के संग्रह के अन्तर्गत आता है। किन्तु इसमें मुक्तकों के संग्रह की शैली अनोखी है। इसमें रामचरित संबंधी ऐसे मुक्तकों का संग्रह है जो शकुन-सूचक हैं। सात मुक्तकों के 'सप्तक' की शैली में इसकी रचना हुई है।

(३) संहिता

संस्कृत में 'संहिता' के रूप में भी संग्रह मिलता है जिसमें कई पद एक में मिले होते हैं। किन्तु 'संहिता' का संबंध वैदिक साहित्य से है अस्तु इसका संबंध हमारे मुक्तक से नहीं।

(४) साखी

एक नवीन प्रकार का संग्रह संत कवियों का भी हमें मिलता है जिसे 'साखी' कहते हैं। कबीर ने अपने साखी नामक संग्रह में साधना की दृष्टि से साधना के एक-एक अंग को लेकर 'गुरु, विरह, सुमिरन, ज्ञान, वैराग्य, परिचय, चेतावनी', आदि को लेकर दोहों का संग्रह किया है। साखी का अर्थ साक्षी, से लिया जाता है। कबीर ने अपने पूर्ववर्ती साधकों की बातों को ही अपने अनुभव पर पुनः जनता के समक्ष अपनी कविता के रूप में रखा। अतः पुराने सिद्धों एवं नाथों की बातों पर उन्होंने जो दोहों में साक्षी दी,

---

१. काव्यादर्श दण्डी, अ० १, पृ० ६।

उसी को एक स्थान पर संग्रहीत कर उसे साखी का नाम दिया गया। ज्ञान-विषयक दोहों को ही विशेष रूप में यहाँ स्थान मिला है।

उक्ति वैचित्र्य की दृष्टि से मुक्तकों का विभाजन

मुक्तकों का ऐसा वर्ग भी मिलता है जिसमें रस को कोई स्थान नहीं केवल कथन का चमत्कार ही प्रमुख रूप से उपलब्ध होता है। ऐसे मुक्तक छः प्रकार से उपलब्ध होते हैं किन्तु इनमें तीन काव्यरूप एक ही समान हैं। ये मुख्यतः आठ प्रकार के रूप हैं—१. सन्धा-भाषा, २. उलटवासियां, ३. दृष्टकूट, ४. सूक्ति, ५. समस्यापूर्ति, ६. मुकरियां, ७. झूलना, ८. ककहरा। इनमें संधा-भाषा, उलटवासियां और दृष्टकूट वस्तुतः आपस में साम्य रखते हैं।

संधा-भाषा

वस्तुतः 'संधा-भाषा' सिद्धों के काव्य का अपना एक नया रूप है जो मुक्तक के इसी भेद में रखा जा सकता है। संधाभाषा शब्द को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने इसे संन्ध्याभाषा के अर्थ में लेकर ऐसी भाषा माना है जो अंधकार और प्रकाश के बीच आने वाले सन्ध्या काल के सदृश कुछ-कुछ अस्पष्ट होती है। ऐसी भाषा को ज्ञान के दीपक से ही समझा जा सकता है, ऐसा उनका मत है।

दूसरा मत इसे सन्धि देश की भाषा कहकर बिहार और बंगाल की उस मिलती हुई सीमा की भाषा बताता है जहाँ बंगाल की पश्चिमी और बिहार की पूर्वी सीमा मिलती है। किन्तु इस मत को आचार्यों ने बिलकुल ही निराधार माना है क्योंकि बिहार और बंगाल के विभाग सदा से इस भांति चले आये हैं।[1]

महामहोपाध्याय पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने इसको सन्धा भाषा कहकर ऐसी अभिप्राययुक्त भाषा से उसका सम्बन्ध जोड़ा है जो सहजयानियों और नाथपंथियों के गूढ़ सिद्धान्तों को अभिव्यंजित करने की क्षमता रखती है। इन्होंने सन्धा शब्द की व्युत्पत्ति 'सन्धाय' शब्द से मानी है जिसका अर्थ है अभिप्रेत। इसीका अपभ्रंश रूप सन्धा हो गया, ऐसा इनका मत है।

डा० रामकुमार वर्मा ने इसे अपभ्रंश भाषा के सन्ध्याकाल या समाप्त होनेवाले काल की भाषा कहकर अभिहित किया है[2]। किन्तु आचार्य हजारी

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य ह० प्र० द्विवेदी, पृ० ३४।
२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इति० पृ०६२, डा० रामकुमार वर्मा।

प्रसाद द्विवेदी ने इसे उलटवाँसी के अर्थ में ही लिया है और इस सन्धा-भाषा तथा उलटवांसी और दृष्टकूट में अभिन्नता भी मानी है। इस प्रकार इनके मतानुसार चंद के दृष्टकूट कबीर की उलटवांसी या विपर्यय और सूर के दृष्ट-कूटों में कोई अन्तर नहीं।[१]

वास्तव में देखा जाय तो संधाभाषा के अंतर्गत ऐसी ही मुक्तक कविता आती हैं जिनमें विरोधाभास मूलक उलटी बातों की नियोजना मिलती है। सहजयानियों को ऐसी उलटी बातें लिखने की आवश्यकता अपने साधनापंथ के कारण हुई, जिसमें वे संसार की समस्त क्रियाओं को उलटे ढंग से होता हुआ बताते थे। क्योंकि उनके विश्वास में केवल हठयोग की क्रियाएँ सीधी होती थीं। अस्तु, संधाभाषा में हम ऐसी ही उक्तियों को पाते हैं जिनमें प्राकृ-तिक बातों से बिलकुल विपरीत बातें कहकर अपने साधना-पंथ को सिद्धों ने समझाने का प्रयत्न किया है। संसार में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष यह क्रम सीधा मान्य है किन्तु सिद्धों ने अपनी सन्धा-भाषा के मुक्तकों में मोक्ष, काम, धर्म और अर्थ की बातें लिखकर उसे सीधा पंथ कहकर अभिहित किया। उसीप्रकार सांसारिक क्रम ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास के स्थान पर उन्होंने संन्यास, वानप्रस्थ, गार्हस्थ्य और ब्रह्मचर्य को सीधा ढंग बताया। सिद्धों ने अपने सिद्धान्तों के अनुरूप संधा-भाषा में ऐसे मुक्तक पदों की नियोजना की जिसमें आश्चर्यजनक बातों का समावेश मिलता है और आगे चलकर चंद, कबीर, और सूर में ऐसी ही उक्तियों से भरे पद 'दृष्टकूट' और उलटवाँसियों के रूप में दिखाई पड़े। श्रीराहुल सांकृत्यायन ने कबीर आदि संत कवियों की उलट-वांसियों पर सिद्धों का ही प्रभाव बताया है। सिद्धों की संधा-भाषा का रूप ढेण्-ढणपाद की रचना में इस प्रकार का है :—

टालत मोर घन नाहि पड़वेषी। [टलत मोह घर नाहि पड़ोसी]
हाड़ीति भात नाहिं नित आवेशी। [हाड़ी में भात नहि नित आवेशी]
बेंग संसार बड़हिल जाय। [बिना अंग संसार बढ़ा जाय]
दुहिल दुधु कि बेण्टे षामाय। [दुहा दूध कि बाँट समाय]
बलद बिआएल गबिया, बांझे। [बैल बियाया गैया बाँझ]
निते निते षियाला सिंहे षम जूझया। [नित नित स्यार सिंह सों जूझे]
ढेंपढणपार गति बिरला बूझया। [ढेन्ढणपाद का गीत बिरला बूझा]

—हिन्दी सा० की भूमिका, ह० प्र० द्वि०, पृ. ३४।

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३५।

इसी प्रकार सिद्ध कवियों में गोरखपा, डोम्भिपा, आदि कवियों ने उलट-बाँसियों के रूप में ही संधाभाषा का रूप खड़ा किया। इस काव्यरूप द्वारा इन्होंने हठयोग की बातों को स्पष्ट करने की चेष्टा की। इनके विरोधाभास में उक्ति का वैचित्र्य ही मिलता है। सिद्धों की इस संधाभाषा का प्रभाव नाथपंथियों पर पड़ा जिससे होता हुआ संत कवियों में स्पष्ट रूप से उलटवांसियों में चला आया। कबीर की उलटवांसियों में तथा सिद्धों की सन्धाभाषा में कहीं-कहीं बहुत साम्य मिलता है। यहाँ भी यौगिक क्रियाओंके अनुरूप ही पदावली का प्रयोग मिलता है। अतः इन योग सम्बन्धी बातों को जानना, इन उलटवांसियों को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है।। परन्तु वह चाहे संधाभाषा हो चाहे उलटबाँसी पर रसानुभूति किसी में भी नहीं होती। केवल कौतूहल और आश्चर्य की प्रवृत्ति ही सजग हो पाती है। कबीर की उलटबाँसियाँ प्रसिद्ध हो गई हैं:—

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंह चरावै गाई।
पहले पूत पीछे भई माई, चेला के गुर लागे पाई।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई।
तलकरि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद को बूझै, ताकूँ तीन्यू त्रिभुवन सूझै।

क० ग्रंथावली, पृ. ९२।

सूर के सूरसागर में आकर यही उलटवांसी दृष्टकूट के रूप को लेती है। साहित्य-लहरी में तो ऐसे मुक्तक भरे पड़े हैं। विद्यापति में भी ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं। किन्तु सूर, विद्यापति दोनों के इस काव्यरूप में कबीर का प्रभाव होते हुए भी भाव-भेद के कारण दोनों में पर्याप्त भेद भी आ गया है। कबीर ने अपनी उलटवांसियों में अपनी हठयोगी साधना के अनुरूप जिस प्रकार के रूपकों का सहारा लिया है उनमें उसी यौगिक क्रियाओं के अनुरूप पदावली एवं भाव हैं। पशुओं और जुलाहों संबंधी बातों को भी लेकर कबीर ने उलटवांसियां लिखीं। दोनों ही प्रकार की उलटवांसियों में कवि ने अपने निर्गुण मत के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का निरूपण किया है। किन्तु सूर, और विद्यापति की भक्ति-भावना में कबीर से पर्याप्त भेद था। अतः भाव में तो अन्तर आ ही गया है साथ ही सूर में गीतात्मकता, उद्रेक और भावात्मकता अधिक थी जिससे इनके दृष्टकूटों में साहित्यिकता भी आ गई है। इन पर अधिक प्रभाव विद्यापति के दृष्टकूटों का पड़ा। सूर ने

हृदय से प्रेरित होकर काव्य के इस रूप को जन्म न दिया प्रत्युत बाह्य प्रेरणा के फलस्वरूप उन्होंने ऐसे मुक्तकों की रचना की। तो भी इस बाहरी प्रभाव को उन्होंने इस प्रकार आत्मसात् करके दिखा दिया कि वे उनके अपने से ही दिखाई पड़ते हैं। सूर के पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति यहीं आकर दिखाई पड़ती है।

विद्यापति के कूट-विषयक मुक्तक कबीर आदि पिछले कवियों की तुलना में सुन्दर बने हैं—

हरि सम आनन हरि सम लोचन,
हरि तहाँ हरि बर आगी।
हरिहि चाहि हरि हरि न सोहाबए
हरि हरि कए उठि जागी।
माधव हरि रहु जलधर छाई
हरि नयनी धनि हरि घरिनि जनि।
हरि हेर इत दिन जाई
हरि मेल मार हार मेल हरि सम
हरिक बचन न सोहावे ॥ २५८ ॥

—पदावली पृ० ३२२।

सूर ने विद्यापति की भाँति 'सारंग' शब्द को लेकर दृष्टकूट के मुक्तक लिखे हैं—

सारँग सारँग धरहिँ मिलावहु।
सारँग बिनय करति, सारँग सौं, सारँग दुख बिसरावहु।
सारँग-समय दहत अति सारँग, सारँग तिनहिं दिखावहु।

—सूरसागर, दशमस्कंध, ॥ २०९७ ॥ २७१५ ॥
ना० प्र० सभा, प्रथम संस्करण।

सूक्ति

सूक्ति शब्द 'सु' और 'उक्ति' के योग से बना है अतः अर्थ भी स्पष्ट यही है कोई सुन्दर उक्ति। संस्कृत में सुभाषित शब्द का भी प्रयोग इसी अर्थ में होता है और समस्त सुभाषित एवं नीति और उपदेशात्मक श्लोक इसी सूक्ति के अन्तर्गत आते हैं। ठीक इसी प्रकार अपभ्रंश में नीति और उपदेशात्मक दोहों की प्रचुरता मिलती है। अपभ्रंश में सूक्तियाँ अधिकतर धर्म के सिद्धान्तों को लेकर धर्म-विषयक उपदेशमय सूक्तियां हैं।

हेमचन्द्र सूरि के प्राकृत व्याकरण में ऐसी अनेक उपदेश और नीति विषयक सूक्तियां मिलती हैं—

सायरु उप्परि तणु धरइ, तलि घल्लइ रयणाइँ।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ, सम्माणेइ खलाइँ।२३४।
गुणहि न संपइ कित्ति, पर, फल लिहिशा भंजंति।
केसरि न लहइ बोड्डिअवि, गय लक्खेहि घेप्पंति।२३५।

—हि० काव्यधारा, पृ० २८२

हिन्दी में सीधे अपभ्रंश की परम्परा पर ही कबीर के उपदेशात्मक दोहे मिलते हैं। किन्तु बिहारी की सूक्तियों में वचन-वक्रता अधिक मिलती है अतः यहाँ सूक्तियों का रूप तनिक चमत्कारिक और अनूठा अधिक होगया है।

कनकु कनक तैं सौगुनी, मादकता अधिकाइ।
उहिँ खाएँ बौराइ, इहिँ, पाएँ ही बौराइ ॥१६२॥

—बि० रत्नाकर, पृ० ८२।

समस्यापूर्ति

समस्यापूर्ति भी मुक्तकों का एक प्रकार है जिसमें उक्तिवैचित्र्य के होते हुए कुछ सरलता का पुट भी मिलता है। इसमें कवि को एक पंक्ति दे दी जाती है उसके पश्चात् उसी पंक्ति के आधार पर कवि संपूर्ण छन्द को बनाता है। इसका प्रारंभ सर्वप्रथम भारतेन्दु के कवि-समाज के भीतर हुआ जिसमें पं० अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, रामकृष्ण वर्मा आदि कवियों ने प्रसिद्धसमस्यापूर्तियाँ लिखी हैं। 'समस्यापूर्ति प्रकाश' में इनकी ऐसी कविताओं का संग्रह भी हुआ है। प्रतापनारायण मिश्र की निम्नलिखित पूर्ति समस्यापूर्ति का सुन्दर उदाहरण है—इसमें विषय है 'पपीहा जब पूछिहैं पीव कहाँ'—

बनि बैठी है मान की मूरति सी, मुख खोलत बोले न नाहीं न हाँ।
तुमही मनुहारि कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ।
बरषा है 'प्रतापजु', धीर धरौ, अबलौं मन को समझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू पपिहा जब पूछिहैं पीव कहाँ।

—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७०१, रा० च० शुक्ल।

समस्यापूर्तियां मुख्यतः सवैया छन्द में ही रची गई हैं।

मुकरियाँ

इस काव्यरूप का प्रयोग खुसरो ने अधिकांश रूप में किया। इसको

विशेषता यह है कि इसमें एक प्रश्न और उत्तर साथ ही साथ होता है। यह प्रश्न 'ए सखि साजन' के रूप में होता है और उसका उत्तर अन्त में मुकर दिया जाता है। अर्थात् उस उत्तर का निषेध कर दिया जाता है। इसी मुकरने के आधार पर इसे मुकरी कहते हैं। उदाहरणार्थ—

मेरा मोसे सिंगार करावत।
आगे बैठ के मान बढ़ावत।
वासे चिक्कन ना कोउ दीसा।
ऐ सखि साजन ! ना सखि सीसा।

—हि० सा० का आलो० इति०, रा० कु० वर्मा, पृ० १८७।

'झूलने' और 'ककहरे' संतों के अपने भिन्न काव्यरूप हैं जिनकी चर्चा मुक्तक के विकास में संतों के मुक्तकों के प्रकरण में हो चुकी हैं। इनको भी हम इसी उक्तिवैचित्र्य की दृष्टि से विभाजित कर सकते हैं।

(२) मुक्तक का भावगत विभाजन

मुक्तक का दूसरा विभाजन भावगत विभाजन हो सकता है। किस भाव की प्रेरणा से कवि ने प्रेरित होकर मुक्तक की रचना की, यह रूप के अध्ययन में आवश्यक हो जाता है। कारण यह कि बाह्य अभिव्यंजना आन्तरिक प्रेरणा के अनुरूप ही रूप धारण करती हैं। अस्तु, भाव की दृष्टि से यदि हम मुक्तक का विभाजन करें तो हम उसे एक तो लौकिक और दूसरे पारलौकिक उन दो बड़े भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) लौकिक मुक्तक

लौकिक भावना इस लोक के समस्त क्रियाकलापों को लेकर चलती है। अतः उसके भीतर मानव की अन्यान्य भावनाएं स्थान पा लेती हैं। उसकी शृंगारिक, वीर-रसमयी, नीति और उपदेशात्मक प्रवृत्तियां लौकिक मुक्तकों में अभिव्यक्त होने लगती हैं। यह लौकिक भावना कभी हमें संसार के स्वर्णिम स्वरूप को दिखा कर उसमें प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करती हैं तो कभी जीवन के शाश्वत सत्य की ओर संकेत कर हमें सचेत होने के लिये बाध्य करती हैं; कभी वह आदर्शजीवन की ओर ले चलती हैं, जहाँ जाकर मनुष्य अपनी अनुभवगम्य बातों को नीति और उपदेशात्मक वाक्यों में रखने की चेष्टा करने लगता है। इन्हीं भावों के प्रभाव से कवि भी प्रेरित होने लगता है। जिस कवि का जिस प्रवृत्ति विशेष की ओर आकर्षण अधिक हो जाता है वह उसी धारा में बहकर भावाभिव्यंजना में तत्पर हो जाता है। अस्तु, कुछ कवि शृङ्गारमयी भावनाओं से हमें अवगाहन कराने के लिये

शृङ्गार प्रधान मुक्तकों की रचना करते हैं, तो कुछ वीर भावों से प्रेरित होकर ऐसे मुक्तकों की रचना करते हैं जिनसे हममें उत्साह भर जाता है। कुछ कवि अपने अनुभव के आधार पर व्यवहार की बातों को बताने लगते हैं।

इस प्रकार लौकिक भावों से पूर्ण मुक्तक तीन प्रमुख धाराओं में बँट जाते हैं और हमें शृङ्गार-प्रधान, वीररस-प्रधान, व्यवहार-प्रधान मुक्तक भिन्न-भिन्न रूप से विकसित होते हुए दिखाई पड़ने लगते हैं।

(क) शृंगार-प्रधान :

हिन्दी के शृङ्गार-प्रधान मुक्तक रचयिताओं को बहुत कुछ प्रेरणा संस्कृत के कवियों से मिली। संस्कृत में ऐसे मुक्तकों की रचना का बाहुल्य रहा है। कवियों में भर्तृहरि और अमरुक विशेषरूप से शृङ्गार-प्रधान मुक्तकों के लिये प्रसिद्ध हो गए हैं। इन्होंने अपने शृङ्गारशतकों में शृंगाररस की जितनी भी अवस्थाएं संभाव्य हैं, उन सभी का चित्रण किया है। भर्तृहरि ने जहाँ स्त्री और प्रेम की सर्वसाधारण विशेषताओं को प्रमुखता दी वहाँ अमरुक ने प्रेमी और प्रिय से संबंध रखने वाली उन सभी अवस्थाओं का चित्रण किया है, जिनकी गणना नायिकाभेद के अन्तर्गत होती है। शृङ्गार रस के लिये इन्होंने शार्दूलविक्रीड़ित छन्द को प्रमुखता दी। भर्तृहरि ने भी इसी छन्द को प्रमुखता देते हुए शिखरिणी, अनुष्टुभ, वसंततिलका और स्रग्धरा का भी प्रयोग किया है। वस्तुतः संस्कृत में शृङ्गार मुक्तकों की रचना इन्हीं छन्दों में अधिकतर हुई।

हिन्दी में ऐसे मुक्तकों की रचना फुटकल रूप में आरम्भ से ही होती चली आ रही है। किन्तु संस्कृत के ढंग पर शृंगार-प्रधान मुक्तकों का सच्चा स्वरूप हमें रीतिकाल में ही आकर मिलता है। रीतिकालीन कवियों का मुख्य प्रेरणा-स्रोत संस्कृत दिखाई पड़ता है। भर्तृहरि और अमरुक से तो इन कवियों ने प्रेरणा ली ही साथ ही प्राकृत की 'गाथा सप्तशती' और अपभ्रंश के मुक्तकों से भी वे प्रभावित हुए। अपभ्रंश का संपूर्ण दोहा-साहित्य शृंगार-प्रधान मुक्तकों का ही विशेषरूप से संग्रह कहा जा सकता है। हेमचन्द्र ने जो उदाहरण अपने व्याकरण में दिये हैं वह मुख्यरूप से ऐसे ही शृंगारिक मुक्तक हैं। हिन्दी के ये शृंगारिक मुक्तक दो रूप में उपलब्ध होते हैं—कुछ तो उद्भट या फुटकल रूपमें और कुछ संकलित रूप में।

शृंगार-प्रधान मुक्तकों के प्रमुख रचयिता बिहारीलाल कहे जा सकते हैं। इनकी सतसई में 'आर्या और गाथा सप्तशती' तथा अमरुक के 'शतक' का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर पड़े हुए इस

प्रभाव की विस्तृत विवेचना की है। एक आध उदाहरण को लेकर हम देख सकते हैं किस कौशल के साथ बिहारी ने भावों को ग्रहण कर उनको हिन्दी में ढाला है।

अजों न आए सहज रंग, बिरह दूबरे गात।
अबहीं कहा चलाइयति, ललन चलन की बात॥२०३॥

—बिहारी रत्नाकर।

इसका मूल रूप 'गाथा सप्तशती में इस प्रकार है :—

अव्वो दुक्करआरअ पुणो वि तन्तिं करेसि गमणस्स।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीय तरंगिणो चिउरा॥७३॥

—शतक ३।

छुवै छिगुनी पहुँचौ गिलत, अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि, को, बलि, तुम्हैं पत्याइ॥ १५६॥

—बि० रत्ना०।

आर्या में इसका रूप इस प्रकार है :—

निहितार्द्धलोचनायास्त्वं तस्या हरसि हृदयपर्य्यन्तम्।
न सुभग समुचितमीदृशमंगुलिदाने भुजं गिलसि॥ ३४०॥

—आर्यासप्तशती, पृ. १८२।

जहाँ अमरुक शतक में यह श्लोक है :—

तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभिरापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियायाः।
मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टेर्नूनं यमच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति॥८०॥

—अमरुक शतक, पृ. ६१।

वहाँ बिहारी ने केवल एक दोहे में समस्त भाव को भर दिया है :—

पलनु प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु, छनछनाइ, छिपि जात॥६५६॥

—बि० रत्ना०।

बिहारीलाल के पश्चात् 'रीतिकाल' में मतिराम, मंडन, देव, घनानन्द, आलम आदि अनेक कवि हुए जिन्होंने शृङ्गार-प्रधान मुक्तकों की रचना की।

शृंगार-प्रधान मुक्तकों को समुचित रूप से देखा जाय तो उनके मुख्य दो स्पष्ट भेद किये जा सकते हैं। एक तो चित्रात्मक और दूसरा भावात्मक। ये दो प्रकार के भेद पूर्ववर्ती सभी भाषाओं के शृङ्गारिक मुक्तकों में मिलते हैं। संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश तीनों ही में शृङ्गारिक मुक्तकों का प्राधान्य रहा

है। अस्तु, कहीं कवि रूप का चित्रण करता हुआ दिखाई पड़ता है तो कहीं वह रसाभिव्यक्ति में संलग्न है।

चित्रात्मक

चित्रात्मक मुक्तकों की विशेषता रूप एवं प्रकृति के चित्रण में है। इस रूप का चित्रण आदिम काल से होता चला आ रहा है किन्तु अगणित भाव-भंगियों को चित्रित करके भी कलाकार सन्तुष्ट न हो सका। सौन्दर्य चिर नवीन, चिर नूतन प्रभाव डालता है, अतः कवि के कल्पना-पट पर जिस रूप में उसका अंकन हो जाता है उसी रूप में उसे अभिव्यक्त करने के लिए वह व्यग्र हो उठता है। यह रूप-चित्रण शृङ्गार-प्रधान मुक्तकों के रचयिताओं का प्रिय विषय रहा है। नायिका के एक-एक अंग के सौन्दर्य को लेकर न जाने कितने चित्र इन कवियों ने अंकित किये। नखशिख-वर्णन इसी रूप-चित्रण के भीतर आता है। यह नखशिख-वर्णन की परिपाटी भी बहुत पुरानी है। इस रूप-चित्रण के अतिरिक्त प्रकृति के चित्र भी कवियों ने प्रस्तुत किये। चित्रात्मक मुक्तकों के अन्तर्गत यह रूप-चित्रण भी दो प्रकार से हुआ है। कहीं कवियों ने स्वतन्त्र रूप में शुद्ध चित्रण किया है तो कहीं उद्दीपन रूप में। शुद्ध रूप में सौन्दर्य का जहाँ वर्णन है, वहाँ तो केवल चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। किसी भाव की व्यंजना यहाँ नहीं होती। केवल सौन्दर्य का आह्लादकारी स्वरूप हमारे समक्ष खड़ा हो जाता है। किन्तु रूप-चित्रण जहाँ उद्दीपन रूप में हुआ है वहाँ आलंबन की सौन्दर्यमयी विविध चेष्टाओं का वर्णन कर अनुभव का विधान भी किया गया है। अतः ऐसे रूप-चित्रण में जहाँ कोरा रूप-वर्णन हुआ वहाँ उसके प्रभाव का चित्रण भी कवियों ने किया।

रीतिकाल के शृङ्गारिक मुक्तकों में जहाँ रूप-चित्रण मिलता है वहाँ ये दोनों शैलियाँ मिलती हैं। कवियों ने शुद्ध रूप-चित्रण तो किया ही है, किंतु उद्दीपन रूप में यह चित्रण विशेष रूप में मिलता है। विभाव पक्ष का निरूपण और अनुभव-विधान दोनों ही ऐसे चित्रण के भीतर हृदयग्राही रूप में मिलते हैं। इस प्रकार आलम्बन एवं आश्रय दोनों ही की चेष्टाओं का वर्णन इन चित्रात्मक मुक्तकों के भीतर हमें मिलता है।

बिहारी के शृङ्गार-प्रधान मुक्तकों में चित्रात्मक मुक्तकों के दोनों स्वरूप दिखाए जा सकते हैं। उन्होंने सतसई में शुद्ध रूप-चित्रण कम किया और उद्दीपन रूप में अधिक। शुद्ध रूप-चित्रण में बढ़ा-चढ़ा कर अतिशयोक्ति के

रूप में कहने की पद्धति-सी चली आती है जो बिहारी से भी मिलती है। निम्न दोहों में शुद्ध रूप-चित्रण की शैली मिलती है :—

सीस-मुकुट, कटि-काछिनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल ॥ २०१ ॥

—बि० रत्नाकर।

जरी कोर गोरैं बदन, बढ़ी खरी छबि देखु।
लसति मनौ बिजुरी किए, सारद-ससि-परिवेषु ॥ ३०४ ॥
चमचमात चंचल नयन, बिच घूंघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता-बिमल, जल उछरत जुग मीन ॥ ५७६ ॥
पचरंग रंग बेंदी खरी, उठै ऊगि मुख जोति।
पहिरे चीर चिनौटिया, चटक चौगुनी होति ॥ ६२६ ॥
बेंदी भाल, तँबोल मुँह, सीस सिलसिले बार।
हग आँजे, राजे खरी एई सहज सिंगार ॥६७६॥

—बिहारी रत्नाकर।

पद्माकर के जगद्विनोद में रूप-चित्रण कहीं कहीं बहुत ही सुन्दर हुआ है। एक स्थान पर नायिका होली खेलने के पश्चात् रंगभरी चुनरी निचोड़ती हुई अंकित की गई है।

आई खेलि होरी घरै नवल किशोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगंधनि झकोरै है।
कहै पद्माकर इंकत चलि चौकी चढ़ि,
हारन के बारन तें फंद-बंद छोरै है।
घाँघरे की घूमनि सु उरुन दुबीचे दाबि,
आँगी हूँ उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतनि अधर दाबि दूनरि भई सी चापि,
चौवर-पचौवर के चूनरि निचोरै है ॥१४॥

—पद्माकर पंचामृत पृ. ६०।

उद्दीपन रूप में रूप-चित्रण के मुक्तक बिहारी में अनेक मिलते हैं। इन चित्रों में कवि ने नायिका की चेष्टाओं द्वारा एक ओर चित्र अंकित किया है और दूसरी ओर भावाभिव्यंजना भी की है।

कंज नयनि मंजनु किए, बैठी ब्यौरति बार।
कच-अँगुरी-बिच दीठि दे, चितवति नंदकुमार ॥७८॥

कर समेटि कच भुज उलटि, खएँ सीस-पटु टारि।
काको मनु बाँधे न यह, जूरा-बाँधनहारि ॥६८७॥
रही दहेंड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि।
फेरति करि उलटी रई नई बिलोवनिहारि ॥२४५॥
—बिहारी रत्नाकर।

श्रृङ्गार-प्रधान मुक्तकों की रचना आगे चलकर भारतेन्दु युग में हुई। स्वयं भारतेन्दु ने 'प्रेम माधुरी' में ऐसे सरस मुक्तकों का संग्रह किया जिनमें श्रृंगार रस की प्रधानता मिली। तत्पश्चात् जगन्नाथदास रत्नाकर ने ऐसे मुक्तकों का संग्रह 'श्रृंगारलहरी' में किया। शुद्ध एवं उद्दीपन दोनों ही रूप में इनके चित्रण मिलते हैं।

अमल अनूप रूपपानिप-तरंगनि मैं
जगमग ज्योति आनि सान सौं बसति है॥
कहै रतनाकर उभार भए अंग माँहिं
रंचक सी कंचुकी अदेख उकसति है।
रसिक-सिरोमनि सुजान मनमोहन की
लाख-अभिलाष-भौंरैं-भीर हुलसति है।
अभिनव जोवन-प्रभाकर-प्रभा सौं बाल
अरुन उदै की कंज कली सी लसति है ॥१६॥
—रत्नाकर पृ. ३२२, ना. प्र. सभा सं १६१६।

रूप-चित्रण द्वारा भावाभिव्यंजना भी सुन्दर है।

भरि जोवन गागरी में इठलाइ कै नागरी चेटक पारि गई।
रतनाकर आहट पाई कछू, मुरि घूँघटि टारि निहारि गई।
करि वार कटाच्छ कटारिनि सौं, मुसकानि मरीचि पसारि गई।
भए घाय हिये मैं अघाय घने, तिनपै पुनि चाँदनी मारि गई ॥१०१॥
—रत्नाकर।

इन लेखकों के अतिरिक्त गयाप्रसाद शुक्ल सनेही और दुलारेलाल भार्गव के श्रृंगारिक मुक्तक भी उल्लेखनीय हैं। भार्गवजी ने अधिकांश रूप में हाव-भाव एवं चेष्टाओं द्वारा रूप-चित्रण किया है।

नई सिकारिन-नारि,
चितवन बंसी फेंकि कै,
चट घूंघट-पट डारि,
चंचल चित-झख लै चली ॥२४॥
—दुलारे दोहावली।

जिस प्रकार रूप का चित्रण शृङ्गारिक मुक्तकों में दो प्रकार से हुआ उसी भांति प्रकृति के चित्र काव्य में प्रायः दो प्रकार से अंकित हुए। एक में प्रकृति शुद्ध आलंबन रूप में प्रस्तुत हुई और दूसरे में उसका उद्दीपन रूप में चित्रण हुआ। मुक्तकों में प्रकृति के चित्रण की एक विशिष्ट परिपाटी सी रही है। यह परिपाटी रूढ़िवादी है और वह प्रकृति को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत करने की ही है। शृङ्गारिक मुक्तकों के अन्तर्गत प्रकृति के यही उद्दीपन के रूप में अंकित चित्र आते हैं। रीतिकालीन कवियों के मुक्तकों का एक सर्वप्रिय विषय यह प्रकृति-चित्रण भी रहा है। बारहमासे और षट्ऋतु वर्णन की प्रणाली में प्रकृति का चित्रण मानवीय भावों के आधार पर ही हुआ। प्रकृति के माध्यम से इन कवियों ने दुख-सुखमय भावों की व्यंजना को ही अपना प्रमुख ध्येय बना लिया था। इस प्रकार कभी तो प्रकृति विरह को उद्दीप्त करती हुई दिखाई पड़ती है तो कभी उसमें उल्लास की भावना व्याप्त दिखाई देती है।

वर्षाऋतु में विरहिणी स्त्रियों की वेदना अत्यन्त तीव्र हो जाती है। कवि प्रकृति का चित्रण करता हुआ भावाभिव्यंजना भी करता गया है।

सननात अँध्यारी छुटा छननात घटा घन की अरी घेरती सी।
झननात झिली सुरसोर महा वरही फिरै मेघन टेरती सी।
कवि ठाकुर वे पिय दूर बसैं तन मैन मरोर मरोरती सी।
यह पीर न पावति आवति है फिर पापिनी पावस फेरती सी॥

—ठाकुर शतक, छंद ५० ।

और भारतेन्दु के निम्न वर्णन में भी प्रकृति चित्रण भावात्मक हो उठा है।

कूकै लगीं कोइलें कदंबन पै बैठि फेरि
धोए धोए पात हिलि-हिलि सिरसै लगे।
बोलै लगे दादुर मयूर लगे नाचैं फेरि
देखि कै सँजोगी जिन हिय हरसै लगे।
हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी
लखि 'हरिचंद' फेरि प्रान तरसै लगे।
फेरि झूमि-झूमि बरषा की रितु आई फेरि
बादर निगोरे झुकि झुकि बरसै लगे॥ २॥

—प्रेम माधुरी भा० अं० पृ० १४५।

इसी प्रकार रत्नाकर के 'रत्नाष्टक' में छहों ऋतुओं पर लिखे गए

अष्टकों में प्रकृति के चित्र मानवीय भावों के साथ उपस्थित किये गए हैं। रीतिकाल में ठाकुर, देव, बोधा, बलभद्रसिंह, प्रियदास, देवीसिंह, आदि कवियों के प्रकृति चित्र बहुत ही भावात्मक हो गए हैं। इन चित्रों में शृङ्गार रस के स्थायी भाव रति की ही भावना प्रमुख है। अतएव ये चित्र शृङ्गार प्रधान मुक्तकों के भीतर परिगणित होते हैं।

भावात्मक

भावात्मक मुक्तकों के अन्तर्गत उन मुक्तकों को स्थान दिया जाता है जिनमें रस व्यंजना पर कवियों का ध्यान रहता है। अर्थात् हृदय की नाना वृत्तियों के उद्घाटन द्वारा शृङ्गाररस का पूर्ण परिपाक इन मुक्तकों की विशेषता होती है। विभाव, अनुभाव और संचारियों के सम्यक् नियोजन द्वारा रस की निष्पत्ति कर पाठक में भी अनुकूल रस की सृष्टि करना कवि का ध्येय होता है। अतएव ऐसे भावात्मक मुक्तकों में कवि को रस परिपाक बड़े कौशल से करना पड़ता है।

शृङ्गार के दोनों पक्ष-संयोग एवं वियोग, इन शृङ्गार-प्रधान मुक्तकों में मिलते हैं। किन्तु मुक्तकों में जितना अधिक वर्णन वियोग पक्ष का हुआ है उतना संयोग का नहीं। संभवतः इसका कारण भी यही है कि वियोग में हृदयस्पर्शिता अधिक होती है, दूसरे उसमें हृदय की वृत्तियों के प्रसरण का अधिक क्षेत्र मिलता है और उसमें अधिक व्यापकता आ जाती है। संयोग में इतने प्रकार की मनोवृत्तियों को अभिव्यंजित करने का अवसर कम मिलता है। यही कारण है शृङ्गारप्रधान भावात्मक मुक्तकों में वियोग पक्ष का वर्णन करने वाले मुक्तक अत्यधिक प्रभावात्मक हो उठे हैं।

इन भावात्मक मुक्तकों में भी रसाभिव्यक्ति प्रायः दो प्रकार से हुई है। एक तो परम्पराभुक्त रूप में जहाँ कवियों ने शृङ्गार में संयोग एवं वियोग पक्ष का वर्णन बँधी हुई परिपाटी के रूप में किया है, और दूसरे स्वतन्त्र रूप में। परम्पराभुक्त रूप में रस की व्यंजना करने वाले मुक्तक बाहरी क्रियाकलापों तक ही सीमित हैं। इनमें बड़ी ही कलापूर्ण रीति से रसाभिव्यंजना हुई है। शास्त्रीय पद्धति के अनुसरण पर इनसे संयोग में "षट्ऋतु वर्णन" और वियोग में "बारहमासे" की शैली बहुत ही प्रचलित हुई और इनके अतिरिक्त शृङ्गार रस के भीतर नायिकाभेद की पद्धति तो बहुत ही रूढ़िबद्ध है। कल्पना की ऊंची उड़ान और अतिशयोक्ति इन मुक्तकों में अधिक पाई जाती है और हृदय की वृत्तियों का सहज उद्घाटन बहुत कम।

भावात्मक मुक्तकों के दूसरे प्रकार में जहाँ कवि ने स्वतन्त्र भावाभिव्यंजना

को अपनाया, रस-व्यंजना अपने चरमोत्कर्ष पर मिलती है। ये मुक्तक सच-मुच बड़े भावात्मक एवं हृदयस्पर्शी हैं। कल्पना का सहारा इनमें अवश्य लिया गया है किन्तु उसके द्वारा कवि ने संयोग एवं वियोग की नाना परिस्थितियों के उद्घाटन को ही अपना ध्येय बना रखा है। बाहरी शारीरिक क्रियाकलापों की ओर उसकी दृष्टि कम गई है। अर्थात् इन कवियों ने हृदय की नाना वृत्तियों के स्वाभाविक वर्णन के लिये अधिकतर अन्तर्वृत्ति का ही निरूपण किया है। यहीं शृंगार रस का परिपाक अपने सहज रूप में हुआ है। ये मुक्तक ऊँचे भावात्मक मुक्तक कहे जाते हैं। कारण यह कि इनमें अनुभूति और कला का संतुलन स्थापित हुआ है। परम्परामुक्त भावात्मक मुक्तकों में कलापक्ष की ही प्रधानता मिली। अनुभूति और कला का वहाँ असंतुलित रूप में वर्तमान है। रूप की दृष्टि से स्वतन्त्र शैली पर निर्मित भावात्मक मुक्तकों का महत्त्व अधिक है।

शास्त्रीय अथवा परम्परामुक्त पद्धति पर रस की व्यंजना बिहारी, देव, रसनिधि, वृन्द आदि कवियों ने की और स्वतन्त्र शैली पर भावाभिव्यंजना के मुख्य प्रवर्तक घनानन्द हुए। इनके अतिरिक्त बोधा, ठाकुर, रसखान आदि कवियों ने भी रीतिबद्धता का बहुत कुछ परित्याग किया। प्रथम पद्धति के भावात्मक मुक्तकों में परम्परा की छाप गहरी मिलती है तो दूसरी में स्वतंत्र उद्भावना द्वारा हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों का उद्घाटन। यही कारण है दोनों प्रकार के मुक्तकों में रूप की दृष्टि से कुछ वैभिन्य आ गया है। घनानंद आदि कवियों ने भावाभिव्यंजना कवित्त और सवैयों में अधिकतर की, तो बिहारी आदि कवियों ने अधिकतर दोहों में।

शैली की दृष्टि से भावात्मक मुक्तकों का यह भेद महत्त्वपूर्ण है। शृंगार के लिये कवित्त और सवैये की पद्धति बहुत अच्छी सिद्ध हुई है। कारण यह है कि नाना वृत्तियों के उद्घाटन में वर्णन की पर्याप्त आवश्यकता होती है जिसका अवसर दोहे के छोटे आकार में नहीं रहता। परन्तु सवैये में कवि को भावाभिव्यंजना के लिये अवसर अधिक मिलता है। अस्तु, जहाँ दोहे में केवल ऐसे ही भावों का वर्णन सतर्कता से करना पड़ता है, जो बड़े ही प्रभावोत्पादक होते हैं, वहाँ सवैये में इस दृष्टि से कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता और यहाँ कवि का क्षेत्र उतना सीमित नहीं होता। दूसरे संगीत तत्त्व जितना कवित्त और सवैये में होता है उतना दोहे की शैली में नहीं, यही कारण है कि जो गूँजनेवाला प्रभाव वह उत्पन्न कर सकता है वह दोहा नहीं। विरह वर्णन का एक दोहा बिहारी और दूसरा सवैया घनानंद का लेकर अन्तर

स्पष्ट किया जा सकता है। विरह में बिहारी की नायिका की अवस्था ऐसी हो गई है :—

इत आवति चलि जाति उत चली, छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें सैं रहै, लगी उसासनु साथ।। २१७।।

—बिहारी रत्नाकर।

किन्तु घनानंद की नायिका के उद्‌गार कितने सहज हैं :—

जाहि जीव चाहै सो तहीं पै ताहि-दाहै
वाहि ढूँढ़त ही मेरी मति गति गई खोय है।
करौं कित दौर और रहौं तो लहौं न ठौर
घर को उजारि के बसत बन मोय है।
बनी आनि ऐसी घनआनँद अनैसी दसा
जीव जान प्यारे बिन, जागे गयो सोय है।
जगत हँसत यौं जियत मोहि ताते नैन
मेरो दुख देखि रोवो फिरि कौन रोय है।

—घनआनंद कवित्त, पृ० ७६, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

आधुनिक काल में आकर भारतेन्दु के कवि समाज के भीतर आने वाले कवियों ने शृङ्गार रस के भावात्मक मुक्तकों की रचना पुरानी परिपाटी पर ही की। स्वयं भारतेन्दु ने कवित्त सवैये बहुत ही मर्मस्पर्शी शैली में रचे। प्रतापनारायण, अम्बिकादत्त, ठाकुर जगमोहनसिंह और बद्रीनारायण प्रेमघन, के कवित्त सवैये भी बहुत ही सरस शैली में निर्मित हुए। आगे चलकर गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', डा० गोपालशरण सिंह ने भी शृङ्गार रस के भावात्मक मुक्तकों की धारा आगे बहाई।

भारतेन्दु के मुक्तकों में विशेषता इस बात की है कि जहाँ उन्होंने शृङ्गारिक भावना की अभिव्यक्ति की है वहाँ तो कवित्त और सवैये की पद्धति को अपनाया है किन्तु जहाँ इन्होंने किसी अन्य भाव की व्यंजना की है वहाँ अन्य छन्दों का प्रयोग किया है। दोहे की शैली में भी बिहारी की भाँति शृङ्गारिक मुक्तकों की रचना इस काल में हुई। दुलारेलाल की दोहावली में इसी पद्धति का अनुगमन है। यहाँ कवि ने बिलकुल पुरानी परिपाटी का

अनुमान भी किया है। कवि ने रसाभिव्यक्ति में अनुभवों एवं हावों की योजना अधिक की है :—

> झपटि लरत, गिरि गिरि परत, पुनि उठि उठि गिर जात।
> लगनि-लरनि चख-भट-चतुर, करत परसपर घात ॥ ६४ ॥
>
> —बिहारीबोधिनी पृ० ७४।

विरह वर्णन में भी जिन भावों की व्यंजना हुई है उनमें बाहरी क्रिया-कलापों पर ही कवि की अधिक दृष्टि है :—

> कठिन विरह ऐसी करी, आवति जबें नगीच।
> फिरि फिरि जात दसा लखै, कर दृग मीचति मीच ॥ ४ ॥
>
> —बि० बोधिनी पृ० ५४।

क्रमशः शृंगारिक मुक्तकों का अभाव होता गया और देशकी राजनीतिक परिस्थितियों ने देशभक्ति की भावना को प्रबल कर दिया जिससे अन्य भावों को प्रधानता मिलने लगी।

(ख) वीर रस प्रधान

वीर-रस-प्रधान मुक्तकों में कवि की भावना वीररसात्मक भावनाओं से आपूर्ण हो इस रूप में अभिव्यक्त होती है, जिससे श्रोता में उत्साह की भावना उत्पन्न होकर क्रियात्मक रूप धारण कर ले। यदि कवि युद्धवीर का वर्णन करता है तब शत्रु के नाश का, यदि दान का वर्णन करता है तब त्याग का और यदि धर्मवीर का वर्णन करता है तब अधर्म के नाश का भाव एवं उत्साह जाग्रत करने का प्रयास करता है। इस प्रकार ऐसे मुक्तक कहीं तो युद्धवीरता, कहीं दयावीरता, कहीं दान और कहीं धर्मवीरता की प्रशंसा में लिखे गए।

वीर रस के मुक्तक अपभ्रंश काल से चले आते हैं और 'वीर गाथा काल' में भी ऐसे मुक्तकों की रचना हुई। किन्तु इस काल के वीर-रस-प्रधान काव्यों में वीर और शृंगार रसों का योग हुआ। अस्तु, इस काल के काव्य वीर-रस-प्रधान होते हुए भी शृंगार को लेकर निर्मित हुए, जिससे आख्यान-आग्रह इनमें पूर्ण रूप में विद्यमान मिलता है। यही कारण है इनकी गणना वीरभावात्मक खंडकाव्यों (Ballad) में होती है।

ऐसे मुक्तकों की प्रचुरता रीतिकाल एवं परवर्त्ती काल में मिलती है। भूषण और पद्माकर वीर रस के कवि कहे जाते हैं। इन कवियों में भी

उन्हीं का महत्त्व समझा जाता है जिन कवियों ने वीर रस के मुक्तकों की रचना में अपने हृदय की सच्ची अनुभूति को प्रकट करने का प्रयास किया। यश एवं धनोपलब्धि के लक्ष्य से जिन मुक्तकों की रचना हुई, उनका महत्त्व रस और अनुभूति की दृष्टि से अधिक नहीं। कारण यह कि ऐसे मुक्तकों में हृदय की सच्ची भावना का सर्वथा अभाव और चाटुकारिता एवं झूठी प्रशंसा के भाव ही प्रमुख रूप में मिलेंगे। कोई भी अनुभूति तभी सच्ची होगी जब उसका प्रेरणा-स्रोत वास्तविक होगा। यही कारण है कि रीतिकाल में ऐसे बहुत से कवि मिलते हैं जिन्होंने कोरी प्रशंसा मात्र की। आश्रयदाता वास्तव में प्रशंसायोग्य है अथवा नहीं, इसका ध्यान उन्होंने कभी न किया। फलतः एक ओर तो ऐसे वीर रस के मुक्तक मिलते हैं जिनमें शुद्ध एवं सच्चा वर्णन मिलता है और दूसरी ओर ऐसे भी मुक्तकों की भरमार है जिनमें झूठी प्रशंसा की भावना निहित है। इस दृष्टि से भूषण सच्चे वीर रस के कवि कहे जायँगे। उनके आश्रयदाता भी शिवाजी और छत्रसाल थे जिनकी वीरता लोक-विश्रुत है। सच्चे वीर नायक से उन्हें सच्ची प्रेरणा मिली जिससे अभिव्यक्ति का स्वरूप बहुत ही स्वाभाविक हुआ। उनके वीर रस भरे मुक्तकों में आश्रयदाता की झूठी चाटुकारिता या झूठी प्रशंसा के भाव नहीं मिलते। उनमें हृदय के सहज उद्गार बड़ी ही ओजस्वी पदावली में निकल पड़े हैं। शिवाजी की प्रशंसा में उनका यह पद्य कितना ओजपूर्ण है।

> गरुड़ को दावा सदा नाग के समूह पर,
> दावा नाग जूह पर सिंह सिरताज को।
> दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर,
> पच्छिन के गोल पर दावा सदा बाज को।
> भूषन अखंड-नवखंड महि-मंडल में,
> तम पर दावा रवि-किरन-समाज को।
> पूरब पछाँह देश दच्छिन ते उत्तर लौं,
> जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को ॥३२॥[1]

---

१. शिवाबावनी, पृ० १६६, भूषणग्रंथावली, रामनरेश त्रिपाठी, संशोधित-संस्करण ४।

पद्माकर ने भी वीर रस के मुक्तकों की रचना की। परन्तु उनमें भावों की वह हार्दिकता न थी जो भूषण में हमें मिली। यही कारण है कि पद्माकर के वीर रस भरे मुक्तक उतने प्रभावोत्पादक न हो सके। वीर भावों की अभिव्यक्ति के लिए आलम्बन की योग्यता परमावश्यक है। जब तक आलम्बन योग्य न होगा, तब तक वीर रस के मुक्तकों में स्वाभाविकता नहीं आ सकेगी। यही कारण है पद्माकर के वीर रस के मुक्तक उस सौन्दर्य को नहीं लिए हुए हैं जो भूषण में प्राप्त हैं। तो भी रूप की दृष्टि से देखा जाय तो उनके कवित्तों में कोई परिवर्तन नहीं आया है। इनमें शब्दों की विलक्षणता अधिक है—

गोला से गयंदन के गोल खोलिबे में झिले,
रान के इसारे लेत बान के उचट्टा से।
कहै 'पद्माकर' प्रताप सिंह महाराज,
बकसे तुरंग ते उमंग उठे बट्टा-से ॥
आछे अच्छरीन के कटाच्छन तें लच्छ गुने,
पच्छ बिन लच्छ अंतरिच्छँ घन-घट्टासे।
चाकन में चाक-से चतुर्मुख-से चौहट में,
उलट पलट्टे में पट्टन के पट्टा से ॥११॥

—पद्माकर पंचामृत, 'फुटकल', पृ० २६६।

आधुनिक काल के प्रथम उत्थान में वियोगी हरि ने वीर रस के मुक्तकों का संग्रहीत रूप 'वीर सतसई' के रूप में प्रस्तुत किया। वीर रस की अभिव्यक्ति अपने सहज रूप में जब भी हुई उसने या तो छप्पय या कवित्त छन्दों का ही बाना अधिकतर पहना। किन्तु दोहे जैसे छोटे से छन्द में उसे ढालने का प्रयत्न वियोगी जी ने ही किया। यही कारण है कि वीर रस की सच्ची अभिव्यक्ति एवं उसके सच्चे प्रभाव का यहाँ सर्वथा अभाव ही रहा है। 'सतसई' की दोहे की पद्धति को अपनाने के कारण ही यह अभाव आ गया है। दोहे में ही सतसई की रचना रूढ़ सी होगई है। किन्तु भावाभिव्यक्ति में कवि जब तक अनुकूल छन्दों का चुनाव नहीं करता उसमें वह सहज सौन्दर्य नहीं आ पाता जो हृदय को प्रभावित कर सके। युद्धवीर का एक उदाहरण लीजिये।

औघट घट कृपाण को, समर धार बिनु पार।
सनमुख जे उतरे तरे, परे विमुख मँझधार ॥३५॥ [1]
सुन्यो प्रलय-घनघोर लौं, जब सैनिक रण संख।
किलकि-किलकि कूदें समर, भरि उड़ान बिनु पंख ॥३६॥
धौल धौरहर ढाय महि, करि शिव बिधि को ख्याल।
धूम-धौरहर नील-नभ, सृजति तोप विकराल ॥४०॥ [2]

यहाँ पर वीर भावना और उत्साह के क्रियात्मक रूप का उदय नहीं हो पाया है। मानों कवि उदाहरण देकर उपदेश या नीति की बातें कर रहा है। वस्तुतः दोहे में यदि कोई भाव अपने सहज रूप में अभिव्यक्त हुआ है तो वह उपदेश या नीति का ही भाव। यही कारण है कि जब कबीर तुलसी और रहीम के ऐसे दोहे पढ़ते हैं तब उनके उपदेशात्मक भाव हृदय में चुभ जाते हैं। संक्षिप्त रूप में वीर भावों की व्यंजना अपने सहज प्रभावात्मक ढंग में हो ही नहीं सकती। किंतु उपदेश वहीं प्रभावात्मक होते हैं जहाँ दोहे जैसी छन्द की छोटी सी परिधि में गंभीर से गंभीर भाव कवि भर दे। रीतिकाल के वीर रस के मुक्तकों में कवित्त छंद का ही प्रयोग विशेषरूप से हुआ।

लाला भगवानदीन ने भी वीर रसके मुक्तकों की रचना की और जगन्नाथ दास रत्नाकर ने तो अपने 'वीराष्टक' में १४ प्रसंगों में वीर रस भरे मुक्तकों को संग्रहीत किया। इनमें जयद्रथ वध, वीर अभिमन्यु, और महाराणा प्रताप, पर लिखे हुए मुक्तक वस्तुतः बहुत ही ओजस्वी शैली में हैं।

बीर अभिमन्यु की लपालप कृपान बक्र,
सक्र-असनी लौं चक्रव्यूह माहिं चमकी।
कहै रतनाकर न ढालनि पै खालनि पै,
झिलिक झपालिन पै क्यां हूँ कहूँ ठमकी॥
आई कंध पै तौ बांटि बंध प्रतिबंध सबै,
काटि काटि संधि लौं जनेवा ताकि तमकी।
सीस प परी तौ कुंड काटि मुंड काटि फेरि,
रुंड कै दुखंड कै धरा पै आनि धमकी॥५॥ [3]

---

१. वीरसतसई—वियोगीहरि—युद्धवीर, पृ० १०, प्रथम संस्करण १६८४।
२. वीरसतसई—वियोगीहरि—युद्धवीर, पृ० ३६, प्रथम संस्करण १६८४।
३. रत्नाकर...संग्रहकर्ताः....वीरअभिमन्यु, पृ० ४६५। ना०प्र० सभा काशी. सम्वत १९९०।

(ग) व्यवहारमूलक

लौकिक मुक्तकों का तीसरा प्रकार ऐसे व्यवहारपरक मुक्तकों का है जिनमें कवि संसार में रहते हुए प्रत्येक क्षेत्र में उचित व्यवहार की रीति बताता है। इसके लिए कवि को गहन अनुभवकी आवश्यकता होती है। जिन कवियों का जीवन विषम से विषम और विविध से विविध परिस्थितियों में से होकर निकलता है, जिन्होंने प्रत्येक क्षेत्र का अनुभव पाया है उन्हीं कवियों में व्यवहारपरक बातों को सुझाने की क्षमता होती है। ऐसे कवियों की वाणी में जीवन की सच्ची अनुभूति छिपी रहती है और उनके उद्‌गार भी उतनी ही प्रभावशालिता लिए रहते हैं। अपने अनुभव के बल पर राजा से लेकर रंक तक का जीवन उनकी आँखों के समक्ष अपने यथार्थ रूप में आजाता है और प्रत्येक के जीवन का अध्ययन कर वे कुछ ऐसी बातें निर्धारित कर देते हैं जिनसे पाठक लाभ उठा सकें। व्यवहारमूलक मुक्तकों में कवि के अनुभव के आधार पर पाठक को जीवन का वह नवनीत मिलता है जिससे मानवमात्र को लाभ होता है।

इस प्रकार व्यवहारपरक मुक्तकों के दो प्रमुख प्रकार हो जाते हैं नीतिप्रधान और उपदेश प्रधान।

नीतिप्रधान मुक्तक

नीतिप्रधान मुक्तकों में कवि अपने अनुभवों को काव्यरूप में बद्धकर एक प्रकार से हमें सचेत करने की चेष्टा करता है। यहाँ कवि का क्षेत्र केवल साधारण समाज ही नहीं, प्रत्युत राजा से लेकर प्रजा के हित के लिये नीति की बातें कवि कहता है। ये नीति की बातें उन्हें जीवन पथ पर सुगमता से चलने में सहायता देती हैं। उन्हें वह आँखें प्रदान करती हैं जिनसे उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का पूरा पूरा ज्ञान हो जाता है। विपत्ति पड़ने पर क्या करना उचित है और संपत्ति आने पर कैसा व्यवहार अपेक्षित है, निम्नश्रेणी के मनुष्यों के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये आदि बातों को कवि इन मुक्तकों में अपने अनुभव के आधार पर भरता है। इस व्यवहारनीति के साथ ही कवि राजनीति-विषयक बातों को भी कहता है। सफल राजा के क्या गुण हैं, उसका प्रजा के प्रति कैसा व्यवहार हो तथा कैसे शिष्टाचरण द्वारा उसे जीवनयापन करना चाहिये, उसकी संगति कैसी हो आदि विषयों को लेकर भी नीतिप्रधान मुक्तकों की रचना हुई। इस प्रकार नीतिप्रधान मुक्तकों के भी तीन प्रकार हो जाते हैं—राजनीति, व्यवहारनीति, और सदाचार-संबंधी मुक्तक।

राजनीति-विषयक मुक्तकों का संग्रह संस्कृत में बहुत से कवियों ने किया। 'चाणक्य नीति' और 'राजनीति समुच्चय' जैसे संग्रहों में ऐसे ही मुक्तकों की रचना हुई है जिनमें राजनीति के एक एक पक्ष को लेकर मुक्तक रचना हुई है। हिन्दी में ऐसे मुक्तकों की रचना तुलसीदास की दोहावली में बहुलता के साथ हुई है।

> माली भाँनुकिसान सम, नीतिनिपुन नरपाल।
> प्रजा-भागबस होहिंगे, कबहुँ कबहुँ कलिकाल ॥५०७॥
> बरषत हरषत लोग सब, करषत लखै न कोइ।
> तुलसी प्रजा-सुभाग ते, भूप भानु सो होइ ॥५०८॥
>
> —तुलसी ग्रंथावली, 'दोहावली' खंड २।

इन मुक्तकों में कवि ने योग्य राजा की उपमा 'माली' 'भानु' और 'कृषक' आदि से देकर बड़े ही सुन्दर ढंग से उसके कर्तव्य एवं उसके परिणाम को बताया है।

व्यवहारनीति-विषयक मुक्तकों का प्रणयन कबीर, तुलसी, रहीम, बिहारी, वृंद, गिरिधर, दीनदयालगिरि सभी ने प्रचुर मात्रा में किया और मानवजीवन के नित्यप्रति होने वाले व्यवहार पक्ष पर इन्होंने सुन्दर उक्तियाँ कही हैं। ये उक्तियाँ सरल भाषा एवं दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास अलंकारों द्वारा बड़े ही मार्मिक ढंग से कही गई हैं। रहीम के ऐसे मुक्तक हृदय के अत्यन्त सहज उद्‌गार के कारण सबके मुँह पर धरे हुए हैं।

> रहिमन निज मन की व्यथा, मनहि राखियो गोय।
> सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय ॥५४॥
> तेहि प्रमाण चलिबो भलो, जो सब दिन ठहराय।
> उमड़ि चलै जल पार ते, जो रहीम बढ़ जाय ॥८३॥
> रहिमन देख बड़ेन को, लघु न दीजिये डारि।
> जहाँ काम आवे सुई, कहा करै तरवारि ॥८६॥
>
> —रहिमन शतक[1]।

सदाचार-विषयक मुक्तकों में कवि के ऐसे भाव उमड़ पड़े हैं जिनमें

---

१. रहिमनशतक, संग्रहकर्ता सूर्यनारायण त्रिपाठी, सं० १९५२.

शिष्ट आचरण की ओर उसने अधिक झुकाव रखा है। सद्‌आचरण के महत्त्व एवं सुपरिणाम को यहाँ कवियों ने समझाया है। ऐसे मुक्तक भी इन्हीं कवियों ने रचे हैं जिन्होंने राजनीति एवं व्यवहारनीति-विषयक मुक्तक रचे हैं।

> तुलसी या जग आइके सबसों मिलिहैं धाय।
>
> का जाने का भेष में, नारायन मिलि जाय॥

मिलनसार होना समाज का गुण है, सबके साथ मीठा व्यवहार करना सदाचार का मूल मंत्र है। इस बात को कवि ने बड़े ही मार्मिक ढंग से इस दोहे में व्यक्त किया है।

उपदेश प्रधान मुक्तक

संत एवं भक्त कवियों ने चिन्तन के क्षणों में जिस तथ्य की उपलब्धि की उसे साधारण जन तक पहुँचाने के लिये वे व्यग्र हो उठे। एक ओर जहाँ उन्होंने योग एवं भक्ति की रूपरेखा खींची वहाँ दूसरी ओर मानव को सचेत करने के लिए रह रह कर उपदेश भरे वाक्य भी कहे। इन उपदेशात्मक मुक्तकों में अपने समग्र अनुभवों को भी उन्होंने भरा। सत्पथ पर लाने के लिए उन्होंने अधिकतर यही बताने की चेष्टा की कि जीवन में किस प्रकार असत् का त्याग किया जा सकता है। अस्तु, उन्होंने कभी तो राग-विषयक उपदेश दिए कभी विराग विषयक और कभी धार्मिकतामूलक, कभी चारित्र्य-प्रवर्तक।

राग-विषयक उपदेशों में कवियों ने हमारा ध्यान करणीय विषयों की ओर आकृष्ट किया और भरसक यह बताने की चेष्टा की कि अमुक कर्मों द्वारा किस प्रकार मनुष्य सद्‌गति को प्राप्त हो सकता है। विराग-विषयक उपदेशों में मानव प्रगति में बाधक उन सभी विषयों की ओर से मुख मोड़ने का उपदेश दिया जिनमें उलझ कर मनुष्य अधोगति को प्राप्त हो सकता है। अस्तु, इन्द्रियजन्य विषय-वासना से विमुख होने के लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह पर नियंत्रण रखने के लिए इन कवियों ने चेतावनी दी। उसी प्रकार धर्म में प्रवृत्ति रखने के लिए इन कवियों ने धर्म संबंधी पवित्र बातें उपदेश रूप में कहीं और चरित्र को ऊँचा बनाने के लिये आदर्श सामने रखे।

इन उपदेशात्मक मुक्तकों की पद्धति किस प्रकार से वैदिक काल से चली आती है इसकी चर्चा हम मुक्तक के विकास की चर्चा करते हुए कर चुके हैं। यहाँ इतना ही अलम् है कि उपदेश की पद्धति मुक्तक काव्य में पुरानी है और क्रमशः पालि, अपभ्रंश, में होती हुए हिन्दी में भी चली आ रही

है। संत कवियों ने विशेष रूप से उपदेशात्मक मुक्तक रचे। कबीर के ऐसे मुक्तक प्रसिद्ध हैं।

एक साधे सब साधिया, सब साधे सब जाय।
उलटी सींचे मूल को, फूले फलै अघाय ॥२७४॥
काजर केरी है कोठरी, बुड़ताई संसार।
बलिहारी तिहि पुरुष के, 'जो' पैठि के निकल निहार ॥२१७॥[1]

कबीर के ऐसे उपदेशात्मक मुक्तक 'साखी' के अन्तर्गत संग्रहीत हुए हैं। 'तुलसी सतसई' में भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

आतम बोध विवेक बिनु, राम भजन अलसात।
लोक सहित परलोक की, अवसि बिनासी बात ॥२४॥
आसन दृढ़ आहार अरु, सुमति ज्ञान दृढ़ होय।
तुलसी बिना उपासना, बिनु दुलहे की जोय ॥३६॥[2]

तुलसी ने चातक को लेकर जिस अन्योक्ति-पद्धति के उपदेश दिए हैं वह अनोखी शैली है। वह उपदेश भी भक्तों एवं प्रेमियों के प्रति हैं।

तुलसी चातक के मते, स्वातिहुँ पियत न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़त भली, घटे घटेगी कानि ॥६४॥
एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
स्वाति सलिल रघुनाथ वर, चातक तुलसीदास ॥१०७॥[3]

इसी प्रकार रहीम, गिरिधर, दीनदयाल, आदि कवियों ने बड़े ही सुंदर उपदेशात्मक मुक्तकों की रचना की है। गिरिधर और दीनदयाल की कुंडलिया शैली दूसरी शैली है उपदेश देने की। दीनदयाल की अन्योक्तियां तुलसी की शैली से भिन्न हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह से सावधान रहने के लिये वे कहते हैं।

राही सोवत इत किते, चोर लागै चहुँ पास।
तो निज धन के लेन को, गिनैं नींद की स्वास।
गिनै नींद की स्वास बास बसि तेरे डेरे।

---

१. मूलबीजक, प्रथमावृत्ति, १६३८, बड़ौदा, साखीप्रकरण,।
२. सतसई सप्तक, श्यामसुन्दर दास, सर्ग १।
३. सतसई सप्तक, श्याम० सु० दास, प्रथम सर्ग।

लिए जात बनि मीत माल गे साँझ सबेरे।
बरनै दीन दयाल न चीन्हत है तू ताही।
जाग जाग रे जाग इते कित सोवत राही ॥७॥[१]

इसी प्रकार उपदेशात्मक मुक्तकों में धार्मिकतामूलक, चारित्र्यप्रवर्त्तक, रागविषयक और विरागविषयक भाव गुंफित किए गए हैं। तुलसी की सतसई ऐसे मुक्तकों से पूर्ण है।

२. पारलौकिक मुक्तक

ऐहिकतापरक मुक्तकों में कवि की लौकिक भावना को अभिव्यक्त होने का अवसर मिला। अतएव उनमें विविध रसों की व्यंजना भी हुई। किन्तु पारलौकिक मुक्तकों में कवि की आमुष्मिकता भरी भावना को ही अभिव्यक्त होने का अवसर मिला, जिससे यहाँ केवल शान्त रस के ही मुक्तकों की रचना हुई।

कवि की भावना जब लौकिक स्तर से ऊपर उठकर आध्यात्मिक या अलौकिक भावनाओं से भर जाती है तब उस परम शक्ति के साक्षात्कार से कभी तो वह इतना अभिभूत हो जाता है कि अनेक प्रकार से उसका गुण-गान करने लगता है और कभी वह अपनी दीनता को खोल कर उसके समक्ष रख देता है। उसके इस दैन्य की अभिव्यक्ति बड़े ही मार्मिक एवं शुद्ध भाव से होती है। उसका आत्म-प्रकाशन बड़े ही नम्र रूप में होता है। कभी-कभी वह आत्मकल्याण की भावना से प्रार्थना करने लगता है तो कभी विश्व कल्याण की भावना से उसकी प्रार्थना का रूप बड़ा ही व्यापक हो जाता है। कभी ऐसा भी अवसर आता है जब आराध्य देव के एक एक अंग को लेकर अनेक प्रकार से गुणगान करने वाला वही कवि संसार के प्रति वैराग्य के भाव प्रकट करने लगता है, तब उसे केवल ईश्वराराधना में ही आत्मपरितोष मिलने लगता है और उसका यह आत्मपरितोष बड़े ही शान्तरस में होकर अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार पारलौकिक मुक्तकों के कई प्रकार हो जाते हैं:—(१) स्तुतिप्रधान, (२) प्रार्थनाप्रधान, (३) वैराग्यप्रधान, (४) संतोष-प्रधान और (५) कथनी प्रधान।

(१) स्तुतिप्रधान मुक्तक और उसके दो रूप

स्तुतिप्रधान मुक्तकों में कवि उस दिव्य विभूति के दर्शनोपरान्त उसका

---

१. अन्योक्ति कल्पद्रुम, चौथी शाखा, दीनदयाल गिरि सं०लाला भगवान-दीन, मोहनवल्लभ पंत।

सुन्दर से सुन्दरतम वर्णन करते करते लीन हो जाता है। यह स्तुति किसी पार्थिव वस्तु की प्राप्ति के निमित्त नहीं की जाती, तो भी इसका रूप दो प्रकार का होता है। स्तुति का एक रूप तो केवल स्तुति के लिये होता है अर्थात् यहाँ कवि की स्तुति बिलकुल निष्काम होती है। कवि अपने हृदय के आह्लाद को अविरल गति से अभिव्यक्त करता जाता है, किसी फल की इच्छा उसे यहाँ नहीं होती। इस प्रकार की स्तुति को निष्काम स्तुति कहते हैं। दूसरी ओर कवि की स्तुति में कुछ कामना का रंचमात्र अंश निहित होता है। किन्तु यह कामना किसी फलप्राप्ति के रूप में नहीं होती अथवा ऐश्वर्य प्राप्ति उसका ध्येय नहीं होता। प्रत्युत यह कामना ऊँची कामना होती है और वह केवल भगवद्भक्ति को ही अपने हृदय में चिरकाल तक स्थायी बनाए रखने की कामना अन्त में प्रकट कर देता है। अस्तु, उसकी स्तुति सकाम स्तुति कही जाती है।

सकाम और निष्काम स्तुति तुलसी की 'विनयपत्रिका' के आरंभिक स्तोत्रों में मिलती है। सकाम स्तुति का रूप इस प्रकार मिलता है।

श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण-भव-भय-दारुणं।
नवकंज लोचन, कंजमुख, करकंज, पदकंजारुणं॥
कंदर्प अगणित अमित छवि नव नील नीरज सुन्दरं।
मम हृदयकंज निवास करु, कामादि खल दल गंजनं॥४५॥

यहाँ पर राम को अपने हृदय में बसाने की इच्छा कवि को है। इसी प्रकार निष्काम स्तुति के मुक्तक भी इसी विनयपत्रिका में अनेक मिलते हैं। उदाहरणार्थः—

जयति निर्भरानंद-संदोह कपिकेसरी केसरीसुवन भुवनैकभर्त्ता।
दिव्य-भूम्यंजना-मंजुलाकर-मणे, भगत-संताप-चिंतापहर्त्ता॥
जयति धर्मार्थकामापवर्गद विभो! ब्रह्मलोकादि-वैभव-विरागी।
रामपदपद्म मकरंद-मधुकर पाहि दासतुलसी-सरन सूलपानी॥२६॥

—तु० ग्रन्थावली, खंड २।

(२) प्रार्थना प्रधान मुक्तक और उसके दो रूप

स्तुतिप्रधान और प्रार्थनाप्रधान मुक्तकों के बीच विभाजन की रेखा अंकित करना कठिन है—तो भी एक हलकी सी विभाजक रेखा उनके बीच बन जाती है। स्तुति का रूप बड़ा ही वर्णनप्रधान होता है, जहाँ कवि आराध्यदेव

के सौन्दर्य एवं कृपालुता का वर्णन करते कभी थकता नहीं, किन्तु प्रार्थना-प्रधान मुक्तकों में कवि इष्टदेव का गुणगान भौतिक सुख प्राप्ति की ही इच्छा से करता है। उसकी इस प्रार्थना में मनोवांछित फलप्राप्ति एकमात्र लक्ष्य है। हाँ, इस प्रार्थना का स्वरूप कभी बड़ा ही सीमित एवं व्यक्तिगत ऐश्वर्यप्राप्ति के रूप में होता है और कभी समष्टि सुख की इच्छा से उसका रूप बड़ा ही व्यापक हो जाता है। इस प्रकार प्रार्थनापरक मुक्तकों के दो प्रमुख भेद हो जाते हैं। एक तो आत्मकल्याणाश्रित और दूसरा विश्वकल्याणाश्रित कहलाता है। प्रथम प्रकार के मुक्तकों में कवि अपने कल्याण के निमित्त प्रार्थना करता है और दूसरे में जगकल्याणमूलक भावना प्रमुख होती है।

आत्मकल्याण की भावना से प्रेरित होकर तुलसी ने 'हनुमानबाहुक' की रचना की। यहां कवि बाहुपीड़ा को दूर करने के लिये हनुमान से प्रार्थना कर रहा है—

सिन्धु तरे बड़े बीर दले खल जारे हैं लंक से बंक भवासे।
तैं रनकेहरि केहरि के बिदले अरि-कुंजर छैल छवा से।
तोसों समत्थ सुसाहिब सेइ सहै तुलसी दुख-दोष दवा से।
बानर-बाघ बढ़े खल खेचर लीजत क्यों न लपेटि लवा से ।।१८।। [1]

विश्वकल्याण की भावना से भी प्रेरित होकर उन्होंने 'विनयपत्रिका' के आरंभिक स्तोत्र लिखे हैं। इन्हीं स्तोत्रों में स्तुतिप्रधान मुक्तक भी मिलते हैं। कवि की पदावली संस्कृतमय हो उठी है। निम्न स्तोत्र में विश्वकल्याण की भावना है—

संत-संतापहर विश्वविश्रामकर राम कामारि-अभिरामकारी।
सुद्धबोधायतन सच्चिदानन्दघन सज्जनानंदवर्द्धन खरारी।
सील-समता-भवन विषमता-मति-समन राम रमारमन रावनारी।
खड्गकर चर्मवर-वर्मधर, रुचिर कटि तूण, सर सक्ति सारंगधारी।५५। [2]

संस्कृत साहित्य में ऐसे पारलौकिक मुक्तकों की रचना अधिक हुई। इन मुक्तकों को एक भिन्न नाम से ही अभिहित किया गया। इन्हें 'स्तोत्र' कहते

---

१. हनुमानबाहुक, तुलसी ग्रन्थावली खं०२, पृ० २५६।
२. विनयपत्रिका, तु० ग्रन्थावली, पृ० ४९१।

हैं और संस्कृत का यह 'स्तोत्र' साहित्य बहुत ही मर्मस्पर्शी है। इन मुक्तकों की विशेषता है धार्मिक भावनाओं से पूर्ण होना और आत्मदैन्य, गुणगान, वरदान याचना, की भावनाओं से गुंफित होना। हिन्दी में भी पारलौकिक मुक्तकों में उन्हीं मुक्तकों का परिगणन होता है जो या तो संस्कृत की ही भांति स्तोत्र के रूप में लिखे गए हैं अथवा धार्मिक भावनाओं से ओत प्रोत हैं। संस्कृत के ही अनुकरण पर हिन्दी में भी अनेक स्तोत्र लिखे गए। इनकी मूल प्रेरणा संस्कृत के प्रसिद्ध स्तोत्र 'शिवमहिम्नस्तोत्र' से मिली है। जगद्धरभट्ट की 'स्तुतिकुसुमांजलि' भी प्रसिद्ध है। बाण का 'चंडीशतक' भी लोकविश्रुत ही है।

संतों और भक्त कवियों के बाद आधुनिक काल में भारतेन्दु के पिता गिरधर दास ने भी संस्कृत के ही ढंग पर अनेक स्तोत्र लिखे उनके 'शिव स्तोत्र', 'दनुजारिस्तोत्र', 'रामस्तोत्र' आदि प्रसिद्ध हैं।

जगन्नाथ दास रत्नाकर ने 'अष्टक' एक नया रूप निर्मित किया है। इसमें शारदा, कृष्ण, गणेश आदि देवताओं पर आठ आठ पद्य लिखे हैं। इनमें आत्मकल्याण और विश्वकल्याण दोनों ही भाव मिलते हैं।

इसी प्रकार अनूपशर्मा की 'शर्वाणी' स्तुतिप्रधान मुक्तकों का सुन्दर संग्रह है, जिसमें शर्वाणी के एक एक अंग को लेकर कवि ने गुणगान किया है।

(२) वैराग्यप्रधान मुक्तक

संसार में रहते हुए जब कवियों की भावना वैराग्यपूर्ण हो जाती है तब ऐसे वैराग्यप्रधान मुक्तकों को जन्म मिलता है जिनमें विरक्ति के भाव प्रमुख होते हैं। यहाँ विरक्ति का भाव बड़ा प्रबल रहता है और कवि कभी विषय के प्रति द्वेष प्रकट करने लगता है तो कभी संसार के ही प्रति तितीक्ष्य के भाव अभिव्यक्त होने लगते हैं। इस प्रकार रागरहित भावना से पूर्ण इन मुक्तकों में भी दो प्रकार हो जाते हैं—एक तो विषयद्वेष मूलक और दूसरे संसारद्वेष मूलक मुक्तक।

विषयद्वेष मूलक मुक्तकों में कवि इन्द्रियजन्य विषयों से दूर रहने के भाव को अभिव्यक्त करता है। वह वासना के सभी उपकरणों के प्रति तितीक्ष्य प्रकट करता हुआ उनसे दूर रहने में ही कल्याण समझता है। दूसरी ओर संसारद्वेष मूलक मुक्तक में कवि संसार के पार्थिव रूप को हेय समझ कर उसे तजने के लिये मन को चेतावनी देता है। यहां पर वह संसार के सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप के प्रति आसक्ति प्रदर्शित करता है।

हिन्दी में संत और भक्त दोनों ही धाराओं के कवियों ने ऐसे वैराग्य प्रधान मुक्तकों की रचना की जिनमें विषयद्वेष और संसारद्वेष, दोनों ही भावनाएँ नियोजित मिलती हैं। एक ओर कबीर, नानक, दादू की बानी में और दूसरी ओर तुलसी के काव्य में ऐसे मुक्तकों का रूप मिलता है। आगे चल कर 'रीतिकाल' में दीनदयालगिरि परक गिरिधर के वैराग्य मुक्तक लोकविश्रुत हुए। कबीर की 'साखी' तुलसी की 'वैराग्यसंदीपिनी' और दीनदयालगिरि का 'वैराग्यदिनेश' और 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' तथा गिरिधर की कुंडलिया मुक्तक के इसी प्रकार में परिगणित हैं।

विषयद्वेषमूलक मुक्तक तुलसी की वैराग्यसंदीपिनी में आद्यन्त संकलित हैं—

कंचन काँचहि सम गने, कामिनि काठ पषान।
तुलसी ऐसे संतजन, पृथ्वी ब्रह्म समान ॥२८॥
कंचन को मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठ सिला पहिचानत।
तुलसी भूलि गयो रस एहा। ते जन प्रगट राम की देहा ॥२८॥

—तु० ग्रं०, पृ० ११।

संसार द्वेषमूलक मुक्तक दीनदयालगिरि की अन्योक्तियों में बड़ा ही प्रभावात्मक शैली में विरचित हैं—

नाहीं मानस हंस यह नहि मुकतन की रासि।
यह तो जंबुक मलिन सर करटन की मिरियासि।
करटन की मिरियासि रहै याको सठ घेरे।
तू मति भूले धीर जाहु याके नहि नेरे।
बरने दीन दयाल चलो निरजर सर पाहीं।
जहां जलन की खानि सदा सुख है दुःखनाहीं।

—अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृ० ७७।

(४) संतोषमूलक

पारलौलिक मुक्तकों में आत्मपरितोष की भावना को जहां कवियों ने अभिव्यक्त किया है वहां बड़े ही संतोषमूलक मुक्तक निर्मित हुए हैं। यह संतोष सबको सुलभ नहीं, यहीं कारण है सच्चे आत्मपरितोष भरे मुक्तक अधिक नहीं मिलते। दो एक कवियों की ही वाणी में यह मन-विश्राम की भावना मिलती है। तुलसी को यह मन-विश्राम वस्तुतः मिला था अतएव

उनके मुक्तकों में ऐसी भावना बहुत मिलती है। कवि को इतना संतोष है कि उसे अनन्यता का भाव मिल गया है, वह किसी दूसरे की अपेक्षा करता ही नहीं—

एक भरोसो एक बल, एक आस विस्वास।
एक राम-घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ।।

—दोहावली, २७७।। तु० ग्रं०।

चातक की अन्योक्तियों में एक ओर अनन्यप्रेम का वर्णन है और दूसरी ओर कवि के अनन्य प्रेम भाव में तृप्ति की भावना भी भरी हुई है। इसी प्रकार 'वैराग्यसंदीपिनी' में कवि हरि के अनन्य भक्त को ही सबसे अधिक संतोषी समझ कर कह पड़ता है—

अति अनन्य जो हरि को दासा। रटे नाम निसि-दिन प्रति स्वासा।
तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीके देखा सबलोई ।।४०।।

—तु० ग्रं० पृ० १२।

यहां कवि का आत्म-परितोष कितना सच्चा है।

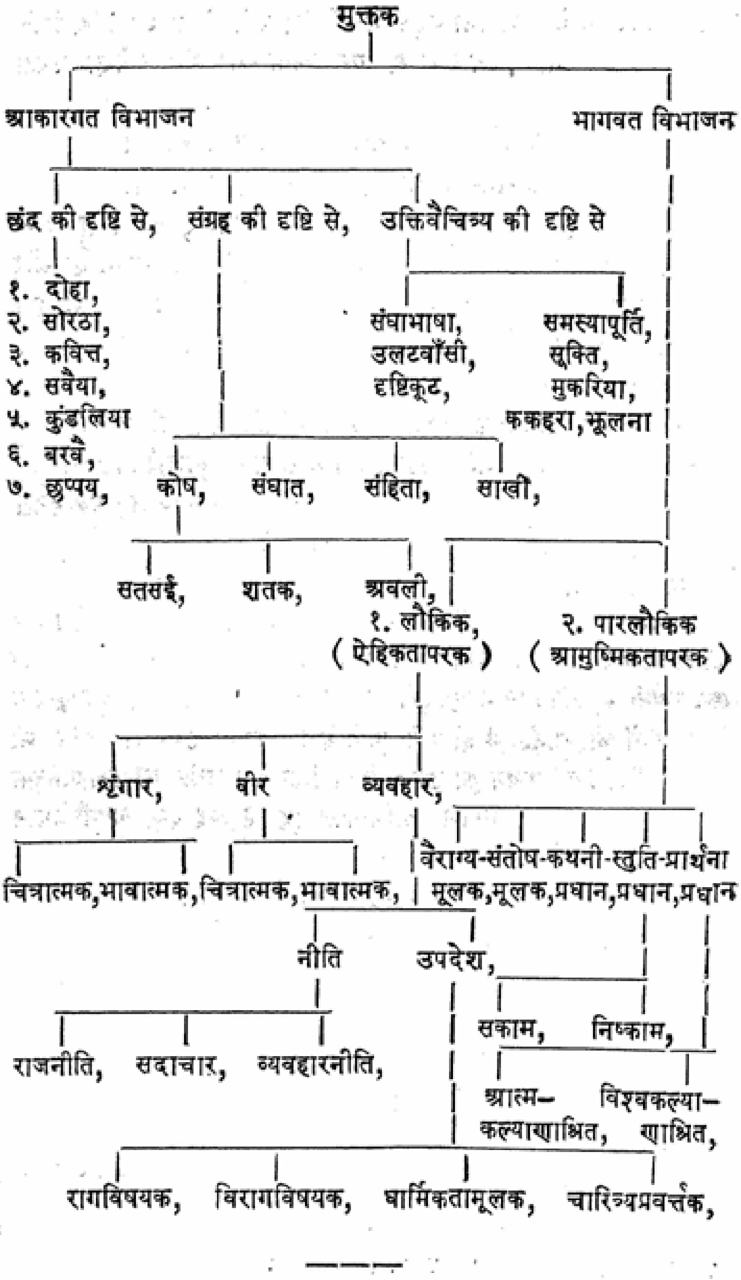
(५) कथनीप्रधान

कथनी प्रधान मुक्तकों में कवि की पारलौकिक भावना एक विशेष रूप को लेकर जब बाहर अभिव्यक्त होती है तब उसमें कथन का चमत्कार देखकर उसे कथनी या उक्तिप्रधान मुक्तकों की संज्ञा दी जाती है। किन्तु ऐसे मुक्तक केवल संतों की बानी में ही पाये जाते हैं। कथनी शब्द का संबंध भी उन्हीं से है। इसमें कथन का ढंग अनोखा होता है। कबीर की उलटबांसियों में होकर जो रहस्यवादी भावना अभिव्यक्त हुई है उन्हें हम कथनी प्रधान मुक्तकों में ले सकते हैं—

है कोई जगत-गुर-ग्यौंनी, उलटि बेद बूझै।
पाणीं में आगनि जरै, अंधरे को सूझै ।।टेक।।
एक दिन दादुरि खाए पंच भवंगा। गाइ नाहर खायौ काटिकाटि अंगा ।।
बकरी बिघार खायौ, हरिन खायौ चीता।
कागिल गर फांदियाँ, बटेरै बाज जीता ।।
मूसै मँजार खायौ, स्यालि खायौ स्वाना।
आदि को आदेश करत कहै कबीर ग्याना ।।१६०।।

—क० ग्रं० १४१।

उपर्युक्त विवेचन में मुक्तक के विविध रूपों पर जो विचार किया गया, उनकी वर्गीकृत तालिका पृष्ठ ५२८ पर देखिये :—


मुक्तक
आकारगत विभाजन
भागवत विभाजन
छंद की दृष्टि से,
संग्रह की दृष्टि से,
उक्तिवैचित्र्य की दृष्टि से
१. दोहा,
२. सोरठा,
३. कवित्त,
४. सवैया,
५. कुंडलिया
६. बरवै,
७. छप्पय,
संधाभाषा,
उलटबाँसी,
दृष्टिकूट,
समस्यापूर्ति,
सूक्ति,
मुकरिया,
ककहरा, झूलना
कोष,
संघात,
संहिता,
साखी,
सतसई,
शतक,
अवली,
१. लौकिक,
(ऐहिकतापरक)
२. पारलौकिक
(आमुष्मिकतापरक)
शृंगार,
वीर
व्यवहार,
चित्रात्मक, भावात्मक, चित्रात्मक, भावात्मक,
वैराग्य-संतोष-कथनी-स्तुति-प्रार्थना
मूलक, मूलक, प्रधान, प्रधान, प्रधान
नीति
उपदेश,
सकाम,
निष्काम,
राजनीति,
सदाचार,
व्यवहारनीति,
आत्म-
कल्याणाश्रित,
विश्वकल्या-
णाश्रित,
रागविषयक,
विरागविषयक,
धार्मिकतामूलक,
चारित्र्यप्रवर्त्तक,

———

चतुर्थ खण्ड

बन्धाबन्ध काव्य

त्रयोदश अध्याय

बन्धाबन्ध काव्य और उसके प्रकार

काव्य के स्वरूप-विधान में कवि की मनोवृत्ति का बहुत हाथ है और इसी मनोवृत्ति के अनुरूप बाह्य अभिव्यंजना अनेक रूप बदलती हुई दिखाई पड़ती है। इन परिवर्तित रूपों में इसी मनोवृत्ति के अनुरूप शैली का वैशिष्ट्य भी परिलक्षित हुआ। किन्तु इन सभी प्रकार के काव्यरूपों में कवि की अनुभूति एक ही शैली में होकर अभिव्यंजित हुई हो ऐसी बात नहीं। कुछ अनुभूतियों ने व्यक्त होकर महाकाव्य का रूप धारण किया, कुछ ने खंडकाव्य का, कुछ ने गीतिकाव्य का और कुछ ने मुक्तकों का बाना पहना। महाकाव्य और खंड-काव्य अपने में वर्णनात्मकता का साम्य लेकर प्रबन्धवर्ग में परिगणित हुए और गीति तथा मुक्तक अपनी अबद्धता के साम्य को लेकर अबन्धवर्ग में रखे गए। किंतु कभी ऐसा भी अवसर आया जब कवि ने अपनी अनुभूति को एक नवीन ढंग से सँजोया। यहाँ हमें प्रबन्ध और अबन्ध दोनों ही वर्ग की विशेषताएं तो मिलीं, साथ ही गद्य का पुट एवं नाटक के तत्त्वों का विनियोग भी मिला। इस प्रकार जब कवि ने काव्य के अन्यान्य रूपों तथा गद्य के क्षेत्र से शैली के उपकरणों को ढूँढ़कर उनके योग द्वारा एक नवीन रूप में अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति की, तब उसका वह काव्यरूप 'मिश्र काव्यरूप' के नाम से अभि-हित किया गया। काव्य की इस विधा में अन्यान्य भिन्न-भिन्न तत्त्वों के योग से जो आकर्षण आ गया वह निराला है। क्योंकि यहाँ एक काव्यरूप को रस ने दूसरे काव्यरूप के रस से मिलकर उसके स्वाद में एक अनोखा ही माधुर्य ला दिया है। एक ही साथ भिन्न-भिन्न अभिव्यंजना शैली का रस पाठक को मिलने लगता है।

महाकाव्य और गीतिकाव्य को यदि हम लें तो ये ऐसे काव्यरूप हैं जिनमें अनुभूति एक अपनी विशिष्ट शैली को लेकर अभिव्यक्त होती दिखाई पड़ेगी।

इनमें किसी अन्य शैली का योग नहीं होता; क्योंकि महाकाव्य जब भी लिखा जायगा उसमें कवि की अनुभूति का स्वरूप सदैव बाह्यार्थ-निरूपक ही होगा और गीतिकाव्य में सदैव कवि की मनोवृत्ति स्वानुभूति के निरूपण की ओर ही रहेगी। गीतिकाव्य महाकाव्य के समान भव्य क्यों न लगे और महाकाव्य गीतात्मकता का आधार भले ही ले ले, किन्तु इस प्रकार प्रतिभासित होते हुए महाकाव्यमय गीतिकाव्य और गीतात्मक महाकाव्य मिश्र-काव्यरूप नहीं बन जाते। चित्तवृत्ति का स्पष्ट भेद दोनों को दो शुद्ध वर्ग में रख देता है। अवसर विशेष के आग्रह से अवश्य ही एक में गम्भीरता आ जाती है और दूसरे में गीतात्मकता। गीत विचार-प्रधान होकर गंभीर हो जाते हैं जैसे पंत का 'परिवर्तन'। इसमें कवि की भावनाओं की गंभीरता ने उसमें बहुत गंभीरता ला दी है। ठीक इसी प्रकार 'कामायनी' में कवि की प्रवृत्ति कहीं कहीं गीतात्मक हो उठी है; किंतु यह झुकाव केवल भावों की गंभीरता एवं तीव्रता के अनुरूप किसी भी काव्यरूप में आ जाता है। अस्तु, ये मिश्रकाव्य नहीं कहलाते। 'मिश्र' काव्यरूप तो वे हैं जिन्हें हम न तो प्रबन्धवर्ग में रख सकते हैं न अबंधवर्ग में। जिन काव्यरूपों में या तो स्पष्ट किसी अन्य शैली का मिश्रण है अथवा जो गीतों के रूप में होकर भी प्रबंधात्मक लगते हैं और प्रबद्ध होकर भी स्फुट से प्रतिभासित होते हैं ऐसे ही काव्यरूपों को हम मिश्र काव्य कहकर पुकारते हैं अथवा पुकार सकते हैं। इस प्रकार एक ही साथ दो दो काव्यरूपों की झलक देनेवाले काव्यरूपों को प्रबन्धाभास मुक्तक वर्ग में रखना अथवा गीतात्मक प्रबंध कह कर प्रबन्धवर्ग में रखना कुछ अस्पष्टता में डाल देता है। क्योंकि ऐसा विभाजन उसके सच्चे स्वरूप को खोल कर रखने में असमर्थ ही रहता है। इन काव्यरूपों के विश्लेषण के लिये उन्हें एक भिन्न वर्ग में रखना अत्यन्त आवश्यक है। अतः ऐसे काव्यरूपों का तीसरा वर्ग प्रबन्ध और अबन्ध के सादृश्य पर 'बन्धाबन्ध' भी कहा जा सकता है और उसके अन्तर्गत आने वाले विभिन्न रूप 'मिश्र-काव्यरूप' कहकर अभिहित किए जा सकते हैं।

मिश्र काव्य के विभिन्न रूप

एक से अधिक शैली के योग से बने हुए इन मिश्र काव्यरूपों को वर्गीकृत करना कठिन है, तो भी कुछ काव्यरूप ऐसे मिलते हैं जिनमें किसी अन्य शैली का मुख्य रूप से मिश्रण दिखाई पड़ता है। ऐसे काव्यरूपों को एक वर्ग में रखकर उनका नामकरण भी सुविधापूर्वक हो जाता है। किन्तु अन्य काव्यरूपों में यह सुविधा नहीं मिलती। अस्तु, ऐसे रूपों की प्रधान

भावना को ढूंढ कर ही उनका स्वरूप निर्धारित किया जाता है। इन रूपों के बीच झांकती हुई कवि की चित्रप्रवृत्ति का अध्ययन ही इनके विश्लेषण में भी सहायक है। किसी काव्यरूप के विधान में चाहे साहित्य के अन्य रूपों के कितने ही तत्त्व क्यों न आ जायँ, किन्तु उस विधान-शैली के बीच से बहने वाली कवि की प्रमुख भावधारा उस काव्य के रूप का निर्णय कर देती हैं। अतः कुछ मिश्र-काव्यरूपों का वर्गीकरण इसी भावना के अनुरूप हो जाता है।

इस प्रकार मिश्र-काव्य के प्रमुख तीन वर्ग हो जाते हैं। (१) नाट्यात्मक (२) स्वानुभूतिप्रधान (३) आख्यानप्रधान।

(१) नाट्यात्मक

नाट्यात्मक काव्यरूपों में नाटक और गीतिकाव्य की शैली मिल कर एक हो जाती है। इनमें एक ओर तो 'गीतिनाट्य' या 'गीतिरूपक' और दूसरी ओर नाटकीय तत्त्व को लिये हुए कुछ ऐसी गीतिकाव्यात्मक मिश्र कविता आती है, जिसमें पुनः दो प्रकार की भिन्न शैलीगत विशेषताएं मिलती हैं। कुछ काव्यरूप नाटक की स्वगतकथनात्मक शैली के अनुरूप होते हैं, कुछ कथोपकथनात्मक शैली में। अस्तु, एक को 'स्वगतकथनात्मक' और दूसरे को 'कथोपकथनात्मक गीति' कह कर अभिहित कर सकते हैं। यहाँ गीतिनाट्य की भांति कथात्मकता का आग्रह नहीं मिलता।

(२) स्वानुभूतिप्रधान

कुछ मिश्र-काव्यरूप अपने बाह्य स्वरूप में प्रबन्धकाव्य और गीतिकाव्य दोनों ही के सदृश प्रतीत होते हैं। अतः उनके आभ्यन्तर में कवि की भावना को स्वानुभूतिप्रधान देख उन्हें देख उन्हें स्वानुभूतिप्रधान मिश्र-काव्य-रूप कहकर पुकारते हैं। ऐसे काव्यरूप में कुछ की शैली बिल्कुल आत्मनिवेदनात्मक होती है और कुछ अतिगीतात्मक शैली में विरचित हैं। प्रथम प्रकार में कवि की ही भावना अन्यान्य पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है परन्तु द्वितीय में कुछ कथात्मकता का हलका सा पुट भी आ जाता है।

(३) आख्यानप्रधान

जिन काव्यरूपों में गीतात्मकता के साथ आख्यान का तत्त्व मिश्रित होता है वहाँ ऐसे रूप का उद्भव होता है जिसे दूसरे शब्दों में आख्यानगीति भी कह सकते हैं।

बन्धाबन्धकाव्य के अन्तर्गत आने वाले मिश्रकाव्य की वर्गीकृत तालिका इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

मिश्र काव्य

- (१) नाट्यात्मक,
  - (क) गीतिनाट्य,
  - (ख) नाटकीय-गीति,
    - (१) स्वगतकथनात्मक-गीति,
    - (२) कथोपकथनात्मक-गीति,
- (२) स्वानुभूतिप्रधान,
  - (क) आत्मनिवेदनात्मक,
  - (ख) अतिगीतात्मक,
- (३) आख्यानप्रधान,

मिश्रकाव्य के विभिन्न रूपों का स्वरूप

(१) नाट्यात्मक

(क) गीतिनाट्य

जब कवि दृश्यकाव्य का सहारा लेकर गीतात्मक रूप में अपनी अनुभूति को संजोता है तब उस बाह्य अभिव्यंजना को गीतिनाट्य की संज्ञा दी जाती है। दृश्यकाव्य अनुकृत काव्य है जिसमें सांसारिक क्रियाकलापों का अनुकरण पात्रों द्वारा अभिनय के रूप में किया जाता है। 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' का अभिप्राय यही है कि अवस्था के अनुकरण को नाटक कहते हैं। अभिनय उसका प्रमुख अंग होता है और "वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः" में यह संकेत किया गया है कि वस्तु, पात्र और रस उसके भेद हैं। नाटक की यह वस्तु वर्णनात्मक शैली में न होकर पात्रों के कथोपकथन के रूप में होती है। इसे हम संवादात्मक शैली भी कहते हैं। दृश्यमान जगत में नित्यप्रति जिस भांति हम परस्पर वार्तालाप करते हैं उसी भाँति नाटक में भी पात्रों के वार्तालाप द्वारा कथावस्तु का निर्माण होता है। ठीक उसी शैली में होकर जब कवि की अनुभूति बाहर व्यंजित होती है, जब कवि नाटक के कथोपकथन का सहारा लेकर अपने भावों को अन्यान्य पात्रों में विभक्त करने के उपरान्त बाह्याभिव्यंजना करता है, तब उसके काव्य का स्वरूप मिश्र हो जाता है। काव्य और नाटक का मानों सुन्दर समन्वय हो जाता है। कवि, कथोपकथन-किंतु गीतिमय कथोपकथन की शैली में पात्रों के उद्‌गारों को अभिव्यक्त करता है। यहाँ पात्र एक नहीं अनेक भी हो सकते हैं। ऐसे काव्य को 'गीतिनाट्य' कहते हैं। इनमें गीतिकाव्य के तो लक्षण मिलते ही हैं साथ ही नाटक की शैली का

प्रयोग भी मिलता है। किंतु नाटक की कथोपकथनात्मक शैली से इनकी शैली अधिक भावात्मकता को लिए हुए रहती हैं। यही कारण है कि इन्हें 'भाव-नाट्य' भी कहते हैं। गीतिकाव्य अत्यधिक भावात्मक होता है—क्योंकि वह भावमूलक हृदय की स्वतःप्रवृत्त बाह्य अभिव्यंजना है। दूसरे 'गीति-नाट्य' में कथा के सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना उसके आधार पर की गई भावाभिव्यंजना पर। अस्तु, यह काव्यरूप गीतिकाव्य की कोमलता के साथ ही साथ नाटक के सौंदर्य को भी लेता चलता है। कटु एवं परुष व्यापारों का एवं परुष रसों का अधिकतर बहिष्कार किया जाता है। जीवन के ऐसे व्यापार जो सूक्ष्म हैं, कोमल हैं, भावात्मक हैं और मर्मस्पर्शी हैं यहाँ शब्दों का सहारा लेकर मूर्त रूप धारण करते हैं। उनमें भावों की अन्विति भी उसी भाँति आवश्यक होती है जैसी गीतिकाव्य के लिये अपेक्षित होती है। किन्तु अनेक पात्रों और कथा के आग्रह के कारण गीति-नाट्य में भावों की एकता शुद्ध गीतिकाव्य से भिन्न होती हैं। यहाँ संपूर्ण 'गीतिनाट्य' का एक संकलित प्रभाव मुख्य होता है, किन्तु बीच बीच में पात्रों की अनेकता के साथ भिन्न भिन्न भावों की व्यंजना भी होती जाती है। कहना न होगा कि भावावेश के साथ 'गीतिनाट्य' का प्रवाह आगे बढ़ता है। उनमें भावों के आवेग को जितना महत्त्व दिया जाता है उतना कथा को नहीं। इसीलिए गीतिनाट्य-लेखक उदय शंकर भट्ट ने अपने गीतिनाट्यों को 'भाव-नाट्य' कहकर पुकारा है और उसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि भावनाट्य एक प्रकार की मानसिक उथल-पुथल मचानेवाली भावधारा को लेकर चलता है और अपनी शृंखलाएँ लम्बे-लम्बे छोरों से जोड़ कर समन्विति को ग्रहण करता है। प्रकृति और गीति उसके आलंबन हैं और विचार उद्दीपन, इस-लिए परिणति रस है। कायिक व्यापार उसमें नहीं होते, यदि होते हैं तो बहुत थोड़े। केवल मानसिक चिन्तन का सतत प्रदर्शन होता है।[1]

'गीतिनाट्य' में नाटकों की भाँति बाह्य चेष्टाएँ अधिक नहीं प्रदर्शित की जातीं। अन्तर को यहाँ विशेषता मिलने के कारण आन्तरिक मनोभावों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यही कारण है कि 'गीतिनाट्य' में व्यावहारिक जगत की अन्यान्य परुष घटनाएँ एक दम वर्जित होती हैं। उदाहरण स्वरूप युद्ध के दृश्यों, में परस्पर वैर से उत्पन्न बाह्य संघर्ष की जितनी प्रमुखता शुद्ध नाटक में मिल सकती है उतनी क्या, उसकी चतुर्थांश प्रमुखता भी गीतिनाट्य

१. राधा, उदय शंकर भट्ट—'भूमिका', पृ० ६।

के लिये अपेक्षित नहीं। शुद्ध नाटक में जहाँ इस बहिर्द्वन्द्व को स्थान मिलता है वहाँ अन्तर्द्वन्द्व भी उसका एक अविभाज्य तत्त्व होता है। यही कारण है कि नाटक में आत्मभाषण (स्वगत) की नियोजना भी की जाती है। आत्म-भाषण में पात्र के हृदय की भावना एवं हृदयस्थ अन्तर्द्वन्द्व को बाहर प्रकट होने का सुअवसर मिलता है। कहने का तात्पर्य यह कि शुद्ध नाटक में कोरा बहिर्जगत अपने समस्त क्रियाकलापों सहित दर्शक के समक्ष आ उपस्थित होता हो, ऐसी बात नहीं। उसमें भी भावात्मकता को स्थान मिलता है किन्तु वहाँ कथा आग्रह के कारण भावों की अत्यधिक प्रधानता को अधिक श्रेय नहीं दिया जाता। किन्तु गीतिनाट्य में गीतिकाव्य की सी भावात्मकता पाई जाती है, क्योंकि वह गद्य में न होकर पद्य के माध्यम से निर्मित होता है। पद्य, गद्य से कहीं अधिक भावात्मक होता है। दूसरे 'गीतिनाट्य' में कथा के सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना, उसके आधार पर की गई भावाभि-व्यंजना पर। सच पूछा जाय तो 'गीतिनाट्य' भावों की पूर्ण इकाई में ही अपने सौन्दर्य को सुरक्षित कर पाता है। इस भावान्विति के साथ ही साथ भावों की कोमलता उसकी दूसरी विशेषता होती है।

इसी भावप्रधानता के कारण हम 'गीतिनाट्य' को भावप्रधान काव्य में परिगणित करते हैं, और यही भावप्रधानता गीतिकाव्य की एकमात्र निधि होने के कारण उसे 'गीतिनाट्य' की संज्ञा दे देती है। जिस भाँति रूढ़ियों में रह कर गीतिकाव्य का सौन्दर्य बिखर जाता है, ठीक उसी भाँति गीतिनाट्य रूढ़ियों के बन्धन में बँध नहीं सकता। किसी सीमित रूढ़ि के अनुसार उसे ढालने की चेष्टा उसकी वास्तविक सुन्दरता पर आघात पहुँचाती है। कवि को अपने भावानुरूप सामग्री चुनने में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और उसे जिस शैली में वह अभिव्यक्त करना चाहता है, करता है। कभी तो वह नाटक के कथोपकथन को अपनी शैली के लिये उपयुक्त समझ भावाभिव्यं-जना करता है, कभी नाटक के दृश्यविधान तथा अन्य संकेतों को लेकर अपने काव्य में भरने की चेष्टा करता है। 'गीतिनाट्य' अधिकतर कथोपकथनात्मक शैली में ही लिखे गए हैं। नाटक की ही भाँति यह कथोपकथन अपने साथ कथा को तो गतिशीलता प्रदान करता ही है परन्तु उसमें प्रत्येक पात्र के हृदय और बुद्धि में उमड़े हुए संघर्ष को ही चित्रित करना कवि का एकमात्र उद्देश्य होता है। अस्तु, जहाँ साधारण नाटक में बहिर्जगत् और अन्तर्जगत दोनों को स्थान दिया जाता है, वहाँ पर गीतिनाट्य में केवल अन्तर्जगत को ही प्रमुखता दी जाती है। फलस्वरूप यहाँ पात्रों के बाह्य क्रियाकलापों को उतना

नहीं चित्रित किया जाता जितना उनके हृदयस्थ भावों का अंकन आवश्यक समझा जाता है। कायिक व्यापार एक प्रकार से यहाँ होते ही नहीं—यदा कदा कुछ व्यापारों का संकेत भर कवि दे देता है। अन्यान्य परिस्थितियों में पड़े हुए मानव के अन्तरतम में उद्दीप्त होनेवाली अन्यान्य प्रकार की भावनाएं एवं उनसे उत्पन्न हुए अन्यान्य प्रकार के संघर्षों को खोलकर रख देना होता है, एकमात्र कार्य उस गीतिनाट्यकार का। हृदय के भावात्मक उद्रेक और उससे उत्पन्न हुई मानसिक भावधारा वह बीज होती है जिसपर 'गीति-नाट्य' का अंकुर जमता है। साधारण तौर पर नाटकों में शारीरिक व्यापारों को मानसिक चिन्तन की प्रधानता होती है। प्रकृति यहाँ इस चिन्तन में सहकारी रूप से आती है। यही कारण है कि 'गीतिनाट्यों' में प्रकृति के रम्य दृश्यों का अधिक विधान किया जाता है। इन्हीं के सहारे पात्रों की भावमग्नता अत्यन्त तीव्र हो उठती है और वे मानों चिन्तन में लीन से हो जाते हैं।

'गीतिनाट्य' में पात्रों की बहुलता नहीं होती। कुछ पात्रों को लेकर उन्हीं के माध्यम से कवि भावाभिव्यंजना परोक्ष रूप में करता है। अतः आत्माभिव्यंजना की शैली दूसरी होती है। कवि अनेक पात्रों में अपने व्यक्तित्व का मानों आरोपण करता है, किन्तु यहाँ पर कवि आत्माभिव्यंजक काव्य की भाँति अपने व्यक्तित्व को बाहर नहीं प्रकट होने देता। नाटक के समस्त तत्त्वों में से वह कथोपकथन के तत्त्व को चुनता है और उसी में होकर उसके व्यक्तित्व का प्रक्षेप होता है।

नाटकीय कथोपकथन की शैली में लिखे जाने वाले इन गीतिनाट्यों में नाटकीय संकेत अवश्य दिये जाते हैं, यद्यपि विस्तृत रूप में नहीं। वह भी केवल इसलिये कि पाठक अनुकूल वातावरण के अनुरूप उद्दीप्त भावों को समझ लें। इनमें दृश्य होते हैं, किन्तु चार या पाँच दृश्यों की ही अधिकतर योजना होती है। इनके आकार भी छोटे ही होते हैं।

कहा तो यों जाता है कि 'गीतिनाट्य' की रचना रंगमंच पर खेले जाने के ध्येय से नहीं की जाती, किन्तु उसमें दृश्यविधान एवं नाटकीय संकेतों की नियोजना यह संकेत करती है कि यदि उनका प्रदर्शन करना चाहें तो हम अवश्य कर सकते हैं। हाँ, गीतिनाट्य उसी दर्शक मंडली के लिये ही उपयुक्त होगा जो अत्यन्त सभ्य एवं सुशिक्षित ही नहीं जिसमें कवि की भावुकता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हो। उसको समझने के लिये भावुक होना इसीलिये परमावश्यक होता है कि वह एक तो भावप्रधान होता है दूसरे

वह गद्य में न होकर भावात्मक पद्य में विरचित होता है। साधारण जनता के बीच उसका प्रदर्शन केवल मनोरंजन सामग्री भले दे दे, उच्च रसानुभूति कदापि नहीं प्रदान कर सकता।

समुचित रूप से देखा जाय तो गीतिनाट्य ऐसा काव्यरूप है जिसकी मूल भावना एवं शैली आत्माभिव्यंजक होती है और नाटकीय कथोपकथन के आधार पर पात्रों की भावाभिव्यंजना एवं कथा का सूत्र आगे बढ़ाया जाता है। अतः भावात्मक वस्तु, कथोपकथनात्मक शैली और आत्माभिव्यंजना ये तीन विशेषताएं गीतिनाट्य की निर्धारित की जा सकती हैं।

भावात्मक वस्तु

एक छोटी सी कथा का आधार लेकर गीतिनाट्य निर्मित होता है। इस कथा की एकमात्र विशेषता यह होती है कि वह वर्णात्मक या घटना-प्रधान नहीं होती, अपितु उसमें भावों का सौन्दर्य निराला होता है। ऐसे भाव जो हृदय के भीतर सुगमता से प्रवेश कर उसमें वही भाव उद्वेलित कर दें, उन्हीं भावों को गीतिनाट्य का रचयिता जीवन के बीच से खोज निकालता है और काव्यनिर्माण करता है। कभी यह वस्तु ऐतिहासिक और कभी पौराणिक होती है। इनके अतिरिक्त कवि काल्पनिक वृत्त को भी लेकर चलता है। वस्तु कहीं से वह ले परन्तु उसका मर्मस्पर्शिणी होना सबसे प्रधान गुण होता है। गीतिकाव्य और नाटक यहाँ मिलकर एक हो जाते हैं अतः गीतिकाव्य की भावात्मकता यहां निश्चित रूप से प्रस्तुत रहती है, इसमें कोई संदेह नहीं। दूसरे उसकी कोमलता और रसमयता भी पूर्ण रूप से सुरक्षित रहती है।

प्रसाद जी का 'महाराणा का महत्त्व' गीतिनाट्य ऐतिहासिक है, 'करुणालय' पौराणिक, और कल्पनात्मक गीतिनाट्य है केदारनाथ मिश्र का 'संवर्त', गुप्तजी का 'अनघ' और भट्टजी का 'मत्स्यगन्धा', 'विश्वामित्र' और 'राधा'। वस्तु की भावात्मकता कवि की कल्पनात्मक प्रतिभा पर आधारित होती है। उसमें जितनी कल्पना की उत्कृष्टता होगी गीतिनाट्य उतना ही सुन्दर बन पड़ेगा और उसकी वस्तु उतनी ही भावप्रधान। दूसरे, उसमें पात्रों के बाह्य क्रियाकलाप पर ध्यान न देकर कवि जब उसकी अन्तर्वृत्ति की छानबीन करने लगता है तब उसका स्वरूप हृदय की आर्द्रता से बहुत ही कोमल बन जाता है। इसी कारण परुष रसों को यहाँ अधिक स्थान नहीं दिया जाता। जैसे बीभत्स, भयानक आदि रस गीतिनाट्य में कम प्रयुक्त होते हैं, शृंगार और करुण रस को ही अधिक स्थान दिया जाता है।

इनका प्रभाव स्थायी रूप में मानव पर पड़ता है। कहने का आशय यह कि 'गीतिनाट्य' की वस्तु भावात्मक प्रसंगों पर निर्मित होकर अपने में जिन रसों का परिपाक करती हैं वे अत्यन्त कोमल और प्रभावपूर्ण होते हैं।

कथोपकथनात्मक शैली

गीतिनाट्य की यह भावात्मक कथावस्तु पात्रों के परस्पर कथोपकथन द्वारा गतिशील होती है। इन्हीं विभिन्न पात्रों के चरित्र के बीच कवि अपने आप को छिपा रखता है और मानों उन्हीं की भाषा में अपने भावों को व्यक्त करता जाता है। कवि का अपना स्वरूप यहां व्यक्त नहीं होने पाता, प्रत्युत भिन्न भिन्न पात्रों के कथोपकथन द्वारा भावाभिव्यंजना होती है। भावात्मक काव्यरूप होने के नाते कथोपथन बड़े ही सजीव और मार्मिक होते हैं। पात्र का आत्मभाषण, पात्र के चरित्र को खोलकर प्रकट रूप में पाठक के समक्ष रख देता है। उसका हृदय बिना किसी आवरण के यहाँ खुल पड़ता है, जिसपर शिष्टाचार का कोई भी बन्धन नहीं होता और आत्मप्रकाशन से कोई संकोच नहीं होता। अस्तु, 'गीतिनाट्य' में पात्रों के स्वगत कथन और परस्पर के कथोपकथन द्वारा एक ओर कथा गतिशील होती है तो दूसरी ओर भावाभिव्यंजना होती जाती है।

कथोपकथन का सौन्दर्य 'गीतिनाट्य' का सबसे आवश्यक तत्त्व हो जाता है। इसके बिना उसके सौन्दर्य में कमी आ जाती है। कथा का अंश इसीके सहारे प्रगतिशील होता है। पात्रों के क्रियाकलाप, उनका चरित्र इसी कथोपकथन के आधार पर विकसित होता है। अस्तु, कवि उसमें अनुपयोगी बातों का सदा परिहार करता हुआ केवल उन्हीं बार्तालापों को अपने काव्य में स्थान देता है जो अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं साथ ही कथोप-कथन में गीतिमत्ता की भी आवश्यकता होती है। क्योंकि गीतिनाट्य में सजीवता इसी गेय तत्त्व से आ पाती है। गीतिकाव्य में संगीत की मधुरता अपूर्व होती है। ठीक इसी भाँति गीतिनाट्य में गीतों की योजना भी होती है। कहीं कहीं उसके कथोपकथन अति संगीतात्मक भी होते हैं। उदाहरणार्थ भट्टजी के 'राधा' शीर्षक गीतिनाट्य के प्रस्तुत उदाहरण को ही लीजिये :—

विशाखा—

भूलने वाली नहीं थी भूल जाने क्यों गई है।
हाय! भीगे बिना क्या सखि, भव नदी तैरी न जाती?

राधा विवश सी होकर—

क्या करूँ, कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं,
पैर ले आते मुझे अनजान में यमुना नदी-तट।
क्या तुझे कुछ भी न होता, मुझे यह क्या होगया है?[१]

नाटक में संगीत की योजना रसमग्नता के लिये होती है, जिससे दर्शक पूर्णरूप से उसमें लीन हो जाय। इसके बिना उसमें सरसता आ तो जाती है किन्तु मनोवेगों को तीव्र रूप में तरंगित करने वाला तत्त्व यही संगीत तत्त्व होता है। अतः नाटककार नाटक के बीच-बीच में कथोपकथन के साथ ही गीतों की योजना भी करता जाता है। ठीक इसी भाँति गीतिनाट्य-लेखक गीतों का सृजन भी बीच बीच में करता है। इससे उसका आकर्षण द्विगुणित हो जाता है।

आत्माभिव्यंजना

गीतिनाट्य में आत्माभिव्यंजना को स्थान है अथवा नहीं यह विचारणीय प्रश्न हो जाता है। कारण यह है कि जहाँ वह मुख्य रूप में गीति काव्य है वहाँ नाटक के भी वह समीप है। गीतिकाव्य में आत्माभिव्यंजना को पूरा पूरा स्थान मिलता है, किन्तु नाटक में उसे कोई भी स्थान नहीं। भले ही नाटककार एक विशेष पात्र ऐसा बना ले जिसके द्वारा उसकी हृदयस्थ भावनाएँ अभिव्यंजित हों, किंतु शुद्ध आत्माभिव्यंजना को वहाँ कोई भी स्थान नहीं। अस्तु, इस मिश्रकाव्यरूप में नाटकीय कथोपकथन की शैली को अपनाने के कारण शुद्ध आत्माभिव्यंजना को स्थान नहीं मिलता। कवि अपने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक ज्ञान द्वारा प्रत्येक पात्र के अन्तः करण में प्रवेश कर उनकी चित्तवृत्ति एवं अनुभूति को अपनी बना लेता है और तब उन्हीं पात्रों द्वारा उनकी अभिव्यंजना करता है; स्वयं अपने आप वह कुछ भी नहीं कहता। आशय यह कि कवि की अनुभूति गीतिनाट्य में अन्यान्य पात्रों के माध्यम से बाहर अभिव्यंजित होती है। यह सहारा वह अवश्य लेता है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र पहन कर अभिनेता भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सामने प्रस्तुत होता है और भिन्न-भिन्न प्रकार से भावाभिव्यंजना करता है। उसी भाँति गीतिनाट्यकार अपने काव्य में बहुमुखी होकर सामने आता है। 'मत्स्यगंधा' के इस वार्तालाप को ही लीजिये।

---

१. राधा, उदयशंकर भट्ट, पृ. ७. ८।

सुभु (आश्चर्य में आकर)–

तेरे मृदु अंतर में कौन चुपचाप बैठा,
गा रहा है गीत मैं तो जानती नहीं हूँ कुछ।
मैं तो यह जानती हूँ कोई कह जाता है मंजु-
मंजु वृंत किशलय के तंतु में लगी हुई।
मुद्रित कणों सी शिव सुषमा लिए हुए,
आई हूँ धरा पर न जाने क्या करने।

मत्स्यगंधा (उन्मन सी होकर)–

न जाने कैसा हो रहा है, कैसा यह हो रहा है,
मेरी सब इच्छा की सीमाएँ बिखरती हैं,
जैसे मैं न कुछ रही। किन्तु तो भी कुछ हूँ ॥ १ ॥

—मत्स्यगंधा, उदयशंकर भट्ट पृ० ८.

यहाँ पर सुभु और मत्स्यगन्धा के परस्पर वार्तालाप में कवि की भावना का सूत्र बिंधा हुआ चला जाता है।

नाटक में भी इसी प्रकार का आत्माभिव्यंजन पाया जाता है। नाटककार स्वयं अपने मुँह से एक शब्द भी नहीं कहता प्रत्युत उसकी कथा के भीतर आए हुए पात्र ही उसकी भावना के मानों प्रतीक होते हैं, जिनके बीच झलकता है कवि का अपना व्यक्तित्व। किन्तु गीतिकाव्य में ऐसी बात नहीं, वहाँ तो कवि हृदय को खोलकर रख देता है। इस प्रकार गीतिनाट्य दृश्यकाव्य के समीप इसी अभिव्यंजना-प्रणाली को लेकर अधिक है और गीतात्मक उद्रेक को लेकर वह गीतिकाव्य के ही निकट रखा जाता है।

उपर्युक्त तीनों तत्त्वों के निष्कर्ष से हम गीतिनाट्य उस रचना को कहते हैं जिसमें नाटकीय कथोपकथनात्मक शैली में अन्यान्य पात्रों के माध्यम द्वारा कवि के हृदय की रागात्मक भावना बहुमुखी होकर अभिव्यंजित होती है। दृश्यकाव्य की भाँति बीच बीच में गीतों की योजना और नाटकीय दृश्य-विधान जहाँ एक ओर उसमें होता है, वहाँ दूसरी ओर गीतात्मकता एवं भाव-प्रधानता उसके विशिष्ट गुण होते हैं।

अँग्रेजी के लिरिकल ड्रामा का प्रभाव

काव्य के इस रूप की समता यदि अंग्रेजी का कोई काव्यरूप रखता है तो वह कवि ब्राउनिंग के पद्यमय नाटक हैं, जिन्हें वहाँ 'लिरिकल ड्रामा' (Lyrical Drama) की संज्ञा दी जाती है। कविता में सफल नाटक की

रचना कर एक नवीन काव्य रूप को जन्म देने वाला ब्राउनिंग ही हुआ। उसने मनःस्थिति की कोई विशिष्ट अवस्था लेकर ऐसे भावात्मक नाटक लिखे जिनमें गीतात्मकता का पुट भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। 'इन ए बेलकनी' (In-A Balcony) बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। इसमें जीवन के बहिर्जगत एवं उससे संबंधित संघर्ष प्रमुख नहीं, अपितु अन्तर्जगत एवं उससे संबंधित अन्तर्द्वन्द्व को लेकर इसकी रचना हुई है। इसी प्रकार ब्राउनिंग के प्रायः सभी गीतिनाट्य वस्तु की इतिवृत्तात्मकता को लेकर न चले। उनके लिये तो कहा गया है कि ब्राउनिंग ने मानव चित्तवृत्ति का सुन्दर अध्ययन कर उसी के उद्‌घाटन को अपने गीतिनाट्य का विषय बनाया।[1] इस प्रकार मानवात्मा को काव्य के कार्य का प्रमुख बीज बनाकर उन्होंने उसके छिपे रहस्यों को प्रकट करने की चेष्टा की। उनकी अति भावात्मकता का एकमात्र कारण यही है। यही भावात्मकता काव्य की इस विधा का एकमात्र गुण बन गई और एकान्त में उनको पढ़कर आनन्द उठाना ही हो गया उनका ध्येय।

ब्राउनिंग के समान टेनिसन के 'गीतिनाट्य' भी बहुत सुन्दर माने जाते हैं। कोई कोई गीतिनाट्य तो ब्राउनिंग से भी सुन्दर हो गए हैं। विशेषकर बकेट, (Backet) और क्वीन मैरी (Queen Mary)। इन्होंने अपने गीतिनाट्य में एक नवीन प्रकार के मुक्त छन्द की उद्‌भावना की और शेक्सपियर की भाँति बीच बीच में गीतों की योजना भी की। ऐतिहासिक वृत्त को लेकर भी इनके गीतिनाट्य रचे गए; किन्तु पात्रों की बहुलता उनमें नहीं मिलती। किसी कार्य अथवा घटना के आधार पर पात्रों के चरित्र-चित्रण की विधि में टेनिसन सिद्धहस्त न थे; बल्कि पात्रों के परस्पर कथोपकथन द्वारा चरित्रोद्‌घाटन की शैली को ही उन्होंने अपनाया।

अंग्रेजी के गीतिनाट्यों को देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनकी रचना भी रगमंच को लक्ष्य में रखकर न की गई, यद्यपि उनमें नाटकीय दृश्यविधान, कथोपकथन एवं यत्र-तत्र नाटकीय संकेत अवश्य मिलते हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता इसी बात में है कि कवि साधारण से साधारण व्यक्ति को लेकर उसे ऐसी परिस्थितियों में डाल देता है कि उनमें से होकर उसका व्यक्तित्व निखर उठता है; तात्पर्य यह कि मानवात्मा की विविध

---

१. This new form of drama is the drama as we see in Browning, a drama of interior, a tragedy or comedy of the soul. An Introdcuction to the Study of Browning., A. Symons.

अवस्थाओं का यथातथ्य चित्रण अंग्रेजी के गीतिनाट्यों में भी मिलता है। अन्तरतम की गुत्थियों को सुलझाना उनका एकमात्र लक्ष्य है और उनकी शैली बड़ी ही भावात्मक एवं काव्यमय है। अंग्रेजी के इस काव्यरूप की शैली से हिन्दी के कवि प्रभावित हुए हैं।

हिन्दी के प्रमुख गीतिनाट्य

हिन्दी में गीतिनाट्य की रचना सर्वप्रथम जयशंकर प्रसाद ने की। इनका पहला गीतिनाट्य 'करुणालय' सन् १९१३ में 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसकी रचना द्वारा गीतिनाट्य की नवीन शैली को प्रसाद जी ने जन्म दिया और आगे चलकर परवर्ती कवियों द्वारा अधिकतर यही शैली गीतिनाट्यों के लिए गृहीत भी हुई। जिस शैली में 'करुणालय' की रचना हुई वह है मात्रिक वृत्तों में अभिन्नाक्षर छन्दों के प्रयोग की नवीन शैली। यों तो प्रसाद जी ने इसके पूर्व ही अभिन्नाक्षर छन्दों का उपयोग अपनी कविता में आरंभ कर दिया था, किन्तु प्रस्तुत गीतिनाट्य में मात्रिक वृत्तों में उसका प्रयोग बिलकुल नवीन दिखाई पड़ा। इसके अतुकांत मात्रिक छन्दों में जो विराम चिह्न दिया गया है वह वाक्य के अनुरूप है।

'करुणालय' की कथावस्तु एक छोटी सी पौराणिक कथा है जिसमें शुनःशेफ की करुणकथा का नाटकीय रूप में अभिव्यंजन अत्यधिक प्रभावात्मक शैली में हुआ है। सब मिलाकर इसमें पाँच छोटे-छोटे दृश्य हैं जिनमें पौराणिक पात्र हरिश्चन्द्र, रोहित, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अजीगर्त और शुनःशेफ मुख्यरूप से कथा के वाहक हैं। गीतिनाट्य बड़े ही नाटकीय ढंग से आरंभ होता है जहाँ राजा हरिश्चन्द्र अपने सहचरों के साथ जलविहार और वार्तालाप करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

हरि०—सांध्य नीलिमा फैल रही है, प्रान्त में,
सरिता के निर्मल विधु बिम्ब विकाश है।
जो नभ में धीरे धीरे है चढ़ रहा,
प्रकृति सजाती-आगत-पतिका रूप को।

—'करुणालय' पृ० १।

इसी समय नेपथ्य में घोर गर्जन सुनाई देता है जिसमें हरिश्चन्द्र को अपने बचनों का स्वर सुनाई पड़ता है। द्वितीय दृश्य में भयभीत रोहित कानन में दिखाई पड़ता है। तृतीय दृश्य में शुनःशेफ को रोहित सौ गायों के बदले मोल ले लेता है। चतुर्थ में शुनःशेफ की बलि का आदेश वशिष्ठ हरिश्चंद्र

को देते हैं। और पंचम में सम्पूर्ण गीतिनाट्य का हृदयस्पर्शी दृश्य सामने आता है। बध के समय शुनःशेफ चीत्कार उठता है।

हाय! तुम्हारी करुणा की भी क्या हुआ
जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।

× × ×

त्राहि त्राहि करुणालय! करुणा सद्म में।
रखो बचालो! बिनती है पद पद्म में॥

—'करुणालय' पृ. २०।

शक्ति वध-अस्त्र फेंक देता है और अजीगर्त बध के लिये उद्यत होता है। आकाश में घोर गर्जना होती है और विश्वामित्र अपने पुत्रों सहित प्रवेश करते हैं। सुव्रता-विश्वामित्र मिलन होता है और विश्वामित्र वशिष्ठ को धिक्कारते हुए समवेत स्वर में गा उठते हैं। शुनःशेफ का बंधन स्वयं खुल पड़ता है।

प्रस्तुत गीतिनाट्य अत्यधिक प्रभावात्मक शैली में विरचित है। नाटक और गीति तत्त्व यहाँ मिलकर एक हो गए हैं। अन्त में कवि ने एक गीत भी उसमें रखा है। शैली की दृष्टि से करुणालय भावात्मक कोटि में रखा जाता है।

करुणालय के पश्चात् सन् १९१४ में 'महाराणा का महत्त्व' गीतिनाट्य प्रसाद ने रचा। इसकी घटनायें ऐतिहासिक हैं और कवि ने इससे पराजित महाराणा प्रताप के चरित्र की उच्चता को प्रदर्शित करते हुए अति भावात्मक गीतिनाट्य की रचना की है। यहाँ कवि ने करुणालय की भाँति दृश्यों का विधान नहीं किया है। अपितु कथोपकथनात्मक शैली में कथा के प्रवाह को आगे बढ़ाया है। सम्पूर्ण गीतिनाट्य में इस दृष्टि से रूपगत अंतर आ गया है। छन्द की दृष्टि से भी इसमें नवीनता है। यहाँ तुकांतविहीन मुक्त छन्द तो हैं किन्तु उनका आधार इक्कीस मात्राओं का अरिल्ल छन्द बनाया गया है, जो कुछ हेर-फेर के साथ यहाँ प्रयुक्त हुआ है। इस छन्द के वैशिष्ट्य में गीतिनाट्य का प्रवाह गतिपूर्ण हो उठा है।

सम्पूर्ण गीतिनाट्य का मूल बिन्दु दो पंक्तियों में निहित है:—

शत्रु हमारे यवन—उन्हीं से युद्ध है
यवनी गण से नहीं हमारा द्वेष है।

—'महाराणा का महत्त्व' पृ० १२.

महाराणा के इन्हीं शब्दों में कथा का सार भी छिपा हुआ है। किस भाँति सुरक्षित रूप में महाराणा, रहीम खाँ की बेगम को उसके शिविर में पहुँचा देते हैं इसी के द्वारा उनके महत्त्व का प्रदर्शन किया है। कथोपकथन का सौन्दर्य यहाँ अपूर्ण है।

प्रिये! तुम्हारे इस अनुपम सौन्दर्य से
वशीभूत होकर वह कानन-केसरी
दांत लगा न सका; देखा—गान्धार का
सुन्दर 'दाख'—कहा नवाब ने प्रेम से
कँपी सुराही कर की, छलकी वारुणी
देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल में;
सुमन कुंज में पंचम स्वर से तीव्र हो
बोल उठी वीणा—'चुप भी रहिये जरा।'[१]

कथोपकथन की सजीवता इस गीतिनाट्य की विशेषता है। कवि ने विषयानुरूप उसमें भाषा-परिवर्तन कर दिया है जो वातावरण के अंकन में सहायक है।

प्रसाद के पश्चात् मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' गीतिनाट्य आता है जिसकी रचना तुकान्त छन्दों में हुई है। अन्त्यानुप्रास पर ध्यान रखने के कारण इस गीतिनाट्य में संगीतात्मकता का पुट अधिक नियोजित हो सका है। शैली की दृष्टि से दूसरी विशेषता इसकी यह है कि गुप्त जी ने इसका आरंभ मंगलाचरण से किया है। प्रथम पद्य में राम, कृष्ण और बुद्धको याद करने के पश्चात् गीतिनाट्य का आरंभ होता है। साथ ही जिस उद्देश्य को लेकर इसकी रचना हुई है उसका निर्देश भी पूर्व ही कर दिया गया है :—

न तन सेवा न मन सेवा
न जीवन और धन सेवा
मुझे इष्ट है जन सेवा
सदा सच्ची भुवन सेवा॥[२]

प्रस्तुत गीतिनाट्य का नायक मघ है जो कवि के द्वारा भगवान बुद्ध का साधनावतार भी माना गया है। उसी को लेकर जो कथा इसमें सँजोई गई है वह अन्य गीतिनाट्यों की अपेक्षा बहुत बड़ी है। इसमें सब मिलकर सोलह

---

१. महाराणा का महत्त्व, जयशंकर प्रसाद, पृ. १३।
२. 'अनघ'—मैथिलीशरण गुप्त पृ. १।

दृश्य हैं और बीच बीच में गीतों की नियोजना भी है। पुरुष पात्रों में मघ, उसके पिता, गाँव का मुखिया, उसका पुत्र, और मघ के पाँच साथी तथा स्त्री पात्रों में मालिन, उसकी पालित कन्या सुरभि, मगध की रानी तथा मघ की माता मुख्य हैं। इसी मघ की निःस्वार्थ सेवा को लेकर यह गीतिनाट्य रचा गया है। इसका अन्त सुखान्त है जब मघ और उसकी प्रिया सुरभि का विवाह हो जाता है।

आदर्श भाव और उपदेशात्मकता के तत्त्व से प्रस्तुत गीतिनाट्य में भावात्मकता का अभाव आ गया है।

गुप्त जी के अनन्तर उदयशंकर भट्ट ने अत्यधिक भावात्मक शैली में तीन गीतिनाट्यों की रचना की। ये क्रमशः मत्स्यगन्धा, विश्वामित्र और राधा हैं। भाषा, भाव और कला तीनों ही की पूर्णता यहाँ आकर दिखाई पड़ी और भावात्मकता का तत्त्व यहाँ सबसे अधिक परिमाण में नियोजित हुआ।

मत्स्यगन्धा

'महाभारत' में एक प्रसंग आता है जिसमें व्यासदेव ने बड़े ही हृदयाकर्षक रूप में उस निरपराध अपराधिनी का चित्रांकन किया है जिसे पराशर ऋषि द्वारा अनन्त यौवन का वरदान मिला—किन्तु वह वरदान उसके लिए कठोर अभिशाप हो गया—जब नियति ने उसके मस्तक का सिन्दूर पोंछ दिया। इसी प्रसंग को लेकर भट्टजी ने बड़े ही भावात्मक रूप में अपने इस गीतिनाट्य की रचना की है।

मत्स्यगंधा में इस छोटी सी कथा के अनुरूप केवल पाँच दृश्य और चार पात्र हैं। मत्स्यगन्धा वह धीवर कन्या है जिसे समग्र संसार का सौन्दर्य प्राप्त है, सुभु उसकी सखी है, अनंग सृष्टि का मूल प्रेरक है और पराशर वे ऋषि हैं जिन्होंने मत्स्यगंधा को सदा यौवन का वरदान दिया था।

धीवर बाला बड़ी होती है और अनंग के शरों से बिंध जाती है ऋषि पराशर अनायास नदीतट पर मिल जाते हैं। भोली सी वह उनसे अनन्त यौवन का वरदान मांग बैठती है। तत्पश्चात् राजा शान्तनु की अर्द्धाङ्गिनी बनती है, किन्तु विधि के निष्ठुर हाथ उसके सुख को बरबस छीन लेते हैं और तब उसे भान होता है उस अभिशाप स्वरुप वरदान का-उसके जीवन में घटाटोप अन्धकार ही अंधकार छा जाता है।

प्रथम दृश्य खुलता है सन्ध्या समय गंगा किनारे मत्स्यगन्धा और उसकी सखी सुभु नदी तट के उपवन में पुष्प चयन कर रही हैं और साथ ही साथ गाती भी जाती हैं। वातावरण तथा मौसम का सुहावनापन दोनों ही की

आत्मविभोर कर देता है और दोनों ही अपने अन्तरतम में किसी के चुपचाप प्रवेश होने एवं किसी मधुर रागिनी के झंकृत होने का अनुभव करने लगती हैं। मत्स्यगंधा अकेली रह जाती है इसी समय अनंग आकर उससे वार्तालाप करके प्रस्थान करता है और उसके शरों से बिंधी हुई मत्स्यगंधा उसी अनन्त यौवन की कामना करती हुई चली जाती है जिसे अनंग ने शाप कहकर समझाया था उसे :—

कोई प्रिय अवसर मिला कब बार बार
लीलता ही जाता सदा काल व्याघ्र कालसुत।
किन्तु मैं तो देखता हूँ, देखता यही कि आज
प्राप्त यदि वरदान शाप हो लगेगा तुझे।[1]

दूसरा दृश्य खुलता है और नाव के पास एक हाथ में डांड लिये मत्स्यगंधा अपने अन्तरतम की गुत्थियों को सुलझाने की चेष्टा करती हुई दिखाई पड़ती है :—

कौन तप्त श्रृंखला में जकड़ रहा है मुझे
उबल उबल मेरा प्राण भाग उठता।
—'मत्स्यगंधा' पृ० २२।

इतने में पराशर ऋषि आते हैं और नदीपार उतारने के लिये उससे कहते हैं। तीसरे दृश्य में सूर्यास्त हो चुकता है और नाव पर पराशर बैठ जाते हैं, मत्स्यगन्धा खेने लगती है। उस निस्तब्धता में मत्स्यगन्धा चिर यौवन का वरदान मांगती है—पराशर यह कहते हुए कि 'प्रिय भी सदा न प्रिय रहता है' उसे फिर एकबार सचेत करते हैं किन्तु मत्स्यगन्धा फिर भी उसे इष्ट समझ याचना करती है। पराशर ऐसा ही हो कहते हैं और दृश्य समाप्त हो जाता है।

चौथे दृश्य में उसी नदी के किनारे मत्स्यगंधा एकाकिनी हो बैठी हुई अतीत की उस घटना को याद करती हैं जब उसने ऋषि से वरदान मांगा था और याद कर प्रसन्न होती है।

किन्तु पांचवाँ दृश्य खुलते ही प्रातः काल के समय वह विधवा सत्यवती के रूप में प्रासाद के शिखर पर अस्तव्यस्त सी खड़ी हुई दिखाई पड़ती है। आज उसे अपनी भूल समझ में आती है जब उसका स्वर्ग नर्क में परिणत हो, समस्त उमंगों को जीवन का भार बना देता है। वह कह उठती है—

---

१. मत्स्यगन्धा—उदयशंकर भट्ट, पृ० १७।

हे महान ऋषिवर पाराशर, क्यों दिया था
वर यह खर तर। आग क्यों लगाई देव !
बल्लरी सुमालती में खिलते ही खिलते ?
हाय यह उषा नित आती बरसाती आग।
रक्त सा उबाल देती देह का छनन छन ।।

—'मत्स्यगंधा' पृ० ४१।

इतने में पुनः अनंग का प्रवेश होता है जिसे देख मत्स्यगंधा व्याकुल हो कह पड़ती है—

हालाहल यह मधु पीना है कठिनतर
जीना है कठिनतम दारुण विपत्ति सा।
लेलो यह वरदान, लेलो यह अभिशाप।

—'मत्स्यगंधा' पृ० ४५।

किन्तु अनंग यह कहता हुआ कि यौवन का वरदान किसे न भार समान प्रतीत हुआ अदृश्य हो जाता है और यह देख मत्स्यगंधा मूर्छित होकर गिर पड़ती है। दृश्य समाप्त हो जाता है।

'मत्स्यगंधा' इस प्रकार भावों के संघर्ष को ले चलने वाला गीतिनाट्य है जिसमें मानसिक उथल-पुथल मचानेवाली भावधारा को ही कवि ने प्रकृति एवं गीत के सहारे अभिव्यक्त करने का सुन्दर प्रयास किया है।

विश्वामित्र

'विश्वामित्र' भी उसी शैली में निर्मित हुआ है जिसमें 'मत्स्यगंधा'। इसमें कवि ने विश्वामित्र और मेनका की विख्यात कथा को लेकर अहंकार, बल, शक्ति और अभिमान के प्रतीक विश्वामित्र एवं प्रेम, कोमलता, भाव-पेशलता, नम्रता और स्फूर्ति की प्रतीक मेनका का संघर्ष दिखाया है। ब्रह्मर्षि बनने की महत्त्वाकांक्षा को लेकर किस प्रकार विश्वामित्र का पतन होता है यह प्रस्तुत गीतिनाट्य में अन्तर्द्वन्द्व के द्वारा बड़े भावात्मक ढंग से सात दृश्यों में प्रदर्शित किया गया है।

'राधा' में नारी-हृदय की भावप्रवणता एवं कोमलता का सुन्दर चित्रण राधा-कृष्ण के प्रसंग को लेकर कवि ने किया है। यहाँ कृष्ण कर्तव्यपरायण हैं अपेक्षाकृत प्रेमपरायणता के और राधा अत्यधिक भावप्रवण हैं। इस गीतिनाट्य की शैली भी अन्य दोनों गीतिनाट्यों की भाँति भावात्मकता से पूर्ण है। नाटकीयता तो इसके चारों दृश्यों में आद्यन्त विद्यमान है।

भट्टजी के इन भावात्मक गीतिनाट्यों के पश्चात् तो हिन्दी में इस

काव्यरूप का अधिक प्रचलन हो गया। निराला अपना 'पंचवटी-प्रसङ्ग' लेकर आए, रामायण के शूर्पणखा प्रसङ्ग को लेकर निराला ने बड़े ही सजीव कथोपकथनों द्वारा गीतिनाट्य की रचना की है। यहाँ भावों के साथ तुकान्त-विहीन छन्द की पंक्तियाँ छोटी-बड़ी होती गई हैं। इसी शैली को लेकर यह अन्य गीतिनाट्यों से कुछ भिन्नता लिये हुए है। कथोपकथनात्मक शैली में पात्रों के चरित्र स्वतः प्रकाशित भी होते गये हैं। मुक्त छन्द सम्पूर्ण गीतिनाट्य को यहाँ प्रभावपूर्ण बना रहा है। 'पंचवटी प्रसंग' का आरंभ सीता और राम के वार्तालाप से होता है। सीता कहती हुई दिखाई पड़ती है :—

> आती है याद उस दिन की
> प्रियतम,
> जिस दिन हमारी पुष्य वाटिका में
> पुष्पराज बाल रवि किरणों से हंसते नव नीलोत्पल।
> साथ लिये लाल को
> घूमते समोद थे नयन मनोरम तुम ॥[१]

दूसरे में लक्ष्मण का सुन्दर आत्मभाषण है। तीसरे में शूर्पणखा का प्रवेश होता है जो अपने ही सौन्दर्य पर मुग्ध दिखाई पड़ती है :—

> किन्तु मुझे जान पड़ता है
> सृष्टि भर की सुन्दर प्रकृति का सौन्दर्य भाग
> खींचकर विधाता ने भरा है इस अंग में।

—'पंचवटी प्रसंग' पृ० १०।

चौथे दृश्य में राम, लक्ष्मण और सीता वार्तालाप करते हुए दिखाई पड़ते हैं तब शूर्पणखा आती है और अन्तिम दृश्य में शूर्पणखा अपने भावों को प्रकट करती हुई जब क्रोधावेश में आ जाती है तब लक्ष्मण उसकी नाक काट लेते हैं।

इस छोटे से प्रसंग को लेकर निराला ने बड़े ही प्रभावात्मक ढंग से गीति-नाट्य की रचना की है। यहां नाटकीय संकेत तो हैं किन्तु कम हैं और दृश्यविधान केवल भिन्न खंडों द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

संवर्त्त

आधुनिक गीतिनाट्यों में केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' के गीतिनाट्य 'संवर्त्त'

---

१. पंचवटी प्रसंग, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' पृ० १।

ने विषयानुरूप एक नवीन तत्त्व प्रदान किया है। इन्होंने 'संवर्त्त' की रचना में युग के एक नवीन प्रश्न विज्ञान और धर्म के संघर्ष को लेकर बड़ा ही अनुपम काल्पनिक गीतिनाट्य लिखा है। साथ ही अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान कर कवि ने बड़ी ही विचारात्मकता अपने गीतिनाट्य में ला उपस्थित की है। इस प्रकार भावात्मकता से विचारात्मकता की ओर उन्मुख होते हुए गीतिनाट्य ने समुचित विकास किया है।

'संवर्त्त' एक मनोवैज्ञानिक गीतिनाट्य है जिसमें रूपक के सहारे कवि ने धर्म और विज्ञान अथवा यों कहिये हृदय और बुद्धि के संघर्ष को दिखाने की चेष्टा की है धर्म और ईश्वर में आस्था इस वैज्ञानिक युग में प्रायः शून्य है। मनुष्य का 'अहं' आज सब कुछ बन गया है। अहंकार के सामने कैसा धर्म और कैसी वह परम सत्ता! किन्तु ज्ञान द्वारा अहंकार का अन्त हो जाता है और मानव कल्याण उसकी उस आध्यात्मिक भावना में निहित होता है, जहाँ अहंकार, क्रोध, तृष्णा, हिंसा आदि का लेश भी नहीं। इसी भाव को लेकर कवि ने गीतिनाट्य का अंत ज्ञान के समक्ष अहंकार के ज्वालामुखी-गर्भ में समाहित हो जाने में दिखाया है। अस्तु, अन्य गीतिनाट्यों से इसकी शैली अपनी प्रतीकात्मकता में भिन्न हो गई है। कवि ने इन्हीं प्रतीकों के सहारे कथा-सूत्र को अग्रगामी किया है।

'संवर्त्त' के पात्र हैं अहंकार, क्रोध, विज्ञान, हिंसा, कलियुग, धर्म, ज्ञान, प्रार्थना, और पृथ्वी। आधुनिक वैज्ञानिक युग में युद्ध और उनका सूत्रपात करने वाला मानव जिस मनोवृत्ति को अपने में छिपाए हुए है वही है अहंकार। इसी अहंकार के साथी हैं क्रोध, तृष्णा, निकृति और अनृत। हिंसा तो वैज्ञानिक युग की मानों देन ही है। इस प्रकार एक ओर हिंसा, अहंकार, क्रोध, विज्ञान और कलियुग है तो दूसरी ओर हैं धर्म, प्रार्थना, ज्ञान और पृथ्वी। अन्त में जीत दूसरे वर्ग की ही दिखाई गई है।

'संवर्त्त' में तीन खंड हैं और प्रत्येक खण्ड में कई दृश्यों की योजना हुई। इस प्रकार विधान की दृष्टि से भी यह गीतिनाट्य सबसे भिन्न दिखाई पड़ने लगता है।

प्रथम खण्ड के प्रथम दृश्य में अहंकार की गर्जना से सम्पूर्ण प्रकृति ध्वनित हो उठी है। अहंकार का दक्षिण हाथ क्रोध आकर उसका साथ देता है। बस अहंकार विद्रोह का अवतार बन कर और भी तेज के साथ हुंकार उठता है :—

सँभल ईश्वरवाद ! तू भी सँभल रे पाखण्ड ।
सँभल दुर्बल धर्म ! तू भी सँभल अंधी भक्ति ।।

—'संवर्त्त' पृ० १० ।

दूसरे दृश्य में क्रोध का भैरव रूप है, तीसरे में हिंसा का आत्मकथन और विज्ञान की हुंकार । चौथे दृश्य में प्रकृति का त्रस्त रूप कवि ने बहुत ही सुन्दर शैली में खींचा है ।

दूसरे खण्ड में धर्म, ज्ञान और प्रार्थना के कथोपकथन हैं । इसके प्रथम दृश्य में इन तीनों का वार्तालाप है जिसमें ज्ञान कहता है :—

ब्रह्म का बस एक कण ले साथ
निमिष भर में वह मरण का गर्व करता चूर्ण ।

—'संवर्त्त' पृ० ३१ ।

दूसरे दृश्य में पृथ्वी और प्रार्थना की बातचीत है । तीसरे खंड में धर्म चिन्तित रूप में आता है । यहीं अहंकार धर्म का सर कटवा लेता है और इसी खण्ड में धर्म को मरवा कर अहंकार प्रसन्न है और ईश्वर एवं धर्म की सत्ता को सुलगते देख जब साथियों सहित वह गा उठता है तभी ज्ञान आकर बताता है कि ईश्वर अभेद्य है, न तो प्राण मिटता है न हृदय और न धर्म ही का अस्तित्व मिट पाता है । ज्ञान समत्व का उपदेश देता है पर अहंकार कब मानने वाला ! किन्तु जब ज्ञान अपने अतीत के विभ्रष्ट चित्र देखता है तब वह सिहर उठता है और ज्वालामुखी के फटते ही वह उसमें समा जाता है । 'संवर्त्त' विचारप्रधान गीतिनाट्य की कोटि में रखा जा सकता है ।

(ख) नाटकीय गीति

नाट्यात्मक मिश्र काव्य का दूसरा प्रकार है नाटकीयगीति । मिश्रकाव्य का यह रूप गीतिनाट्य सा ही होता है, किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर भी होता है । जहाँ गीतिनाट्य में एक सुसंबद्ध कथा भी चलती है और जहाँ उसमें नाटकीय संकेतों का उपयोग किया जाता है, वहाँ नाटकीयगीति में कथा की उतनी अपेक्षा नहीं होती—केवल भावाभिव्यक्ति को यहाँ प्रधानता दी जाती है । यह भावाभिव्यंजना नाटकीय ढंग पर अवश्य होती है । किन्तु इस नाटकीय ढंग से केवल इतना ही आशय होता है कि कवि पात्र अथवा पात्रों द्वारा अपनी अनुभूति का प्रक्षेप करता है । रंगमंच के संकेत, दृश्यों का विधान तथा अन्य नाटकीय संकेत यहाँ नहीं दिये जाते । कवि भावाभिव्यक्ति के लिये ऐसे स्थलों को चुन लेता है जिनमें हमारे ध्यान को आकर्षित करने

की प्रबल शक्ति होती है। जो भावनाएँ हमारी इन्द्रियों को अत्यधिक प्रभावित करती हैं, अर्थात् जो शीघ्रातिशीघ्र इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हो पाती हैं, ऐसी भावनाओं को नाटकीय ढंग पर जब कवि प्रदर्शित करता है तब हम उस स्वरूप को 'नाटकीयगीति' की संज्ञा देते हैं। 'गीतिनाट्य' नाटक के अति समीप पहुँच जाता है इस अर्थ में कि उसमें दृश्य-विधान एवं दृश्यों की अनेकता होती है; कथा कथोपकथनात्मक शैली में होती है और बीच-बीच में संगीत का विधान भी किया जाता है। किन्तु 'नाटकीयगीति' इनमें से केवल कथोपकथनात्मक शैली को छोड़कर अन्य किसी तत्त्व की सहकारिता नहीं चाहता। उसमें दृश्यों की अनेकता नहीं होती बल्कि कथा एकरस चलती जाती है।

नाटकीयगीति के दो प्रकार

कवि भावाभिव्यंजना में कभी तो केवल एक ही पात्र को लेता है और कभी अनेक को। एक पात्र द्वारा कवि जब भावाभिव्यक्ति करता है तब 'नाटकीयगति' का स्वरूप नाटक के स्वगतकथन का सा हो जाता है। नाटक के स्वगतकथन की विशेषता यह होती है कि जब पात्र के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व घनीभूत हो जाता है—जब मौन रहना उसके लिए एकदम दूभर सा हो जाता है तब उसकी बेचैनी इतनी अधिक हो जाती है कि क्षण भर भी वह मौन नहीं रह पाता। वह स्वयं अपने आप को संकेत कर अपने मन की कथा सुनाने लगता है। तदुपरान्त उसका जी हलकेपन का अनुभव करने लगता है। अधिकतर पात्र भावावेश की अवस्था में स्वगत बोलने लगते हैं और उसी के कथन द्वारा उसका आत्म-विश्लेषण भी होता जाता है। ठीक इसी भाँति जब कवि 'नाटकीयगीति' की रचना में केवल एक पात्र को लेकर उसके मुँह द्वारा भावाभिव्यंजना करता है तब उस काव्य का रूप निराला हो जाता है जिसे हम 'स्वगत-कथनात्मक नाटकीयगीति' कह कर पुकार सकते हैं। दूसरी ओर जहाँ कवि अनेक पात्रों द्वारा कथोपकथनात्मक ढंग से भावाभिव्यंजना करने लगता है तब हम उसे 'कथोपकथनात्मक-नाटकीयगीति' की संज्ञा दे सकते हैं।

ख (१) स्वगतकथनात्मक

नाटक के स्वगतकथन में और नाटकीयगीति के इस एकपक्षी वार्तालाप अथवा आत्मभाषण में पर्याप्त भेद पाया जाता है। नाटक के पात्रों का स्वगत-कथन उनके ही मुँह से उनकी अपनी विषद और सच्ची व्याख्या कर उनके चरित्र का उद्घाटन बड़े ही स्पष्ट रूप में करता है। ठीक इसी भाँति 'स्वगत

कथनात्मक नाटकीयगीति' में पात्र अपनी हृदयस्थ ग्रन्थियों को एक-एक करके खोलता तो है, किन्तु जहाँ नाटक के स्वगतकथन में पात्र विशेष अपने को ही सम्बोधित कर भावाभिव्यक्ति करता है वहाँ पर स्वगतकथनात्मक नाटकीयगीति के इस स्वगतकथन में प्रायः संसार को संकेत कर पात्र अपनी हृदयस्थ भावनाओं को व्यक्त करता है। अस्तु यहाँ भावना व्यक्ति से उठकर समष्टि के स्तर पर चली जाने पर व्यापक हो जाती है। काव्य का यह रूप गीतिनाट्य की तुलना में कहीं अधिक गंभीरतम और भावात्मक होता है। यह अत्यधिक चिन्तनापूर्ण भी होता है। कारण यह कि यहाँ कवि की अनुभूति की इकाई एक ही पात्र के माध्यम से अभिव्यंजित होती है। यही इस काव्यरूप की सबसे बड़ी विशेषता होती है। पात्र की इकाई में भावों की तीव्रता अत्यधिक बढ़ जाती है। तब पात्र अन्य किसी का प्रतिनिधित्व न कर स्वयं कवि का ही प्रतीक बन बैठता है। हम उसके बीच झलकती हुई कवि की आत्मा को देख लेते हैं। उसका व्यक्तित्व निर्मल जल की भाँति स्वच्छ दिखाई पड़ता है जिसके बीचोंबीच झलकता रहता है कोमल, आर्द्र, पृथ्वीतल।

यदि गीतिनाट्य गीतों में नाटक है तो स्वगत नाटकीय गीति एकांकी है। एकांकी नाटक में केवल एक ही अंक होता है। इस दृष्टि से दोनों में हम यही साम्य दिखा सकते हैं कि स्वगत कथनात्मक नाटकीय गीति में यों तो दृश्यों का विधान नहीं तथापि कवि एक ही दृश्य मानों रँगता है। हमारे यहाँ संस्कृत में रूपक के भेद बताते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने 'भाण' की भी कल्पना की है।[1] यह नाटक हमारे एकांकी के सदृश होता है। किन्तु जहाँ एकांकी में पात्रों की अनेकता मिलती है वहाँ इसमें अंक अथवा दृश्य की एकता के समान पात्र की भी एकता निर्धारित की गई है। इसका पात्र आकाश की ओर मुँह उठा कर स्वगत कथन की भाँति कहता चला जाता है। किन्तु 'भाण' का उद्देश्य हास्यरस की सृष्टि करना होता है जो 'स्वगत कथनात्मक नाटकीयगीति' का लक्ष्य कदापि नहीं। इसकी तो विशेषता इसी में है कि उसमें कवि के चिन्तन का गाम्भीर्य है अथवा नहीं नाटक का लेखक 'नाटक में अपने पात्रों के साथ अपने को खो देता है। 'स्वगत कथनात्मक नाटकीयगीति' में पात्र आत्मभाषण के रूप में अपने अन्तरतम को खोलता जाता है। उसके अपने भाव, अपने विचार अपने ही मुँह से निकलते जाते हैं। कवि का यह पात्र अन्य कोई भी नहीं प्रत्युत स्वयं कवि ही होता

---

१. 'एकहार्यः भाणः', काव्यानुशासन, आभास अष्टम सूक्त ३, पृष्ठ ४४१.

है, जो प्रायः अपनी दार्शनिकता को ही पाठक के सम्मुख रखता है। मानों उसी की आड़ में खड़े होकर कवि अपनी भावनाओं का प्रक्षेप कर रहा है।

कभी कवि अपनी विचारधारा को सीधे अपरोक्ष रूप में रखता है, तो कभी परोक्ष रूप में उसका प्रक्षेप करता है। अर्थात् कभी तो वह पात्र कवि के हृदयस्थ भावों और विचारों का वाहक बन कर हमारे सामने आता है, और कभी वह परोक्ष रूप में उसके जीवन-दर्शन की अभिव्यंजना करता है। पहले में कवि का प्रतीक स्वरूप वह पात्र उसकी विचारधारा को सीधे-सीधे व्यक्त करता है, तो दूसरे में कवि विरोधी भावों के कथन द्वारा अपनी विचारधारा को अभिव्यंजित करने का प्रयास करता है। प्रसादजी के नाटकीयगीति "अशोक की चिन्ता" में उनकी विचारधारा, जिसपर बौद्ध दर्शन का प्रभाव पड़ा था, सीधे अपरोक्ष रूप में अभिव्यंजित हुई है। इसका स्वरूप 'स्वगत कथनात्मक 'नाटकीयगीति' का सा है, जिसमें एक पात्र द्वारा भावाभिव्यंजना होती है। कवि ने अपनी दार्शनिक विचारधारा के अनुकूल अशोक को चुना है जो स्वयं बौद्धधर्म से प्रभावित हुआ था। इस प्रकार एक ओर तो हम उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं और दूसरी ओर कवि के साथ। अशोक, कलिंग विजयोपरान्त रणक्षेत्र में भीषण रक्तपात को देखकर दहल उठा। तब उसमें जो हृदय-परिवर्तन हुआ, उसी को आत्मभाषण के रूप में कवि ने हमारे समक्ष रख दिया है।

इसी प्रकार 'प्रलय की छाया' भी काव्य के इसी स्वरूप के अन्तर्गत आता है। यहाँ पात्र एक स्त्री है और वह है गुजरात के राजा कर्णदेव की रानी कमलादेवी। उसके आत्मभाषण में उसका हृदय खोलकर तो प्रसादजी ने रख दिया है किन्तु उसके स्वात्मकथन में प्रसादजी के हृदय की विचारधारा का प्रक्षेप परोक्ष रूप में हुआ है। उनकी नारी का आदर्श कमलादेवी नहीं। विरोधी पात्र द्वारा कवि ने अपने भावों एवं आदर्शों को अभिव्यंजित किया है। उसी के मुँह से कवि जब यह कहलाता है :—

> नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
> जिसमें पवित्रता की छाया भी न पड़ी।
>
> —'लहर' पृ० ८६।

तब उनके नारी आदर्श को हम समझ लेते हैं जो कमलावती से कोसों दूर का है।

अस्तु हम देखते हैं 'स्वगत कथनात्मक नाटकीयगीति' में कवि एक ही पात्र में अपने को रखकर भावाभिव्यंजना करता है। दृश्यविधान, रंगमंच

के संकेतादि से उसका कोई संबन्ध नहीं होता—केवल आत्मभाषण नाटकीय ढंग पर होता है। कभी ये आत्मभाषण अत्यधिक गीतात्मक, तो कभी वर्णनात्मक और कभी बड़े ही विचारात्मक होते हैं।

अंग्रेजी का 'ड्रेमेटिक मोनोलोग'

'स्वगत कथनात्मक नाटकीयगीति' का साम्य अंग्रेजी के 'ड्रैमेटिक मोनोलोग (Dramatic Monologue)'[1] से है। काव्य के इस मिश्र रूप का जितना परिष्कार ब्राउनिंग और टेनिसन ने किया उतना पश्चिम के अन्य किसी भी कवि ने नहीं। उन्हीं की रचनाओं को लक्ष्य में रख कर उसकी परिभाषा एवं व्याख्या भी की गई। 'मोनोलोग' का आशय है आत्मकथन अर्थात् एकपक्षीय वार्तालाप। ऐसा आत्मकथन जो एक ही पात्र के मुँह से निकला हो। अस्तु पात्र की एकता इस काव्यरूप का अविभाज्य तत्त्व होता है। किन्तु ब्राउनिंग के कुछ ऐसे भी 'ड्रैमैटिक मोनोलोग' मिलते हैं जिनमें एक व्यक्ति का ही कथन मुख्य है, परन्तु साथ ही जिसको लक्ष्य अथवा संबोधित करके वह कहा गया, उस व्यक्ति को भी उसमें स्थान दिया गया है। यह दूसरा पात्र अपनी ओर से कुछ न कह कर केवल उन्हीं बातों को दुहराता है जो उसके प्रति कही गई हों। आशय यह कि काव्य के इस रूप का आकर्षण आत्मभाषण के भावात्मक तत्त्व पर निहित होता है। जितना ही भावपूर्ण यह भाषण होगा उतना ही प्रभावात्मक वह स्वरूप भी हो जायगा। शैली की दृष्टि से टेनिसन और ब्राउनिंग का प्रभाव भी हिन्दी कवियों पर पड़ा है।

काव्य के इस मिश्र रूप के संबंध में जो एक प्रश्न उठता है वह यह है कि उसके रचयिता के लिये क्या यह परमावश्यक है कि वह सफल नाटककार भी हो? वस्तुतः 'स्वगत कथनात्मक नाटकीयगीति' में नाटक का आत्मभाषण तत्त्व तो लिया जाता है किन्तु इसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह सफल नाटककार भी होता है। अथवा उसका नाटककार होना भी अनिवार्य गुण होता है। नाटककार की मनोवृत्ति में और 'स्वगत कथनात्मक नाटकीयगीति'-रचयिता की मनोवृत्ति में पर्याप्त अन्तर होता है। पहला कलाकार तो अनेक पात्रों को जन्म देकर उनके द्वारा भावाभिव्यंजना करता है जो उससे बिल्कुल भिन्न व्यक्तित्व वाले होते हैं। किन्तु दूसरे की

---

१. An Introduction to the Study of Literature W. H. Hudson Page 147.

मनोवृत्ति केवल एक ही पात्र को जन्म देती है। इस प्रकार जहाँ पहले स्वरूप में अनेक पात्रों के साथ अनेक बदलती हुई संघर्षमयी परिस्थितियों की उद्भावना की जाती है, वहाँ दूसरे में केवल एक ही पात्र के अनुरूप एक ही अवस्था का चित्रण किया जाता है। यही कारण है कि जब 'स्वगत कथनात्मक नाटकीयगीति' का रचयिता नाटक लिखने बैठता है तब उसका प्रत्येक पात्र आत्मभाषण के रूप में अपने आपको अभिव्यंजित करने लगता है। फलतः उनके भाषण एवं कार्य में विविधता अथवा नवीनता नहीं आ पाती जो नाटक में परिस्थिति के परिवर्तन के साथ आती जाती है। एक प्रकार से उसका प्रत्येक पात्र उसके रचयिता का प्रतिरूप बन जाता है। प्रकारान्तर से नाटक का स्वरूप कुछ भिन्न प्रकार का हो जाता है। अस्तु, निष्कर्ष यही निकलता है कि दोनों प्रकार के काव्यरूपों की रचना भिन्न भिन्न प्रकार की विशेषताओं की अपेक्षा करती है।

हिन्दी में काव्य के इस रूप की रचना अत्यल्प है और यदि हुई भी है तो उसमें जयशंकरप्रसाद की ही रचनाएँ रूप की दृष्टि से सुन्दर हुई हैं। 'लहर' में तीन कविताएँ इसी के अन्तर्गत आती हैं। ये हैं 'अशोक की चिन्ता' 'प्रलय की छाया' और 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण'। इनके अतिरिक्त सियाराम शरण गुप्त ने भी इस ओर पग बढ़ाया है और 'आर्द्रा' संग्रह में कुछ इस प्रकार की रचनाएं 'प्रयाणोन्मुखी' 'नृशंस' आदि के रूप मे प्रस्तुत भी की हैं, परन्तु रूप का परिष्कार प्रसाद की तीनों रचनाओं में मिलता है।

'अशोक की चिन्ता' में कवि ने कल्पना द्वारा पात्र का सृजन कर ऐतिहासिक पात्र अशोक को लेकर ऐतिहासिक घटना के आधार पर होनेवाली हृदय की प्रतिक्रिया को बड़ी ही भावात्मक शैली में अंकित करने का प्रयास किया है। कलिंग विजयोपरान्त रणक्षेत्र के भीषण नरसंहार को देख कर अशोक का हृदय करुणार्द्र हो उठा। अतएव उसके आत्मोद्गार द्वारा कवि ने अपनी दार्शनिकता को बड़े ही सुन्दर ढंग से अभिव्यंजित करने का प्रयास किया है। कवि की बौद्ध दर्शन के प्रति अनुरक्ति और उसकी अपनी विचारधारा अशोक के स्वगत कथन द्वारा अभिव्यक्त हो रही है। कवि ने यहाँ मुक्त छन्द का आश्रय न लेकर अन्त्यानुप्रास युक्त स्वच्छन्द छन्द में भाव को बड़ा ही लयात्मक रूप दिया है:—

वेदना विकल यह चेतन,
जड़ का पीड़ा से नर्तन,

लय-सीमा में यह कम्पन,
अभिनयमय है परिवर्तन।
चल रहा यही कब से कुढंग।

—'लहर' पृ. ५५।

कथा के प्रवाह में यह शैली बहुत उपयुक्त हुई है। स्वगत कथन में नाटकीयता भी भरपूर है। कवि को वर्णनात्मकता का आंशिक आग्रह भी है। किन्तु यह इतना हलका है कि भावों के सामने वह गौण हो गया है। कल्पना द्वारा ऐतिहासिक पात्र के स्वगत कथन द्वारा भावाभिव्यंजना करना कवि की मौलिकता का परिचायक है।

प्रसाद का ऐसा ही दूसरा काव्यरूप है 'प्रलय की छाया'। यहाँ नारी के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व बड़ी ही सजीव शैली में अंकित है। यह हृदय की उथल-पुथल गुजरात के राजा कर्णदेव की रानी कमला देवी से संबंध रखती है। सम्पूर्ण रचना 'स्मृति' संचारी के रूप में कमलादेवी के स्वगत कथन द्वारा आगे पूर्ण होती है। यहाँ मुक्त छन्द में भावाभिव्यंजना का रूप बड़ा ही प्रभावोत्पादक है :—

थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की।
सन्ध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज में॥
और उस दिन तो,
निर्जन जलधि-बेला रागमयी सन्ध्या से-।
सीखती थी सौरभ से भरी रँग-रलियाँ॥

—'लहर' पृ० ६५।

'प्रलय की छाया' आद्यन्त इसी प्रभावात्मकता से युक्त है। हृदय के तूफान के साथ कमला देवी के रूप-चित्रण, उद्वेलित यौवन, विलासी रूप, जीवन की लालसा, अभिलाषा आदि सभी का सुन्दर रूप में दिग्दर्शन हुआ है। 'अशोक की चिन्ता' में स्वच्छंद छंद जिस रूप में प्रयुक्त हुआ है उसमें संगीत का तत्त्व भी आ गया है परन्तु 'प्रलय की छाया' में मुक्त छन्द के कारण यह तत्त्व नहीं मिलता।

'प्रलय की छाया' के ही समान मुक्त छन्द में 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण', भी रचा गया है। इसमें भी ऐतिहासिक घटना के आधार पर सिक्खों के नेता शेरसिंह के शस्त्र समर्पण की घटना स्वगतकथन के रूप में अभिव्यक्त हुई है। शैली यहाँ विषयानुरूप बड़ी ओजस्विनी है।

ख (२) कथोपकथनात्मक नाटकीयगीति

ऊपर कह चुके हैं उसमें कवि भावाभिव्यंजना एक ही पात्र में होकर करता है; किन्तु इसी काव्यरूप का एक दूसरा प्रकार वह भी होता है जहाँ अनेक पात्रों का विधान कर कवि अपने भावों की अभिव्यंजना करता है। इसकी विशेषता यह होती है कि उसमें पात्रों की अनेकता कथोपकथन को जन्म देकर उसके स्वरूप को नाटक की कथोपकथनात्मक शैली जैसा बना देती है। यह कथोपकथन किसी कथा के आधार पर खड़ा किया जाता है। चाहे वह कथा भावात्मक हो चाहे उसमें किसी ऐतिहासिक सत्य की नियोजना हो, इससे उसमें कोई व्याघात नहीं पहुँचता। अस्तु, उसमें वर्णनात्मकता का आंशिक आग्रह स्वीकृत हुआ है, यद्यपि भावात्मकता ही उसका प्रधान लक्षण है। अधिकांशतः ऐसे नाटकीयगीति किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर ही निर्मित हुए। किन्तु 'गीतिनाट्य' में और ऐसे काव्यरूप में पर्याप्त अन्तर होता है। 'गीतिनाट्य' का विधान नाटक की भाँति दृश्य-विधान को भी लेकर चलता है जिससे उन्हें पद्यबद्ध रूपक की संज्ञा दी जाती है। बीच-बीच में गीतों की योजना भी कवि करता जाता है, किन्तु 'कथोपकथनात्मक नाट-कीयगीति' में केवल कथोपकथन बड़े ही भावात्मक ढंग से रचे जाते हैं। हृदय के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया जाता है। इस प्रकार पात्रों के चरित्र का उद्‌घाटन सहज ही हो जाता है और कोई कोई स्थल तो ऐसे आ जाते हैं कि सहृदय पाठक कुछ देर के लिये रुक जाता है—उसके साथ मानों तन्मय हो जाता है।

ऐसे कथोपकथनात्मक गीतियों का संग्रह आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव का 'झाँकी' है। इसमें 'सीता और पार्वती', 'शिवाजी और भारत-लक्ष्मी', 'नूरजहाँ,' 'चाणक्य और चन्द्रगुप्त' ये चार अत्यधिक भावात्मक वार्तालाप हैं।

'पार्वती और सीता' में कल्पना द्वारा कवि ने रामायण के उस प्रसंग में जहाँ राम धनुष तोड़ने जा रहे हैं यह कल्पनात्मक कथोपकथन रचा है जिसमें पार्वती सीता की परीक्षा लेती हैं। सीता उनके मुँह से भविष्य के कठिनतम जीवन को सुन कर भी दृढ़ हैं और पार्वती के यह कहने पर :—

सुमन मृदुल है देह राम की और है
मेरे पति का धनुष कठिन ज्यों वज्र हो।

करती हो इस समय भावना कौन सी ?
और न टूटा धनुष राम से तो कहो ?'

सीता कहती हैं :—

टूटेगा वह धनुष किस तरह से नहीं।
कृपा तुम्हारी और शंभु की चाहिये॥

—पृ० ५।

इसी प्रकार 'शिवाजी और भारत-लक्ष्मी' में शिवाजी भारत लक्ष्मी की काल्पनिक प्रतिमा को सामने देख वार्तालाप करते हैं। किन्तु सबसे अधिक भावात्मक प्रसंग नूरजहाँ का है। इसमें नूरजहाँ और लैला का कथोपकथन है, जब नूरजहाँ अन्तिम साँसें गिन रही है। उसकी आँखों के सामने बचपन का संपूर्ण चित्र नाच उठता है—एक एक घटना को वह पुत्री लैला को सुना रही है। आरम्भ बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से होता है जब नूरजहाँ, जो कभी स्वयं जहान की नूर थी पार्थिव नूर के लिये तरस उठती है :—

अंधकार हो रहा कक्ष में व्याप्त है
लैला, खोलो द्वार! द्वार यह खोल दो।
मणिमाला का प्रभा जाल यह व्यर्थ है
आने दो कुछ गर्व-पूर्ण रवि-कर यहाँ
जीवन भर मैं रही इसी ज्योति के पुंज में
मरण काल में ज्योति देखती मरूँ।

—'झाँकी'।

धीरे-धीरे नूरजहाँ की व्यथा बढ़ती जाती है और वह पुकार उठती है—

अरी मृत्यु तू तो वाहन सी है मुझे
ले चल जल्दी किसी बड़े साम्राज्य में
इससे भी गुरुता प्रकाश में और फिर
कर मेरा अभिषेक द्वार ही एक है
भावी उन्नति की तू—भय क्या वस्तु है
जाना मैंने नहीं न जानूंगी कभी।

—'झाँकी'।

'चाणक्य और चद्रगुप्त' में उस समय का वार्तालाप है जब चन्द्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठ जाते हैं और चाणक्य अपने कार्य को पूरा हुआ

१. झाँकी, आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव, पृ० ४।

देख वानप्रस्थ आश्रम के लिये चल पड़ते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण 'झाँकी' काव्य के इस रूप का सुन्दर उदाहरण है।

सियारामशरण गुप्त ने भी 'कथोपकथनात्मक नाटकीय गीति' की रचना की। इनके 'आर्द्रा' संग्रह में 'बन्दी' शीर्षक कविता का काव्यरूप ऐसा ही है। यहाँ एक उच्च कुल का बन्दी और उसके बाल्यकाल के मित्र का परस्पर वार्तालाप है। मित्र उससे मिलने के लिये आया है और उसे घर लौटने के लिये अनुरोध करता है। किन्तु वह मुक्त होना नहीं चाहता। उसके उद्‌गार बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं।

आज रो रही है एक मेरी माँ,
कैसे रुलाऊँ अब और बहुतेरी माँ!
दुःख एक माँ का है असह्य मुझे इतना,
अन्य साथियों का गला।
कैसे जान-बूझ कर फँसा दूँ भला—
होगा शत माँओं का कराल क्लेश कितना![1]

२. स्वानुभूतिप्रधान

(क) आत्मनिवेदनात्मक

कविता में स्वानुभूति का अभिव्यंजन कई रूपों में होता है। गीतिकाव्य तो इसी स्वानुभूति के अभिव्यंजन को लेकर अन्य स्फुट काव्यरूपों से भिन्न है। कवि का अन्तर्जगत यहाँ बिना किसी बाह्य आवरण के खुल पड़ता है और उसके व्यक्तित्व की छाप उसमें पूर्ण रूप में झलकने लगती है। किन्तु यह अभिव्यंजना पद्धति कभी तो बिलकुल ही कवि के अन्तरतम को खोल कर स्पष्ट रूप में रख देती है और कभी उसका स्वरूप इससे कुछ भिन्न हो जाता है। यहाँ कवि की भावनाएँ बाधित रूप में अभिव्यक्त होती हैं। कवि ऐसा माध्यम चुन लेता है, जो उसकी अपनी ही भावनाओं को व्यक्त करने में सहायक होता है। यहाँ अभिव्यंजना सीधी न होकर बाधित कहलाती है और व्यवधान से काव्य के बाह्य रूप में अवश्य परिवर्तन आ जाते हैं। किन्तु उसकी मूल भावना तो कवि की अपनी निजी भावना का अभिव्यंजन ही है। इसी स्वानुभूतिप्रधान अभिव्यंजना शैली में 'आत्मनिवेदनात्मक मिश्र-काव्य' विरचित होता है। आत्मनिवेदन कभी तो स्वयं कवि अपने मुँह से

---

१. आर्द्रा, सियारामशरण गुप्त, बन्दी, पृ० १४१ द्वितीयावृत्ति सं० १९९५।

करता है, विशेषकर गीतिकाव्य में जहाँ केवल भावों को अभिव्यक्त होने का अवसर मिलता है; किन्तु जब कवि किसी पौराणिक अथवा प्रख्यात कथा के हलके से आधार को लेकर उसके अन्तर्गत आए पात्रों को उन्हीं के स्वगत-कथन द्वारा मुखपृष्ठ पर लाने की चेष्टा करता है तब पात्रों के आत्मोद्गारों में कवि का आत्मनिवेदन स्पष्ट सीधे रूप में न होकर, बाधित या अप्रकट रूप में होता हुआ दिखाई पड़ता है। इस प्रकार किसी कथांश का आधारमात्र लेकर आत्मनिवेदनात्मक शैली में काव्य सृजन, जिस मिश्र-काव्यरूप को जन्म देता है वह वर्णनात्मकता के साथ-साथ स्वानुभूति की अभिव्यंजना से भरपूर होता है। कवि कथान्तर्गत आए पात्रों को चुन लेता है और ऐसे गीतों की रचना करता है जिनमें प्रत्येक पात्र की विशिष्टता के अनुरूप भावाभिव्यंजना होती जाती है। अति भावात्मकता के साथ कवि की लेखनी कभी स्वानुभूति के निरूपण की ओर अधिक झुक जाती है तो कभी कथा के सूत्र को पकड़ने पर कुछ हलकी सी वर्णनात्मकता भी उसमें स्वतः नियोजित हो जाती है। कवि ऐसे ही स्थलों से पात्रों की हृदयस्थ भावनाओं को खोलता है जो उनके जीवन के अति प्रभावात्मक क्षण होते हैं। इस प्रभावात्मकता में जब काव्यरूप अत्यन्त गीतात्मक हो उठता है तब एक ओर तो उसके गीतिकाव्य होने का आभास होने लगता है और दूसरी ओर कथा का हलका सा आधार उसमें प्रबन्धत्व की झलक भी देने लगता है। ऐसा ही मिश्रकाव्यरूप गुप्त जी का 'द्वापर' है—न तो इसमें पूर्ण प्रबन्धत्व है और न पूर्णतः स्फुटता। प्रबन्ध की धारा बीच-बीच में क्षणिक आभास देकर लुप्त हो जाती है। कुछ पात्र तो बिलकुल ही आत्मनिवेदन करते हुए दिखाई पड़ते हैं—इसमें कहीं कृष्ण की महत्ता का प्रदर्शन है, तो कहीं अपने ही जीवन की व्याख्या। परन्तु संपूर्ण काव्य का एक संकलित प्रभाव न पड़ता हो ऐसी बात नहीं। मिश्रकाव्यरूप की एक विशिष्ट शैली में निर्मित प्रस्तुत काव्य एक नवीन आकर्षण लिए हुए हैं। काव्यरूप की दृष्टि से द्वापर अपने स्थान पर अकेला ही खड़ा हुआ है, उसकी समता करने के लिये अन्य काव्य अभी तक इस क्षेत्र में प्रस्तुत नहीं हुआ।

द्वापर

'द्वापर' की विशेषता अन्य काव्यरूपों से भिन्न है। यदि 'यशोधरा' को ही लें तो यह भिन्नता शैली में ही परिलक्षित होती है अन्यथा मूल भावना (Spirit) दोनों की स्वानुभूतिपरक (Subjective) ही है। यशोधरा में गद्य, पद्य, नाटक, गीत सभी कुछ होते हुए गीतात्मकता अधिक है किन्तु 'द्वापर' में तर्क एवं बौद्धिकता के आग्रह से यह गीतात्मकता का तत्त्व उतनी

मात्रा में न आ सका। अस्तु, जहाँ शैली का प्रश्न आता है वहाँ 'द्वापर' रचना उससे बहुत दूर जा पड़ती है।

जिस परिस्थिति में 'द्वापर' की रचना हुई वह स्वयं कवि के कथनानुसार बड़ी संकल्प-विकल्पपूर्ण स्थिति थी। यही कारण है इस रचना को जो रूप कवि ने दिया है, वह आज तक तर्क-वितर्कपूर्ण बना हुआ है। न तो वह शुद्ध प्रबन्ध है और न शुद्ध अबन्धकाव्य; पर है इन्हीं दोनों के मध्य की रचना जो झुकती अधिक है अबन्धकाव्य की ही ओर। संकल्प-विकल्प से पूर्ण परिस्थिति के कारण कवि इसे वह विशाल पट भी न दे पाया जो 'द्वापर' जैसे युग के चित्रण के लिए अपेक्षित था। वस्तुतः कवि का ऐसा 'निवेदन' बिलकुल ही यथार्थ है। कारण यह कि जिस युग-पुरुष कृष्ण को लेकर कवि चला है उससे सम्बन्ध रखती हुई अगणित लीलाएँ व घटनाएँ हैं जिन्हें एक छोटे से पट पर चित्रित करना असम्भव है। फिर जब कवि किसी कथा के सूत्र को भी पकड़ने का इच्छुक नहीं—ऐसी स्थिति में तो 'द्वापर' युग का अंकन और भी कठिन हो जाता है। इतनी कठिनाई का अनुभव कवि को प्रथम ही हो चुका था, यही कारण है कि उसने अपना पहला मनोनीत नाम 'गोपाल' प्रस्तुत रचना को न दिया। क्योंकि गोपाल तो 'द्वापर' भर में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में वर्तमान हैं और द्वापर युग के शेष चौदहों व्यक्ति उन्हीं के प्रति अपना आत्मनिवेदन ही करते हुए दिखाई पड़ते हैं, किन्तु उस गोपाल की कोई जीवन-कथा तो इसमें नहीं जो आद्यन्त एक रस बहती हो और 'गोपाल' शीर्षक को सार्थक करे। अस्तु, कवि ने युग के बढ़ते हुए सन्देह को लेकर इसे 'द्वापर' कहना ही उपयुक्त समझा। दूसरे, कृष्ण का अस्तित्व 'द्वापर' में स्वतन्त्र रूप से है भी कितना—काव्य के खुलते ही वे इतना कहते हुए दिखाई पड़ते हैं—

> राम भजन कर पाञ्चजन्य! तू
> वेणु बजा लूँ आज हरे
> जो सुनना चाहे सो सुन ले
> स्वर ये मेरे भाव भरे—
> कोई हो, सब धर्म छोड़ तू,
> आ, बस मेरा शरण धरे
> डर मत; कौन पाप वह, जिससे
> मेरे हाथों तू न तरे![1]

१. 'द्वापर'—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ १।

इसके पश्चात् कहीं भी कृष्ण स्वगतकथनात्मक रूप में कुछ भी कहते हुए नहीं दिखाई पड़ते और अन्य पात्रों के आत्मनिवेदन एक-एक करके सामने आने लगते हैं। सर्वप्रथम राधा आती हैं जो उन्हीं के प्रत्युत्तर में मानों कह पड़ती हैं—

> शरण एक तेरे मैं आई
> धरे रहें सब धर्म हरे।
> बजा तनिक तू अपनी मुरली
> नाचें मेरे मर्म हरे।

—'द्वापर', पृ० ३।

राधा की उक्ति में उनके हृदय का निवेदन सच्चा है। कृष्ण के प्रेम-रूपी अथाह सागर में उनका मानस-हंस सदैव मग्न रहने का अभिलाषुक है। फिर यशोदा आती हैं और गा उठती हैं—

> मेरे भीतर तू बैठा है
> बाहर तेरी माया।
> तेरा राम दिया सब पावें
> जैसा मैंने पाया।

—'द्वापर', पृ० ६।

अपने आत्मोद्गार में वे कृष्ण की दधिमाखन–चोरी, कालीदमन, राधा के प्रति प्रेम आदि सभी ओर ध्यान ले जाती हैं। इनमें कथा की सूत्रता नहीं केवल हृदय के स्वतः उद्गीर्ण भाव हैं।

'विधृता' शीर्षक उस पति-परिपीड़िता के आत्मोद्गार से पूर्ण है जिसे पति ने बरबस कृष्ण के दर्शनों से रोक लिया और उसने अपने प्राण तज दिये। इस प्रसंग में विधृता पति को धिक्कारती हुई जितनी बातें कहती है उसमें सामान्य नारी की समस्या प्रमुख हो उठी है।

> अविश्वास, हा! अविश्वास ही
> नारी के प्रति नर का।
> नर के तो सौ दोष क्षमा हैं
> स्वामी है वह घर का।

—'द्वापर', पृ० ३१।

अतः युग समस्या की भावना ने यहाँ वह गीतात्मकता न लाने दी जो अन्य

पिछले शीर्षकों में भरी हुई है। दूसरे, यहाँ पति के प्रति कथन होते हुए भी वह कृष्ण से सम्बन्धित है।

'बलराम' आकर सच्चे युगधर्म को बताते हुए कृष्ण की महत्ता को सुनाते हैं और ग्वालबाल भी कह उठते हैं—

> अरे पलट दी है काया ही
>
> इस केशव ने काल की।
>
> बलिहारी बलिहारी जय जय
>
> गिरधारी गोपाल की।
>
> —'द्वापर', पृ० ५६।

ग्वालबाल कृष्ण से सम्बन्धित कुछ घटनाओं का स्मरण करते हैं। विधृता-प्रसंग, गोवर्धनधारण, बकासुर वध आदि घटनाओं को स्मरण करना कृष्ण की महत्ता ही तो प्रदर्शित करना है। 'नारद' आते हैं एक ओर देवकी और दूसरी ओर कंस को सचेत करने के लिये। देवकी कारागृह में अपने मृत बच्चों को याद करती हुई कृष्ण-जन्म की आभा देखती है। उग्रसेन तो देवकी के प्रति जो कुछ वार्तालाप करता है उसमें राजनीतिक बातों से प्रसंग बौद्धिक हो गए हैं। यहाँ गीतात्मकता का बिलकुल अभाव है। कंस तो अपने में ही नारायण की सत्ता का अनुभव करता है किन्तु कृष्ण-जन्म से भयातुर है। अक्रूर उसकी आज्ञा का पालन कर कृष्ण को मथुरा लिवा लाते हैं। नन्द लौटकर आते हैं और इनके स्वगतकथन में कंस की मृत्यु और ब्रज की व्याकुल अवस्था का परिचय मिलता है। उधर कुब्जा का रूप ही दूसरा बन गया और कृष्ण के प्रति उसके हृदय के उद्‌गार प्रेम भावना से आपूर्ण हैं। उसे राधा से सहानुभूति है।

'द्वापर' का अन्तिम अंश 'भ्रमरगीत' का प्रसंग है। उद्धव आते हैं पर यशोदा से कृष्ण का कोई लाया हुआ संदेशा नहीं सुनाते। अपितु उनके एक-एक कृत्य को कह कह कर उनके महत्त्व को ही समझाते हैं। गोपियों से कुछ ज्ञान की चर्चा करने के पूर्व ही उन्हें 'एक-एक ब्रज-बाला जागरूक ज्वाला-सी' लगी फिर तो आप ही मन ही मन वे सराहने लगे—

> एक एक तुम सब राधा हो
>
> कहाँ तुम्हारी राधा ?
>
> नहीं दीखती मुझे यहाँ वह
>
> हुई कौन-सी बाधा ?

सच कहता हूँ मैंने अपना
राम तुम्हीं में पाया।
किन्तु तुम्हारा कृष्ण कहाँ है
यही पूछने आया।

—'द्वापर', पृ० १६४।

'गोपी' शीर्षक में गोपियाँ अपने हृदय को खोलती हैं—भ्रमर भी यहाँ आता है, व्यंग्य भी करती हैं वे, किन्तु यहाँ वैसी दार्शनिकता नहीं जैसी भक्त कवियों में मिली। यहाँ उद्धव के साथ कथोपकथन नहीं केवल आत्मोद्गार रूप में भावाभिव्यंजना है। किन्तु ये गीत बौद्धिक आग्रह से बोझिल हो उठे हैं। प्रेम के बौद्धिक निरूपण से गीतात्मकता भी न्यून हो गई है। राधा की प्रेममग्नता और उनके स्वरूप की यहाँ बिलकुल दूसरी व्याख्या है। यहाँ वे अपने आप को भूली हुई हैं और कृष्णमय हो चुकी हैं। तभी तो अन्त में—

× × ×

एक मूर्ति आधे में राधा
आधे में हरि पूरे।

—पृ० १६३, 'द्वापर'।

'द्वापर' के प्रत्येक शीर्षकान्तगत आए विषय और उनकी भावव्यंजना को देखते हुए यह स्पष्ट है कि प्रत्येक विभाग अपने में पूर्ण स्वतन्त्र है। उनमें यदि कोई सम्बन्ध है तो वह यही कि प्रत्येक पात्र द्वापर युग का है और प्रत्येक में आत्मोद्गार किसी न किसी रूप में कृष्ण से सम्बन्धित हैं। केवल यही सूत्र उन्हें बाँध रहा है। अन्यथा अलग-अलग रख कर भी उन पद्यों का वैसा ही अर्थ लगाया जा सकता है जैसा 'द्वापर' में रख कर लगता है। यही कारण है कि यह बाहर से प्रबन्ध रूप में होकर भी प्रबन्ध नहीं और मुक्त होकर भी बिलकुल मुक्त नहीं। दोनों ही का एक अनोखा मिश्रण है जिसमें 'यशोधरा' जैसी संगीतात्मकता नहीं और न वैसी गीतात्मकता ही है। इसका कारण है वही बुद्धि का प्राधान्य। तो भी आत्मनिवेदनात्मक शैली में यह 'स्वानुभूतिपरक मिश्र-काव्य' अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

(ख) अतिगीतात्मक

स्वानुभूतिप्रधान काव्य रूप में कभी-कभी अतिगीतात्मकता की नियोजना द्वारा प्रबन्ध का सूत्र पकड़ने का प्रयास कवि करता है। प्रसंग की मार्मिकता में गीत मानों उबले पड़ते हैं। संगीत का तत्त्व उनमें भरपूर होता है। ऐसा

ही काव्यरूप 'यशोधरा' है जिसका बाहरी स्वरूप तो संगीतमय है किन्तु जिस शैली में होकर कवि की अनुभूति को अभिव्यक्ति का पथ मिला है उसमें अत्यधिक नवीनता है। प्रबन्धात्मकता और गीतात्मकता का ही इसमें मिश्रण नहीं, छन्दों की बहुलता ही नहीं, अपितु पद्य के साथ गद्य का मिश्रण भी है। बीच में छोटा-सा नाटक भी है। अन्यान्य शैलियों के मिश्रण द्वारा विरचित प्रस्तुत काव्यरूप मिश्र काव्य के इसी अतिगीतात्मक प्रकार में ही परिगणित है, क्योंकि सम्पूर्ण काव्य अपनी संगीतात्मकता में गद्य की रूक्षता को ढक रहा है। कवि यहाँ वस्तुगत (Objective) नहीं भावगत (Subjective) है।

किन्तु ऐसे काव्यरूप में यह परमावश्यक नहीं कि उसमें कवि गद्य, नाटक आदि का मिश्रण भी करे। अतिगीतात्मकता में गीतों की भावात्मकता प्रसंग की मार्मिकता को नग्न रूप में प्रदर्शित कर दे, इतना ही अलम् है। आत्म-निवेदनात्मक मिश्र-काव्यरूप की तुलना में यहाँ कथा का सूत्र कुछ अधिक बड़ा होता है। किन्तु प्रबन्ध-काव्य जैसा प्रवाह एवं क्रम आद्यन्त नहीं मिलता। वस्तुतः यह काव्यरूप कभी-कभी स्फुट गीतों का ऐसा संग्रह लगता है जो प्रबन्धात्मकता की ओर झुकता-सा प्रतीत होता है।

इस मिश्र-काव्यरूप की गद्य-पद्यमय शैली इसे संस्कृत के 'चम्पू' काव्य के समकक्ष रखती हो ऐसी बात नहीं। संस्कृत का चम्पू काव्य उसी प्रकार सर्ग-बद्ध होता है जैसे महाकाव्य। यद्यपि इसमें सर्ग संख्या चाहे दो तीन हों अथवा छः, सात—इसका कोई प्रतिबन्ध नहीं। 'चम्पू' में प्रबन्ध काव्य की ही भाँति कोई कथा प्रवाहपूर्ण होती है। कवि प्रथम तो मंगलाचरण से काव्यारम्भ करता है और गद्य में कथा का सूत्रपात करता हुआ बीच-बीच में दृष्टान्त रूप से श्लोकों की योजना करता है। स्तुति के रूप में भी ये श्लोक नियोजित होते हैं। त्रिविक्रम भट्ट का 'नलचम्पू', सात उछ्वासों में दमयन्ती की कथा को लेकर रचा गया है।[1] इसी प्रकार सोमदेव सूरि का 'यशस्तिलकम्' तीन आश्वासों में विरचित है।[2] किन्तु 'स्वानुभूतिपरक अतिगीतात्मक मिश्रकाव्य 'यशोधरा' काव्यरूप की दृष्टि से बिलकुल ही नवीनता को लिये हुए है जो गीत के निकट अधिक है और प्रबन्ध से दूर होकर भी कथात्मकता

---

१. नलचम्पू अथवा दमयन्ती कथा, महाकवि त्रि० भट्ट विरचित, ह० संस्कृत ग्रं० नं० ६८।१५।

२. यशस्तिलकम्, श्रीसोमदेवविरचित, भाग १, सं० म० म० पं० शिवदत्त और वी० एल० शास्त्री, १९१६।

के आग्रह को अपने निकट लिये हुए हैं। अपने ढंग का यह एक ही काव्यरूप है।

यशोधरा

काव्य के 'शुल्क' में जो कहानी गुप्त जी ने सुनाई उसमें थके-हारे पथिक को किसी गृहस्थ तथा उसके बच्चों ने उलझन में डाल दिया, तब बेचारे ने अपना पिंड छुड़ाने के लिये कथा, भजन और आल्हा तीनों को एक साथ कह सुनाया। बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति कवि की भी हो चुकी थी; अस्तु, चैन पाने के लिये उन्होंने कल्पना द्वारा 'यशोधरा' के कारुण्य-कथा-सूत्र में भाव के रंग-बिरंगे मणियों को गूँथ कर जो हार तैयार किया वह सचमुच अनोखा ही दिखाई पड़ा। कारण यह कि काव्य क्षेत्रों में महाकाव्य, खंड-काव्य, मुक्तक, गीत तो दिखाई पड़े, और दिखाई पड़े गीतिनाट्य, नाटकीय-गीति, आख्यानगीति आदि और संस्कृत में दिखाई पड़ा 'चम्पू' जैसा मिश्रकाव्य किन्तु 'यशोधरा' का साम्य किसी से भी न हो सका। इसमें गीत, नाटक, गद्य, पद्य, तुकान्त सभी हैं। कवि ने स्वयं कहा है "लो कविता, लो गीत, लो नाटक, तुकान्त, अतुकान्त सभी कुछ परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं।"—[१] वाक्य के पूर्वार्द्ध में तो कोई संशय नहीं, किन्तु उत्तरार्द्ध में कवि ने 'कुछ भी नहीं' कहकर नम्रता तो प्रकट कर दी, किन्तु दूसरी ओर उसके काव्यक्षेत्र में एक नवीन काव्यरूप की सृष्टि भी कर डाली। स्वानुभूति की अभिव्यंजना में कवि बिल्कुल स्वच्छन्द है, इसका सच्चा उदाहरण हैं 'यशोधरा' जिसमें अन्यान्य शैलियों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न माध्यम का प्रयोग भी हुआ है। कवि ने इसे उसी 'शुल्क' में 'खिचड़ी' कह कर टाल भी दिया है किन्तु इस 'खिचड़ी' का रंग भी क्या खिला है यह देखते ही बनता है। उसमें यदि करुण गीत हैं तो हृदय की व्यथा ही ने शब्दों का बाना पहन लिया है-और यदि विचारप्रधान छन्द हैं तो गाम्भीर्य कूट-कूटकर भरा हुआ है—यदि गद्य है तो हृदय के भावों की सुन्दर अभिव्यंजना है और यदि नाटक है तो कथोपकथन में पात्रों का अन्तः प्रदेश ही खुल पड़ा है। सभी का सहारा लेकर कथा का प्रवाह प्रकट होता हुआ यशोधरा के करुण विलाप में दूर तक विलीन होकर पुनः अन्त में प्रकट हो पड़ता है। अस्तु, काव्य का रूप स्वतंत्र पद्यों के संग्रह सा प्रतीत होने लगता है जिसमें से यदि कुछ प्रसंग निकाल भी दिये जायँ तो प्रवाह में कोई अन्तर आने की संभावना नहीं। किसी भी

---

१. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त—'शुल्क'—पृ. १।

प्रबंध काव्य में प्रथम तो किसी पूर्ण कथा का होना आवश्यक है फिर उस कथा का धारावाहिक प्रवाह भी परमावश्यक है। कहीं से कोई अंश निकला नहीं कि उसके प्रवाह में कमी आ गई। यह बात यशोधरा के लिये लागू नहीं होती। यदि उसमें कथा एवं प्रवाह का अभाव देख कर यह कहा जाय कि संपूर्ण काव्य स्फुट पद्यों का संग्रह मात्र है तो भी युक्ति संगत नहीं। कारण यह कि काव्य पढ़ने के उपरान्त जो अन्तिम संकलित प्रभाव पड़ता है उससे यशोधरा की करुण कथा की एक मोटी रूपरेखा आँखों के समक्ष अवश्य आ जाती है। संपूर्ण काव्य जिन वियोगाश्रुओं से सिंचित है, उसके कारण को जानना भी तदाकार-परिणति के लिये आवश्यक था। अस्तु,कवि ने उस प्रभाववादी कलाकार की भाँति अपनी लेखनी द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया है जो अपने चित्र में सूक्ष्म तथा छोटी छोटी वस्तुओं के चित्रण की ओर न झुककर, सम्पूर्ण दृश्य के प्रथम प्रभाव को अंकित करने का प्रयास करती है। उसकी रंगभरी तूलिका बड़ी ही द्रुतगति से चित्रपट पर चलती हुई दिखाई पड़ती है। ठीक इसी भाँति इस काव्यरूप का निर्माण उसी प्रभावात्मक शैली में हुआ है और बुद्ध की जीवन कथा के जिस व्यक्ति ने उसके हृदय को छू लिया, उसी के करुणार्द्र, हृदय के अभिव्यंजन को उसने अपना प्रथम लक्ष्य बनाया। इसके लिये जिन प्रसंगों के निर्देश को आवश्यक समझा, उन्हें द्रुतगति से चित्रित कर दिखाया।

तभी तो प्रसंग का आरंभ सिद्धार्थ के हृदयान्दोलन से होता है। विचारों की उच्चावस्था में पहुँच कर वे कहते हैं :—

"पड़ी रह तू मेरी भव मुक्ति।
मुक्ति हेतु जाता हूँ यह मैं,
मुक्ति—मुक्ति बस मुक्ति।"[1]

इसके बाद ही 'महाभिनिष्क्रमण' का प्रसंग आ जाता है। सिद्धार्थ, पिता-माता, जन्मभूमि को स्मरण कर छन्दक का स्मरण करते हैं और महाभिनिष्क्रमण हो जाता है :—

हे राम ! तुम्हारा वंश जात
सिद्धार्थ तुम्हारी भाँति तात
घर छोड़ चला यह रात
आशिष दो लो प्रणाम
ओ क्षणभंगुर भव राम राम। —'यशोधरा', पृ. १८।

१. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १८।

इस प्रकार कथारंभ की शैली वर्णनात्मकता से बिल्कुल दूर और स्वात्म-कथन की शैली में है, फिर यशोधरा के दुःखद प्रलाप में उनके चुपचाप चले जाने की बात अवगत होती है। तदुपरान्त नन्द, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन की व्यथा और छन्दक प्रसंग में कवि पुनः कथासूत्र को पकड़ता है— यहाँ सिद्धार्थ का भेजा हुआ संदेश सब सुनते हैं। यहीं से नौ प्रसंग केवल 'यशोधरा' और 'राहुलजननी' के नाम से लिखे गए हैं। सम्पूर्ण प्रसंग यशोधरा की मनःस्थिति की व्यंजना करते हैं। एक छोटा सा नाटक भी खेला जाता है। इस नाटक के पात्र भी कथा से संबंधित पात्र हैं और इसके द्वारा कवि ने कथोपकथनात्मक ढंग में यशोधरा और राहुल के वार्तालाप में यशोधरा के विरह-विदग्ध हृदय को ही खोल कर रखने का प्रयत्न किया है। राहुल के अनुरोध करने पर वह गा उठती है :—

> रुदन का हँसना ही तो गान
>
> गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।

—यशोधरा, पृ. १२५।

यशोधरा की विरहावस्था के पश्चात् दृश्य बदलता है और सिद्धार्थ सिद्धि प्राप्तकर बुद्ध के रूप में लौटते हैं। सारा पुर उनके स्वागत में लगा हुआ है किन्तु मानिनी गोपा उस आयोजन में नहीं जाती। वह तो उसी कक्ष में मिलेगी जहाँ उसे छोड़ कर सिद्धार्थ चल दिये थे। इच्छा पूरी होती है और बुद्ध स्वयं भिक्षा निमित्त उसके पास आते हैं। गोपा के पास राहुल के सिवा और क्या था :—

> तुम भिक्षुक बन कर आए थे, गोपा क्या देती स्वामी ?
>
> था अनुरूप एक राहुल ही रहे सदा यह अनुगामी।

—'यशोधरा', पृ. २१३।

यशोधरा में इस प्रकार कथा का हलका सा सूत्र है, पर एकसूत्रता नहीं। यह हलका सा सूत्र भी गीतों में बिंधा हुआ है। प्रस्तुत काव्य गद्य के अंशों को छोड़कर आद्यन्त संगीत से भरा हुआ है। कवि की प्रमुख भावना स्वानुभूति परक (Subjective) अधिक है और वस्तुगत (Objective) बहुत ही कम। यही कारण है संपूर्ण काव्य संगीतात्मक हो उठा है। इसी गीतात्मकता में 'खिचड़ी' होने पर भी यह काव्य खिल उठा है। यशोधरा का संपूर्ण वियोग वर्णन इसी गीतात्मक शैली में है :—

प्रियतम तुम, श्रुतिपथ से आए
तुम्हें हृदय में रख कर मैंने अधर-कपाट लगाए।

—'यशोधरा', पृ. २४।

इसी वियोग-वर्णन में यशोधरा के स्वगतकथन में जो उक्तियाँ कवि ने कहलाई हैं, उनसे एक ओर तो हृदय की वेदना टपक पड़ती है, दूसरी ओर कथा-प्रसंग की हलकी सी झलक भी। सखी से यशोधरा स्वप्न में दिखाई पड़े सिद्धार्थ की क्षीणावस्था और किसी स्त्री का उन्हें जल पिलाना आदि कहती है। यथार्थ घटना को यहाँ स्वप्न के रूप में दिखाने की चेष्टा सुन्दर है :—

ओ हो! कैसा था वह सपना?
देखा है रजनी में सजनी उनका तपना
दया भरी पर शोणित सूखा
वर्ण झाँवरा होकर रूखा
पैठ पेट पीठ में भूखा
आया मुझे विलपना॥
ओ हो............

—'यशोधरा', पृ० १५४, १५५।

इसी प्रकार :—

फिर भी नाथ न आए।
लेने गए हाय! जो उनको वे भी लौट न पाए॥

—'यशोधरा', पृ० १८७।

इस प्रसंग में भी उस ओर संकेत है जब शुद्धोदन ने अनेक व्यक्तियों को बुद्ध के प्रत्यावर्त्तन के लिये भेजा, किन्तु जो उन्हें बुलाने के लिये गए वे स्वयं उन्हीं के शिष्य बनते गए। वस्तुतः गुप्तजी ने यशोधरा के वियोग में निकले हुए गीतों द्वारा एक पंथ दो काज निकाला—सुन्दर गीतों में कथात्मकता का हलका सा पुट आ जाय इससे बढ़कर कौन सी बात हो सकती थी। किन्तु इतना होने पर भी यशोधरा के करुण गीतों के स्वर में यह कथात्मकता बहुत ही क्षीण रूप में वर्तमान है—पर है अवश्य।

यदि यह कहा जाय कि इसमें सर्ग हैं तो वह भी ठीक नहीं। कारण यह कि जिन उन्नीस शीर्षकों में संपूर्ण काव्यरूप गठा हुआ है उनमें सिद्धार्थ, महाभिनिष्क्रमण, नन्द, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन, छन्दक, संधान तथा बुद्धदेव को छोड़कर शेष दसों शीर्षक यशोधरा अथवा राहुल जननी के

नाम से हैं। प्रथम कुछ शीर्षक कथासूत्र के अनुरूप ही बैठते हैं। किन्तु अन्य सभी यशोधरा की विरह-व्यथा को व्यंजित करने के लिये ही आए हैं। कोई एक ही पद्य में समाप्त है तो कोई दो-चार पद्यों में समाप्त हो जाते हैं। अस्तु 'यशोधरा' फुटकल पद्यों का प्रबन्ध की ओर आंशिक रूप में झुकता हुआ अतिगीतात्मक काव्यरूप बन कर ही रह जाता है। सम्पूर्ण काव्य की मूल भावना अति भावात्मक और गीतोन्मुख (Lyrical) ही है एवं जहाँ कवि गद्य की ओर झुका है वहाँ कुछ छोटे-मोटे इतिवृत्त को भी ले चलने का आग्रह उसे है। ऐसे प्रसंगों में राहुल और यशोधरा के कथोपकथन मुख्य रूप से हैं।

'यशोधरा' के नाटकीय कथोपकथन में जहाँ गद्य का प्रयोग हुआ है वहाँ पर भी यशोधरा के हृदय की भावनाओं को ही मुखरित करने का प्रयास किया है। इस प्रकार गीतों में कथात्मकता का हलका सा आभास, उसी में नाटक और नाटक में कथोपकथन और कथोपकथन में हृदय की वेदना का सुन्दर अभिव्यंजन यही मिश्रित रूप 'यशोधरा' है।

(२) आख्यानप्रधान

गीतों में जब आख्यान योजना का पुट अधिक हो जाता है अथवा आख्यान-आग्रह का पलड़ा अधिक झुक जाता है तब ऐसे गीतात्मक काव्य-रूप को जन्म मिलता है जिसमें इतिवृत्त जितना भी गृहीत होता है, वह अपने में पूर्ण होता है। परन्तु कवि कोई विस्तृत आख्यान भी लिखने नहीं बैठता। वह तो किसी ऐतिहासिक अथवा प्रख्यात वृत्त को लेकर ऐसे प्रभावा-त्मक स्थलों को चुन लेता है, जिनसे प्रमुख पात्रों का चरित्र प्रकाश में आ सके। कभी-कभी कवि का श्रद्धा-निवेदन भी यहाँ मिलता है। जब वीर-भावात्मक खण्डकाव्यों की शैली और गीतिकाव्य की शैली यहाँ पर आकर एकरूप होती है तब प्रणयन विधि में पंक्तियों की पुनरावृत्ति उसी प्रकार मिलती है जैसी वीरभावात्मक काव्यरूप की विशेषता है और संगीत तत्त्व यहाँ दूसरे काव्यरूप की भाँति मिलता है। वीरभावात्मक काव्यों से इसका बस इतना ही साम्य है। क्योंकि वीर काव्यों में कथावस्तु प्रेम और युद्ध से आपूर्ण होती है और उसका यह एक आवश्यक गुण भी है। जो काव्यरूप युग की अभिव्यक्ति जितनी अधिक कर सके उतना ही वह सफल कहा जाता है किन्तु मिश्र-काव्यरूप प्रगीत गाथा या आख्यान 'गीति' के लिये ऐसा कोई अनि-वार्य तत्त्व नहीं। कोई भी प्रसंग भावाभिव्यक्ति के लिये लिया जा सकता है। यहाँ भावात्मकता पूर्ण रूप में नियोजित होती है क्योंकि इसके प्रणयन की

प्रेरणा गीतिकाव्य से भी मिलती है। यही कारण है कि इस आधुनिक काव्य-रूप के भीतर केवल इतिवृत्त अथवा आख्यान को ही लेकर चलनेवाले काव्यों की गणना नहीं की जाती। इन्हें आख्यानप्रधान कहने से आशय केवल इतना ही है कि कवि का झुकाव उस ओर अपेक्षाकृत अधिक होता है। अन्यथा कवि की भावना सदैव गीतात्मक ही होती है।

मैथिलीशरण गुप्त का 'गुरुकुल' और सियारामशरण गुप्त का 'बापू' ऐसे ही काव्यरूप के अन्तर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त लाला भगवानदीन का 'वीरपंचरत्न' और सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' भी ऐसे ही काव्यरूप हैं। इनमें 'वीरपंचरत्न' में काव्यत्व न्यून है। झाँसी की रानी में वीरभावात्मक काव्यों की शैली गीतात्मकता के साथ बड़े ही नाटकीय ढंग से मिश्रित हुई है।

गुरुकुल

प्रस्तुत काव्य दस सिक्ख गुरुओं के प्रति श्रद्धा-निवेदन के रूप में लिखा गया है। काव्यारम्भ में उपोद्घात में कवि ने स्वयं कहा है 'गुरुओं के सम्बन्ध में लेखक ने यथासंभव श्रद्धापूर्वक ही लिखने का प्रयत्न किया है।'[१] कवि ने इन सिक्ख गुरुओं को लेकर उनके जीवन की ऐसी प्रभावात्मक घटनाओं को गीतात्मक रूप में रखने की चेष्टा की है, जिनसे उनका महत्त्व मुखपृष्ठ पर आ सके। अतः कवि ने प्रसंगों में क्रम की ओर ध्यान नहीं दिया क्योंकि वह 'गुरुओं की तवारीख' लिखने नहीं बैठा अपितु उनके इतिवृत्त को लिखने का उसने प्रयास किया है।[२]

संपूर्ण काव्य संग्रह-काव्य के रूप में है जिसमें दस व्यक्तियों से सम्बन्ध रखते हुए अन्यान्य प्रसंग हैं। अतः एक दूसरे से यहाँ सम्बन्ध है तो केवल इतना ही कि सभी सिक्ख गुरु हैं और एक के पश्चात् दूसरे ने प्रसिद्धि पाई। कवि ने इनके जीवन से कुछ ऐसे वीर-वृत्त चुन लिये हैं जिनमें वर्णन की धारा तो बनी हुई है, किन्तु कवि की मूल भावना कथा-विस्तार की ओर कदापि नहीं। साथ ही इन प्रसंगों में आख्यान-आग्रह तो है किन्तु वैसा नहीं जैसा किसी प्रबन्ध काव्य में होता है। कवि की श्रद्धा-निवेदन की भावना से जो गीत निकल पड़े हैं, उनमें महत्त्व-प्रदर्शन के लिये ये वीरता भरे प्रसंग भी स्वतः नियोजित होते गए हैं। यही कारण है कहीं-कहीं बिलकुल वीर-

---

१. 'गुरुकुल'—पृ० १३, मैथिलीशरण गुप्त।

२. गुरुकुल, उपोद्घात, पृ० १३।

भावात्मक काव्यों की शैली का उसमें मिश्रण हो गया है। गुरु तेगबहादुर का प्रसंग ऐसा ही है। इसमें पुनरुक्ति इसी ढंग की है। लगभग इक्कीस पंक्तियों में आधी पंक्तियाँ पुनरावृत्त हुई हैं :—

तेगबहादुर हाँ, वे ही थे,
गुरु पदवी के पात्र समर्थ।
तेगबहादुर हाँ वे ही थे,
गुरु पदवी थी जिनके अर्थ॥

—गुरुकुल, पृ० ६१।

यह तो पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति हुई और आख्यान-आग्रह भी इसमें पर्याप्त है। किन्तु यह तत्त्व वैसा नहीं जैसा वीरभावात्मक काव्यों में 'वाचक वृन्द' को बार-बार सचेत करने में मिलता है। 'गुरु नानक' से काव्यारम्भ होता है, यद्यपि 'मंगलाचरण' और 'अवतरण' इससे पूर्व हैं; नानक की महत्ता में कुछ पंक्तियाँ कहने के पश्चात् कवि प्रसंग को इस प्रकार आगे बढ़ाता है :—

पन्द्रह सौ छब्बीस विक्रमी,
संवत् का वह कातिक मास।
जन्म समय है गुरुनानक का,
जो है प्रकृति परिष्कृत वास॥

—गुरुकुल, पृ० ७।

इसी प्रकार अन्य प्रसंगों में भी आख्यान-आग्रह या इतिवृत्त के सूत्र को पकड़ा गया है। शैली आद्यन्त सभी प्रसंगों में एक सी है और गीतात्मकता में इतिवृत्तात्मकता घुलमिल गई है। कवि अलंकारों की ओर नहीं झुका है। भाव, और श्रद्धामय भाव जिस रूप में निकलते गए उसी रूप में वे रख दिये गए हैं। इसीलिये प्रसंग के बीच-बीच में ऐसे भावात्मक स्थल आ गए हैं जिनका सीधे कथावस्तु से सम्बन्ध नहीं। प्रत्येक प्रसंग अपने में पूर्ण हैं और सबको एक साथ संग्रहीत कर गुरुकुल शीर्षक दे दिया गया है।

बापू

सियारामशरण गुप्त का 'बापू' भी 'गुरुकुल' की भाँति श्रद्धा-निवेदन की भावना से प्रणीत है। रूप की दृष्टि से दोनों काव्यों में बहुत साम्य है और यदि कोई भेद इनमें आया है तो वह केवल इसी बात में कि 'गुरुकुल' जहाँ एक नहीं अनेक व्यक्तियों के प्रति कवि की श्रद्धा को लेकर रचा गया है वहाँ 'बापू' केवल बापू के प्रति कवि की श्रद्धामय भावनाओं का सुन्दर संकलन है। ये भावनाएँ कवि के अन्तरतम से इस प्रकार निकली हैं कि

उनमें गीतात्मकता एवं आत्मप्रकाशन भरपूर है। यही कारण है 'बापू' को गीतिकाव्य का सुन्दर संकलन कहकर भी लोग पुकारने लगते हैं :—किन्तु सच पूछा जाय तो बापू की शैली ऐसी मिश्र शैली है जिससे गीतिकाव्य की संगीतात्मकता एवं प्रबन्धकाव्य के आख्यान तत्त्व का सुन्दर संमिश्रण हुआ है। इसी मिश्रण को देख इसका वर्गीकरण इसी मिश्र काव्यान्तर्गत होता है।

कवि की श्रद्धापूर्ण भावना इक्कीस गीतात्मक स्थलों में अभिव्यक्त हुई है। ये हृदयोद्गार आपस में पूर्ण स्वतंत्र होते हुए भी एकसूत्रता लिए हुए हैं क्योंकि संपूर्ण रचना एक ही व्यक्ति के प्रति है और एक ही काल में संपूर्ण भी हुई है। इसके प्रत्येक हृदयोद्गार में कवि की पूततम भावनाएं जिस शैली में होकर अभिव्यक्त हुई हैं उसमें उस एकसूत्रता के कारण आख्यान का तत्त्व भी नियोजित हो गया है। अस्तु, बापू का गुणगान इस काव्य का विषय है और उस गान में एकतानता लाना है कवि का अपूर्व कौशल। केवल गुणगान में ही संपूर्ण काव्य एक दूसरे से संबद्ध हो गया है। अन्यथा इसके प्रत्येक पद्य अपने में स्वतः पूर्ण हैं। केवल श्रद्धामय भावना का हल्का सा सूत्र ही इन गीतों को आपस में गूँथ रहा है। अतः यह काव्यरूप गीतिकाव्य और वीर भावात्मक काव्यों के सुन्दर योग को लेकर निर्मित हुआ काव्यरूप है।

काव्यारंभ में कवि ने उस महापुरुष की महत्ता उसके गुणगान द्वारा नहीं प्रदर्शित की है, प्रत्युत उस उत्सुक जनता की विह्वलता की झाँकी देकर की है जो अपने अशान्त वातावरण में शान्ति के एकमात्र साधन को ढूँढ़ने के लिये पर्याप्त समय से प्रतीक्षा कर रही थीः—

> सुप्त नगरी के प्रान्त भाग में
> उत्सुक अड़ी थी बड़ी जनता
> सारी रात निद्रा के विराग में
> जाग्रत किये थी अनुराग की गहनता ॥[1]

ऐसी कठिन प्रतीक्षा के उपरान्त जब बापू के दर्शन होते हैं तब संपूर्ण जनमंडली में प्रसन्नता छा जाती है और उनके एक दर्शन मात्र ही से उनके समस्त श्रम दूर हो जाते हैं :—

१. 'बापू', सियारामशरण गुप्त, प्रथमावृत्ति, १९९५ वि०।

मार्ग-शूल फूल हुए,
कष्ट प्रतिकूल सुख मूल हुए,
सारी जनता थी शुद्ध श्रद्धा की सफलता ॥

—बापू, पृ. ७।

कवि के प्रथम उद्‌गार में केवल इतनी सी एकसूत्रता है कि उसने प्रथम चारों पद्यों में प्रतीक्षा करती हुई जनता का चित्र खींचा है और बापू के उसको दर्शन हुए हैं। इतनी भूमिका के पश्चात् कवि बापू के अलौकिक गुणों के गान को श्रद्धामय स्वर से मधुर बनाता है।

दूसरे उद्‌गार में कवि शताब्दियों को किसी महापुरुष की अवतारणा की प्रतीक्षा में उत्सुक बताता है और युगों पश्चात् जब बापू जैसे महापुरुष का जन्म होता है तब कवि सातवें उद्‌गार तक बापू की महत्ता के गीत गाता है और आठवें में उसे उनके कारागार का स्मरण हो आता है। वेदनामय स्वर में कवि चीत्कार उठता है :—

आह ! वह कारागार
क्रूराकार।.......

—बापू, पृ. २३।

क्रमशः कवि नवें उद्‌गार में उस मानवता पर दृष्टि डालता है जो नाश के कगारों पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही थी। बीच बीच में कवि की लेखनी बड़ी ही आत्माभिव्यक्तिमूलक हो गई है। हिंसा क्रूरता के मद में अन्धी मानवता को देख उसका हृदय दुःखी हो उठता है और तब उसकी अभिव्यंजना का स्वरूप बड़ा ही वैयक्तिक हो उठता है :—

हाय आज हो गया है विश्व का महाभिशाप।
लालसा के घोर घनाडम्बर में
नग्नता ही नग्नता है नर में ॥

—बापू, पृ. ४१।

और पन्द्रहवें उद्‌गार में जहाँ कवि बापू के सत्याग्रही रूप की प्रशंसा करता है वहाँ पर उसका हृदय बिलकुल गीतात्मक रूप में उच्छ्‌वासित हो उठता है :—

कवि रे, अरे क्यों आज तेरे नेत्र गीले ये,
तेरे स्वर-तार सभी ढीले ये ?

—बापू, पृ० ५१।

ऐसे ही स्थलों पर आकर हम गीतिकाव्य का आग्रह स्पष्ट रूप से देखते

हैं और इसमें दो-एक गीत भी वर्तमान हैं जहाँ कवि ने पंक्तियों की पुनरावृत्ति भी की है :—

उठ रे, अरे ओ गान ।
धन्य, वह कालजयी कीर्तिमान,
भीति - भय से स्वतन्त्र,
जिसने जपा है गुरुदत्त महत् प्राण-मंत्र,
करके स्वकीय गान ।
उठ रे, अरे ओ गान ।

—'बापू', पृ० ५४ ।

ऐसे गीतात्मक स्थलों पर आकर भासित यह होने लगता है कि 'बापू' गीतों का संकलन तो नहीं ? कभी कभी तो इसे वीरपूजात्मक काव्य भी कह कर लोग पुकारने लगते हैं । किन्तु यह न तो गीतों का कोरा संकलन मात्र ही है न वीरपूजात्मक काव्य ही । बल्कि एक ऐसा मिश्र-काव्य है जिसमें कवि के श्रद्धामय भावों का सूत्र एक पद्य को दूसरे पद्य से गूँथ रहा है । वस्तुतः शैली इसकी न तो बिलकुल स्वानुभूति-निरूपक है जिसमें कवि का अन्तरतम अपने यथार्थ रूप में खुल पड़ता है, और उसकी उस अभिव्यंजना में उसका अपना 'स्व' नियोजित होता है और न तो बापू बिलकुल बाह्यार्थ-निरूपक ही है जिसमें कवि तटस्थ होकर अभिव्यंजना करता है । कहीं तो कवि बापू की प्रशंसा में बड़ी वर्णनात्मक शैली को अपनाता है और कहीं वह बिलकुल आत्माभिव्यंजक हो जाता है । अतः इसको काव्य के इसी बन्धाबन्ध वर्ग में रख कर हम इसे आख्यान-प्रधान मिश्रकाव्य कहते हैं ।

उपसंहार

हिन्दी काव्यरूपों के अध्ययन में वैदिक काल से लेकर हिन्दी के आधुनिक काल के आरम्भ तक लगभग सन् १६४७ की अवधि के प्रमुख काव्यरूपों का यथावश्यक उपयोग इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि मानव अनुभूति के उत्तरोत्तर विकास के साथ ही काव्यरूपों का सहज और सुन्दर विकास हुआ है। युग की कल्पना और अनुभूति के साथ काव्यरूपों में परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं और परिवर्तन के मूल में कवि की भीतरी मनोवृत्ति का हाथ बहुत रहा है।

कोई काव्यरूप किसी युग में जब अपने चरम पर पहुँच गया तब उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और नवीन रूपों में होकर कवि की अनुभूति बाहर प्रकट हुई, अतः प्रगति और रूढ़ि सापेक्ष हैं। एक युग की प्रगति आगे आने वाले युग की रूढ़ि बन जाती है। क्योंकि काव्यरूप के विकास में विचारों के परिवर्तन के साथ-साथ नित्य नवीन रूपों का प्रादुर्भाव होता रहा है। किन्तु जब तक मानव नवीन रूपों में होकर प्रकाशित होने के लिए आतुर बना रहेगा, तब तक प्रतिक्रिया का चक्र भी उसके साथ ही साथ सतत चलता रहेगा। यह प्रतिक्रिया कभी देश की परिस्थितियों के अनुरूप कवि के विचारों के परिवर्तन के साथ उठ खड़ी हुई तो कभी उसके मूल में विदेशी प्रभाव की अवस्थिति दिखाई पड़ी। इसी कारण कभी पुराने काव्यरूपों की शैली भुला दी गई, कभी लोक-साहित्य से प्रेरणा का स्रोत मिला, तो कभी पश्चिमी प्रभावानुरूप काव्यरूपों ने अपना नवीन आकार ग्रहण किया।

हमने आरम्भ में ही प्रबन्ध-काव्य के रूपों का विचार किया है। प्रबन्ध-काव्य का ही सर्वोत्तम काव्यरूप महाकाव्य है। उसके तत्त्व वैदिक संहिताओं, पुराणों और इतिहासों में पल्लवित होते हुए 'रामायण' और 'महाभारत' में आकर स्थिर हो जाते हैं। एक समय ऐसा आता है जब संस्कृत के काव्य-

शास्त्र में उसके लक्षण इन्हीं के आधार पर निर्धारित कर दिए जाते हैं। तत्पश्चात् संस्कृत और प्राकृत में उन्हीं के अनुरूप महाकाव्यों का निर्माण अपने नवीन ढंग से हुआ और अपभ्रंश काल में एक भिन्न शैली प्रबन्ध-काव्यों की अथवा चरित-काव्यों की प्रचलित हुई। यद्यपि ये महाकाव्य नहीं कहे जा सकते तथापि इनका महत्त्व इस दृष्टि से अत्यधिक हो जाता है कि इनकी कथावस्तु, शैली और कथानक-रूढ़ियों का प्रभाव हिन्दी के महाकाव्यों एवं खण्ड-काव्यों पर पूरा-पूरा पड़ा। उसके अनुरूप दोहे, चौपाई की शैली में प्रबन्धकाव्य रचना जब रूढ़ हो चली तब आधुनिक युग में आकर उसकी भी प्रतिक्रिया हुई। भाषा और छन्द सभी दृष्टि से आज का युग नवीन युग है। यद्यपि आज भी ब्रज और अवधी में प्रबन्ध-काव्य लिखने की चेष्टा बन्द नहीं हुई पर प्रधान धारा अब खड़ी बोली के ही प्रबन्ध-काव्यों की है। महाकाव्य में मंगलाचरण, खलनिन्दा, सज्जनस्तुति और सर्गों की पुरानी पद्धति पर बन्धान सभी तत्त्व बिलकुल परिवर्तित हो गए हैं। महाकाव्य में अब गीतात्मक तत्त्व का योग भी सम्भव हो गया और 'एपिक' रामायण और महाभारत के पुराने अर्थ में न प्रयुक्त होकर 'पेरेडाइज लास्ट', 'फेयरीक्वीन' तथा 'साकेत' और 'कामायनी' के अर्थों में भी प्रयुक्त होने लगा।

प्रबन्ध-काव्य का दूसरा प्रकार खण्डकाव्य है। यह काव्यरूप भी परिवर्तन के एक बड़े चक्र से होता हुआ आधुनिक काल तक पहुँचा है। आरम्भ में लोकदृष्टि की प्रधानता एवं लोक-रंजन के लक्ष्य ने बड़े ही सहज एवं अकृत्रिम खण्डकाव्यों को जन्म दिया, जहाँ कवि का व्यक्तित्व गौण ही रहा। किन्तु समय के साथ जब कवि सचेत होता गया तब कवि का व्यक्तित्व प्रधान रूप में उसके खण्डकाव्य में झलका। यहाँ कवि काव्योचित सौन्दर्य सृष्टि के लिए भाषा में सौष्ठव लाने का प्रयत्न करता हुआ दिखाई पड़ा। भावों में सान्द्रता लाने का प्रयत्न यहाँ अवश्य किया गया, किन्तु सहज भाव ज्यों का त्यों बना रहा। इस प्रकार के जिन प्रेम-प्रधान खण्डकाव्यों की रचना हुई उन पर भी शैली की दृष्टि से अपभ्रंश के चरित-काव्यों का पूरा प्रभाव पड़ा और साथ ही फारसी की मसनवी और संस्कृत की शैली का पुट भी इनमें नियोजित हुआ। अन्य भक्ति-प्रधान खण्डकाव्यों में कुछ कवि लोकगीतों से प्रभावित हुए और तुलसी के 'मंगल-काव्य' प्रस्तुत हुए तो कुछ खंडकाव्यों में संस्कृत की अति कलापूर्ण शैली का प्रभाव दिखाई पड़ा। उदाहरणार्थ पृथ्वीराज की 'वेलिक्रिसन रुक्मिणी री।'

'रीतिकाल' के लगभग जिन खण्डकाव्यों की रचना हुई उनमें पुरानी

शैली का अनुकरण हुआ जिनमें 'हम्मीर रासो' और 'सुजान चरित' जैसे वीरभावात्मक खंडकाव्य मिले। किन्तु आधुनिक काल में आकर विज्ञान के नवयुग में नवीन शैली के खण्डकाव्य रचे गए जिनमें देशी और विदेशी दोनों परम्पराओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ा। विकास की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त का 'नहुष', निराला का 'तुलसीदास' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण खंडकाव्य हैं। इनमें युगानुरूप मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का तत्त्व अधिक नियोजित हुआ और कथा का सूत्र बहुत हलका शेष रह गया।

अबंध-काव्य के अन्तर्गत हमने प्रथम गीतिकाव्य को लिया। वैदिक काल की संगीतात्मकता से और लौकिक संस्कृत से होते हुए अपभ्रंश काल में सिद्धों के चर्यापदों में संगीत के शास्त्रीय विधान एवं आत्मानुभूति का योग दिखाई पड़ा। ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ही क्षेमेन्द्र के 'दशावतार चरितम्' तथा १२हवीं शताब्दी में जयदेव के 'गीतगोविंद' में ऐसे लयात्मक-गीत की रचना प्राप्त होती है जिससे अनुमान होता है कि काश्मीर से लेकर उड़ीसा तक और समूचे उत्तरी भारत में लयात्मक मात्रिक-छंदों की गीत-रचना हो रही थी। हिन्दी के गीतिकाव्य में पदों की जिस शैली का विकास विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि द्वारा हुआ, उस पर कुछ न कुछ प्रभाव जयदेव का अवश्य पड़ा। यह पदों की धारा मध्यकाल के इन कवियों द्वारा परिष्कृत और समृद्ध हुई। रीतिकालीन दरबारी वातावरण में मंथर गति से बहती हुई वह पुनः 'हरिश्चन्द्र युग' में तेजी से बही। इसी युग से भाषा के माध्यम का प्रश्न छिड़ पड़ा जो 'द्विवेदी युग' में एक बड़े द्वन्द्व के रूप में दिखाई पड़ा। परिस्थितियाँ देश की बहुत कुछ बदल चुकी थीं, और पश्चिमी संपर्क अब तक बड़ा ही घनिष्ट हो चुका था। अस्तु, जब पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी काव्य के संपर्क में छायावादी कवि आए तब वहीं से प्रेरणा लेकर जिस रूप में गीतिकाव्य का सृजन उन्होंने किया उसने हमारे गीतिकाव्य के इतिहास में नव्योत्थान काल ला दिया। 'गीतांजलि' का मान और पश्चिमी प्रभाव तथा इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप स्वच्छन्दता की भावना ने हमारे गीतिकाव्य को पाश्चात्य ''लिरिक'' का उपजीवी बना दिया और गीतिकाव्य बिलकुल नवीनरूप को लेकर प्रकट हुआ।

दूसरी ओर अबंध काव्य के अन्तंगत मुक्तक काव्य की रचना होती रही। मुक्तक की यह धारा भी बड़ी पुरानी है जो शुरू से ही गीतिकाव्य के समानान्तर चली आ रही है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के उपदेशात्मक मुक्तकों से उत्तरोत्तर पालि में इनका प्राधान्य हो गया। प्राकृत की 'गाथा सप्तशती'

मुक्तक के इतिहास में रस और काव्यत्व की दृष्टि से सबसे सुन्दर संग्रह दिखाई पड़ा जिसने हिन्दी के मुक्तकों को प्रभावित किया। यह प्रभाव संस्कृत में अमरुक, भर्तृहरि और गोवर्द्धनाचार्य से होता हुआ अपभ्रंश काल तक आया और वहीं से हिन्दी में भी इसकी परम्परा चली। दोहे की पद्धति का मूल उद्भव स्थान अपभ्रंश में ही मिला। संतों एवं भक्तों के उपदेशात्मक एवं पारलौकिक मुक्तकों से होकर हम 'रीतिकाल' में शृंगारिक मुक्तकों की आती हुई बाढ़ के साथ आगे बढ़ते हैं। 'रीतिकाल' के मुक्तकों पर प्राकृत और संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ा और मुक्तक को अत्यधिक कलापूर्ण रूप प्राप्त हो गया। यह कलापूर्णरूप दरबारी वातावरण के अनुरूप ही विकसित हुआ, जब कवि को राजाओं के मनोरंजनार्थ पर्याप्त अवकाश था अपनी अनुभूति को संजोने का। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के ह्रास के इस युग में इसी काव्यरूप का परिष्कार संभव था। इसके पश्चात् आधुनिक युग में आकर भारतेंदु और जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' द्वारा इस रूप का अत्यधिक परिष्कार हुआ।

तीसरा वर्ग ऐसे बन्धाबन्ध काव्यरूपों का है जिनमें प्रबन्ध-काव्य के तत्त्वों के साथ अबंध-काव्य के तत्त्व और साथ ही नाटक के तत्त्व एक साथ सम्मिलित होकर, मिश्र-काव्य को जन्म देते हैं। ऐसे काव्यरूपों में कुछ काव्यरूप अंग्रेजी से विशेषरूप में प्रभावित हुए हैं। हमारे गीतिनाट्य पर अंग्रेजी के कवि ब्राउनिंग के लिरिकलड्रामा (Lyrical Drama) का प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार स्वगत-कथनात्मक और कथोपकथनात्मक नाटकीय-गीति भी अंग्रेजी के 'ड्रैमेटिक मोनोलाग' (Dramatic Monologue) और 'ड्रैमेटिक लिरिक' (Dramatic Lyric) से प्रभावित हुए। इसी वर्ग के कुछ अन्य काव्यरूपों का बिलकुल स्वतन्त्र रूप में विकास हुआ। स्वानुभूतिप्रधान मिश्र-काव्य में आत्मनिवेदनात्मक काव्य 'द्वापर' और अतिगीतात्मक 'यशोधरा' इसी प्रकार के काव्यरूप हैं।

आधुनिक काल में युग की विचारधारा बिलकुल बदल चुकी है। कवि बदल चुका है और उसकी अभिव्यक्ति का रूप भी बदल गया है। आज का कवि काव्य में विषय और विधान का अन्तर बिलकुल हटा देने के लिए जैसे व्याकुल हो उठा है। वह अपनी अभिव्यंजना द्वारा अपनी अनुभूति का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आतुर हो उठा है। वह नवीनता का पुजारी है और रूढ़ि का विरोधी। आज की सामाजिक भावना के अनुरूप कवि की मनोवृत्ति जिस रूप में परिवर्तित हो गई है वह अपनी अभिव्यक्ति नवीन रूप

में करना चाह रही है। पुराने काव्यरूप के साँचों में अनुभूति को ढालना उसे नहीं रुचता। पुराने छन्दों के स्थान पर स्वच्छन्द छन्द और मुक्त छन्द प्रयुक्त हुए हैं। नवीन प्रतीक एवं नवीन उपमान भी बनाए गए हैं और साथ ही नयी लयात्मकता की उद्भावना भी हो रही है। कल की परंपरा भी आज की रूढ़ि बन गई है। आज का युग प्रयोग का युग है और आज की कविता 'प्रयोगवादी' कविता के नाम से अभिहित हुई है। नवीन प्रयोग हो रहे हैं जिनके निश्चित सिद्धान्त अभी नहीं बने हैं। प्रयोगवादी कवियों में परस्पर मतैक्य भी नहीं। उनका काव्य अभी प्रयोगावस्था में है, जिसमें काव्यरूप का निर्णय करना अभी कठिन है। अतएव प्रयोगवादी काव्यरूपों का निर्णय भविष्य का आलोचक ही करेगा।

सहायक ग्रंथ

संस्कृत के सहायक ग्रंथ

१. अग्निपुराण ।

२. काव्यालंकार—भामह, हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला ६१, संवत् १६५८, बनारस ।

३. काव्यादर्श—दंडी, ई० १८८२, कलकत्ता ।

४. काव्यालंकार—रुद्रट, काव्यमाला २, सं० १८८६, बम्बई ।

५. काव्य मीमांसा—राजशेखर, सन् १६२४ बड़ौदा ।

६. काव्यानुशासन—वाग्भट्ट, बम्बई सं० १८६४ ।

७. काव्य प्रकाश—मम्मट, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली ६६ संस्कृत १८५१ ।

८. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, काव्यमाला २५, सन् १६२८ बम्बई ।

६. रस गंगाधर—पंडितराज जगन्नाथ, बम्बई सं० १८८८ ।

१०. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ, तृतीय संस्करण सन् १६१५ बम्बई ।

११. साहित्य दर्पण—बी० पी० काणे द्वारा सम्पादित ।

१२. प्राकृत पैंगलम्—सम्पादक चन्द्रमोहन घोष, कलकत्ता सं० १६०२ ।

हिन्दी के सहायक ग्रंथ

१. अष्टछाप के कवि—डा० दीनदयालु गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सन् १६४६ ।

२. अष्टछाप परिचय—प्रभुदयाल मीतल, सं० २००४, मथुरा ।

३. आधुनिक काव्यधारा—डा० केशरी नारायण शुक्ल, सं० २०००, बनारस ।

४. आधुनिक साहित्य—पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, प्रथम संस्करण सं० २००७।
५. आधुनिक हिन्दी काव्य का इतिहास—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।
६. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्णलाल सं० १९९९, प्रयाग।
७. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास–कृष्णशंकर शुक्ल एम०ए०, प्रथम संस्करण सं० १९९१।
८. उर्दू साहित्य का इतिहास–ब्रजरत्नदास बी०ए०, एल०एल०बी०, प्रथम संस्करण सं० १९९१।
९. कबीर–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, द्वितीय संस्करण सन् १९४७।
१०. कबीर ग्रन्थावली—श्यामसुन्दर दास, प्रयाग सन् १९२८।
११. कबीर वचनावली–पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, काशी, सं० १९७८।
१२. काव्य दर्पण–रामदहिन मिश्र, बांकीपुर, सन् १९४७।
१३. काव्य के रूप–गुलाबराय, सं० २००४, दिल्ली।
१४. काव्य में अभिव्यंजनावाद–लक्ष्मीनारायण सिंह सुधांशु, सं० १९९३।
१५. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकरप्रसाद, वि० २००५।
१६. काव्य में प्रकृति—डा० रघुवंश सहाय, सं० २००५ प्रयाग।
१७. काव्यांग कौमुदी—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृतीय कला, सं० १९९१, काशी।
१८. कोशोत्सव स्मारक संग्रह—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, ना० प्र० सभा सं० १९८५।
१९. गीतिकाव्य—रामखेलावन पांडेय, सं० २००४, बनारस।
२०. गोस्वामी तुलसीदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, संशोधित संस्करण, सं० १९९२।
२१. चौबीसवाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भाषण—रामचन्द्र शुक्ल, सं० १९९२।
२२. जायसी ग्रन्थावली—पं० रामचन्द्र शुक्ल, चतुर्थ संस्करण सं० २००६, काशी।
२३. डिंगल में वीर रस—मोतीलाल मेनारिया।
२४. ढोला मारू रा दूहा—रामसिंह, सूर्यकरण पारीख, नरोत्तम स्वामी, सं० १९९१।

२५. तुलसी ग्रन्थावली—रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास, ना० प्र० सभा, सं० १९८० खंड २।

२६. तुलसी के चार दल—सद्गुरु शरण अवस्थी, प्रथम संस्करण सन् १९३५।

२७. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रथम संस्करण, १९४९ प्रयाग।

२८. नन्ददास—उमाशंकर शुक्ल एम०ए०, प्रथम और द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण सन् १९४२।

२९. नन्ददास ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास बी० ए०, एल एल० बी०, का० ना० प्र० सभा ग्रन्थमाला ३९।

३०. पद्माकर पंचामृत—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण, सं० १९९३।

३१. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ—प्रेमी अभिनन्दन समिति, सन् १९४६, इलाहाबाद।

३२. बिहारी बोधिनी—लाला भगवानदीन, साहित्यभूषण ग्रन्थमाला ३, सन् १९२५।

३३. बिहारी रत्नाकर—जगन्नाथदास रत्नाकर, नवीन संस्करण, सन् १९५१।

३४. भारतेन्दु ग्रन्थावली—भाग २, ब्रजरत्नदास बी०ए०, एल एल०बी०, सं० १९९१, काशी।

३५. भारतेन्दु नाटकावली—भाग १, नागरी प्रचारिणी सभा, सन् १९५०।

३६. मानस दर्शन—श्रीकृष्ण लाल, सं० २००६, काशी।

३७. मिश्रबन्धु विनोद—गणेश बिहारी, श्यामबिहारी, शुकदेव बिहारी, सं० १९७०, प्रयाग।

३८. मीरा की प्रेम साधना—भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' एम० ए०, सन् १९४७ छपरा।

३९. रत्नाकर–श्यामसुन्दरदास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० १९९०।

४०. रीतिकाल की भूमिका—और देव की कविता–नगेन्द्र, दिल्ली, सन् १९४९।

४१. राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—मोतीलाल मेनारिया सन् १९३९ प्रयाग।

४२. वाङ्मय विमर्श—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण, सं० १९९२, काशी।
४३. सतसई सप्तक—श्यामसुन्दर दास, सं० १९३१, प्रयाग।
४४. साहित्यालोचन—श्यामसुन्दर दास, सन् १९३१, प्रयाग।
४५. सिद्धान्त और अध्ययन—भाग १, गुलाब राय, दिल्ली।
४६. सूफी काव्य संग्रह—परशुराम चतुर्वेदी, सन् १९५१, प्रयाग।
४७. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, सन् १९५०, प्रयाग।
४८. सूर साहित्य—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सं० १९९३, इन्दौर।
४९. सूर सौरभ—मुंशीराम शर्मा, कानपुर, सन् १९४९।
५०. संत कबीर—डा० रामकुमार वर्मा, इलाहाबाद, १९४७।
५१. संचारिणी—शान्तिप्रिय द्विवेदी, सन् १९३९, प्रयाग।
५२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, संशोधित और परिवर्धित संस्करण, सं० १९९७।
५३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, वि० सं० १९९७, प्रयाग।
५४. हिन्दी साहित्य की बीसवीं शताब्दी—पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग संवत् १९९९।
५५. हिन्दी साहित्य की भूमिका—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, सन् १९५०, बम्बई।
५६. हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन, प्रथम सं०, सन् १९४५, इलाहाबाद।
५७. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र एम० ए०, सं० २००५, लखनऊ।
५८. हिन्दी के कवि और काव्य-गणेश प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग, सन् १९३७।
५९. हिन्दी गीतिकाव्य—ओमप्रकाश अग्रवाल एम ए०, सं० २०२, प्रयाग।
६०. हिन्दी कवि चर्चा—चन्द्रबली पांडेय, प्रथम संस्करण १९४८, काशी।

हस्तलिखित ग्रन्थ

१. ढोला मारवणी—चउपत हरराज, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
२. नलदमन—सूरदास, ,, ,,

३. पुहुपावती—दुखहरनदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
४. रस-रतन—पुहकर कवि, ,, ,,

नोट :—प्रस्तुत सूची में हिन्दी के आलोच्य ग्रन्थों की सूची नहीं दी गई है । उनका निर्देश यथास्थान ही किया गया है ।

पत्र-पत्रिकाएँ

१. खोज रिपोर्टें, नागरी प्रचारिणी सभा काशी ।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका ।
३. विश्व भारती पत्रिका ।
४. विशाल भारत ।
५. सरस्वती ।
६. संगम ।
७. हिन्दुस्तानी ।

अंग्रेजी के सहायक ग्रंथ

1. Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art–Translation by Butcher–4th Edition, London, 1907.
2. A study in EPic DeveloPment–I. T. Myers, Ph. D.
3. A study of Poetry–Bliss Perry–Boston 1920.
4. An Introduction to Mysticism by E. Underhill Methuen 1919.
5. An Introduction to the study of Browning–Arthur symons.
6. An Introbuction to Poetry–R. M. Alden, New York 1935.
7. An Introduction to the study of Literature–W. H. Hudson, U.S.A. 1921.
8. Hiographia Literaria–S. T. Colaridge. Everyman's Library–cd. E. Rhys.
9. Discovering Poetry–Elizabeth Drew–London 1933.
10. English Epic and Heroic Poetry–W. M. Dixon–London 1912.
11. Encyclopedia Brittanica.
12. Epic and essy–L. Abercrombie, London 1922.

13. Essentials of Mysticism and other Essays–E. Underhill, London 1920.
14. Epic and Romance–W, P. Ker, London, 1908.
15. Form and Style in Poetry by W. P. Ker, London 1928.
16. Formative Types in English poetry–G. H. Palmer, New York, 1918.
17. Form in literature–Harold Weston, London 1934,
18. Handbock of poetics–F. B. Gummere, Ph. D. Boston, 1913.
19. Lyrical Forms in English–Normen Hepple, M. A,, M, litt, 2nd Ed. Cambridge 1923.
20. Lyric–Ernest Rhys–London 1913.
21. Lyric–John Drinkwater (The Arr and Craft of letters) London : Martin Secker.
22. Lyrical Poetry from Blake to Hardy–H.J.C. Grierson–London, 1928.
23. Methods and Materials of Literary Criticism–Gayley & Kurtz. Boston, 1920.
24. Notes on English Verse Satire–Humbrt Wolfe, London 1929.
25. Poetry its music and Meaning–L. Abercrombie.
26. Practical criticism–I, A. Richard–4th impression, London 1939.
27. The Idea of Great poetry–L, Abercrombie.
28. The Making of Literature–R. A. Scott Jomes–London 1928.
29. The Modern study of Literature–R. G. Moulton.
30. The New Dictionary of thoughts–compiled by T. Edwards Revisod and enlarged by C. N. Catreves & J. Edwards, New York.
31. The Beqinnings of Poetry–F. B. Gummere.
32. Tha PrinciPles of Criticism–W. B. Worsefold, M. A. London 1923.
33. Principles of Criticism–I. A. Richards, Chicago, 1926.
34. The Theory of Poetry–L. Abercrombie–3rd Impression, London 1926,
35. The poetry of Robert Browning–StaPford A. Brooke, London, 1920.

संस्कृत साहित्य पर अँग्रेजी के ग्रन्थ

1. A history of Indian Literature–M. Winternitz, Ph. D. Vol. I, 1927. Bol II, 1933, Calcutta.
2. A History of Samskrit Literature–A. B. Keith, London 1920.
3. History of Samskrit Literature–S. N. Das Gupta & S. K, De, Calcutta 1947.
4. History of Samskrit Literature–Arthur. A Macdonell London & New York.
5. History of Pali Literature–B. C. Law, Vol I & Vol II, Kegan Paul & Trench Coy Ltd., 1933.
6. Prakrit Languages and their contribution to Indian Culture–S.M. Ketra, Bhartiya Vidyabhawan, Bombey.
7. Studies in the History of Samskrit Poetics–by S. K, De, London, 1925.
8. The History of Classical Sanskrit Literature–M. Krishnamachariar (Madras. 1937).